

नमस्कार महामंत्र का अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान



❖ लेखक और प्रवचनकार ❖

पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज

राष्ट्रीयभाषा रत्न, साहित्यरत्न, न्यायदर्शनाचार्य (M.A.)

—लेखक एवं प्रवचनकार—

प. पू. पंन्यास

श्री अरूणविजय गणिवर्य महाराज

(राष्ट्रभाषा रत्न-वर्धा, साहित्य रत्न-प्रयाग, न्याय दर्शनाचार्य-बम्बई)

विश्व प्रसिद्ध राणकपुर तीर्थ के पास १६८७ वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक श्री हथूण्डी राता महावीरस्वामी तीर्थ की पावन भूमि के समीपस्थ बिजापुर (पाली) राजस्थान गांव के प्रसिद्ध अग्रगण्य श्रेष्ठी श्री चंडुलाल खुशालचंद झवेरी परिवार के सेवामावी कर्मठ कार्यकर्ता श्रीमान झवेरचंदजी के सुपुत्र श्रीमान गुलाबचंदजी की धर्मपत्नी १२ वर्षीय की तपस्वीनि श्रीमति शान्तिदेवी के सुपुत्र अरूणकुमार जैन ने नव यौवन में ही १८ वर्ष की युवानी में ही संसार का त्याग करके महाभिनिष्क्रमण के पंथ पर प्रयाण पर चारित्र्यधर्म आईती दीक्षा स्वीकार करके अणगार जैन साधु बने ।

वर्धा से हिन्दी भाषा की परीक्षा देकर राष्ट्रभाषा रत्न बने और प्रयाग से साहित्य रत्न बने । भारतीय विद्या भवन - बम्बई से संस्कृत भाषा के माध्यम से दर्शनक्षेत्र की परीक्षाएं देकर न्याय - दर्शनाचार्य की उपाधि प्राप्त की है शिक्षा के क्षेत्र में मान्य उपाधियां प्राप्त करके संप्रति शोध प्रबन्ध लिखने में व्यस्त है । विविध भाषाओं पर लेखन एवं भाषण का उभय प्रभुत्व आपने प्राप्त किया है । अतः विविध भाषाओं में प्रवचन भी देते हैं और लेखन भी आप करते हैं । जिसकी प्रसादी के रूप में पुस्तके शासन को अर्पित की है ।

स्व-पर शास्त्र में पारंगत पूज्यश्री ने महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश की धरती पर विचरण करके अनेक यशस्वी चातुर्मास किये हैं । एवं शिक्षण शिबिरो के माध्यम से युवा पीढी को धर्म सन्मुख किया है । आप सफल शिबिर संचालक एवं विविध विषयो के कुशल वाचना दाता हैं । ब्लेक बोर्ड पर सचित्र प्रवचन समझाना आपकी विशेषता है । आप जैन शासन के माने हुए विद्वान एवं कुशल व्याख्याता तथा सिद्धहस्त लेखक भी हैं । आगमो के संपादक भी हैं । बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न आपने संस्कृत पण्डित परिषदो का आयोजन किया है तथा संस्कृत में धाराप्रवाहबद्ध संभाषण दार्शनिक विषयो पर किया है । आप गहरे तत्त्वचिंतक हैं । वैज्ञानिक एवं तर्क युक्तिगम्य पद्धति से पदार्थो का विश्लेषण करते हैं । आपही की प्रेरणा एवं मार्गदर्शनानुसार श्री हथूण्डी राता महावीर स्वामी तीर्थ का जीर्णोद्धार एवं सर्वांगीण विकास हो रहा है । जिसमें श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर का नवनिर्माण हो रहा है ।

शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीमद् विजय धर्मसुरीश्वरजी म. सा. के पट्टप्रभावक प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय भक्ति सुरीश्वरजी म. सा. के पट्टधर पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय प्रेमसुरीश्वरजी म. सा. के गुरुबंधु पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय सुबोधसुरीश्वरजी म. सा. के आप विद्वान शिष्य रत्न है । गुमराह युवापीढी का कायाकल्प करनेवाले आप श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र संस्था (बम्बई) के सफल सुकानी हैं ।

नमस्कार महामंत्र

का अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान

❀ लेखक और प्रवचनकार ❀

पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज

❀ प्रकाशक ❀

श्री महावीर रिसर्च फाउण्डेशन

वीरालयम्

पो. जांभुलवाडी. (आंबेगांव खुर्द) देहुरोड-कात्रज बाय-पास, मुंबई-पुना N.H.4.

ता. हवेली - पुना-४११०४६ (महा.) Phone No. : 577757

- पुस्तक का नाम : “नमस्कार महामंत्र का अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान”
- लेखक और प्रवचनकार : पंन्यास अरुणविजय गणिवर्य महाराज
(राष्ट्रभाषा रत्न, साहित्य रत्न M.A.) न्याय - दर्शनार्थ M.A.
- अनुवादक - श्रीमान् जसराजजी सिंघी
- प्रूफ संशोधक - मुनिश्री हेमन्तविजय महाराज
- विषय : “अरिहंत पद का स्वरूप”
- आर्थिक सहयोग : श्री लुणावा जैन श्रे मू. संघ, लुणावा. राज.
- निमित्त : लुणावा चालुर्मास में आयोजित - नवकार सम्मेलन प्रसंग पर श्री महावीर जैन साहित्य प्रकाशन पुष्प - ४०.
- प्रकाशक संस्था : श्री महावीर रिसर्च फाउण्डेशन - वीरालयम्
पो. वीरालयम् - जांभुलवाडी, (आंबेगांव खुर्द)
देहु रोड, कात्रज वायपास, मुंबई-पुणे N.H. 4 पुना ४११०४६.
- टाइप सेटिंग : किरिट वडेचा - हितेश वडेचा - भायखला - मुंबई.
- मुद्रक : रमणिकलाल रामचंद सलोत.
- हिन्दी संस्करण : प्रथम आवृत्ति प्रति : १०००
वीर सं. २५२४ वि.सं. २०५४ ई.स. १९९८

कीमत सिर्फ ५०.०० रुपये

पू. साधु - साध्वीजी महाराजों एवं ज्ञान भंडारों को सादर भेंट
:- प्राप्ति स्थान :-

१. सरस्वती पुस्तक भण्डार

११२, रतन पोल, हाथी खाना, रिलीफ रोड, अमदावाद ३८०००१.

२. श्री पार्श्व प्रकाशन. नीशापोल नाके प्रगति बैंक उपर, झवेरी
वाड, अमदावाद-३८०००१.

३. श्री १०८ पार्श्व - भक्ति विहार पो. शंखेश्वर - हाईवे,
वाया हारीज. जि. महेसाणा उ. गुजरात - ३.

४. वीरालयम् - गीरीश ह. शाह २५३/५९, वी.पी.रोड,
गीतांजली, १ले माले रुम नं. १, प्रार्थना समाज, बम्बई-४.

समर्पण

जिनकी असीम कृपा वरसी

जिन माता-पिता ने जन्म एवं
संस्कार देकर इस जिन शासन
में प्रवेश दिलाया.....

चारित्र के पथपर अग्रसर किया, भवकूप में से उद्धार करके
बहार निकाला, हाथ पकडा ... आत्म कल्याणकारी
संयम धर्म की भागवती प्रव्रज्या देकर जीवन के
शिल्पी बने ... ऐसे

गच्छाधिपति पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय

प्रेमसूरीश्वरजी महाराज साहब.

एवं पू. स्व. आचार्य देव

श्री सुबोधसूरीश्वरजी म.सा.

के कर कमलों में

सादर अर्पण

- अरुणविजय

आर्थिक सहयोग

अनेक तीर्थों से सुशोभित राजस्थान राज्य की पुण्य भूमि मरूधर-गोडवाड प्रदेश की पावन धरती पाली जिले के अभिनव श्री भद्रंकर नगर तीर्थ के समीप, तथा श्री आदीश्वर प्रभु, श्री पद्मप्रभु, श्री शान्तिनाथ प्रभु आदि के अति प्राचीन जिनालयों से सुशोभित - नवपल्लवित.....

लुणावा नगरी

श्री पद्मप्रभु - आदीश्वर जैन देवस्थान पेढी-लुणावा
श्री लुणावा जैन संघ के
ज्ञान खाते में से प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशनार्थ
उदार आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है।

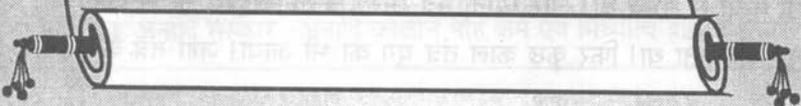
अभिनंदन



श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन
वीरालयम् - पुना

...कहां.../...क्या... ?

विषय	पृष्ठ
नवकार की दार्शनिकता...(प्रस्तावना)	VI
एक प्रश्नस्य चातुर्मास...	XII
लेखक के मनोगत भाव...	XV
प्रकाशक संस्था के हृदयोद्गार...	XVI
श्री नमस्कार महामंत्र का स्वरूप	1
नमो भाव की आवश्यकता	59
सृष्टि स्वरूप और ईश्वरवाद	127
जगत्कर्ता ईश्वर की समीक्षा	201
अरिहंत परमात्मा का शुद्ध स्वरूप	312
अरिहंत परमात्मा का विशुद्ध स्वरूप	397



नवकार की दार्शनिकता...

(प्रस्तावना)

विश्व के विविध धर्मों में लाखों करोड़ों मंत्र हैं। यहां तक कि... आयुर्वेद जैसे शरीर एवं रोग शास्त्र में भी सैंकड़ों किसम के मंत्र बताए गए हैं। जिन मंत्रों का प्रयोग करके सैंकड़ों रोग मिटाए जा सकते हैं। तंत्र शास्त्र में मंत्रों और तंत्रों के लाखों प्रयोग बताए गए हैं। हिन्दु धर्म में गायत्री मंत्र प्रसिद्ध एवं प्रचलित हैं। जैन धर्म में “नवकार महामंत्र” की सर्वोपरिता रही है।

प्रश्न यह उठता है कि मन्त्रों का अद्भव किस हेतु के आधार पर हुआ है? आप जानते ही हैं कि... मानव सभ्यता इस अनादि सृष्टि में अनन्त काल से है। जब सृष्टि ही अनादि अनन्त शाश्वत है, जो अनुत्पन्न-अविनाशी है तब फिर मानव के या किसी भी प्राणी के अस्तित्व की गणना करनी यह दिन में तारे गिनने जैसा या समुद्र की बुंदें गिनने जैसा निरर्थक - व्यर्थ प्रयास है। हां, इतना जरूर कहा जा सकता है कि मानव ने अपने दुःख संकटों को टालने, सुख समृद्धि को पाने के लिए भगवान और देवी-देवताओं के नामादि जोड़कर लाखों करोड़ों मन्त्रों का सर्जन एवं आविष्कार किया है। तथा इन मन्त्रों का जप-स्मरण युगादि काल से करता ही आ रहा है।

क्या मंत्र सिर्फ दुःख संकट निवारक ही है? या क्या आपत्ति-विघ्न विनाशक ही है? या क्या ये मंत्र सुख-समृद्धि प्रदाता ही है? ऐसे तो विषयों का वर्गीकरण करते हुए मंत्रों का विभाजन करते जाएं तो शायद सैंकड़ों विषयों वाले मंत्र मिल जाएंगे। रोग निवारक मंत्र भी है। शत्रु नाशक मंत्र भी है। मृत्यु निवारक मंत्र भी काफी है। संतानोत्पादक मंत्र भी हैं। ऐसा लगता है कि शायद ही संसार का कोई ऐसा विषय होगा जिस विषय के मन्त्र न हों। वशीकरण मंत्र बताए तो दूसरी तरफ उच्चाटन विद्या भी बताई। आकाशगामिनी विद्या के मन्त्र भी बताए तो भौम-अन्तरिक्ष के मन्त्रों में भी कोई कमी नहीं दिखाई देती है। शायद वेदों को मंत्रों का खजाना ही कहा जा सकता है। मंत्र शास्त्रों पर विश्वकोष बने हुए हैं।

जी हां, एक काल ऐसा था जबकि मंत्रों की ही बोलबाला थी। हर कार्य लोग मंत्रों द्वारा ही कर लेते हैं। यहां तक कि अग्नि प्रज्वलन भी मंत्रों से हो जाता था। तथा वर्षा भी मन्त्रों से संभव थी। और व्यक्ति मंत्र स्मरण करके अदृश्य भी हो जाता था। वह मंत्र युग कहलाता था। फिर कुछ काल तंत्र युग का भी आया। जहां तंत्र के तान्त्रिक प्रयोग

अपनी ऊंचाई को छू चुके थे। इन दोनों का काल काफी बड़ी मात्रा में बीतता गया और आज यन्त्र युग की प्राधान्यता सर्वत्र भासमान हो रही है। अब सभी क्षेत्रों में जितनी यन्त्रों की भरमार दृष्टिगोचर हो रही है शायद उसके मुकाबले मंत्रों का प्रमाण और प्रभाव दोनों ही काफी हद तक कमजोर दिखाई दे रहा है। मंत्रों के प्रयोग अब १०% या २०% रहे होंगे? लेकिन यन्त्रों का प्रयोग अब ८०% बढ़ता जा रहा है। मन्त्र बल से प्राचीनकाल में कोई इक्का-दुक्का लोग सिद्धि प्राप्त करके दूर-अन्तर से बातें कर सकते थे। लेकिन आज के विज्ञान युग ने सेल फोन लोगों के हाथों में ऐसे पकड़ा दिये हैं कि मानों रस्ते चलते वच्चों के खिलौने की तरह से आम आदमी उपयोग करने लग गया है।

आध्यात्मिक मंत्रों का प्रभाव - सेंकड़ों किसम के मंत्रों में आध्यात्मिक मंत्रों का प्रमाण और प्रभाव भले ही कम हो लेकिन मानव मन को शान्ति प्रदान कराने में वे पर्याप्त है। भौतिक-पौत्रालिक सुख समृद्धि मानव ने चाहे मंत्र साधना के बल पर पाई हो या फिर विज्ञान के यन्त्रों के बल पर पाई हो लेकिन मानव आज भी चिर शान्ति प्राप्त नहीं कर पाया है। यह कटु सत्य आज भी हमें स्वीकारना ही पड़ता है। विघ्न-संकट निवारक, दुःख-दर्दनाशक, सुख-समृद्धि एवं ऋद्धि-सिद्धिदायक ऐसे मन्त्र प्रायः भूत-भौतिक जगत् से जुड़े हुए हैं। देवी-देवताओं से सूत के धागे की तरह बंधे हुए एवं जुड़े हैं। उच्च या निम्न श्रेणी के कई देवी-देवता ऐसे लाखों मन्त्रों से बंधे हुए, जुड़े हुए होने से वे इन मन्त्रों के अधिष्ठाता होते हैं। अतः स्मार्त के दुःखों को हरे, संकट विघ्नों को हरे... और सुख समृद्धि प्रदान करावे। अधिकांश व्यंजित जाति के देवी-देवता ऐसे मंत्रों के अधिष्ठाता रहते हैं। शास्त्रों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि चौबीसों तीर्थंकर भगवन्तों के सभी यक्ष-यक्षिणी एवं अधिष्ठायाकादि एवं, महालक्ष्मी, सरस्वती देवी, अम्बिका देवी, माणिक्यदेवी, घण्टाकर्ण देवी इत्यादि अनेक देवी या ५२ देवी आदि व्यन्तर निकाय के देवी-देवता हैं। उनके सेंकड़ों किसम के मंत्र-तंत्र यंत्रादि हैं। मंत्रों से इनका आव्हानादि किया जाता है। इनके सामने भक्त याचना भी करते ही रहते हैं। याचनाएं सारी भूत-भौतिक एवं पौत्रालिक ही होती है। तथा इन देव-देवीयों की शक्ति एवं क्षमता भी पौत्रालिक साधन-सामग्रियां देने तक ही सीमित होती है इसलिए सुख-समृद्धि की साधन सामग्रियां ये देते होंगे तथा प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में ये सहायक बनते होंगे। प्रत्यक्ष सहायक बनना तो शायद २ या ५ प्रतिशत ही संभव होगा लेकिन अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्ष रूप में ये भक्तों के सहायक होते होंगे। बस, इसी कारण आध्यात्मिक शान्ति प्रदान कराना इनके वश की बात नहीं लगती है। इनकी भी अपनी एक सीमा है।

सुख-दुःख निमित्तक अनादि संस्कार - अनादि कालीन मोह कर्म एवं मिथ्यात्व वासित संसारी

आत्मा ने संसार में जीने के लिए एक जीवन मंत्र सा बना लिया लगता है, और वह है - "सुख मिले और दुःख टले"। हमेशा यही मंत्र सभी जीव मन में रटते रहते हैं। जीव मात्र का संसार में यही रटण रहता है। निंद में या भूल से भी इन शब्दों के उच्चारण में विपरीतिकरण भी नहीं होता है। अर्थात् दुःख मिले और सुख टले ऐसा कोई नहीं बोलता है। इच्छा भी नहीं रखता है। भूल से विचार भी नहीं करता है। अनादि कालीन मोह कर्म मिथ्यात्ववश जीव मात्र की ऐसी विचारधारा बन ही जाती है। अब इसे बदले कौन? और कैसे? जीव स्वयं जब सम्यग् दर्शन सच्ची वास्तविक दृष्टि प्राप्त करेगा तभी यह परिवर्तन संभव है। आप शायद कहेंगे कि... इसमें विपरीत भी क्या है? यह कैसे गलत है? जी... हां... सही उत्तर यह है कि मिथ्यात्व का कार्य ही विपरीत मति निर्माण करना है। यह विपरीतता वास्तविकता से सर्वथा विपरीत ही होती है। मिथ्यात्व कभी भी चरम-सत्य को स्वीकारने की वृत्ति वाला ही नहीं होता है।

सुख और दुःख आखिर है क्या? कृत कर्म का ही विपाक है - फल है। शुभ कर्म का फल सुख और अशुभ कर्म का फल दुःख है अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में दानादि द्वारा जो भी पुण्य-शुभ कर्म उपार्जन किये हो और जब उनका काल परिपक्व होने पर उदय में आते ही वे सुख रूप फल प्रदान करते हैं। जीवों को सब बातों में जो अनुकूल लगता है उसे सुख रूप फल कहते हैं। ठीक इससे विपरीत जिन जीवों ने हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप - अशुभ कर्मों की प्रवृत्ति की हो और उससे जो कर्म बंध हुआ हो कालान्तर में वह उदय में आने पर सर्वथा प्रतिकूल फल प्रदान करता है उसे दुःख रूप फल कहते हैं। इस सिद्धान्त से यह स्पष्ट होता है कि सुख-दुःख यह अपने खुद के किये हुए शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। जो जीव मात्र के हाथों में है। न कि ईश्वर के हाथों में। फिर भी अज्ञानता एवं मिथ्यात्व की विपरीत मति के कारण जीवों ने ऐसा मान रखा है कि जीवों को सुख-दुःख देने वाला ईश्वर ही है। ईश्वर क्यों सुख देता है? इसके उत्तर में कोई सही कारण न मिलने पर... बस ईश्वर की मरजी। उसकी इच्छा। किसी को सुख और किसी को दुःख यह मात्र ईश्वर की इच्छा के ही आधीन है।

ऐसी मान्यता या धारणा बन जाने पर अब कोई भी जीव क्या सोचेगा? मैं क्यों अच्छा-बुरा कुछ भी सोचुं या करूं? अच्छा करूंगा तो भी ईश्वर सुख ही देगा ऐसा भी निश्चित ही नहीं है। क्योंकि सुख देना तो मात्र ईश्वर की इच्छा के आधीन है और यदि मैं बुरा-गलत-पाप भी करूं तो भी क्या फरक पड़ता है। बुरा काम देखकर उसके आधार पर तो ईश्वर फल देता ही नहीं है। वह तो अपनी इच्छा मात्र के आधार पर ही फल देता है। न मालूम ईश्वर को कब क्या इच्छा होगी? और न मालूम कब कैसी इच्छा बनेगी?

सामान्य जीव तो ज्ञानी नहीं है। अतः वह ईश्वर की इच्छा को कैसे जान पाए? जब ईश्वर का स्वरूप और वह भी बिल्कुल यथार्थ वास्तविक स्वरूप पहचानना ही सामान्य जीव के वश के बाहर की बात लगती है तो फिर ऐसे ईश्वर की इच्छा जानना या पहचानना शायद योगियों के लिए भी असंभव लगता है। समग्र विश्व में ऐसा कोई समर्थ एवं सक्षम नहीं है कि जो ईश्वर की इच्छा को पहचान सकें।

जी...हां... ईश्वर को पहचानना फिर भी संभव है। प्रस्तुत पुस्तक में ईश्वर के ही यथार्थ वास्तविक स्वरूप को पहचानने की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयास किया गया है। वाचक-पाठक वर्ग को भी इस दिशा में ले जाने का प्रयास किया है। यह बुद्धिजीवी वर्ग की बुद्धि को अपील करें इसलिए तर्क-युक्तियों से सजाकर प्रस्तुत पुस्तक का लेखन किया है। स्वाभाविक है किन कथाप्रिय सामान्य जन को अप्रिय लगे लेकिन बुद्धिजीवी वर्ग को अपीलकारक अवश्य बनेगी ऐसी आशा दृढ़ बनती है।

सत्य तो यह है कि... जब ईश्वर का यथार्थ वास्तविक स्वरूप जब पहचानते हैं तब इच्छा जैसा तत्त्व कुछ बीच में रहता ही नहीं है। अरे...? ईश्वर और वह भी इच्छा के आधीन? यह सर्वथा विरोधाभासी बात लगती है। जो जो इच्छा के आधीन होता है वह ईश्वर कहलाता है? या जो ईश्वर हो वह इच्छा के आधीन कहलाता है? किसके साथ आप व्याप्ति जोड़ेंगे? कौन-सी व्याप्ति सही बनाएंगे? क्या यह अन्वय व्याप्ति है कि व्यतिरेक व्याप्ति? यदि इच्छा की ही महत्ता हो तो ठीक है। इच्छा के आधीन हो वही ईश्वर तो फिर सामान्य मानवी को क्या कहेंगे? क्या सागान्य मानवी इच्छा से परे हैं? कदापि नहीं। क्या ईश्वर बनने के लिए इच्छाओं का उद्भव अनिवार्य है? कदापि नहीं। ईश्वर बनने के लिए इच्छाओं के आधार को सर्वथा अनुचित ही कहना यथार्थ है। इससे इच्छावाले मनुष्यों में अतिव्याप्ति होगी।

अतः सुखदाता, दुःखहर्ता, विघ्ननाश कर्ता संकट मोचन, बंधन छेदक, स्वर्गदाता, सृष्टि कर्ता, सर्जनहार, पालन करने वाला तथा संहार या महाप्रणय करने वाला आदि के स्वरूप वाले को ईश्वर कहना या नहीं? इस की तार्किक विचारधारा प्रस्तुत पुस्तक में की है। युक्तिगम्य, बुद्धिगम्य तर्क पूर्ण लेखन करके प्रस्तुत पुस्तक को बुद्धिजीवी वर्ग के अनुरूप बनाने का प्रयास किया है।

क्या ईश्वर... परमात्मा + भगवान या उपास्य तत्त्व मात्र श्रद्धा गम्य ही है? क्या ज्ञान गम्य है ही नहीं? या ज्ञान गम्य हो ही नहीं सकता है? अरे.....! जो ज्ञान गम्य ही नहीं हो सकता है, वह श्रद्धा गम्य भी कैसे हो सकता है? ज्ञान ही सत्यासत्य का भेदक है। यदि हम ज्ञान से तत्त्वों-पदार्थों को यथार्थ - वास्तविक स्वरूप में जाने-पहचानें बिना ही मानते

हैं तो हो सकता है कि आप अंधश्रद्धा की चुंगल में फंसे हो सकते हैं। जी हां, सम्यग् श्रद्धा ही तारक है। अंधश्रद्धा अंततोगत्वा घातक है। महासागर के बीच अज्ञानी व्यक्ति अपनी नौका कैसे चलाएगा? किस दिशा में किधर चलाएगा। या फिर लंगर के बंधन में बंधी हुई परन्तु लहरों के बीच हिलने-डुलने वाली नौका को ही भ्रमवश चल रही है ऐसा मानने वाले शराबी के जैसी अंधश्रद्धा हमें कदापि नहीं रखनी चाहिए। सुख-दाता, दुःख हर्ता या सृष्टिकर्ता आदि जैसी मान्यता या श्रद्धा क्या अंधश्रद्धा नहीं कहलाएगी? क्यों नहीं कहलाएगी?

ईश्वर विषयक सम्यग् ज्ञान - हमारी श्रद्धा का केन्द्रभूत ईश्वर तत्त्व ही अज्ञानग्रस्त, या मिथ्याज्ञानग्रस्त या अंधश्रद्धाग्रस्त रहेगा तो उपासक का कल्याण कैसे होगा? याद रखिए! समस्त संसार में समस्त जीवों के दुःख का मूलभूत कारण ही अज्ञान है, और मोह भी है। ठीक इसी तरह सुख का मूल कारण सम्यग् ज्ञान एवं वीतराग भाव है। आधारभूत एवं केन्द्र स्वरूप मुख्य ईश्वर के ही विषय में यदि इस प्रकार का अज्ञान-भ्रम या अंधश्रद्धा या मिथ्याज्ञान होगा तो कल्याण होना ही असंभव होगा। जी हां, सच्ची सम्यग् श्रद्धा के लिए ज्ञान का भी सम्यग् पूर्ण सत्य स्वरूप होना नितान्त आवश्यक है।

मोहग्रस्त माया एवं मोहासक्त संसारी जीवों ने इतनी भयंकर कक्षा की भूल कर दी है कि ... वास्तव में जो भगवान का यथार्थ स्वरूप था उसे न अपना कर अपने आपको जिस प्रकार के जैसे भगवान चाहिए थे वैसे बना लिए, वैसे मान लिए। और वैसे स्वरूप को ही संसार के प्रवाह में सर्वत्र प्रसारित कर दिया है। अतः वैसी ही मानने की मान्यता वाली परंपरा सदीयों से चली आ रही है। इसलिए ऐसा लगता है कि क्या भगवान जैसे थे? वास्तव में अपने स्वरूप में ईश्वर जैसे हैं वैसे ही स्वरूप में मानवी उन्हें मान रहा है या मानव की अपनी मोहग्रस्त जैसी वृत्ति थी तदनुसार उसे जैसे चाहिए थे वैसे बनाकर मानने लगा है? सर्वज्ञ वीतरागी भगवान जैसे थे, जैसा कि उनका यथार्थ वास्तविक स्वरूप था उसे छोड़कर स्वार्थवश मोहासक्त जीवों ने ईश्वर का स्वरूप अपने अनुकूल बनाकर मानना शुरू किया है? बस इस समस्या का हल आप ढूंढ निकालिए। आपको स्वयं को सच्चाई का पता लगेगा। मानव को चाहिए थे... सुखदातां और दुःखहर्ता। अतः मानवी ने अपने इस स्वार्थ या मोह का रंग ईश्वर पर लगा दिया और वैसा मानने लगा। लेकिन यह नहीं सोचा कि... मैं ऐसा मान रहा हूँ। परन्तु सचमुच ईश्वर ऐसा है या नहीं? यदि ईश्वर सुखदाता तथा दुःखहर्ता है ही नहीं और मैं उसे "है" के रूप में मानता ही जा रहा हूँ और अपने पुत्र-पौत्र की परंपरा में भी यही मान्यता रूढ करता जा रहा हूँ। क्या इस तरह एक मिथ्या - गलत परंपरा नहीं चलेगी? अरे... हां... अंधश्रद्धा यह सच्ची वास्तविक

सम्यग् श्रद्धा की ही विकृति है। और कुछ नहीं है। लेकिन ऐसी गलत परंपरा रूढ होकर सदीयों तक चलती ही रही और जीवों में घर करती ही गई तो क्या परिणाम आएगा?

आखिर यह सच्चा - सत्य तो ढूंढना ही पड़ेगा कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है? कैसा है? ईश्वर के साथ सुख-दुःख की बात जोड़नी ही क्यों चाहिए? हमारा सुख-दुःख हमारे साथ है। हमारे अपने कृत कर्मजन्य है फिर उसे ईश्वर के साथ जोड़ देना कितनी भारी भूल है। भगवान सर्वज्ञ और वीतरागी है। जबकी उसकी भगवत्ता को संसार में प्रवाहित प्रसारित करने वाला भक्त राग द्वेषग्रस्त अज्ञानी एवं मोहादिसे ग्रस्त है। यदि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतरागी ऐसे ईश्वर की श्रद्धा एवं ज्ञान हमें अल्पज्ञों, अज्ञानीयों एवं मोहासक्त अंधश्रद्धालुओं के द्वारा होगी तो वह कैसी होगी? स्वयं अज्ञानी हमें कैसे सम्यग् ज्ञान प्रदान करेगा? अपने आप में खुद मिथ्याज्ञानी हो वह हमें सम्यग् सच्चा ज्ञान कहाँ से देगा? और यदि ज्ञान ही मिथ्या होगा तो फिर श्रद्धा सम्यग् कैसे हो सकती है? जी नहीं! कदापि नहीं। अतः श्रद्धा के आधारभूत ज्ञान का सम्यग् होना नितान्त आवश्यक है।

इस सिद्धान्त के आधार पर कम से कम हमें इतना तो अवश्य ही समझना चाहिए कि... हमें ऐसे तथाकथित मिथ्यावीर्यों या अज्ञानीयों के पास से सीखकर श्रद्धा नहीं बनानी चाहिए। अपितु शास्त्र सिद्ध शास्त्रोपदिष्ट सम्यग् स्वरूप के आधार पर ही अपना ज्ञान-दर्शन विकसित करना चाहिए। यही सही रास्ता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने ईश्वर विषयक ज्ञान को प्राधान्यता देते हुए वाचक वर्ग को सच्चाई के शिखर पर ले जाने का प्रयास किया है। इसीलिए तर्क गम्य युक्ति पुरस्सर प्रश्नार्थक वाक्य रचना के रूप में बुद्धिजीवी वाचक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत किया है। ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर कैसे बना जा सकता है कि प्रक्रिया भी प्रस्तुत की है। अनेक धर्मों की मान्यता को लेकर बुद्धि की कसौटी पर कसने का प्रयास भी निखर आया। अतः प्रथम ईश्वर विषयक ज्ञान सम्यग् सत्य हो जाय फिर उस सच्चे ज्ञान के आधार पर ही श्रद्धा बनाए, श्रद्धा को आगे बढ़ाए और ऐसी श्रद्धा का उपयोग भक्ति में, ध्यान में, साधना में, उपयोग में लाए इतना ही उद्देश्य इस लेखन श्रम के पीछे रखा है। आशा है बुद्धिजीवी पाठक वर्ग अज्ञानता एवं अंधश्रद्धा का निर्मूलन करके अरिहंत को पाने की तथा अन्त तो गत्य अरिहन्त बनने की दिशा में अग्रसर होगा।

- अरुणविजय म.

श्री लुणावा जैन संघ में एक प्रशस्य चातुर्मास

राजस्थान राज्य शूरवीर राजपुतानों की धरती रही है। मरू भूमि की इस धरा पर पाली जिले के गोडवाड प्रदेश में बाली तहसील में बीजापुर के समीप अंरावली पर्वतमाला की उत्तरी उपत्यका में नदी किनारे १७०० वर्ष प्राचीनतम ऐतिहासिक श्री हथूण्डी तीर्थ बसा हुआ है। जैन श्रमण संघ के विद्वद्रत्न पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.सा. की प्रेरक प्रेरणा, सदुपदेश मार्गदर्शन एवं अथाग पुरुषार्थ से इस तीर्थ का अंतिम जीर्णोद्धार तथा सर्वांगीण विकास हुआ। श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर का भव्य नवनिर्माण हुआ। इस तीर्थ की शोभा में चार चांद लग गए। वि. सं. २०५२ की साल के माघ महीने की सप्तमी की शुभ तिथि के मुहूर्त में श्री हथूण्डी तीर्थ में भव्यतम प्रतिष्ठा हुई। भारतभर के अनेक संघों एवं भाग्यशाली महानुभावों ने काफी उत्साह और उल्लास से लाभ लिया।

हथूण्डी तीर्थ से सिर्फ १४-१५ की. मी. पर लुणावा गांव है। नदी के किनारे बसे हुए प्राचीन तीर्थ सेसली एवं अभिनव नागेश्वर पार्थनाथ युक्त श्री भद्रंकर नगर तीर्थ से सुशोभित श्री लुणावा गांव में चातुर्मास कराने हेतु पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज सा. को विनंति करने हमारा श्रीसंघ हथूण्डी तीर्थ गया। श्री लुणावा संघ एवं महावीर युवक मण्डल के कार्यकर्ताओं ने काफी आग्रहपूर्ण विनंति की।

पूज्यश्री का विहार पाली-नाकोडा-जोधपुर-कापरडा तीर्थ की तरफ हुआ। जोधपुर में पूज्यश्री की तरफ से हमें चातुर्मास की स्वीकृति मिली। श्रीसंघ ने जय बोली! अपांड शुद में पूज्यश्री पंन्यासजी अरुण विजयजी म.सा., पू. मुनिश्री धनपाल विजयजी म., पू. मुनिश्री हेमन्त विजयजी म., पू. मुनिश्री कल्पेन्द्र विजयजी म. आदि मुनि मण्डल का आगमन लुणावा नगरी में हुआ। काफी उत्साह और आनन्द से श्रीसंघ ने एवं विशेषकर श्री महावीर युवक मण्डल ने पूज्यश्री का चातुर्मास प्रवेश करवाया। सिद्धचक्र महापूजन आदि पढाए गए।

पू. पंन्यासजी भद्रंकर विजयजी म.सा. जैसे महान साधक महापुरुष की साधना की भूमि लुणावा में पू. पंन्यासजी श्री अरुण विजयजी म.सा. ने कुछ दिन नवकार महामंत्र के तात्विक प्रवचन देकर स्मृति ताजी कराई। श्रीसंघ में चातुर्मासिक प्रवचनों हेतु आगम शास्त्र के चढावे हुए। पूज्यश्री नियमित आगमिक प्रवचन फरमाते थे। ऐसी तत्त्व वाणी श्रवणार्थ जैन-अजैन अनेक पुण्यात्मा पधारते थे।

नवकार के ६८ उपवास की तपस्वर्या - नमस्कार महामंत्र के महान साधक पू. पंन्यासजी म.सा. की स्मृति में श्रीसंघ में पूज्यश्री ने श्री नमस्कार महामंत्र के ६८ एकांतर उपवास की आराधना करवाई। पू. धनपाल विजयजी म. ने भी एकांतर ६८ उपवास से नवकार की आराधना की थी। अनेक बहनें एवं पुरुषों ने आराधना की। श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. जयन्तिलालजी ने तपस्वीयों को बियासणा पारणा कराने का तथा श्रीसंघ की एवं महेमानों की साधर्मिक भक्ति कराने का लाभ पूरे चातुर्मास में लिया था। ३४ बियासणे सह ६८ उपवास की (एकांतरे) की आराधना सुखरूप पूर्ण हुई। अन्य छद्द-अद्दम एकासणे-आयविल आदि की आराधनाएं भी होती रही।

श्री पर्युषण महापर्व की आराधना - लुणावा से अमदावाद-बम्बई और वापिस बम्बई-अमदावाद

आदि से वापिस लुणावा भाग्यशालियों का आवागमन निरंतर चालु रहा। आखिर पर्युषण जैसे महापर्व की आराधना अपने वतन में करने हेतु सैंकड़ों परिवार लुणावा गांव में पधारे थे। घर-घर में तपस्वर्या का ताता लगा था। तपस्वर्या के माहौल ने घर-घर में अट्टाइयां, नौं, ११, २१, क्षीर समुद्र आदि तपस्वर्याएं करवाई। संघ में मासलमण भी हुए। १४ स्वप्न दर्शन में भी कल्पनातीत उपज हुई। पूज्य पंन्यासजी श्री अरुण विजयजी म.सा. की प्रेरणा एवं सदुपदेश से पुना के कात्रज घाट की सुरम्य पर्वतमाला में ५० एकर की जमीन में जो “वीरालयम्” का विशाल विश्वस्तरीय प्रकल्प निर्माण हो रहा है। उसमें अस्पताल, धर्मशाला आदि की योजनाओं में श्रीसंघ के कई उदारमना महानुभावों ने अपनी लक्ष्मी का सद्ब्यय करने का लाभ लिया है।

पू. मुनिश्री हेमन्त विजयजी म. ने लाटारा जैन संघ में पर्युषण महापर्व की आराधना काफी धामधूम से करवाई थी। काफी अच्छी तपस्वर्या हुई थी।

चौसठ प्रहरी पौषध के आराधक भाई-बहनें काफी बड़ी संख्या में रहे। संवत्सरी की आराधनार्थ अधिकांश लोग लुणावा पधारे थे। विशाल उपाश्रय भी छोटा पड़ने लगा। बहुत ही अमृटे आनन्दोल्लास से श्रीसंघ में संवत्सरी की आराधना हुई। संवत्सरी प्रतिक्रमण पूज्यश्री ने जिस तरह शान्ति से समझाते हुए कराया वह तो सचमुच इतिहास बन गया। कई छोटे-बड़े भाग्यशालियों ने जीवन में ऐसा प्रतिक्रमण प्रथम बार करने का एहसास किया।

रथयात्रा एवं तपस्वीयों का सन्मान - महापर्व की पूर्णाहुति पर श्रीसंघ का विशाल बरघोडा लुणावा की गलीयों में निकला। जैन-अजैन सैंकड़ों भाविकों ने दर्शन करके अनुमोदना की। गजराज एवं अश्वों पर आरुढ होकर भक्तों ने शासन शोभा में अभिवृद्धि की। स्वामीवात्सल्य और पारणे हुए। श्री महावीर युवक मण्डल ने समस्त तपस्वीयों की विशिष्ट अनुमोदना एवं सन्मान समारोह आयोजित किया था। चांदी के उपकरणों एवं रोकड रकम तथा अन्य उपकरणों से संघ के समस्त तपस्वीयों का काफी सुशोभनीय सन्मान किया था।

पू. साध्वीजी महाराजों की पधारमणी - श्री लुणावा संघ में श्राविका वर्ग में आराधना कराने हेतु श्रीसंघ की विनंति से प. पू. अरिहंतसिद्ध सूरि म.सा. के समुदाय की पू. दिव्यप्रभाश्रीजी म. पू. सा. श्री आदि साध्वी समुदाय पधारे थे। उन्होंने भी काफी आराधना की और करवाई।

धीरज-कल्पेश की आराधना - मूल सीरोडी के वतनी और बैंगलोर निवासी श्रेष्ठीवर्य श्रीमान शा. सागरमलजी बाबुलालजी के सुपुत्र धीरजकुमार एवं कल्पेशकुमार ये दोनों बालकुमार जो कि पूज्य पंन्यासजी म.सा. के साथ ही हमारे श्री लुणावा संघ में पधारे थे। पूज्यश्री के साथ ही चातुर्मास किया। शिक्षा प्राप्त करने स्कूल में भी जाते रहे और शिक्षक के पास भी पढ़ते रहते थे। नित्य प्रभु पूजा-भक्ति, नवकारशी, सामायिक-प्रतिक्रमण, धार्मिक अभ्यास आदि करते रहते थे। पर्व तिथि के शुभ दिन पौषध आदि करते थे। पर्युषण में चौसठ प्रहरी पौषध एकासणों के साथ किये। कार्तिक चौमासी को पौषध करके कार्तिकी पूर्णिमा की यात्रार्थ पैदल भद्रंकर नगर-सेसली पधारे दोपहर को धीरज को दुखार चढा। रात को अस्पताल में लेकर गए। आयुष्य की समाप्ति करके धीरजकुमार ने देवगति प्राप्त की। होनहार हो के ही रहता है। भाग्य दशा कर्माधीन है। ऐसे वैरागी बालकुमार ने हमारी लुणावा की धरती पर जो आराधना-अभ्यास किया वह सदा स्मृति में बना

रहेगा।

आसो मास की शाश्वती ओली की आराधना - चातुर्मास में आई आसो मास की शाश्वती नवपदजी की ओली की आराधना श्रीसंघ में काफी आनन्दोल्लास से हुई। आर्यबिल की तपस्वर्या अनेक तपस्वीयों ने की। श्रीसंघ में जिनेन्द्र भक्ति महोत्सव आदि काफी ठाठ से हुआ।

श्री नवकार सम्मेलन का आयोजन - नौ दिवसीय नवकार सम्मेलन का एक अनूठा आयोजन किया गया था। बम्बई-अमदाबाद आदि से अनेक भाविक पधारे थे। नौ दिन तक तपस्वर्या, जाप-ध्यान-पूजा-पाठ आदि सह चले इस आयोजन में बम्बई आदि से रमणभाई सी. शाह आदि अनेक विद्वान पधारे थे। जिन्होंने श्री नमस्कार महामंत्र पर उद्बोधन किया था। पूज्य पंन्यासजी अरुण विजयजी म.सा. ने नवकार महामंत्र के रहस्य समझाए। और २ मास परिश्रम करके नवकार पर माननीय कई लेख लिखे हैं। तथा बाहर से पूज्यों एवं विद्वानों के भी लेखादि आए हैं। जिन्हें श्री लुणावा संघ स्मारिका के रूप में प्रकाशित कर रहा है। आगामी अल्पकाल में यह भी प्रकाशन वाचक वर्ग के कर कमलों में आएगा।

श्री लुणावा संघ ने विशिष्ट लाभ लिया - गोडवाड के विविध संघों में एक समृद्ध संघ के रूप में लुणावा संघ की गणना होती है। महाराष्ट्र राज्य की लघु काशी रूप पुना नगरी के कात्रज घाट विस्तार की सुरम्य पहाडियों के बीच जहां ५० एकर की वीरालयम् की विशाल योजना साकार होने जा रही है। उसमें निर्माण हो रहे "श्री महावीर समवसरण ध्यान प्रासाद" के निर्माण में देवद्रव्य खाते में से सुयोग्य राशी पास करके प्रदान की है।

श्री जीवाभिगम और पत्रवणासूत्र जैसे प्राचीन आगम शास्त्र पुनः छपवाकर प्रकाशित करने की ज्ञान लाभ की योजना पूज्य पंन्यासजी श्री अरुण विजयजी म.सा. ने समझाई और संघ के आगेवातों ने सहर्ष करके ज्ञानखाते में से ३ लाख रुपए की राशी पास की। जिसका मुद्रण कार्य चल रहा है। श्री लुणावा संघ में हुए श्री नवकार सम्मेलन प्रसंग निमित्त पूज्य पंन्यासजी म.सा. ने नवकार महामंत्र पर अनेक पहलुओं से लेख लिखे। तथा बाहर से भी लेख आए। उनकी एक सुंदर स्मारिका प्रकाशित करने का आयोजन किया है।

पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुण विजयजी गणिवर्य म.सा. ने लिखि हुई पुस्तक "श्री नमस्कार महामंत्र का अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान" जिसमें नवकार के प्रथम पद "नमो अरिहन्ताणं" का विशद विवेचन है उसे भी श्री लुणावा जैन संघ ने ज्ञान खाते में से प्रकाशित कराने का निर्णय किया है। अतः प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी में तैयार होकर लोगों के कर कमलों में आ रही है। इस तरह श्री लुणावा जैन संघ ने ज्ञानवृद्धि आदि कार्यों में काफी अनुमोदनीय लाभ लिया है। अतः श्री लुणावा जैन संघ एवं श्री महावीर युवक मण्डल सविशेष अभिनन्दन एवं अनुमोदना के पात्र है। श्री महावीर युवक मण्डल के अनेक युवकों ने काफी अच्छा योगदान दिया और चातुर्मास आयोजन का बीडा मण्डल के सदस्यों ने अपने कंधे पर उठाकर उसे सफल बनाया। इस तरह धर्मारोधनामय चातुर्मास का बल्लावरण बना रहा। कई प्रसंग एवं विविध आयोजन स्मरणीय बने रहे। गांव के अनेक भाग्यशालियों को अपनी मातृभूमि के गांव में पर्युषण तथा चातुर्मास की आराधना करने का संतोष हुआ। शासन देव से प्रार्थना करते हैं कि लुणावा की धर्मधरा पर हमेशा ही इस प्रकार की धर्मारोधना होती रहे।



लेखक के मनोगत भाव ...



क्या मंत्र भी कभी दार्शनिक तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण होता है ? यह प्रश्न दीमक की तरह वर्षों से दिमाग खा रहा था। सेंकड़ों मंत्रों को टटोलते गया। अधिकांश मंत्रों में ... कुछ न कुछ प्राप्ति की याचना दिखाई दी और इस याचना में भी भौतिक - पौद्गलिक सुख की प्राप्ति का प्रमाण काफी ज्यादा लगा। कई मंत्रों में दुःख नाशक, विघ्न एवं संकट नाशक, आपत्ति नाश की याचना ही काफी ज्यादा दिखाई दी। इससे भी निम्नकक्षा के कई मंत्रों में शत्रुनाश या वशीकरण आदि की सेंकड़ों बातें थी। आखिर मन हैरान था ... कि... अरे ! मंत्रों में कहां दार्शनिक तत्त्वज्ञान को ढूंढना ? शायद यह वैचारिक अपराध तो नहीं था ? लेकिन जैनधर्म के नमस्कार महामन्त्र की गहराई में उतरने पर ऐसा लगा कि नहीं खोज की दिशा का यह विचार सर्वथा निरर्थक नहीं है। विचार की सार्थकता ने हकारात्मक अभिगम अपनाया। बस, फिर तो क्या था ? मानों मन को परियों के जैसे पंख निकल आए। जैसे - जैसे नवकार की गहराई को छूता गया... चिन्तन की प्रक्रिया ने आसमान की दूरी देखने-देखते नवकार की विराटता को सापना शुरू किया और चिन्तन की लहरों को शब्द देह में कुछ उतार पाया बस, नवकार की ही असीम कृपा का यह अनुठा प्रमाण है।

अमदाबाद के साबरमती के चातुर्मास में प्रायः वि.सं. २०४४ में ४ मास के चातुर्मास के १६ रविवारों की मध्याह्न प्रवचनमाला का विषय ही नवकार रखा। “नमस्कार महामंत्र नुं अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान” विषयक शीर्षक से चल रही प्रवचनमाला के व्याख्यान्यों को लिखता गया। चिन्तन के आनन्द ने मन को बहलाया लेकिन इसी आनन्द को लोगों तक पहुंचाने के लिए शब्द देह देना अनिवार्य था।

गुजराती भाषा में प्रवचन और लेखन दोनों चलते रहे। साधु जीवन में परोपकार करने के इन दोनों प्रबल माध्यमों का भरपूर उपयोग किया। साबरमती संघ ने मुद्रण कराके प्रकाशित किया। लोगों के करकमलों में पुस्तकें पहुंची। वाचक वर्ग की रुचि ने द्वितीय आवृत्ति को भी जन्म दिया।

आखिर चिन्ता थी हिन्दी भाषी वर्ग की। हिन्दी भाषी वर्ग हमेशा यह आरोप लगाता ही रहा कि - गुजराती भाषा में साहित्य की भरमार है लेकिन हिन्दी भाषा में जैन धर्म विषयक साहित्य की काफी कमी है। अतः सतत चाहता रहा कि हिन्दी संस्करण भी इसका निकल जाय तो काफी मानसिक शान्ति मिलेगी। लेकिन बया सर्जन करने के मनोत्साह ने अनुवाद हेतु कलम न उठाने की मानों प्रतिज्ञा ही कर ली हो ... अतः मेरी मानसिकता तैयार न हो पाई।

आखिर सिराही के विद्वान श्रीमान जसराजजी सिंधी ने यह बीडा उठाया। स्वीकृति प्रदान की और कलम चलाकर मेरी गुजराती को हिन्दी रूप दिया। अब प्रकाशन की व्यवस्था की खोज रही। योगानुयोग राजस्थान की धर्मभूमि लुणावा में चातुर्मास था। हिन्दी संस्करण के प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन हेतु श्री संघ को प्रेरणा दी। “नवकार सम्मेलन” के सुनहरे अवसर को दृष्टि समक्ष रखकर श्री लुणावा संघ ने ज्ञानखाते में से आर्थिक सहयोग प्रदान किया।

वर्ल्ड के किरीट वडेया मुद्रक ने कॉम्प्यूटर पर कम्पोजिंग करने में काफी अच्छा सहयोग देकर पूर्ण किया। वयोवृद्ध ज्ञानप्रेमी रमणिकभाई सलोल ने मुद्रण व्यवस्था संभाली। मुनि हेमन्तविजय ने प्रुफ संशोधन की जिम्मेदारी अदा की। इन सब के सामूहिक सहयोग ने प्रस्तुत हिन्दी संस्करण को वाचक वर्ग के करकमलों में पहुंचाने में सफलता दिलाई है। अतः सभी अभिन्नंदन के पात्र है। मेरी बस इतनी ही अपेक्षा है कि वाचक वर्ग नवकार जैसे महामंत्र की दार्शनिकता को समझकर सत्य को पाए सम्यग् दर्शन पाकर अपना मोक्ष सुनिश्चित करले बस....

- पंच्यास अरुणविजय

प्रकाशक मंथा के हृदयोद्गार

संशोधन और प्रकाशन के उद्देश्यों को लेकर ज्ञान की दिशा में कार्य करने के संकल्पवाली एक संस्था विश्व के मंच पर उदित हुई है। जिसका नाम है "श्री महावीर रिसर्च फाउण्डेशन" - वीरालयम्।

महाराष्ट्र राज्य की राजधानी मुंबई नगरी से अत्यन्त समीप विद्या नगरी लघु काशी स्वरूप पुना नगरी है। पुण्यपत्तन के प्राचीन नामवाली पुना नगरी के सीमावर्ती कात्रज घाट की सुरम्य पर्वतमाला के बीच मिनि हिल स्टेशन स्वरूप वीरालयम् स्थित है। खुशनुमा हवामान के बीच शान्त वातावरण में ५० एकर - करीब १५० बीघा की विशाल भूमि में प्रसृत वीरालयम् संस्था का जन्म स्थान है।

प्राचीन शास्त्रों और ग्रन्थों में से संशोधन करते हुए जो नवनीत हाथ में आए उसे जन-जन तक पहुंचाने के पवित्र उद्देश्य से यथा नाम तथा कार्य वाली संस्था का यथार्थ अभिधान "श्री महावीर रिसर्च फाउण्डेशन" है। भगवान महावीर के संक्षिप्त नाम "वीर" शब्द के साथ 'आलय' शब्द जोड़कर संस्कृत भाषी नामकरण "वीरालयम्" है। गौतम जैसे महान गणधर के जीभ पर चढा हुआ संक्षिप्त मंत्र ही मानों समझो . वीर... वीर... यह नाम हर श्वास के साथ रटण में आता था। वीर का आलय यहां वीरालयम् है। इस क्षेत्र में कार्यरत प्रस्तुत संस्था ज्ञान के शिखर सर करने की दिशा में अभी तो प्रथम ही कदम उठा रही है। जिसमें महान मंगलिक स्वरूप नमस्कार महामंत्र का ही ग्रन्थ प्रकाशित करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रकाशन की दिशा में यह संस्था "श्री महावीर जैन साहित्य सुमन" की श्रेणी में ... एक - एक से चढते सुमन वाचक वर्ग के कर कमलों में रखती ही जाएगी ऐसी आशा और पुरुषार्थ की प्रबल भावना रखते हैं।

पू. पंन्यास प्रवर श्री अरुण विजयजी महाराज जो कि हमारे प्रेरणास्रोत है। हमारे जनक है। मूलभूत लेखक एवं प्रवचनकर्ता विद्वान है। बहुमुखी प्रतिभा संपन्न है। अनेक पुस्तकों के सर्जक है। "श्री नवकार" पर गहरा चिन्तन तत्त्वज्ञान सभर नवनीत हमको लेखन के रूप में प्रदान किया। इसीमें हमारी भाग्यदशा ने करवट बदली। विद्वान अनुवादक श्रीमान जसराजजी सिंघी ने काफी परिश्रम लेकर हिन्दी भाषांतर तैयार किया। पूज्य पंन्यासजी म.सा. के मूलभूत गुजराती लेखन को हिन्दी रूपान्तर करके हिन्दी भाषी वर्ग तक अमूल्य साहित्य प्रसादी पहुंचाने का यथार्थ पुरुषार्थ किया अतः वे शतशः अभिनंदन के पात्र है।

श्री लुणावा जैन संघ, श्री पराप्रभु आदीश्वर जैन देवस्थान पेढी ने पूज्यश्री की प्रेरणा से ज्ञान खाते में से आर्थिक सहयोग प्रदान किया परिणाम स्वरूप प्रस्तुत सर्जन अस्तित्व में आ सका। अतः लुणावा संघ अभिनंदनीय है। बम्बई भायखला के श्री किरिटी बडेचा एवं हितेश बडेचा पिता-पुत्र ने इसका टाइप सेटिंग कंपोझिंग करके दिया है। मुद्रण व्यवस्था हेतु वयोवृद्ध सेवाभावी कार्यकर्ता श्री रमणिकभाई रामचंद्र स्लोत ने जो परिश्रम उठाकर मुद्रण किया है सचमुच धन्यवाद के पात्र है। पूज्य मुनिश्री हेमन्तविजयजी म. ने ग्रुप संशोधन करके जो शुद्धिकरण किया है यह प्रयास काफी स्तुत्य है। इस समूहात्मक कार्य के लिए सभी को साधुवाद प्रदान करते हुए हम धन्यता अनुभव करते हैं।

सेवा - शिक्षा - और साधना के त्रिवेणी संगम तीर्थ तुल्य "वीरालयम्" के इन्ही उद्देश्यों की परिपूर्ति हेतु हमारा यह प्रयास सार्थक हो ऐसी हम आशा रखते हैं। "नवकार जैसे महामंत्र में दार्शनिक तत्त्वज्ञान" सचमुच यह काफी संशोधन का विषय है। प्रस्तुत प्रयास यह प्रथम कदम ही समझो। प्रथम चरण के आगे ... द्वितीय चरण की प्रतिक्षा करते हुए हम वाचक वर्ग के कर कमलों में प्रस्तुत पुस्तक अर्पण करते हुए धन्यता अनुभव करते हैं।...

- श्री महावीर रिसर्च फाउण्डेशन-वीरालयम् ट्रस्ट मंडल



રાજસ્થાન રાજ્યના પાલી જિલ્લાના ગોડવાડ પ્રદેશ અંતર્ગત નાનીપંચ તીર્થોમાં આવતું 'બિજપુર સેલાડી અને બેડા ગામ પાસે પ્રાચીન ઐતિહાસિક પ્રાકૃતિક સૌંદર્યથી સુશોભિત રમણિય 'શ્રી હથૂણ્ડી તીર્થ'ના મૂળનાયક-૧૬૯૦ વર્ષ પ્રાચીન રેતી-વેતુ નિર્મિત ૫૧ ઈંચ ઉંચી-વિશાળ ભવ્ય અલૌકિક પ્રભાવી સમત્કારી લાલ પ્રતિમા.... હથૂણ્ડી તીર્થ મંડળ શ્રી રાતા મહાવીર સ્વામી ભગવાન પો. વિજપુર રોડે. જવાઈ બાંધ અથવા ફાલના. જિ. પાલી, તા. બાલી, રાજસ્થાન-૩૦૬ ૭૦૭. ફોન ૩૯.



★ तत्त्वचिंतक तात्त्विक - सात्त्विक साहित्यना सृजनारा • शास्त्रीय शैलीचे सिद्धांतोनी तत्त्वपूर्ण रचुआत करुनारा... • दार्शनिक पद्धतिचे तर्कयुक्ति पूर्वक छषावट करुनारा • शिबिरो ढ्दारा युवा आलमने जैन तत्त्वना रहस्यो समजवुनारा • बार्द-चित्रो साहित सचित्र शैलीना प्रवचन करुनारा
★ सचित्र शैलीचे पुरतडो लजुनारा लेजक पू. पंन्यास प्रवर श्री अनुषाविजयलु महाराज.



NATIONAL HIGHWAY

MUMBAI - BANGLORE

PUNE CITY

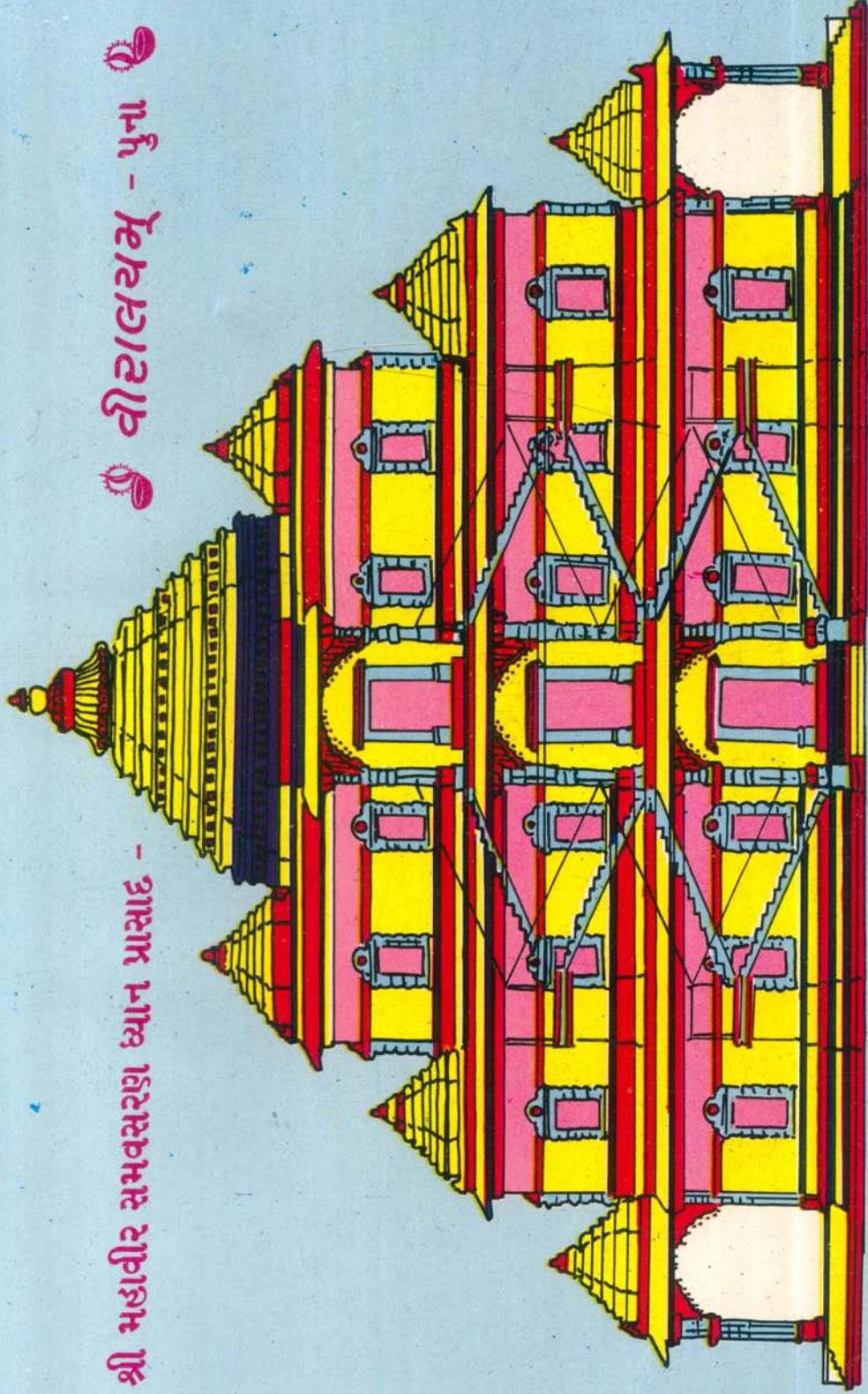
KATRAJ - DEHU ROAD BY PASS N. H. NO. 4

MUMBAI



श्री महावीर समवसरण ध्यान प्रासाद -

वीरालयम् - पुना



श्री नमस्कार महामंत्र का स्वरूप

नमस्करणीय - वंदनीय - पूजनीय - स्मरणीय - आदरणीय परम पिता
परमात्मा श्री महावीर प्रभु के चरणारविंद में अनंतशः नमस्कारपूर्वक

श्री नमस्कार महामंत्र समग्र लोक में कितना और किस प्रकार व्याप्त है,
इसकी उपमाएँ देते हुए 'श्री महानिशीथ' नामक छेदसूत्र आगम में कहा है कि...
जे णं एस पंच मंगल महासुयक्खंधे सेणंसयलागमतरोववती

तिल तेल कमलमयरंदव्वसव्वलोए पंचत्थि कायमिव.. ।- श्री महानिशीथ सूत्र
जिस प्रकार तिल में तेल, कमल में मकरंद अथवा समग्र लोक में पंचास्तिकाय
व्याप्त है, उसी प्रकार यह पंचमंगल महाश्रुतस्कंध (नवकार) सभी आगमों में
व्याप्त है ।

तिल में जिस प्रकार तेल सर्वांगीण रूप से व्याप्त है, कमल के पुष्प में
सौरभ जैसे सर्वत्र व्याप्त है, और ये उपमाएँ भी कदाचित् पर्याप्त नहीं लगती
होंगी, अतः अंत में बड़ी विशाल उपमा देते हुए कहा है कि चौदह राजलोक के
समग्रलोक में पंचास्तिकायरूप पदार्थ जिस प्रकार सर्वत्र - सभी क्षेत्रों में व्याप्त है
- अर्थात् धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय तथा
जीवास्तिकायादि - पंचास्तिकाय पदार्थ जिस प्रकार समस्त चौदहराजलोक के कोने
कोने में सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार यह 'पंचमंगल महाश्रुतस्कंध' स्वरूप नवकार
महामंत्र सभी आगमों में सर्वत्र व्याप्त है ।

यह है चौदह पूर्वों का सार - निष्कर्ष

'समरो मंत्र भलो नवकार'... नामक महिमास्तोत्र की एक पंक्ति में इसे
चौदह पूर्वों का सार - निष्कर्ष बताया गया है । पूर्व यहाँ पहले अथवा भूतकालवाची
अन्य अर्थों में अभिप्रेत नहीं है । 'पूर्व' जैन धर्म में आगम ग्रंथों को प्रदत्त एक नाम
है । पूर्व यहाँ आगमग्रंथवाची संज्ञा है । किसी निश्चित् परिमाण श्याही से लिखित
विशालकायआगम ग्रंथ को पूर्व की संज्ञा दी गई है । विश्वविख्यात श्री कल्पसूत्र
नामक महापवित्र जिनागम में १४ पूर्वों का वर्णन करते हुए मानस चित्र पूर्वक

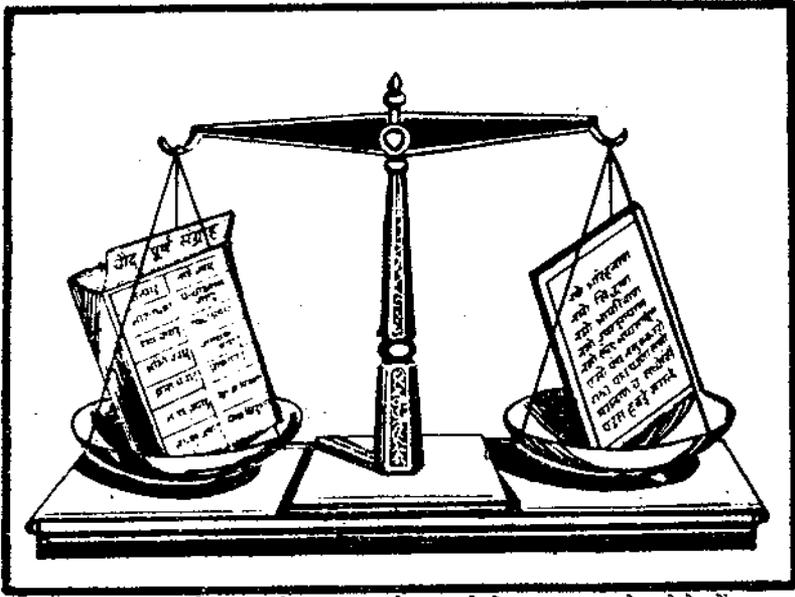
पूर्व ग्रंथों की विशालता का परिचय देते हुए कहा गया है कि इतने हाथियों के वजन तुल्य श्याही से जितना भी लिखा जा सके, उस लिखित ग्रंथ को पूर्व - संज्ञा से संबोधित किया गया है। माप और परिमाण को स्पष्ट करने की दृष्टि से हाथी की उपमा दी गई है।

हमारा दैनिक अनुभव कहता है कि श्याही की एक दवात में से कितने पृष्ठ लिखे जा सकते हैं और श्याही की एक बड़ी बोतल में से कितने पृष्ठ लिखे जा सकते हैं ? जब कि यह तो एक हाथी के परिमाण - वजन तुल्य श्याही से जितनी सामग्री लिखी जा सके उसे जैन धर्म में पूर्व की संज्ञा दी गई है। इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि पूर्व ग्रंथ कितने विशालकाय ग्रंथ थे ? इन में एक हाथी प्रमाण श्याही से लिखे गए ग्रंथ को प्रथम पूर्व कहा गया है। इसके उत्तरवर्ती पूर्व दुगुने दुगुने हाथियों की संख्या के वजन तुल्य श्याही से लिखित १४ पूर्व हैं। उन १४ पूर्वों के नाम तथा हाथियों का परिमाण निम्न प्रकार हैं :

१४ पूर्वों के नाम

हाथियों की संख्या

१. उत्पाद पूर्व	१ हाथी के वजन तुल्य श्याही से
२. अग्रायणीय पूर्व	२ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
३. वीर्यप्रवाद पूर्व	४ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
४. अस्तिप्रवाद पूर्व	८ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
५. ज्ञानप्रवाद पूर्व	१६ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
६. सत्यप्रवाद पूर्व	३२ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
७. आत्मप्रवाद पूर्व	६४ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
८. कर्मप्रवाद पूर्व	१२८ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
९. प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व	२५६ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
१०. विद्याप्रवाद पूर्व	५१२ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
११. कल्याण पूर्व	१०२४ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
१२. प्राणावाय पूर्व	२०४८ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
१३. क्रियाविशाल पूर्व	४०९६ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
१४. लोकविन्दुसार पूर्व	८१९२ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से
कुल चौदह पूर्व	१६३८३ हाथियों के वजन तुल्य श्याही से लिखे गए विशालकाय ग्रंथ कहलाए।



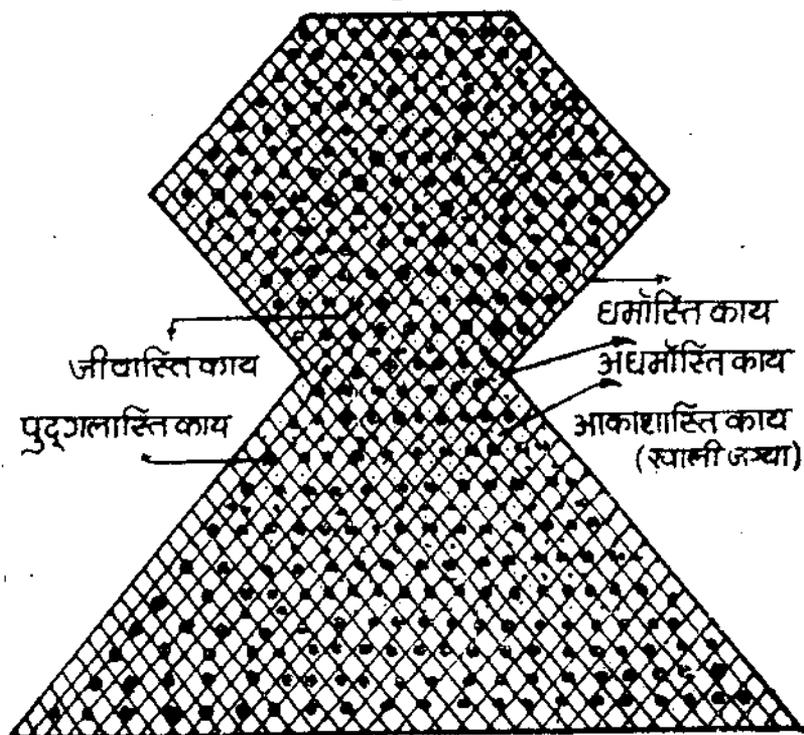
इतने विराट चौदह पूर्वरूप ग्रंथ जैन धर्म के श्रुतज्ञान के क्षेत्र में उच्चतम कोटि के ग्रंथ हैं । द्वादशांगी आदि समग्र श्रुतज्ञान पूर्वी में समाहित था, परन्तु दुर्भाग्यवश कालांतर में पूर्व सम्पूर्णरूप से सर्वथा विच्छिन्न हो गए । इस में कालिक भवितव्यता ही प्रबल कारण हैं । एक तो पंचम आरा, हुंडा अवसर्पिणी का अधोमुख काल और उस में भी कलिकाल ! ऐसे विकट काल में ऐसे उत्कृष्ट कोटि के पूर्व ग्रंथों का विच्छिन्न होना क्या दुःखद नहीं लगता है ? कालांतर में पूर्वी के विच्छिन्न हो जाने के पश्चात् आज ढाई हजार वर्षोपरान्त हमारे पास मात्र ४५ आगम ही शेष रह पाए हैं । वर्तमान काल में श्रुतज्ञान के क्षेत्र में जैन संघ के पास ४५ आगमों की निधि ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट बृहत्तम निधि हैं ।

ऐसे सर्वोत्कृष्ट समस्त पूर्वी के दोहन मंथनोपरान्त प्राप्त नवनीत रूप पदार्थ यह नवकार महामंत्र है । छाछ का बिलोना करके जिस प्रकार सारभूत तत्त्व के रूप में नवनीत निकाला जाता है, उसी प्रकार श्रुतज्ञान - शास्त्रों का मंथन करके उनमें से सारभूत पदार्थ जो भी निकलता हो अथवा निकला है वह नवकार महामंत्र रूप नवनीत है ।

इसी लिये महानिशीथ नामक आगम ग्रंथ के ऊपर दिये गए प्रथम श्लोक में "सयलागमंतरोवक्ती" शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् सभी आगमों में व्याप्त कहा गया है । उनमें भी यह किस प्रकार व्याप्त है - यह प्रदर्शित करने के लिये

भिन्न भिन्न तीन उपमाएँ दी हैं। जैसे तिल में सर्वत्र तेल व्याप्त है वैसे ही, कमल के पुष्प में जिस प्रकार मकरंद व्याप्त है, उसी तरह और इनमें भी यदि कोई न्यूनता हो तो अंतिम उपमा ऐसी दे दी है कि कुछ भी शेष ही न रहे और वह उपमा यह है कि जिस प्रकार चौदह राजलोक के क्षेत्र में पंचास्तिकाय पदार्थ सर्व प्रदेशों में समग्र क्षेत्र में व्याप्त हैं, उसी प्रकार नवकार महामंत्र चौदह पूर्वों और सर्वागमों में व्याप्त हैं। इस प्रकार जैन धर्म में नवकार महामंत्र को नवनीत की तरह सारभूत माना गया है।

पंचास्तिकाय युक्त समस्त लोके



नवकार की ज्ञान स्वरूप सिद्धि :

छाछ बिलोयी जाती है, पानी नहीं। पानी बिलोने से मक्खन नहीं निकलता, मक्खन तो छाछ को ही बिलोने पर निकलता है। इसी प्रकार नवकार महामंत्र

किसके मंथन में से निकला हैं ? मंत्रशास्त्र के बिलोने में से नहीं, बल्कि आगम और पूर्व-शास्त्रों के बिलोने का यह फल हैं । आगम और पूर्व तो सर्वज्ञ केवलज्ञानी भगवंतों की वाणी हैं - सीधा उपदेश है और नवकार इसका सारभूत नवनीत हैं - निष्कर्ष हैं । आगम तथा पूर्व श्रुतज्ञान स्वरूप हैं, पाँच ज्ञानों में श्रुतज्ञान का भी अपना निजी महत्वपूर्ण स्थान हैं । उस श्रुतज्ञान के विशालकाय ग्रंथ पूर्व और आगम स्वरूप में हैं, तथा उनके निष्कर्ष के रूप में यह नवकार महामंत्र हैं, अतः सर्व प्रथम नवकार महामंत्र की ज्ञानात्मकता और उसमें भी श्रुतज्ञानात्मकता सिद्ध होती हैं । अतः इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नवकार महामंत्र को मात्र मंत्रशास्त्र का ही सार नहीं कहा गया है, जबकि नवकार मंत्र स्वरूप में है । उसका स्वरूप मंत्रात्मक होते हुए भी नवकार को मंत्रशास्त्र का सार कहकर उसे श्रेष्ठ मंत्र का पद दिया गया है । इतना ही नहीं, बल्कि उससे भी आगे बढ़कर नवकार महामंत्र को श्रुतज्ञानके चौदह पूर्वों का सार कहकर ज्ञान का पद भी दिया गया है, जो कि बहुत ही उँचा दृष्टिकोण हैं । इसी में नवकार की महत्ता, श्रेष्ठता, सर्वोच्चता रक्षित हुई हैं ।

अन्यथा... सर्वमंत्रों में श्रेष्ठ मंत्र का स्थान श्री नवकार को देते हुए भी इसे मंत्रशास्त्र का सार नहीं कहा । हाँ, मंत्रों में श्रेष्ठ मंत्र और मंत्रों में महामंत्र की बात की, परन्तु मंत्रों का अथवा मंत्रशास्त्र का इसे सार न कहकर चौदह पूर्वों का सार कहा, जिससे एक विशेषता तो यह सिद्ध होती है कि नवकार मात्र मंत्र स्वरूप में ही नहीं परन्तु ज्ञानस्वरूप भी है । नवकार की विशिष्टता इसकी ज्ञानस्वरूपता में हैं, इसकी महत्ता इसके ज्ञान स्वरूप में है । मात्र मंत्र स्वरूपता में ही नहीं - कदाचित् यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि अधिकांश मंत्रों में ज्ञानस्वरूपता नहीं होती । अनेक मंत्र मात्र मंत्रात्मक होते हैं, उनका मंत्रस्थान अथवा मंत्रस्वरूप ही उपयोगी होता है । सैंकड़ों मंत्र ऐसे भी होते हैं जिनका कोई अर्थ ही हम नहीं जानते, परन्तु यदि उनकी साधना की जाए, तो वे इष्ट सिद्धि अवश्य देते हैं और वह इष्ट सिद्धि अर्थात् रोगनिवृत्ति, दुःखनिवारण, कार्यसिद्धि अथवा मनोरथ सिद्धि स्वरूप होती हैं, जब कि नवकार को यद्यपि मंत्र कहा गया हैं तथापि इसका कार्य मात्र यहीं तक सीमित नहीं है । नवकार मात्र मंत्र स्वरूपमें ही नहीं है । इसे मात्र मंत्रात्मक ही न मानें, बल्कि इसे ज्ञान-स्वरूप में मानना अति आवश्यक हैं । नवकार प्राथमिक रूप से ज्ञानात्मक - ज्ञानस्वरूप में हैं, इसका मंत्र स्वरूप गौण

है। नवकार का अर्थगांभीर्य बड़ा ही आश्चर्यकारी है, इसका अर्थ महान् हैं। इसके अर्थ की महानता और विशालता के आधार पर भी नवकार महामंत्र की महानता सिद्ध होती है। यह दृष्टिकोण भी बड़ा ही उपयोगी हैं। यदि नवकार के अर्थादि की विचारणा की जाए, तो यह अगाध हैं, गहन है। महासागर की गहराई की थाह ली जा सकती हैं, परन्तु नवकार की गहनता का अनुमान अशक्य प्रायः हैं - इस भाव को कल्पसूत्रकार कल्पमाहात्म्य का वर्णन करते हुए निम्न शब्द प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि -

सव्वनईणं जा हुज्ज, बालुआ सव्वोदहीणं जं उदयं ।

तत्तो अणंतगुणीओ, अत्थो इक्कस्स सुत्तस्स ॥

सभी नदीओं की रेत इकट्ठी करें तथा सभी समुद्रों का पानी एकत्रित करके उससे लिखा जाए और जितना विस्तार हो उसकी अपेक्षा से भी एक सूत्र का अर्थ अनंतगुना अधिक हैं। अर्थ की इतनी अधिक गंभीरता और विशालता देखकर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकते। नवकार की महत्ता उसके अर्थों पर है। अर्थ के आधार पर नवकार ज्ञानस्वरुपात्मक है। मात्र अन्य मंत्रों की भाँति यह मंत्रात्मक ही नहीं है, परन्तु ज्ञानात्मक भी है।

अपेक्षा से श्रुतज्ञान की महत्ता : -

पाँचों ही प्रकार के ज्ञानों में केवलज्ञान निश्चित रूप से सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोच्च है - इस में दो मत नहीं हैं, परन्तु उपयोगिता, उपकारिता तथा दीर्घकालिकता आदि की अपेक्षा से विचार करें तो श्रुतज्ञान की महत्ता भी कम नहीं आंकी जा सकती, क्योंकि केवलज्ञान का काल सीमित होता है, जब कि श्रुतज्ञान का काल उसकी अपेक्षा दीर्घ होता है। भरतक्षेत्र में केवलज्ञान के द्वार बंद हो जाने के बाद किसी को भी केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, परन्तु श्रुतज्ञान तो २१ हजार वर्ष के पंचम आरे के अंत तक चलने वाला है। इस प्रकार काल की दृष्टि से श्रुतज्ञान की दीर्घकालिकता (इस अपेक्षा से) सिद्ध होती है। दूसरे प्रकार से केवलज्ञान जब सीमित काल में है तब उसकी उपयोगिता भी संबंधित काल तक ही मर्यादित रहने वाली हैं, जबकि श्रुतज्ञान २१ हजार वर्ष तक रहनेवाला हैं। अतः उसकी उपयोगिता अधिक काल तक बनी रहने वाली है। इस दृष्टि से भी श्रुतज्ञान की महत्ता अपेक्षा भेद से अवश्य लगती हैं। दूसरी ओर से विचार करें तो एक बात

अधिक लगती है कि केवली महात्मा को केवलज्ञान हो जाता है, परन्तु उन्हें भी प्ररुपणा तो श्रुतज्ञान के रूप में ही करनी पड़ती है । केवली के लिये उनका ज्ञान केवलज्ञान कहलाएगा, परन्तु हमारे जैसे श्रोताओं के लिये तो वह श्रुतज्ञान के स्वरूप में ही कहलाएगा, यद्यपि सर्व अपेक्षा से भी विचार करें तो केवलज्ञान की सर्वश्रेष्ठता, सर्वोत्कृष्टता सर्वोच्चता किसी भी प्रकार से तनिक भी न्यून होने वाली नहीं हैं । वैसे तो केवलज्ञान ही उच्च है ! श्रुतज्ञान का मूल उत्पत्तिस्थान तो अन्ततः केवलज्ञान ही है परन्तु श्रुतज्ञान ही दीर्घजीवी-दीर्घकालिक होने से अधिक उपयोगिताकारक लगता है ।

मात्र ज्ञान नहीं, परन्तु विज्ञान

महामंत्र नवकार को भी श्रुतज्ञानात्मक कहा है । अतः नवकार महामंत्र की ज्ञानात्मक सिद्धि बहुत बड़ी सिद्धि है । ज्ञानात्मकता के आधार पर नवकार महामंत्र में एक नहीं बल्कि अनेक पदार्थों का ज्ञान होगा, विशिष्ट तत्त्वों का ज्ञान होगा अतः नवकार महामंत्र मात्र ज्ञानात्मक ही नहीं परन्तु तत्त्वज्ञान स्वरूप है । आत्मा - परमात्मा मोक्षादि अनेक तत्त्वों का ज्ञान इस नवकार महामंत्र से होता है। आगे बढ़े तो एक बात और अधिक समझ में आएगी कि - इस जगत में, अनेक दर्शनों में अन्यत्र तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में और अन्य धर्मों में भी आत्मादि तत्त्वों के विषय में जो ज्ञान मिलेगा, उसकी अपेक्षा अनंत गुणा विशिष्ट कक्षा का ज्ञान इस महामंत्र में मिलेगा । अतः नवकार मात्र सामान्य ज्ञानात्मक ही नहीं, परन्तु विशिष्ट ज्ञानात्मक विज्ञान है - विज्ञान के स्वरूप में हैं । ज्ञान और विज्ञान में इतना अंतर है कि ज्ञान सामान्य होता है, जबकि विज्ञान विशिष्ट ज्ञानात्मक होता है । व्याख्या भी इस प्रकार कहती है कि “विशिष्टं यद् ज्ञानं तद् विज्ञानं” विशिष्ट ज्ञान को विज्ञान कहते हैं ।

आजकल विज्ञान मात्र यंत्रज्ञान के अर्थ में अधिक रुढ बनता जा रहा है , और यंत्रज्ञान के सिवाय जो सामान्य ज्ञान अथवा तत्त्वज्ञानादि ज्ञानक्षेत्र है, उस अर्थ में ज्ञान शब्द प्रचलित हुआ है, परन्तु विज्ञान सर्वक्षेत्र में प्रयुक्त हो सकता है, मात्र यंत्रज्ञान क्षेत्र में ही नहीं । विज्ञान प्रयोगों पर अधिक आधारित हैं, जब कि ज्ञान चिंतनात्मक है - शास्त्रीय है, सैद्धान्तिक है, और आध्यात्मिक भी है, परन्तु जिस जिस विषय का सामान्य ज्ञान विशेष स्वरूप धारण करता है, तब यह

विशिष्टज्ञान विज्ञान कहलाता है । इस अर्थ में भी नवकार महामंत्र का विज्ञान अद्भुत है । इस में आत्मादि तत्त्वों का अद्भुत विज्ञान निहित है । यंत्रात्मकता की दृष्टि से विचार किया जाए तो नवकार महामंत्र की यंत्रात्मक रचना भी है सिद्धचक्र के स्वरूप में यही नवकार यंत्र स्वरूप धारण करता है ।

मंत्र - तंत्र - और यंत्र :

इस जगत में मंत्र, तंत्र और यंत्र - तीनों का अपना अपना काल रहा है - युग चले हैं । इसीलिये मंत्रयुग, तंत्रयुग, और यंत्रयुग नामक तीन प्रकार के युग चले हैं . भूतकाल में एक काल मंत्रयुग था - जब चारों ओर मंत्रों की बोलबाला थी, मंत्रों की प्रधानता थी । मंत्र के स्मरण मात्र से अधिष्ठित देव उपस्थित होते थे और साधक के सभी कार्य सफल हो जाते थे, मनोरथ पूर्ण हो जाते थे । उस युग में सैंकड़ों मंत्र प्रचलित थे । मंत्रों की शक्ति अचिन्त्य अपरंपार थी । मंत्रसाधना व्यापक मात्रा में होती थी । बहुत ही अल्प काल में देवतागण उपस्थित हो जाते थे । सात्विक वृत्ति वाले जीवों की प्रधानता के कारण सात्विकता का वह काल था, अतः मंत्र भी उस काल में त्वरित गति से फलीभूत होते थे । मंत्र की शक्तियों के आधार पर बाण भी छोड़े जाते थे, युद्ध भी लड़े जाते थे, और आधुनिक मिसाइलों की भाँति उस काल में मंत्रशक्ति के बाण भी निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचते थे और यथेच्छ कार्य सम्पादित करके लौट आते थे । इन्द्र का वज्र और ब्रह्मास्त्रादि विविध प्रकार के मंत्राधिष्ठित शस्त्र उस युग में थे । मंत्रों की सहायता से यंत्र मानव का भी निर्माण संभव था । मंत्रों से जड़ सेनाएँ भी बनती थी और वे जड़ सेनाएँ यंत्र मानव की तरह युद्ध करती थी । मंत्र की शक्ति से दुर्ग के चारों ओर खाईयाँ खोदी जाती थी, उन में अंगारे भरे जाते थे और भरे हुए अंगारों को ठंडा भी कर दिया जाता था । पलभर में यथेच्छ आश्चर्यजनक कार्य मंत्र शक्ति से सम्पन्न हो जाया करते थे । इतनी अधिक गज़ब की चमत्कारिता का वर्णन मंत्र शास्त्रों में उपलब्ध होता है । चमत्कार का अर्थ है असंभव लगने वाले कार्यों को क्षण भर में संभव कर देना, काल्पनिक को वास्तविकता में बदल दिया जाता था । आश्चर्यजनक घटनाओं को जादूई चमत्कारों की तरह खड़ा कर दिया जाता था । चमत्कार कोई जादू या इन्द्रजाल की बात नहीं है । जादू और इन्द्रजाल के क्षेत्र में वास्तविकता को जितना स्थान नहीं है, उसकी अपेक्षा हजार गुना वास्तविकता

का स्थान मंत्र के क्षेत्र में निश्चित रूप से अधिक है । जादू के क्षेत्र में तो चालाकी का स्थान शीर्षस्थ है जब कि मंत्र - क्षेत्र में साधना का स्थान प्रबल रहा है । इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों के आधार - स्थल ही भिन्न भिन्न रहे हैं । इसीलिये उनके कार्य क्षेत्र भी भिन्न भिन्न रहे हैं ।

नवकार महामंत्र की गणना हमने जादू अथवा इन्द्रजाल में कभी भी नहीं की, और इसी प्रकार नवकार को मात्र चमत्कार करनेवाला अथवा सर्जनकर्ता मंत्र के रूप में भी कभी नहीं कहा, परन्तु इसकी गणना महामंत्र में की जाती है। इस महामंत्र की महानता अर्थ, ज्ञान, आदि अनेक बिन्दुओं पर आधारित है । मंत्र युग में भी यह नवकार महामंत्र सभी मंत्रों में प्रमुख पद पर था । इसी प्रकार सभी युगों में, सर्वकालों में नवकार की महानता सर्वव्यापी रही है । नवकार की महानता को कभी भी आँच नहीं आई ।

कालांतर में मंत्रयुग के बाद तंत्रयुग का आगमन हुआ । तंत्र की बोलबाला बढ़ती गई । मंत्रयुग में जो विकृतियाँ नहीं थी, वे तंत्रयुग में बढ़ती गई । अघोरी बाबाओं ने तंत्रका अत्यन्त दुरुपयोग किया । सम्पूर्ण तंत्र साधना में स्वार्थी तत्त्व मिलाकर सर्वथा विकृत कर डाली उसमें ज्ञानात्मकता को रहने ही नहीं दी, मात्र तान्त्रिकता की ही अभिवृद्धि की, जिससे शुभ की अपेक्षा अशुभ के मार्ग पर अधिक आगे बढ़े । फलस्वरूप तंत्र की अधिकतम बदनामी हुई । साथ ही विषय वासना और काम संज्ञा के अनिष्ट तत्त्वों का भी अधिक मिश्रण हो गया । इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि मंत्रयुग में मंत्रों की जितनी पवित्रता आरक्षित थी उतनी पवित्रता तंत्रयुग में न रह पाई । नवकार महामंत्र मंत्रयुग में जितना उपयोगी सिद्ध हुआ था, उसकी तुलना में तंत्रयुग में यह कम उपयोगी सिद्ध हुआ, परन्तु यह अच्छा ही हुआ कि शुद्ध महामंत्र पर बुरी आँच न आई, यह अशुद्ध नहीं हुआ और न इस पर कलंक लगा कि नवकार मंत्र भी अन्य मंत्रों की भाँति अशुद्ध ही है, बुरा ही है । यद्यपि तंत्र युग में मंत्र को भी तंत्र के उपयोग में लिया गया था - यह एक विशेष हर्ष की बात है । परन्तु मंत्रशास्त्र के इतिहास में इस बात का सर्वथा अभाव नहीं है । किसी निश्चित परिमाण में नवकार के बीजाक्षरों का संक्षिप्त रूप में अनेक प्रकार के तंत्र प्रयोगों में उपयोग किया गया है, फिर भी नवकार महामंत्र की शुद्धि और सात्विकता आज तक सुरक्षित रही है ।

वर्तमान काल यंत्रयुग का है । मंत्रों की महत्ता भी घट गई और तंत्रों की

महत्ता तो अपेक्षाकृत और भी अधिक घट गई है । अब तो यंत्रों की प्रधानता अत्यधिक बढ़ चुकी है । यहाँ यंत्र शब्द से दो प्रकार के यंत्र समझे जाएँ । एक तो आधुनिक विज्ञान द्वारा निर्मित - मोटरयुक्त अनेक प्रकार के यंत्र और दूसरे विविध प्रकार के यंत्रों का जो आलेखन होता है वे मंत्र शास्त्रों में भी यंत्रों का आलेखन कर दिया है । उदाहरणार्थ श्रीयंत्र, सिद्धचक्र यंत्र, सर्वतोभद्रयंत्र, ऋषिमंडलयंत्र, श्री विशस्थानकयंत्र, विशायंत्र आदि सैकड़ों प्रकार के यंत्र हैं ।

मंत्रों का यांत्रिकिकरण हुआ । हमें यहाँ विज्ञान के यंत्र अभिप्रेत नहीं है। ये तो भौतिकवाद की देन हैं । ये जड़ साधनों पर आधारित हैं । जब कि मंत्रशास्त्र के यंत्र तो आत्म साधना के साथ जुड़े हुए हैं । मंत्र वही होता है, परन्तु उन्हें सामान्य स्वरूप में लिखने के बजाय विशिष्ट प्रकार से यंत्र का आलेखन करके पुनः उसके बलयों में लिखे जाने पर यंत्र की रचना सिद्ध होती है । मंत्र शास्त्र में यंत्रीकरण की प्रक्रिया में मंत्र के साथ साथ अंक विद्या का उपयोग भी बहुत हुआ है, अर्थात् मंत्र के शब्दों के साथ अथवा स्वतंत्र रूप से मात्र अंक रखकर भी उपयोग हुआ है । पंद्रहिया, विशायंत्र, पेंतीसा, चालीसा, पेंसठीया आदि भिन्न भिन्न प्रकार के यंत्रों में गणित की दृष्टि से संख्याएँ व्यवस्थित रखी गई हैं और उन्हें चारों ओर से गिनने पर एक ही प्रकार का योगफल आता है अतः वे तत्संबंधित नामों से पहचाने जाते हैं । संभव है ये भी मंत्र शब्दों की तरह इष्ट-देववाची संकेतकारी बन गए हैं अथवा दैविकसाधना को मंत्र स्वरूप में स्पष्टतः न लिखकर उसे ही अंकवाची बनाकर लिखा हो - जैसे व्यक्ति टेलिफोन नंबर से वाच्य बनता है । बैंकों में भी कोड़ नंबर के खाते होते हैं । स्विस बैंक में व्यक्ति के नाम से नहीं बल्कि मात्र कोड़ नंबर जो दिये हुए होते हैं, उन्हीं नामों से पहचाने जाते हैं, इसी प्रकार दैविक शक्ति अथवा इष्ट देव के लिये कदाचित् संभव है कि विविध अंकों को संलग्न कर यंत्र रचना के रूप में व्यवस्थित जमाया हो और उन अंकों की संख्या से इष्ट वाच्य बनते हो । इससे दैविक शक्ति अथवा इष्ट देव भी गुप्त बने रहे और व्यक्ति मंत्र के माध्यम से इष्ट का दुरुपयोग भी न कर सके ।

मंत्र की गुप्तता :-

मन्त्रं नाम गुप्त - संस्कृत भाषा में मंत्र शब्द गुप्त अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मंत्र, मंत्री, मंत्रणाआदि शब्द मंत्र धातु से बने हुए हैं । मंत्रणा करना अर्थात् गुप्त

रूप से विचार-विमर्श करना । जो बाहर प्रकट न हो पाए - ऐसी मंत्रणा करने वाले को मंत्री कहा जाता है । इसी प्रकार मंत्र अर्थात् कोई गुप्त वस्तु या यत्नपूर्वक रखा हुआ इष्टदेव या इष्टशक्ति का नाम, जो मंत्ररूप में स्मरण किया जाता हो, जिसकी साधना सतत की जाती हो -वह मंत्र । अतः मंत्र गुप्त वस्तु है मंत्र को गुप्त रखने में ही अधिक औचित्य है। यह चाहे जिसे नहीं दिया जा सकता न चाहे जिसके आगे बोला जा सकता है ऋषिमंडल स्तोत्र में तो यहां तक स्पष्टतया कहा गया है कि

एतद् गोप्यं महास्तोत्रं, न देयं यस्य कस्यचित् ।

मिथ्यात्ववासिने दत्ते, बालहत्या पदे पदे ॥

यह महास्तोत्र है, इसे गुप्त रखना चाहिये इसे चाहे जिस किसीको कभी भी न दिया जाए यदि यह किसी मिथ्यात्वी के हाथ में दे दिया जाए तो बड़ा भारी अनर्थ हो सकता है अतः देनेवाले को कदम कदम पर बालहत्या का दोष लगत है इसीलिये मंत्रों को अधिक से अधिक गुप्त रखा गया है ।

स्वाभाविक है कि जो वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान होती है, उसे उतनी ही सुरक्षित रूप से सम्हालकर गुप्त रखी जाती है । यह स्वाभाविक नियम जगत में दिखाई देता है हीरे -रत्नादि बहुमूल्य वस्तुएँ है अतः लोग उन्हें घर में जहां तहां अस्थान में बिखरे हुए नहीं रखते, परन्तु इन्हें भली प्रकार सम्हालकर तिजोरी में, ताले में अथवा सेफ डिपोजिट-वोल्ट में सुरक्षित रखते है इन्हें गुप्त रखते हैं सबके सामने खुले नही छोड़ते इसी प्रकार मंत्रशास्त्र के नियमानुसार मंत्र तो हीरे और रत्नों से भी अधिक मूल्यवान हैं अधिक उपयोगी होते हैं अतः जिस प्रकार थंनों को गुप्त रूप से सम्हाल कर रखा जाता है उसी प्रकार मंत्रों को भी सम्हाल कर सुरक्षित रखा जाता है ।

स्तोत्रों में गुप्त रखे हुए मंत्र :-

भूतकाल में अनेक महापुरुषों ने स्तोत्रों की रचना की और उन्हें सामान्य रूपसे प्रभु-भक्ति-प्रधानरखा उनके द्वारा प्रभु की भक्ति की गई, भक्ति में नम्रता की सौरभ है विनम्र भावपूर्वक पूज्य प्रभु के प्रति पूज्यता प्रकट करते गए और स्तोत्र के माध्यम से गुणगान करते गए, स्तोत्र अथवा महास्तोत्र प्रायः गुणस्तुति प्रधान ही बने हैं। विख्यात मंत्रवादि भक्तामर स्तोत्र के रचयिता पूज्य मानतुंगसूरि महाराज भक्तामर स्तोत्र के अंतिम श्लोक की रचना में यह भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि -

स्तोत्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां
भक्त्या मया रुचिरवर्णं विचित्रपुष्पाम् ।

धत्ते जनो य इह कंठ - गतामजस्रं

तं मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मी : ॥४४॥

अर्थात् हे जिनेन्द्र भगवान ! मेरे द्वारा भक्तिपूर्वक विविध वर्णवाले रंग-बिरंगे सुंदर गुणरूपी पुष्पों से अर्थात् पुष्पों के स्थान पर गुणों को ही गूँथकर यह जो गुणस्तोत्र रूपी माला बनायी गई है, इस स्तोत्र की माला को जो भी भाग्यशाली स्वकंठ में धारण करेगा वह सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मी अर्थात् मोक्षपद को प्राप्त करेगा, अर्थात् गुणरूपी स्तोत्र को जो अपने कंठ में रखेगा- जो स्वकंठ से गाता रहेगा, वह उच्च पद प्राप्त करेगा । मात्र पुष्प-माला गलें में धारण करने की बात नहीं है, परन्तु यहां गुणों को ही पुष्प बनाया गया है और विविध गुणों को विविध रंगों वाले पुष्पों की तरह गूँथकर सुंदर सुशोभनीय माला बनाई गई है ऐसी माला को मात्र गलेमें पहनकर रखने की ही बात नहीं है, परन्तु उसे कंठ से गाने की होती है, अर्थात् इस स्तोत्र में प्रस्तुत गुणों को जो भी व्यक्ति गाएगा-स्मरण करेगा, वह ऐसा उच्च पद प्राप्त करेगा- इस प्रकार गुणों के गूँथन स्वरूप स्तोत्रों की रचना की गई थी ऐसे स्तोत्रों में इष्टदेव के मंत्र गुप्त रूपसे समाहित किये गए हैं- छिपाए गए हैं, ताकि मंत्र प्रकट न हो पाएँ और साथ ही स्तोत्रपाठ के रूप में प्रभुभक्ति करते हुए प्रभु का गुणगान करने में लोगों को आनंद आए इस प्रकार की रचनाएँ करने में हमारें-पूर्व महापुरुषों ने बड़ी ही दीर्घदृष्टि का उपयोग किया है । इसका सुंदर उदाहरण "श्री नमिऊण स्तोत्र" है । इस स्तोत्र में गुप्तता का भाव स्पष्ट रूप से प्रकट किया गया है ।

एअस्स मज्झयारे, अट्ठारस अक्खरेहिं जो मंतो ।

जो जाणइ सो झायइ, परमपयत्थं फुडं पासं ॥

इस (नमिऊण) स्तोत्र में अठारह अक्षरों का जो गुप्त मंत्र है, उसे जो जानेगा, वही उसका ध्यान करेगा, तो परमपद मोक्ष को प्राप्त करेगा ।

इस प्रकार मंत्रों की गुप्तता रखी गई, और मंत्रों को गोपनीय बनाया गया, ताकि चाहे जो व्यक्ति मंत्रों का निरर्थक दुरुपयोग न करे, बल्कि योग्य व्यक्ति गुणस्तुतिरूप प्रभु भक्ति में मग्न हो सके भक्ति तारक होती है, कल्याणकारी होती है ।

श्री नमस्कार महामंत्र की प्रकटता :-

ऊपर हमने मंत्रशास्त्र के नियम की चर्चा का तदनुसार मंत्र को गोपनीय बनाया गया, जब कि दूसरी और नवकार महामंत्र को कभी भी किसी काल में गोपनीय न रखकर महापुरुषों ने इसे अधिक प्रकट रखा है-सर्वसाधारण के लिये खुला रख दिया है, संभव है व्यक्तिगत साधक ने स्वयं अवश्य ही इस महामंत्र को स्वसाधना की सिद्धि की दृष्टि से गुप्त रखा होगा - गोपनीय रखा होगा अथवा कदाचित प्रकट कर देंगे तो इसकी महत्ता नहीं रहेगी, बहुत से जानते हैं, अतः अन्य को इसकी कुछ भी महत्ता न लगे - इस दृष्टिकोण से भी गोपनीयता रखी हो - यह भी शक्य है, अन्यथा तो जितनी नवकार की महानता है उतनी ही इसकी व्यापकता है, सर्वत्र प्रसिद्ध प्रचलित यह सर्वविदित मंत्र है, न इस मंत्र में कोई गोपनीयता है न यह मंत्र गोपनीय है यह प्रकट मंत्र है ।

व्यवहार मार्ग में प्रकटरूप से इस मंत्र का उच्चारण किया जाता है। जगत में व्यवहार नय से ही सर्वसामान्यरूप से आबाल-वृद्ध सर्वजनों को सार्वजनिक रूप से यह मंत्र दिया जाता है परन्तु विशेषाधिकार के साथ विधि तो श्री महानिशीथ आगम में बताई गई है। उपधानविधि बताई गई है, जिसमें तपश्चर्यादि करने के साथ साथ गुरुनिश्रा में साधना करके योग्यता प्राप्त की जाती है, और फिर वाचना के रूप में सूत्र, अर्थ और तदुभय स्वरूप में दी जाती हैं। यह विधान महानीशिथ नामक छेद सूत्र में किया गया है। दूसरी ओर इसी महानीशिथ आगम में बिना उपधान के नवकार महामंत्र देने में, अनंत संसारीपन भी माना गया है, परन्तु संसार में सर्व साधारण व्यक्ति व्यवहारनय के अनुसार नवकार महामंत्र एक-दूसरे को देते रहते हैं।

माता पुत्र को नवकार महामंत्र सिखलाती है, बुलवाती है यह मात्र सामान्य व्यवहारनय है, मरणावस्था के समय महामंत्र नवकार सुनाया जाता है, तब अन्य पात्रता अथवा विधि आदि देखने का कहां अवकाश है? इस प्रकार इस संसार का व्यवहार चलता है इसलिये नवकार महामंत्र की व्यवहारनय से जाहिर प्रकटता है। इस महामंत्र को विशेष रूप से गुप्त नहीं रखा गया है, इसे सबके सामने खुला रखा गया है, जो कोई भी पढे, जाने, वाचन और जापादि करे, इसके लिये इसे सर्वोपयोगी बनाया गया है ।

नवकार महामंत्र के रचयिता कौन ?

जगत में नियम है कि किसी भी रचना के रचयिता अवश्य होते हैं । कृति हो तो कर्ता का होना आवश्यक है । इस संसार में ऐसी सैंकड़ों रचनाएँ जगत्-विख्यात हैं तो उनके रचयिता-कर्ता भी जगद्विख्यात हैं । क्या नवकार को भी हम कोई रचना या कृति मानें या नहीं ? यदि इसे रचना या कृति मानते हैं तो इसके रचयिता या कर्ता भी तो मानने चाहियें न ? यह विचार करते हैं तो 'इतना अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि नवकार महामंत्र एक सुंदर स्तोत्र, स्मरण अथवा मंत्र स्वरूप रचना है- इसमें तनिक भी शंका नहीं है, क्यों कि नवकार महामंत्र में पद, गाथा, श्लोक की सुव्यवस्थित रचना है, तो क्या इसके कर्ता अथवा रचयिता हैं ही नहीं अथवा उनकी किसी को जानकारी नहीं है? क्या हमारा जैन धर्म भी वैदिक धर्म की भाँति मानता है कि 'वेद तो हैं परन्तु वेदों का कर्ता-रचयिता कोई भी नहीं है, अतः वेद अपौरुषेय है'- इसी प्रकार नवकार मंत्र तो है, परन्तु इसका रचयिता - कर्ता कोई नहीं । 'वेदोऽपौरुषेय अकर्तृत्वात्' - अकर्तृत्व के कारण वेद अपौरुषेय हैं । हिन्दू धर्म में वैदिक मत अलग मत है - अनेक मतों में से यह एक मत है । उनके अनुसार वेद ४ हैं - १ ऋग्वेद, २ यजुर्वेद, ३ अथर्ववेद, ४ सामवेद । ये चारों ही वेद ग्रंथाकार हैं । इन में लिपि से सब कुछ लीखा गया है । इनमें सैंकड़ों विषयों पर सैंकड़ों बातें लिखी गई हैं ये अतिप्राचीन और हजारों वर्षों से हैं । इतना सब कुछ होते हुए भी वेद किसी बुद्धिमान् पुरुष की रचित रचना अथवा कृति नहीं है । इसीलिये वेद अनादि - अपौरुषेय के रूप में विख्यात हैं । अनादि अर्थात् काल की दृष्टि से जिसकी आदि नहीं है वह अनादि है । पौरुषेय अर्थात् पुरुष द्वारा रचित । पुरुष कृतिमत्त्व और इसका विलोम शब्द है अपौरुषेय । अर्थात् पुरुष कृतिमत्त्व मात्र वेद में ही सिद्ध नहीं होता है, परन्तु सृष्टि आदि में भी सिद्ध होता है । अर्थात् बनाने वाले जगतकर्ता ईश्वर ने सृष्टि बनाई है ऐसा कहा जाता है परन्तु वेद बनाए हैं - ऐसा नहीं कहा जाता है । वेद की रचना ईश्वर नहीं करते हैं परन्तु वेदों में लिखा हुआ देख देखकर तदनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करते हैं - ऐसा वैदिक मत का कथन है ।

तर्क-युक्ति और बुद्धिपूर्वक विचार करने पर एक बात स्पष्ट ज्ञात होती है कि जो वेदादि वर्णमाला प्रधान हैं, जिनमें अ-ब-क-उ-आदि अक्षरों की रचना है, अक्षरों का समूह शब्द है और शब्द समूह वाक्यात्मक कहलाता है । वाक्य समूह अनुच्छेद स्वरूप है, अनुच्छेद समूह अध्याय स्वरूप में हैं और अध्याय स्वरूप ग्रंथ

रूप में हैं । वेद भी ग्रंथरूप ही हैं । क्या यह वर्णमाला अक्षर - शब्द -वाक्यादि स्वरूप रचना पुरुष के सिवाय अन्य किसी के द्वारा रचित होना संभव है ? और पुरुष के सिवाय अन्य किसी के द्वारा अर्थात् ईश्वर द्वारा रचित हो, तब भी रचयिता अथवा कर्ता के द्वारा रचित कृति मानी जाए तो यह भी ठीक ही है, परन्तु किसी भी बुद्धिमान पुरुष अथवा ईश्वर अथवा किसी को भी कर्ता न मानना कहाँ तक उचित है? वर्णमाला के अक्षर - शब्द - वाक्य आदि पुरुषोत्पन्न ही हैं । मानव के कंठ - स्वरकोष्ठ से ही वर्णमाला की उत्पत्ति मानी गई हा, इतनी ही नहीं, परन्तु यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध है । मानवेतर पशु-पक्षी से ऐसी व्यवस्थित वाक्य रचना स्पष्ट रूप से उच्चारित नहीं होती हैं अतः वेद - वेदान्त की ऐसी सुंदर वाक्य रचना पुरुषरचित ही मानना उचित है । जो वर्णमाला स्वरूप हैं । और वर्णमाला पुरुष प्रसूत ही होती है, अतः वेदादि जो वर्णमाला - अक्षर - शब्द - वाक्य समूहात्मक हैं उन्हें भी पुरुष रचित ही मानना युक्ति संगत है । अन्यथा यदि वर्णमाला को पुरुषेतर या इश्वरेतर युक्ति द्वारा उत्पन्न मानी जाए तो इसमें अनेक दोष आते हैं, और अन्य किसी व्यक्ति द्वारा ही रचित मानने के बजाय तो प्रत्यक्ष स्पष्ट इश्वर के द्वारा ही रचित मानना अधिक हितावह है, वरना अन्य ईश्वर आदि अथवा व्यक्ति की कल्पना करने में पुनः अनवस्थादि दोष लगने का भय है । जब कि जिस ईश्वर को कृतिमय पदार्थों का कर्ता माना जाता है, उसी ईश्वर को वेदों का कर्ता मानने में क्या आपत्ति है ? वेद भी तो कृति ही हैं न ? घडा हो और घडे का कर्ता कोई है ही नहीं - ऐसा मानने में लोक व्यवहारगत मूर्खता का विरुद्ध सिर पर धारण करना पडता है । इसकी अपेक्षा तो प्रत्यक्ष से विरुद्ध जाने की आवश्यकता ही कहाँ है ? और अनेक तर्कयुक्ति पूर्वक यदि ईश्वर की कर्ता के स्वरूप में सिद्धि होना संभव नहीं है, तब तो ईश्वर को ही यदि काल्पनिक पदार्थ माना जाता है और उस काल्पनिक ईश्वर की रचना वेद को वास्तविक मानना अर्थात् पुनः असत् में से सत् की उत्पत्ति मानने का दोष हमारे सिर पर आएगा । हाँ, यदि ईश्वर की ही सत्ता कर्ता के रूप में सिद्ध न हो, तब तो वेद की रचना भी काल्पनिक सिद्ध हो जाएगी । इसकी अपेक्षा तो वनवासी ऋषिमुनीओं को ही वेद के रचयिता-कर्ता स्वीकार कर लिया जाए तो द्रविड प्राणायाम से बचकर लाघवता में आने का भी लाभ है । येन-केन-प्रकारेण भी कार्य की पृष्ठभूमि में कारण का अस्तित्व मानना ही पडता है, और वह भी नियतपूर्ववृत्ति मानना पडता है । कारण के अभाव में कार्यसिद्धि कैसे मानें ? वेद रचना भी कार्य है तो उसकी

पृष्ठभूमि में ऋषि-मुनि पुरुषका कारण प्रत्यक्ष रूपसे मानने में दोष नहीं है । स्वाभाविक है कि घडे के निर्माण की पृष्ठभूमिमें कुम्हार प्रत्यक्ष रूप से कारण सिद्ध ही है । कारण के बिना कार्य नहीं होता है - इस नियम के अनुसार कार्य की सत्ता यदि अंगीकार की जाती है तो उसके पीछे कारण का अस्तित्व भी स्वीकार करना चाहिये। इस प्रकार वेद के कार्य के पीछे किसी ऋषि-मुनि-या पुरुष विशेष का कारणभूत होना स्वीकार करने में ही बुद्धिमत्ता है ।

इसी प्रकार श्री नमस्कार महामंत्र को भी रचना या कृति के रूप में स्वीकार करते हैं तो उसके कर्ता या रचयिता हम किसे माने ? यह प्रश्न हमें सताता है, परन्तु जैन धर्म की मान्यता वेदान्तिओं की मान्यता जैसी नहीं है । वह सर्वथा कारणाभावत्वेन कार्य सिद्धि नहीं मानता अथवा नवकार को सर्वथा अपौरुषेय नहीं कहा है । इसे चौदह पूर्वों का सार कहा है, तो इसमें कृतिमत्त्व आ ही जाता है क्यों कि चौदह पूर्व द्वादशांगी आदि रूप में रचित हैं और उनके रचयिता गणधरादि स्पष्ट हैं । हम लोग स्तुति में बोलते हैं कि - 'अर्हद्वक्त्रप्रसूतं गणधररचितं द्वादशांगं विशालम्'। कहा है कि अरिहंत भगवान के मुख में से निकलती हुई, और जिसे गणधर भगवंतों ने गूँथकर रचनाबद्ध की है वह द्वादशांगी अत्यन्त विशाल है अर्थात् सूत्र - शास्त्र अथवा आगमादि की रचना का आधारभूत प्रमाण इसमें से स्पष्ट होता है - और पद्धति ऐसी है कि सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवंत प्रसूत करते हैं और गणधर भगवंत उसे सूत्रबद्ध गूँथने का कार्य करते हैं । अधिक स्पष्टता करते हुए बताते हैं कि - 'अत्थं भासई अरिहा सुत्तं गुंथति गणधरा निउणा' - सर्वज्ञ केवली अरिहंत भगवंत अर्थ की प्ररुपणा करते हैं, समवसरण में देशना के रूप में वस्तु स्वरूप को अर्थ से देशना देकर स्पष्ट करते हैं और उसका श्रवण करके गणधर भगवंत उसे सूत्र के रूप में व्यवस्थित करते हैं, गूँथने का कार्य करते हैं ।

अतः सूत्ररचना गणधरों की सिद्ध होती है, परन्तु आद्य कर्ता मूलभूत यदि कोई हो, तो वे तीर्थंकर हैं - यह जैन पद्धति हैं । जैन शासन में ज्ञान के मूल केन्द्रस्थान या उद्भवस्थान अरिहंत सर्वज्ञ परमात्मा हैं । उस ज्ञान को शब्ददेह प्रदान कर व्यवस्थित करनेवाले गणधर भगवंत हैं । श्रुतज्ञान का मूल भी अन्ततः तो केवलज्ञान ही गिना जाता है ।

इस सिद्धान्त की दृष्टि से नवकार महामंत्र भी श्रुतज्ञान स्वरूप है, अतः इसे चौदह पूर्वों का सार कहा गया है, और चौदह पूर्वादि-द्वादशांगी की रचना गणधरों

ने की है, जब कि अर्थ की प्ररुपणा सर्वज्ञ भगवंतो ने की है, अतः मूल स्रोत तो तीर्थकर केवली ही हैं । श्रुतज्ञान की महत्ता भी तब बढ़ती है, जब उस पर सर्वज्ञ की मुद्रा अंकित हो । इस प्रकार श्रुतज्ञान भी केवलज्ञानी की मुद्रावाला है, इस प्रकार हम नवकार महामंत्र को चौदह पूर्व के साररुप श्रुतज्ञान के स्वरुप में गिनते हैं, अतः उस पर सर्वज्ञ की मुद्रा स्वीकार करनी आवश्यक है । शब्द रचना, सूत्र बद्धता गणधरों की होने पर भी प्रतिपादन अथवा प्ररुपणा तो सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा की रहती है । इस प्रकार यदि हम स्वीकार कर लेते हैं तो, जैन धर्म को वेदान्त की मान्यता मानने जैसा दोष नहीं लगता है ।

काल की दृष्टि से अनादिता -

उपरोक्त विचारणा के आधार पर एक निर्णय पर हम अवश्य आ गये हैं कि रचना के आधारभूत केन्द्र स्थान पर सर्वज्ञ अरिहंतो और गणधरों के सिवाय तीसरा कोई भी बीच में नहीं आता है । केन्द्र स्थल में इन दो का ही स्थान निश्चित है, तो प्रश्न यह उठता है कि किन व्यक्तिगत नामधारी सर्वज्ञ अरिहंत अथवा गणधर को रचयिता माने? कोई निश्चित नाम सामने आता है क्या? नहीं, इसका कारण इतना ही है कि नवकार महामंत्र काल की दृष्टि से दीर्घकाल से व्यवहार में प्रचलित है । अत्यन्त दीर्घकाल का अर्थ यह हुआ कि जब से अरिहंत भगवंत हुए हैं, तब से नवकार महामंत्र है । अर्थात् यदि नवकार महामंत्र की आदि सिद्ध हो जाए, तब तो जैन धर्म की आदि, तीर्थकरों की आदि - इत्यादि सब कुछ सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जब से जैन धर्म है, तभी से नवकार महामंत्र है और जब से नवकार महामंत्र है, तभी से जैन धर्म का अस्तित्व है, क्योंकि जैन धर्म और नवकार महामंत्र दोनों ही, अन्योन्य पूरक है और इनके केन्द्रस्थान में सर्वज्ञ अरिहंत भगवंत है ।

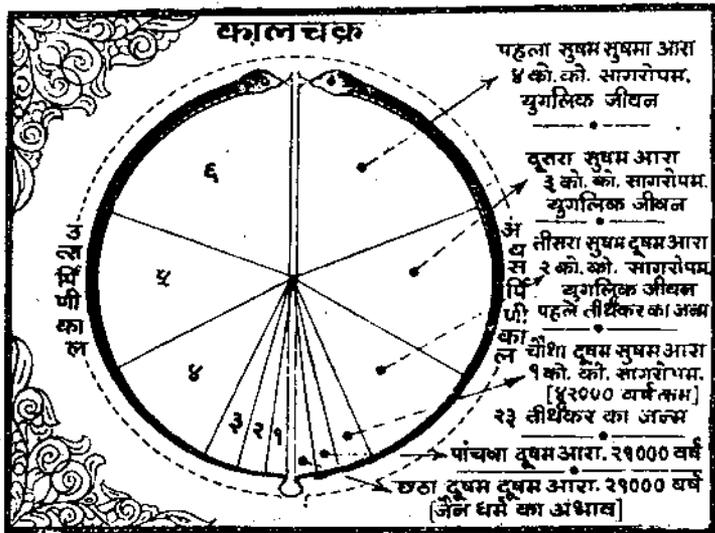
अरिहंत कितने हुए? और किस काल में कितनी संख्या हुई? इसके उत्तर में बहुत ही सुंदर कहा गया है कि -

आगे चौबीशी हुई अनंती, वली रे होशे वार अनंत ।

नवकार तणी कोई, आदि न जाणे, एम भाखे, अरिहंत ॥

अर्थात् भूतकाल में, अनंत चौबिशीयाँ हो चुकी हैं और भविष्य में भी अभी तो अनंत चौबिशीयाँ होनेवाली हैं । अतः नवकार महामंत्र की आदि कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई भी नहीं जान सकता - ऐसा स्वयं अरिहंत परमात्मा द्वारा भाषित

है। एक-एक तीर्थकर होते होते २४ तीर्थकर होते हैं जिनका समूहात्मक नाम चौबीशी है। कालचक्र में (१) उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इस प्रकार आरोह-अवरोह के क्रम से दो काल होते हैं। इन में से एक उत्सर्पिणी में २४ तीर्थकरों की एक चौबीशी होती है और इसी प्रकार १ अवसर्पिणी काल में भी २४ तीर्थकरों की एक चौबीशी होती है। यह नियम ढाई द्वीप के भरत तथा ऐरावत नामक दोनों ही क्षेत्रों में लागू होता है, जब कि महाविदेह क्षेत्र में बीस-बीस तीर्थकरों की बीशी होती है। वहाँ सदाकाल तीर्थकर होते हैं, जब कि भरत - ऐरावत क्षेत्र में एक दूसरे के समान सब चलता है। नीचे दिये गए चित्र को देखने से स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगा



कि उत्सर्पिणी काल में ६ आरे हैं और उसी प्रकार अवसर्पिणी काल में भी ६ आरे हैं। इन ६ आरों में मात्र तीसरे और चौथे आरे में ही तीर्थकर भगवंत होते हैं। तीसरे आरे के अन्तिम भाग में एक तीर्थकर भगवान होते हैं। अतः वर्तमान चौबीशी के प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव भगवान तीसरे आरे के अन्तिम भाग में हुए थे। शेष तेइस तीर्थकर भगवंत अर्थात् अजितनाथ से महावीर स्वामी तक सभी चौथे आरे में हुए थे। इस प्रकार २४ तीर्थकर १ अवसर्पिणी के तीसरे और चौथे इस प्रकार दो, आरों में होते हैं। इसे एक चौबीशी कहते हैं। तत्पश्चात् पाँचवा आरा प्रारम्भ होता है। आज पाँचवे आरे के भगवान महावीर के पश्चात् ढाई हजार वर्ष बीत चुके हैं। पाँचवा आरा कुल २१ हजार वर्ष का होता है अर्थात् अभी तो साढे

अठारह हजार वर्षों का समय व्यतीत होना शेष है। तत्पश्चात् छठा आरा आएगा। वह भी २१ हजार वर्ष का होगा। इस प्रकार पाँचवा और छठा दोनों ही मिलकर ४२००० वर्ष व्यतीत हो चुकने पर यह अवसर्पिणी काल पूर्ण होगा और उत्सर्पिणी काल प्रारंभ होगा। उसके भी प्रथम २१-२१ हजार वर्ष का छठा और पाँचवा आरा (उत्क्रम से १, २) ४२ हजार वर्ष का काल पूर्ण होने पर चौथा आरा प्रारंभ होगा। इस प्रकार अवसर्पिणी काल के पाँचवे और छठे आरे के ४२ हजार वर्ष तथा तदुपरान्त उत्सर्पिणी काल के पाँचवे और छठे आरे के (उत्क्रम से १, २) भी ४२ हजार वर्ष कुल ८४ हजार वर्षों के अन्तर पर पुनः तीर्थंकर होते हैं। अर्थात् अंतिम चौबीशी में तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी हो जाने के पश्चात् ८४ हजार वर्ष बीत जाने पर आगामी चौबीशी के प्रथम तीर्थंकर श्री पद्मनाभ स्वामी होंगे। तत्पश्चात् क्रमशः दूसरे-तीसरे करते करते आगामी चौबीशी के चौबीशों तीर्थंकर भगवंत होंगे। २३ तीर्थंकर चौथे आरे के काल में और अंतिम १ तीर्थंकर भगवान तीसरे ओर में होंगे। इस प्रकार उत्सर्पिणी काल में भी सम्पूर्ण चौबीशी होगी। इस गणना से एक कालचक्र में दो चौबीशियाँ होती हैं।

आगे बढ़ने पर पुनः दूसरा कालचक्र शुरु होगा अर्थात् उसके भी अवसर्पिणी काल के दो आरे बीत जायेंगे। प्रथम और द्वितीय आरा समाप्त होगा। इन में तीर्थंकर भगवान नहीं होंगे। पुनः तीसरे आरे के अन्तिम समय में प्रथम तीर्थंकर होंगे और शेष २३ तीर्थंकर चौथे आरे में होंगे। इस प्रकार तीसरे और चौथे आरे में मिलकर चौबीश तीर्थंकरों की चौबीशी होगी और पुनः यही क्रम आगे चलेगा। पुनः ८४ हजार वर्षोपरान्त उत्सर्पिणी काल के चौथे और तीसरे आरे में दूसरी चौबीशी होगी और पुनः आगे बढ़ते बढ़ते उत्सर्पिणी काल का दूसरा और पहला आरा समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार दूसरा कालचक्र पूर्ण होगा। इस प्रकार एक कालचक्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक दो काल होते हैं जिनमें प्रत्येक में छह-छह आरे होते हैं। उत्सर्पिणी काल भी १० कोटाकोटी सागरोपम का होता है। इसी प्रकार अवसर्पिणी काल भी १० कोटाकोटी सागरोपम का होता है। दोनों का योग करने पर २० कोटाकोटी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। इस एक कालचक्र में दो चौबीशियाँ होती हैं। इस प्रकार अनुमान लगाने पर पता चलेगा कि, अनन्त भूतकाल में कितने कालचक्र व्यतीत हो चुके होंगे? क्योंकि काल तो सतत-निरन्तर नदी के प्रवाह की तरह चलता ही रहता है। काल एक सैकंड भर भी किसी के लिये रुकता

नहीं है। इस प्रकार अनंत कालचक्र भूतकाल में बीत गए है, तो इन अनंत कालचक्रों में चौबीश-चौबीश तीर्थंकर भगवंतों की कितनी चौबीशियाँ हुई होंगी? एक कालचक्र में दो चौबीशियाँ होती है। इस प्रकार अनंत कालचक्र में अनंत $\times 2 =$ अनंत ही होती है। इस प्रकार विगत काल में अनंत चौबीशियाँ हो चुकी है। एक-एक चौबीशी में २४-२४ तीर्थंकर भगवंत हो चुके हैं, तो अनंत चौबीशियाँ में मिलकर कितने तीर्थंकर भगवंत हुए? अनंत $\times 24$ अनंतानंत अरिहंत भगवंत हो चुके हैं ।

वर्तमान अवसर्पिणी काल की चौबीशी में आदीश्वर भगवान से लगाकर चौबीशवे श्री महावीर स्वामी भगवान तक के चौबीश तीर्थंकर भगवंतों के समय में प्रत्येक समय यही नवकार ऐसा ही नवकार महामंत्र इसी प्रकार उच्चारित था। नवकार महामंत्र में कभी किसी प्रकार का बदलाव नहीं आया। इसी प्रकार का था, क्योंकि ऐसे ही अरिहंत भगवंत विगत चौबीशी में भी हुए हैं। अरिहंत-अरिहंत में किसी प्रकार की भिन्नता नहीं होती है । अतः उस-उस समय में “नमो अरिहंताण” इसी प्रकार बोला जाता था। अतः नवकार मंत्र कितना पुराना और प्राचीन है? इस प्रश्न के उत्तर में इतना ही कहना पडता है कि जब से चौबीशियाँ है, तभी से यह नवकार महामंत्र भी है, अतः नवकार महामंत्र का अस्तित्व अनंतकाल का हो गया।

धर्म और नवकार की अनादि अनंतता -

आदि अर्थात् शुरुआत - प्रारंभ, न आदि इति अनादि। जिसकी आदि दिखाई न दे वह अनादि। कब से शुरुआत हुई है? इसका प्रथम छोर कहाँ है? कब से है - इसका पता नही चलता है अतः यह अनादि कहलाता है। इस प्रकार भूतकाल में दृष्टि पात करने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि भूतकाल में अनंत चौबीशियाँ हो चुकी है, और इसके आधार पर स्पष्ट होता है कि कालचक्र भी अनंत व्यतीत हो चुके हैं और कालचक्रों तक ही संसार सीमित नहीं है। अनंत कालचक्रों को जैन शास्त्रों में एक पुद्गल परावर्त नामक संज्ञा दी गई है। ऐसे अनंत पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं । इस प्रकार संसार अनंत पुद्गल परावर्तकाल जितना पुराना और प्राचीन है। एक सागरोपम के समान ही असंख्य वर्ष होते हों तो एक कालचक्र के २० कोटा कोटी सागरोपम \times असंख्य = असंख्य वर्ष हुए और ऐसे अनंत कालचक्र व्यतीत हो चुके हो तब उनके कुल कितने वर्ष हुए? अनंत कालचक्रों में अनंतानंत वर्ष व्यतीत हो गए। जब इतने अनंतानंत वर्षों का काल भूतकाल में व्यतीत

हो चुका हो - ऐसे काल में दृष्टि पात करके इसकी आदि का पता कैसे लगाएँ? संभव भी नहीं है। अतः अनंत के आधार पर अनादिपन सिद्ध होता है। इस प्रकार दोनों शब्दों को साथ जोड़ने पर अनादिता एवं अनंतता सिद्ध होती है ।

जब से नवकार महामंत्र है, तभी से अरिहंत भगवंत है जब से अरिहंत भगवंत है तभी से नवकार महामंत्र है। इस प्रकार दोनों की सिद्धि अन्योन्याश्रित है। इसिलिये पूर्व के श्लोक आगे चौबीशी हुई अनंती में नवकार महामंत्र की अनंतता और चौबीशियों की अनंतता प्रदर्शित की गई है और इस अनंतता के आधार पर अनादिता सिद्ध होती है, अतः नवकार महामंत्र की आदि या शुरुआत कैसे गिने? गिनना संभव भी नहीं है और 'शक्य भी नहीं' है क्योंकि अरिहंतो के समय में नवकार महामंत्र था। अतः किन अरिहंत ने यह नवकार महामंत्र बनाया? कौन नामधारी अरिहंत थे? किसने नवकार की रचना की थी? आदि कैसे कहें ? अनंत अरिहंतो में से किसी एक का नाम कैसे निश्चित किया जाए ?

उदाहरणार्थ - इस वर्तमान चौबीशी के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान का नाम नवकार के रचयिता के स्म में हम निश्चित करें और कहें कि कदाचित उन्होंने नवकार महामंत्र की रचना की हो, परन्तु उन ऋषभदेव भगवान के १३ भव हुए हैं । उन तेरह भवों में से प्रथम धनसार्थवाह के भव में ५ आचार्य धर्मघोष सूरि महाराज को सार्थ में साथ रखकर वह चलता चलता एक ग्रास से अन्य ग्राम जाता था । तब मार्ग में अनेक दिनों के उपवास के पारणे में आचार्य देव को धृत की अखंड धारा और अखंड भाव से दान दिया था । उस प्रसंग पर आचार्य देव ने सार्थवाह को धर्मबोध देने हेतु हितापदेश दिया था और धनसार्थवाहने सम्यग दर्शन की प्राप्ति की थी । इस प्रकार १३ भव तक उत्तम कोटि की धर्माधना करते करते तीर्थंकर नाम कर्म ग्यारहवे भव में उपार्जित किया था और १३वे भव में वे भगवान ऋषभदेव बन गए थे । तो क्या उन्होंने अपने १३ भवों की उत्तम आराधना नमस्कार महामंत्र नवकार के अभाव में की थी ? उन्हें सम्वत्त्व की प्राप्ति करवाने वाले आचार्य भगवंतादि मुनिगण थे । क्या वे सभी नवकार महामंत्र से अनभिज्ञ थे ? वे भी तो किसी न किसी तीर्थंकर के शासन में तो थे ही ! तो क्या समझा जाए यह कैसे कहा जाए कि आदिनाथ भगवान ने नवकार महामंत्र बनाया था ?

अन्य प्रकार से यह भी कैसे कह सकते हैं कि भगवान महावीर स्वामी ने नवकार महामंत्र बनाया था । पूर्व की भाँति पुनः इसी प्रकार सोचें तो ख्याल आएगा

कि भगवान महावीर स्वामी के भी २७ भव हुए थे और प्रथम नयसार का भव भगवान ऋषभदेव से भी पर्व महाविदेह क्षेत्र में हुआ था । वहाँ जंगल में उन्होंने मुनिओं के सम्यक्त्व की प्राप्ति की थी और नवकार महामंत्र का स्मरण करते थे । फिर तीसरे भव में मरीचि के रूप में भगवान ऋषभदेव के कुल में उनके पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए थे । इसके आधार पर यह सिद्ध होता है कि महावीर स्वामी भगवान ने भी नहीं और आदिश्वर भगवान ने भी नवकार मंत्र की रचना नहीं की थी, क्यों कि उन्होंने तो स्वयं पूर्व के भवों में और प्रथम भव में जब नवकार महामंत्र की उपासना की है तो किस आधार पर हम कहें कि उन्होंने नवकार की रचना की है ? बात बैठती नहीं है ।

अतः ऐसा कहते हैं कि विगत चौबीसी के किसी न किसी प्रथम तीर्थंकर भगवंत ने नवकार की रचना की होगी । पतुं उनके विषय में विचार करें तो पुनः उनके भी पूर्व भवों की बात सामने आएगी और उन्होंने पूर्व भवों की साधना कब की होगी ? कितने भव किये होंगे ? क्यों कि यकायंक तो तीर्थंकर बने नहीं होंगे। उनके यदि पूर्व भव हुए होंगे तो उन्होंने अपने पूर्व भवों की साधना में क्या नवकार महामंत्र की साधना न की होगी ? किसी न किसी के पास तो दीक्षा अवश्य ली होगी न? किसी के पास तो सम्यक्त्व की प्राप्ति की होगी न? इस प्रकार जब सोचते हैं तो अनादिता हमारी दृष्टि सम्मुख आकर खड़ी होती है । अतः अनादिता अनंतता स्वीकार किये बीना हमारे पास अन्य कोई विकल्प ही नहीं रहता और यही सत्य मार्ग लगता है। इस प्रकार नवकार महामंत्र की, चौबीशियों की, अरिहंतों की और धर्म की शाश्वतता अनादिता अनंतता सिद्ध होती है ।

नवकार का अविनाशीपन -

जगत में ऐसा नियम है कि 'जातस्य ध्रुवो मृत्युः' 'उत्पन्नस्य नाशोवश्यंभावि' 'अनुत्पन्नोयमविनाशी' जो उत्पन्न होता है, उसकी मृत्यु अवश्य होती है, जो उत्पन्न होता है उसका नाश निश्चित है, परन्तु जो अनुत्पन्न है, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति ही नहीं है, वह अविनाशी है, वह कदापि नष्ट नहीं होता। इस नियम के अनुसार संसार के अनेक ऐसे उत्पन्नशील पदार्थ हैं जिनका नाश होता है - जिसे हम मृत्यु कहते हैं । अर्थात् जीव द्वारा देह-परित्याग का नाम है मृत्यु। पुद्गल पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं अतः वे नश्वर हैं - विनाशशील हैं, जब कि, आत्मा अनुत्पन्न

है। आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं होती उसका निर्माण कभी भी नहीं होता, अतः वह कभी भी नष्ट नहीं होती। आत्मा सदैव अविनाशी है। अतः इस नियम के आधार पर ही पूर्व जन्म और भावि जन्मों की सिद्धि होती है। पुनर्जन्म और पूर्व जन्मोंकी सिद्धि में यही सिद्धान्त कार्य करता है। पुनर्जन्म अर्थात् पुनः जन्म-वापिस जन्म। वापिस जन्म या पुनर्जन्म शब्द का अर्थ क्या सूचित करता है? अर्थात् इस जन्म से पूर्व आत्मा अन्य अनेक जन्म ले चुकी है, और अब इस जन्म को पुनः धारण किया है, अतः पुनः शब्द का प्रयोग हुआ है। शब्द में भी पुनः के अर्थ में ही प्रयुक्त है। यह जन्म धारण करनेवाला कौन? तो कहते हैं कि यह आत्मा है। यदि आत्मा न होती तो यह जन्म पुनः कौन धारण करता? अतः कदापि न मरने वाली और कदापि न नष्ट होनेवाली ऐसी आत्मा पुनः पुनः एक शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर धारण करती है जिसे हम जन्म लेना कहते हैं। जन्म अर्थात् आत्मा का पुनः नवीन देह धारण करना, देह के साथ नवीन संसर्ग का नाम है जन्म और देह के साथ वियोग का नाम है मृत्यु। पूर्व जन्म अर्थात् भूतकाल में हुए जन्म, पुनर्जन्म अर्थात् वापिस धारण किये जाते जन्म जिन्हे हम पुनर्जन्म कहते हैं। यह बात आत्मा के अनुत्पन्न अविनाशीपन के सिद्धान्त पर आधारित है। यदि आत्मा ही नष्ट हो गई होती, अथवा यदि आत्मा का ही अस्तित्व नहीं होता, तो यह जन्म यह शरीर पुनः कौन धारण करता? अतः आत्मा को अनादिअनंत, नित्य शाश्वत पदार्थ मानना ही पडता है।

इसी प्रकार समस्त ब्रम्हांड, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश, आत्मा, लेकर (चौदह राज लोक) आदि, अनेक पदार्थ अनादि अनंत नित्य और शाश्वत है, अविनाशी है तथा अनंत काल तक नित्य रहनेवाले हैं। ये कभी भी नष्ट होनेवाले नहीं है। इसी प्रकार नवकार महामंत्र भी नित्य शाश्वत और अविनाशी है, यह कदापि विनष्ट होने वाला नहीं है। चौदह राजलोक रूप समस्त ब्रम्हांड में नवकार सदैव सर्वत्र आराधित रहा है और रहेगा। भूतकाल में अनंत अरिहंत हो चुके हैं, अनंत आत्माओंने मोक्षगमन किया है। मोक्ष में जाने का श्रीगणेश कब से हुआ? अरिहंत बनने की शुरुआत कब से हुई? सर्व प्रथम अरिहंत कौन बने थे? इनका नाम और क्रमांक क्या था? इसी प्रकार सर्व प्रथम मोक्ष में कौन गए थे? कौन सा जीव सर्व प्रथम मोक्षगमन का सौभाग्य प्राप्त कर सका था? उसका नाम क्या था? इन सभी प्रश्नों का उत्तर यदि प्राप्त हो सकता हो तो नवकार का भी उत्तर मिल सकता है

परन्तु मोक्ष की सिद्धशिला का उद्घाटन (Opening Ceremony) कभी भी किसी के द्वारा नहीं हुआ और कौन सा जीव सर्व प्रथम मोक्ष में गया इसका उत्तर भी अप्राप्य है। इसीलिये नवकार की आदि का उत्तर भी अप्राप्य है। जब से अरिहंत हुए हैं, तब से उन अरिहंतों का स्थान इस नवकार महामंत्र में रहा है। तभी से उन अरिहंतों को इस नमस्कार महामंत्र के द्वारा नमस्कार होता रहा है। वह आज दिन तक यही है और जब से जीव मोक्ष में जाते रहे हैं तभी से यह इसी प्रकार है। जिस काल से जीव सिद्ध-बुद्ध मुक्त होते थे, तभी से उन सिद्धात्माओं को इस नवकार महामंत्र के माध्यम से नमस्कार होता आया है आज दिन तक हो रहा है अर्थात् इस सिद्धान्त के आधार पर नवकार महामंत्र भी अरिहंतों और सिद्ध भगवंतों के सदृश ही शाश्वत है। यदि उनकी आदि का पता चले तो ही नवकार की भी आदि प्राप्त हो सकेगी।

अरिहंतों और सिद्धों की आदि नहीं, अनादि मानने कि बात गले उतरती है। परन्तु नवकार महामंत्र की अनादिता मानने की बात गले नहीं उतरती। यह कैसे हो सकता है? तब फिर क्या हम यह मान ले कि जिस काल में अरिहंत सिद्ध थे, या हुए थे, तब उन्हें नमस्कार करने की क्या कोई क्रिया ही न थी? क्या उन्हें नमस्कार ही नहीं किये जाते थे? क्या उन्हें नमस्कार करनेवाले कोई थे ही नहीं? इसका अर्थ यह हुआ कि क्या उस समय अन्य कोई जीव थे ही नहीं? और यदि कोई अन्य जीव थे ही नहीं तो जो अरिहंत या सिद्ध बने उनके जीव कहां से आये? क्या वे आकाश में से टपक पड़े? तो आकाश में जीव कहां से आये? और यदि कोई आए? और आकाश भी कहां से आया? ऐसे सैंकड़ों प्रश्न उपस्थित हो जाएंगे। अतः अरिहंत सिद्ध कौन बने? कोई जीव ही थे न। अरिहंत और सिद्ध तो पद है - अवस्थाएँ है। कोई भी भव्य जीव ये पद प्राप्त कर सकता है - अर्थात् उस समय भी अनंत जीव थे और उन अनंतानंत जीवों में से कोई जीव अरिहंत बना या कोई जीव मोक्षगमन कर सिद्ध बना। इस प्रकार जैसे अरिहंत और सिद्धि की सिद्धि होती है उसी प्रकार उस उस काल में हुए अरिहंत के समय में भी आचार्य उपाध्याय और साधु भी थे। गेहूँ के साथ जैसे घास की सिद्धि होती है, उसी प्रकार अरिहंतादि के साथ आचार्यादि सभी की सिद्धि होती है, अतः इन पंच परमेष्ठियों की सिद्धि अनादि अनंत काल से है ऐसा मानना ही अधिक सुसंगत है, इनका अस्तित्व शाश्वत है।

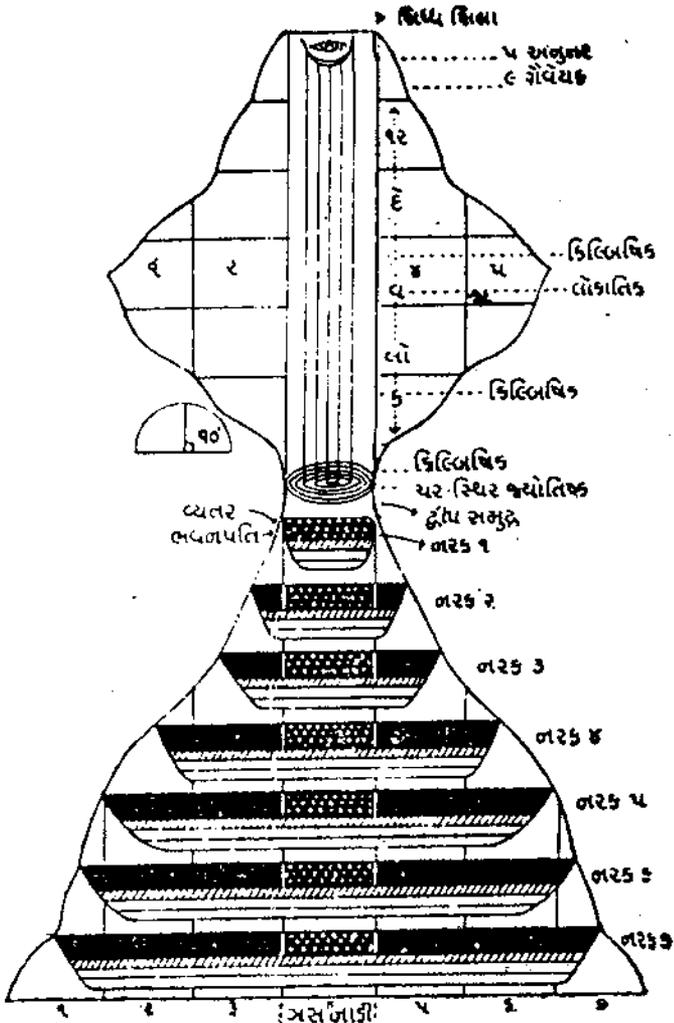
यदि पंच परमेष्ठि का अनादि अनंत नित्य शाश्वतपन तर्क से सिद्ध होता

है, तब नवकार का क्यों नहीं? तब तो पुनः हमें यह मानना पड़ेगा कि उस काल में अरिहंत भगवंत तो थे परन्तु उन्हें नमस्कार न होता था? या नमस्कार करने वाला कोई था ही नहीं? यदि यह बात स्वीकार करते हैं तो पुनः यह प्रश्न उठेगा कि क्या उस समय इन पाँच के सिवाय अन्य कोई जीव ही न था? क्या अन्य कोई अस्तित्व में ही न था? यह बात भी युक्तिसंगत नहीं लगती हैं। (यदि उस काल में कोई जीव ही न थे तो पंच परमेष्ठि कहाँ से आए? क्या ये पाँचों ही आकाश में से टपक पड़े? क्या ये स्वतः ही पंच परमेष्ठि बने हुए तैयार ही नीचे उत्तर आए? क्या क्रमशः साधना करके आगे बढ़े?) अतः उस समय भी अनंत जीवों का अस्तित्व होना हमें स्वीकार करना ही पड़ता है और जब अनंत जीवों का अस्तित्व हम स्वीकार करते हैं तब हम यह कैसे मान सकते हैं कि उस काल में उन्हें नमस्कार करनेवाले कोई थे ही नहीं? कोई उन्हें नमस्कार ही न करते थे? यह कैसे मान लें? मान लो कि नमस्कार ही न करते थे तो क्यों नहीं करते थे? क्या कारण रहा होगा? उत्तर क्या दोगे? अतः ऐसा कहने की पृष्ठ भूमि में हमारे पास कोई आधार ही नहीं है। अतः मानना ही होगा कि जब पंच परमेष्ठि थे, तब आज जैसा सम्पूर्ण जगत ऐसा ही था, सभी जीव भी थे और भी सब कुछ था। अतः अन्य प्रकार के विचारों के लिये अवकाश ही नहीं रहता। अर्थात् पंच परमेष्ठियों को उस काल में जो नमस्कार होते थे, जो नमस्कार किये जाते थे, उन्हीं नमस्कारों की रीति से उन्हीं नमस्कारों के शब्द इस नवकार महामंत्र में रखे गए हैं। अतः 'एसो पंच नमुक्कारो' - यह पंचम पद है जो कि पाँचों ही परमेष्ठियों को तथा उन्हें नमस्कार - ये दोनों तथ्य सिद्ध करता है। सभी को नमस्कार होते थे - होते हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। अब यह देखते हैं कि चौदह राज लोक रूप समस्त ब्रह्मांड में नवकार महामंत्र का अनादि स्मरण किस प्रकार हो रहा है।

(Jain Cosmology) के अनुसार समस्त (Cosmos) अर्थात् संपूर्ण ब्रह्मांड का यह चित्र है। जैन दर्शन में इसके लिये चौदह रज्जुलोक-चौदह राजलोक शब्द प्रयुक्त हुआ है बस, इस चौदह राजलोक से परे कुछ भी नहीं है। इससे परे न कोई जीवसृष्टि है अथवा न कोई अजीव सृष्टि है, न कोई पुद्गल परमाणु है, न कोई सूक्ष्म बादर जीव। पंचास्तिकायादि जो कुछ भी है जीसका अस्तित्व है उसकी सत्ता मात्र इस चौदह राजलोक तक परिमित है। यहि ब्रह्मांड का क्षेत्र है और जो कुछ भी है वह इसके अन्तर्गत ही है, बाहर तो मात्र आकाश के सिवाय कुछ भी

नहीं है। आकाश लोकक्षेत्र से भी बाहर है इसलिये इसे अलोकाकाश कहते हैं। चौदह राजलोक के भीतरी आकाश को लोकाकाश कहा जाता है। इस जगत में जो कुछ भी है वह इस चौदह राजलोक के परिमित क्षेत्र तक ही सीमित है। (१) धर्मास्तिकाय, (२) अधर्मास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) पुद्गलास्तिकाय और (५) जीवास्तिकाय ये पाँचों ही जिन्हें हम पंचास्तिकाय के नाम से जानते हैं ये सभी इसी लोकक्षेत्र में हैं। लोकक्षेत्र से बाहर कुछ भी नहीं है।

समस्त ब्रह्मांडमां नवकारणुं सततं स्मरन्तु—



यह लोकक्षेत्र तीन विभागों में विभक्त है अतः लोक तीन कहलाते हैं। (१) ऊर्ध्वलोक जिसे देवलोक कहते हैं, (२) अधोलोक जिसे नरकलोक अथवा पाताल कहते हैं, और (३) मनुष्यलोक अथवा तिर्छालोक अथवा तिर्यक् लोक कहते हैं। अनुक्रम से देवलोक में देवतागण रहते हैं, अतः स्वर्ग भी इसी का नाम है। अधोलोक में नारकीय जीव निवास करते हैं अतः उसे नरक कहते हैं। तिर्छालोक या तिर्यक् लोक में मनुष्य और तिर्यच पशु-पक्षी रहते हैं। यह उनका निवासक्षेत्र होने से तिर्छा या तिर्यक् लोक के नाम से प्रख्यात है।

समस्त ब्रह्मांड में नवकार का सतत स्मरण -

मनुष्य के लिये तिर्छालोक के असंख्य द्वीप समुद्रों में से मात्र ढाई द्वीप का ही परिमितक्षेत्र है। इससे बाहर मात्र तिर्यच पशु-पक्षियों का ही निवास है। इस ढाई द्वीप में पन्द्रह कर्मभूमियाँ ही धर्म के मुख्य क्षेत्र हैं। ५ भरत क्षेत्र, ५ ऐरावत क्षेत्र, ५ महाविदेह क्षेत्र इस प्रकार १५ कर्मभूमियोंके क्षेत्र हैं। ये ढाई द्वीप और १५ कर्मभूमि आदि के क्षेत्रादि सभी शाश्वत हैं। इन १५ कर्मभूमियोंके क्षेत्रों में धर्म रहता है।

५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्र समान रूप से चलते हैं, अर्थात् इन दोनों में कालादि सभी दृष्टिकोण से सादृश्यता-समानता रहती है। जिस प्रकार जो कुछ भी भरत क्षेत्र में होता है, वैसा ही सब कुछ ऐरावत क्षेत्र में भी होता है अर्थात् भरतक्षेत्र में जिस प्रकार काल परिवर्तन होता है, ६ आरे बदलते रहते हैं, उसी प्रकार ऐरावत क्षेत्र में भी वैसा ही होता है। भरतक्षेत्र में जिस प्रकार २४ तीर्थकर भगवंत होते हैं, वैसे ही ऐरावत क्षेत्र में भी २४ तीर्थकर होते हैं। इस प्रकार दोनों ही क्षेत्रों में समानता और सादृश्यता रहती है, सभी भाव समान रूप से रहते हैं।

महाविदेह क्षेत्र इन दोनों से सर्वथा भिन्न ही है। वहाँ काल-परिवर्तन नहीं होता। वहाँ सदैव चौथा आरा ही रहता है अर्थात् महाविदेह क्षेत्र में चौथा आरा सदैव नित्य रहता ही है। अतः वहाँ काल शाश्वत होता है, जब कि यहाँ काल परिवर्तनशील होता है। वहाँ तीर्थकर भगवंत सदैव होते हैं। जब कि यहाँ भरतक्षेत्र में सदैव तीर्थकर भगवंत नहीं होते हैं। वहाँ सदा धर्म रहता है और होता ही रहता है जब कि यहाँ भरत क्षेत्र में सदैव धर्म नहीं होता, मात्र तीसरे, चौथे और पाँचवे आरे में ही धर्म होता है। तदुपरान्त छठे आरे में धर्म विच्छिन्न हो जाता है। महाविदेह क्षेत्र में एक

भी दिन धर्मविहीन नहीं होता है। वहाँ बीश-बीश विहरमानतीर्थकर भगवंत विचरण करते ही रहते हैं।

उपर्युक्त इतनी भौगोलिक स्थिती समझ में आ गई होगी। अब विचार करो कि इतने बड़े विशाल चौदह राजलोक में, तीनों लोकक्षेत्र में तथा ढाई द्वीपादि क्षेत्रों में नवकार महामंत्र का सदा काल रटन-स्मरण, जाप, ध्यान आदि चलता ही रहता है। भौगोलिक दृष्टि से नवकार महामंत्र की आराधना उपासना समस्त लोक में सर्वत्र सतत चलती ही रहती है - इस संबंध में हम क्रमशः एक एक पर विचार करें।

नरकगति में नवकार -

चौदह राजलोक में नीचे के ७ राजलोक प्रमाण अधोलोक को नरक कहते हैं। ऐसी सात नरकभूमियाँ हैं, जिनके नाम हैं - (१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) बालुकाप्रभा, (४) पंकप्रभा, (५) धूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) तमस्तमप्रभा (महातमःप्रभा)। इन सातों ही नरक-पृथ्वियों में नारकीय जीव रहते हैं। उनकी संख्या भी असंख्य होती है। वहाँ सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि वाले दोनों प्रकार के जीव होते हैं। यहाँ मनुष्यगति में से क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी और कदाचित् पूर्व में भारी कर्मोपार्जन करके निकालित कर्म के योग से नरक गति में जाना पडा हो और गए हो, जाते समय अंतर्मुहूर्त काल में मिथ्यात्व का स्पर्श कर गए हो, परन्तु पुनः वहाँ जाकर सम्यक्त्व ही प्राप्त करते हैं और वहाँ सदैव वे जीव सम्यक्त्वी के रूप में ही रहते हैं। उदाहरणार्थ श्रेणिक राजा का जीव क्षायिक सम्यक्त्व का स्वामी था, परन्तु पूर्व में भारी पाप कर्मों के उपार्जन के फलस्वरूप उन्हें प्रथम नरक में जाना पडा, जहाँ उन्हें ८४ हजार वर्ष तक रहना पडेगा और फिर वहाँ से निकलकर इसी भरत क्षेत्र में आगामी उत्सर्पिणी काल के चौथे ओर के प्रारंभ में वे यहीं जन्म धारण करेंगे और प्रथम तीर्थकर पद्मनाभ स्वामी बनेंगे। इस समय उनका जीव द्रव्यजिन कहलाता है। द्रव्यजिणा जिणजीवा - शास्त्र की इस पंक्ति में कहा है कि द्रव्य से जिनेश्वर का जीव भी द्रव्य जिन कहलाता है, अतः तीर्थकर न होने पर भी, परन्तु तीर्थकर नामकर्म बाँधा हुआ होने से अभी वे द्रव्यजिन कहलाते हैं, और इस सिद्धान्त के अनुसार ही हम उनकी प्रतिमा भरवाकर मंदिर में प्रतिष्ठा करके पूजन करते हैं। राजस्थान के उदयपुर शहर - झीलों की नगरी में इन्हीं पद्मनाभस्वामी का अति प्राचीन विशाल तीर्थ है, जिसमें आगामी चौबीशी के प्रथम तीर्थकर भगवान श्री

पद्मनाभस्वामी की विशाल भव्य मूर्ति मूलनायक के रूप में आसीन है। यहाँ हजारों भाविक यात्री चारों ओर से दर्शन वंदनार्थ आते रहते हैं ।

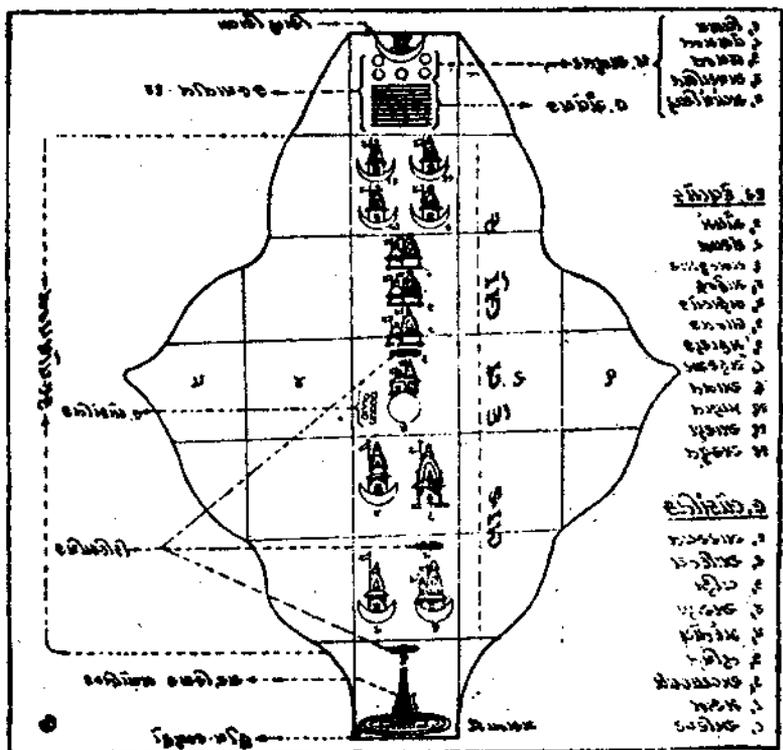
भविष्य में होने वाले पद्मनाभस्वामी भगवान का (श्रेणिक का) यह जीव वर्तमानकाल में नरक में क्या करता होगा? यद्यपि नरक में अशुभ पापकर्म का दंड ही भुगतना होता है, परन्तु क्षायिक सम्यक्त्व के स्वामी ऐसी महान आत्माएँ अपने सम्यक्त्व के आधारस्तंभ नवकार महामंत्र का स्मरण करते रहते हैं, क्योंकि सामायिक, पूजा, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास, आयंबिल आदि व्रत विरति-तप-त्याग के पच्चक्ष्णण वाला धर्म तो नरक गति में होता ही नहीं है, अतः नरक गति में नवकार महामंत्र की आराधना ही एक मात्र ऐसी आराधना है, जो सुलभ होती है, सरल होती है और सतत हो सकती है। अतः नरक में नवकार की आराधना अनेक जीव करते रहते हैं ।

नरक के असंख्य जीवों में तो ऐसे अनेक नारकी जीव होते हैं जो भले ही कदाचित् क्षायिक सम्यक्त्वधारी न हों, परन्तु क्षायोपशमिकादि सम्यक्त्वयुक्त होते हैं, परन्तु क्या किया जाए - घोर पाप कर्म करने के कारण उन्हें नरकगति में गमन करना पडा । उदाहरण के लिये भगवान महावीरस्वामी का जीव १८ वे त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में था, तब शय्यापालक के कान में ऊष्ण-तपाया हुआ सीसा डलवाने के कारण घोर पापकर्मबंध किया था, और उसके कारण उन्हें १९ वे भव में सातवी नरक में जाना पडा । वहाँ उन्होंने ३३ सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य भोगा, और वहाँ से निकलकर २० वे भव में तिर्य्यचगति में सिंह का भव करके पुनः २१ वे भव में चौथी नरक में गए। उन्होंने दो भव नरक में नारक के रूप में पूर्ण किये और इतने लंबे दीर्घ काल के आयुष्य भोगे। क्या उन्होंने नरक गति में नारक के भव में नवकार महामंत्र की आराधना नहीं की होगी? उन्होंने अनेक बार नवकार महामंत्र गिना होगा, इसका जाप किया होगा, क्योंकि उन्होंने नयसार के भव से ही सम्यक्त्व प्राप्त कर रखा था। इसी प्रकार नरक में तो असंख्य जीव है, जिन में सम्यक्त्वधारी जीव भी अनेक होंगे। नरक गति में सभी जीव विभंगज्ञानी होते हैं। तीसरा अवधिज्ञान तो वहाँ जन्मजात होता है, अतः वे जीव अपने पूर्वभव की वस्तुस्थिती आदि सब कुछ जान सकते हैं। इस प्रकार भी पूर्वभव का सब कुछ स्मृति में आ जाता है। नवकार महामंत्र के ज्ञान का उन्हें ध्यान आ जाता है और फिर श्रद्धापूर्वक वे नवकार महामंत्रादि का जापादि आराधना करते रहते हैं।

देवगति में नवकार की आराधना -

जिस प्रकार हमने नरक गति में नवकार महामंत्र के विषय में विचारणा की है, उसी प्रकार देवगति की भी विचारणा करनी है। नरक की अपेक्षा स्वर्ग में नवकार की आराधना की संभावना अधिक बढ़ जाती है। स्वर्ग बहुत ही विशाल है। ७ राजलोक जितना ऊर्ध्व लोक का क्षेत्र है। तिच्छा लोक के मेरुपर्वत के शिखर के पश्चात् असंख्य योजन के बाद प्रथम देवलोक प्रारंभ होता है। देवलोक में दो विभाग हैं- एक कल्पोपपन्न और दूसरा कल्पातीत। कल्पोपपन्न देवलोक में १२ देवलोक आते हैं। बाद के कल्पातीत में नौ त्रैवेयक और पाँच अनुत्तर कुल १४ देवलोक आते हैं। इस प्रकार वैमानिक देवजाति के $12 + 9 + 4 = 25$ देवलोक है। देवगति में कुल चार जातियाँ मुख्य है वे है - (१) भवनपति, (२) व्यंतर (३) ज्योतिष्कमंडल और (४) वैमानिक। इस प्रकार चारों ही जाति के देवतागण समस्त देवगति में रहते हैं। भवनपति के आवासदि तथा सर्वत्र देवलोक के क्षेत्र में शाश्वत जिन प्रतिमाएँ और शाश्वत जिनालय हैं। जीवविजयजी महाराज द्वारा रचित सकलतीर्थ वंदनासूत्र जो हम नित्य प्रातः राई प्रतिक्रमण में बोलते हैं, उस में उन्होंने बताया है कि चौदह राजलोक में शाश्वत जिन मंदिर कौन से और कितने हैं, उनमें शाश्वती जिन प्रतिमाएँ कितनी हैं, उनकी संख्या बताई है। करोड़ों से ऊपर की इतनी बड़ी संख्या में मंदिर और मूर्तियाँ अत्यन्त विशाल परिमाण में हैं। इनके अतिरिक्त तीर्थकर भगवान के निर्वाण कल्याणक आदि प्रसंगो पर देवतागण वहाँ उपस्थित होते हैं तथा अग्नि-दाह के पश्चात् भगवान की दाढा, अस्थि आदि लाकर उसे अपने आवासरुप विमान में रत्न-मंजूषा में रखते हैं और उसकी पूजा-अर्चना करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वर्ग के देवताओं के लिये सामायिक, उपवास, प्रतिक्रमण पौषधादि व्रत-पचक्खाण या विरति-धर्म संभव नहीं है। अतः वे एक मात्र भगवान के दर्शन, पूजन या तीर्थयात्रादि ही कर सकते हैं। उसके लिये वे नंदीश्वर द्वीप में जाते हैं। वहाँ बावन जिनालयादि जो शाश्वत तीर्थ होते हैं वहाँ वे अष्टान्हिका महोत्सवादि करते हैं, आठ-आठ दिन तक विशाल रूप से पूजा-भक्ति आदि करके सम्यक् देवतागण आनंदानुभूति करते हैं।

इसी प्रकार तीर्थकर भगवान के जन्माभिषेक महोत्सव आदि भी मनाते हैं। प्रभु को मेरु पर्वत पर ले जाकर उनका अभिषेक करते हैं, अष्ट प्रकार की पूजा रचते हैं। इसी प्रकार तीर्थकर भगवान के जन्मादि कल्याणक मनाते हैं, केवलज्ञान



कल्याणक के प्रसंग पर समवसरण की रचना करते हैं, समवसरण में बैठकर प्रभु के वचनामृत का पान करते हैं, और प्रभु की सेवा में उपस्थित भी रहते हैं, परन्तु इतना सब कुछ करने पर भी व्रत-विरति अथवा पच्चक्खाणमय धर्मारोधाना नहीं कर सकते हैं। वे मात्र भक्ति-दर्शन-पूजन प्रधान धर्म ही कर सकते हैं - नवकार महामंत्र का जाप-ध्यान भली प्रकार कर सकते हैं। जैसे जैसे ऊपर ऊपर के उच्च स्वर्ग में जाते हैं वैसे वैसे देवतागण न्यूनतम भोग भोगते हैं, और अनुत्तर विमान में तो ३३ सागरोपम तक दीर्घतम आयुष्य काल में ध्यान, तत्त्वचिंतन आदि में काल व्यतीत करते हैं। अन्य व्रत-विरति अथवा पच्चक्खाण आदिमय धर्म अशक्य होने के कारण देवतागण सविशेष रूप से भक्ति-दर्शन-पूजन और अधिकतर तो नवकार महामंत्र का स्मरण भली प्रकार से करते रहते हैं। पार्श्वकुमारने काष्ठ में जलते हुए जिस सर्प को नवकार मंत्र सुनाया था, वह जीव मरण के समय नवकार मंत्र में समाधि रखकर, अपनी पति और गति दोनों को ही सुधार लेता है। वह सीधा ही नाग देवलोक में पहुँचकर नागराज धरणेन्द्र बनता है। वह इसका सतत स्मरण करता

रहता है।

नयसार जो भगवान महावीर का जीव था अपने प्रथम भव में नवकार महामंत्र का स्मरण करके नवकार महामंत्र में तल्लीन होकर मृत्यु की शरण में जाकर दूसरे भव में सीधा स्वर्ग में गया। क्या उस जीव ने देवलोक में नवकार महामंत्र का स्मरण नहीं किया होगा? यह संभव ही नहीं है, बल्कि उसने तो सहस्रगुना अधिक स्मरण किया होगा। भगवान महावीर स्वामी के नयसार से लगाकर महावीर तक के सत्ताईस भवों में से कुल दस भव तो देवगति में ही हुए थे। सागरोपम के लम्बे लम्बे असंख्य वर्षोंके आयुष्यवाले भवों में कितनी प्रबल नवकार मंत्र की साधना उन्होंने की होगी। २६ वाँ भव दसवे प्राणत नामक देवलोक में २० सागरोपम के आयुष्य की स्थिति वाला भव था। एक सागरोपम का परिमाण भी, असंख्य वर्षोंके तुल्य होता है, तो यह तो २० सागरोपम का आयुष्य था, तो कहो कितने वर्ष हुए? असंख्य \times २० असंख्य वर्षोंका आयुष्य मात्र छब्बीसवे भव का ही था। इसी प्रकार भगवान पार्श्वनाथ का यहाँ नौवे भव में इसी देवलोक में इतना ही आयुष्य था। उन्होंने यहाँ ५०० कल्याणकों की उत्तम आराधना की थी। इस प्रकार हम पाते हैं कि सम्यग्दृष्टि देवतागण स्वर्ग में सतत नवकार महामंत्र का रटन करते रहते हैं, वहाँ नवकार की उपासना-आराधना चलती ही रहती है। दूसरी बात यह है कि देवलोक में-देवभव में जन्म से ही अवधिज्ञान प्राप्त होता है। वह उस जीव के लिये सुलभ होता है, फिर प्रश्न ही कहाँ रहा? उस अवधिज्ञान से वह जीव पूर्व भवादि का स्मरण करता है, उपयोग द्वारा देखने पर उसे तुरन्त ही सब ख्याल आ जाता है, अतः देवतागण अपनी आराधना उपासना भी भली प्रकार कर सकते हैं ।

इसी हेतु से जिस धर्म की हम आराधना करते हैं, हमारे इसी धर्म की स्वर्ग के देवतागण भी आराधना करते हैं और इस प्रकार वे हमारे सहधर्मी-साधर्मीक बंधु हुए । शक्ति और ऋद्धि-सिद्धि में हम से अधिक मात्रा में उनके पास सब कुछ है। अतः वे हमारे ज्येष्ठ बन्धु कहलाते हैं । परन्तु मनुष्य गति और मानव जीवन में हम व्रत-विरति अथवा पचक्खाण का विशेष धर्म कर सकते हैं, अतः देवताओंकी अपेक्षाकृत हमारा मानवसृष्टि का एक गुणस्थान उच्च गिना जाता है। मनुष्य पंचम गुणस्थान में पहुँचकर देशविरतिधर श्रावक बन सकते हैं, जब कि देवतागण चतुर्थ गुणस्थान में रहकर अविरतिधर सम्यग्दृष्टि श्रद्धालु बन सकते हैं । अतः धर्म की दृष्टि से मनुष्य उच्च होते हुए भी दोनों स्वधर्मी सहधर्मी बंधु कहलाते हैं । इस प्रकार

चतुर्थ गुणस्थान पर चढ़ते हुए सम्यक् श्रद्धाधारी अनेक सम्यक्त्वशील देवतागण नवकार महामंत्र की आराधना-उपासना सतत करते रहते हैं क्योंकि सम्यक्त्व देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा पर आधारित है और इन्हीं देव-गुरु-धर्म का स्वरूप महामंत्र नवकार में है, बल्कि ऐसा कहो कि देव-गुरु-धर्म को नमस्कार स्वरूप संपूर्ण नवकार महामंत्र है। अतः जो सम्यग्दृष्टि जीव होंगे वे सभी नवकार महामंत्र की श्रद्धावाले अवश्य होंगे, परन्तु जो नवकार महामंत्र वाले जीव होंगे, वे सम्यक् श्रद्धावान हो भी सकते हैं और न भी हो - यह संभव है। जैसे किसी मुसलमान या हिन्दू ने पुस्तक में से नवकार महामंत्र पढा, उसका जाप किया, और उसे सीखा। इस से हम यह कह सकेंगे कि उसे नवकार का ज्ञान होगा उसे नवकार आता होगा, परन्तु हो सकता है उस में सच्ची श्रद्धा उत्पन्न न भी हुई हो, मात्र दुःख, रोग निवृत्ति हेतु ही वह कदाचित् उपयोग करता होगा परन्तु सम्यग् श्रद्धावान जीव नवकार महामंत्र पर अटूट श्रद्धावान होगा ही इस में तनिक भी संदेह की शक्यता नहीं है।

इस प्रकार देवगति में तथा नरकगति में सम्यग्दृष्टि अनेक श्रद्धालु नवकार महामंत्र की आराधना-उपासना सतत करते रहते हैं। चौदह राजलोक के विशाल क्षेत्र में से ७ राजलोक का बृहत् ऊर्ध्वलोक का अर्ध राज्य देवताओं के आधीन है और इसी प्रकार नीचे के ७ राजलोक का अधोलोक का आधा लोक नरक के नारक जीवों के हाथ में है। इस प्रकार दोनों के मध्य चौदह राजलोक का आधा आधा राज्य विभक्त हो गया। अब मध्य का जो मात्र १८०० योजन का ऊर्ध्व, अधोलोक के मध्य का भाग शेष बचा, वही मनुष्य और तिर्यच जीवों के लिये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि देव और नरक का क्षेत्र भी अधिक विशाल है, और इसी प्रकार वहाँ दोनों की संख्या भी असंख्य की है। उन में सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या भी अधिक होगी अतः वहाँ नवकार महामंत्र की आराधना भी अधिक परिमाण में होती होगी। अब हम मनुष्य और तिर्यच गति में नवकार का विचार करें।

तिर्यलोक में नवकार की आराधना -

तिर्यलोक का क्षेत्र ऊर्ध्व और, अधोलोक अर्थात् देवलोक और नरक के बीच का सीमित क्षेत्र है। चौदह राजलोक के बीचो बीच मध्य में मेरुपर्वत आया हुआ है। मेरुपर्वत की समतल भूमि चौदह राजलोक के मध्य का केन्द्र है। इस समतल भूमि से ९०० योजन ऊपर और उसी से ९०० योजन नीचे इस प्रकार कुल

१८०० योजन का विस्तार तिर्छा लोक का क्षेत्र है। इस समतल भूमि के स्तर पर विस्तृत असंख्य द्वीप समुद्र है। इन में मात्र मध्य के ढाई द्वीप ही मानववस्ती के क्षेत्र हैं। इसके बाहर के क्षेत्र में किसी प्रकार की मानववस्ती नहीं है। ढाई द्वीप में बीच में दो समुद्र है। प्रथम जंबूद्वीप, फिर क्रमशः एक समुद्र और एक द्वीप इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगुने दुगुने माप के है ।

अधोलोक - सात नरक
पृथ्वीको आदि

सात नरकनां नामो —

७ राजलोक प्रभाञ्ज अधोलोक

१८०० योजन / ६०० योजन
निर्धालोक / ६०० योजन

६०० योजन नीचे

अधोलोक नरक

१. धर्मा

२. वंशा

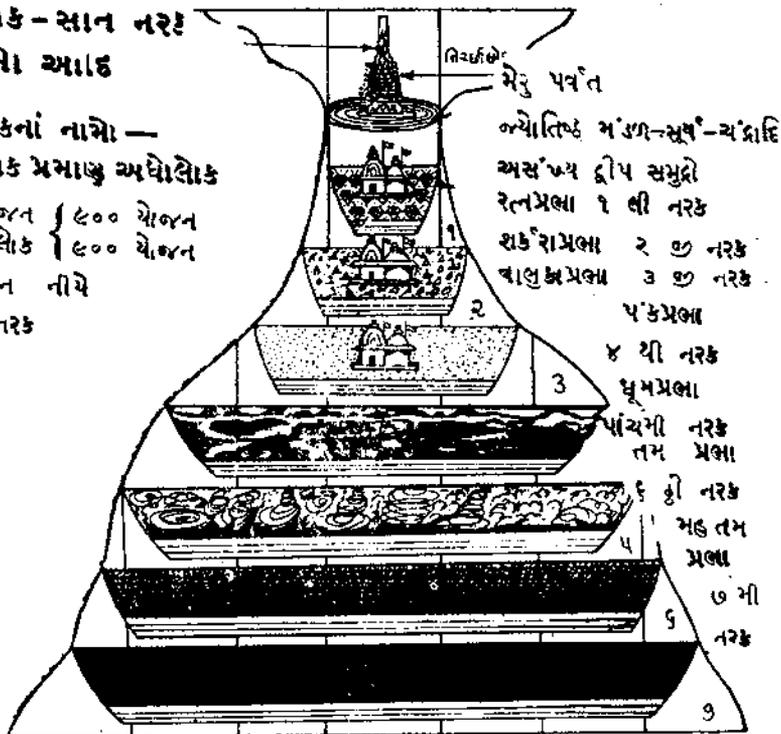
३. शैला

४. अञ्जना

५. रिष्टा

६. मथा

७. माधवती



$$८ + ८ + ४ + २ + १ \text{ लाख योजन} + २ + ४ + ८ + ८ = ४५ \text{ लाख योजन}$$

इस प्रकार वृत्ताकार घूमती हुई स्थिती में एक द्वीप, एक समुद्र इस प्रकार असंख्य द्वीप-समूह हैं जिन में एक से दूसरा दुगुने योजन प्रमाण विस्तारवाला है। उन में बीच ढाई द्वीप (और दो समुद्रों) का माप जैसा कि ऊपर दिखाया गया है - ४५ लाख योजन है। इस ढाई द्वीप क्षेत्र में मनुष्यगति के मनुष्य और तिर्यच गति के पशु-पक्षी दोनों ही गति के जीव साथ साथ रहते हैं। ढाई द्वीप के बाहर मात्र तिर्यच गति के पशु-पक्षी ही रहते हैं । वहाँ मनुष्य नहीं होते हैं । ढाई द्वीप में पुष्करार्ध

द्वीप १६ लाख योजन के विस्तारवाला है, परन्तु उसके बीचो-बीच मानुषोत्तर पर्वत स्थित है, जिसके इस ओर अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत तक ही मानव बस्ती है, परन्तु उसके बाहर आगे के द्वीप-समुद्रों में मानव बस्ती का अभाव है, अर्थात् वहाँ मानव बस्ती नहीं है ।

इस ढाई द्वीप में जंबूद्वीप - धातकी खंड, और पुष्करार्ध द्वीप के क्षेत्र में १५ कर्मभूमियाँ, ३० अकर्मभूमियाँ और ५६ अन्तर्द्वीप के क्षेत्र हैं । ऐसे कुल मिलाकर १०१ क्षेत्र है। ये मानव बस्ती के मानव जनसंख्या वृद्धि के क्षेत्र है। इन १०१ क्षेत्रों में से मात्र १५ कर्मभूमिके क्षेत्रों में ही धर्म है। शेष अन्यत्र कहीं भी धर्म नहीं है - जिसकी कुछ विचारणा हम पूर्व में कर चुके हैं। उन पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह इस प्रकार कुल १५ कर्मभूमि के क्षेत्रों में ही धर्म है। यहीं पर तीर्थंकर भगवंत तथा साधु-साध्वी होते हैं, यहीं पर नवकार महामंत्र गिना जाता है। कालिक और क्षेत्रिय दोनों ही दृष्टि से नवकार महामंत्र की आराधना-उपासना वहाँ सदैव चलती रहती है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल परिवर्तनशील है। और परिवर्तित होते रहते हैं, परन्तु पाँचो ही महाविदेह क्षेत्र में काल कभी भी परिवर्तित नहीं होता। वहाँ सदैव चौथा आरा ही चलता रहता है, इसीलिये वहाँ सदाकाल के लिये तीर्थंकर भगवंत होते रहते हैं और सदैव वहाँ धर्म शाश्वत रूप से प्रवर्तित रहता है, अतः वहाँ नवकार महामंत्र की आराधना भी सदैव शाश्वत रूप से चलती ही रहती है।

नयसार की नवकार साधना -

इस जंबूद्वीप के मध्य स्थित महाविदेह क्षेत्र में पश्चिमी महाविदेह में नयसार नामक एक ग्रामप्रमुख रहता था। वह लकड़हारे की तरह वन में जाकर लकड़ी काट कर लाता था और अपना निर्वाह चलाता था। एक बार अपने स्वामी की आज्ञा से वन में काष्ठ लेने हेतु गया था। मध्याह्न के समय जब भोजन करने का समय हुआ, तब वह अपनी रोट्टी हाथ में लेकर बैठा था कि उसके मन में भावना जागृत हुई - अहा ! इस समय यदि कोई अतिथि महात्मा पधारे तो कितना उत्तम हो। मैं उन्हें खिलाकर ही फिर खाऊँ। मेरा आहार उन्हें अर्पित कर मैं आनंदित बनूँ ! मैं तो नित्य खाता ही आया हूँ, परन्तु कभी भी खिलाकर नहीं खाया। अतः यदि आज कोई अतिथि महात्मा पधारे तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँ ।

जरा सोचिये ! नयसार जन्म से जैन नहीं हैं । हमारी तरह नयसार को

जन्म से देव-गुरु की पहचान आदि के संस्कार भी मिले नहीं। बात भी सही हैं, मिले तो कहाँ से मिले? अतः कोई जैन साधु मुनिराज पधारें - ऐसा न बोलते हुए नयसार तो बोलता है कि कोई अतिथि महात्मा पधारें तो अत्युत्तम हो, परन्तु द्रव्य क्षेत्र-काल सभी विपरीत है। भीषण गर्मी के ताप में भर मध्यान्ह में और वह भी वन्य प्रदेश में कोई भी अतिथि महात्मा कहाँ से पधारें। वन में कोई (highway) राष्ट्रिय मार्ग भी नहीं-आधुनिक तारकोल की सड़कें भी नहीं फिर ऊपर से ऐसी भीषण धूप की गर्मी - ऐसे में महात्मा कहाँ से मिले। जैन साधु तो खुले पाँव चलते हैं। भर मध्यान्ह में धरती तो गर्म तवे की भाँति तप्त होती है, पाँव रखे तो पापड की तरह सिक जाएँ - ऐसी गर्मी - ऐसा विपरीत काल और समय और उस में भी वन्य प्रदेश महात्माओंके आगमन हेतु द्रव्य-क्षेत्र काल तीनों की दृष्टि से प्रतिकूल है, फिर भी नयसार के मन में भावना प्रबल रूप से जगी है। देश-क्षेत्र और काल भले ही प्रतिकूल हों, परन्तु भावना तो, अनुकूल है, अतः नयसार दूर-सुदूर वन की पगदंडी की ओर दृष्टि दौडाता हुआ अतिथि महात्मा के पधारने की राह देखता हुआ टकटकी लगाकर बैठा है। भावना प्रबल वेग पकडती जाती है। स्वयं इसी विचार में मग्न बैठा है, स्वयं रोटी खाता नहीं हैं बल्कि भावनायोग में स्थिर होकर बैठा है।

शास्त्रकार महर्षि लिखते हैं कि - “यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी तंस्य” - अर्थात् जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। सच्ची भावना प्रबल हो, तो सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आश्चर्य की बात थी। असंभव लगने पर भी उस भले मध्यान्ह में कोई मुनि महात्मा विहार करते हुए मार्ग भूल गए और इस ओर की पगदंडी से आ रहे थे। दूर टकटकी लगाकर प्रतीक्षा में खड़े नयसार ने अतिथि महात्मा को आते हुए देखा, और उसका हृदय वाग-बाग हो उठा, वह पुलकित हो गया, रोमांचित हुआ और हर्षोन्मत्त होकर उनके सामने उनका स्वागत करने हेतु दौड़ पड़ा। व्यक्ति में रही हुई योग्यता नमस्कार के प्रथमदर्शी व्यवहार से ही प्रकट हो जाती है। इसी नियम के अनुसार नयसार सामने दौड़कर गया और उन्हें करबद्ध नमस्कार किया। वंदन, पंचांग प्रणिपात आदि गुरुवंदन की विधि आती नहीं, जन्म से जैन नहीं, अतः सीखा हुआ भी नहीं, जानता भी नहीं, परन्तु नमस्कार करना तो वह भली प्रकार जानता है। उसमें शिष्टाचार है, उसने तुरन्त नमस्कार किया, और विनती की - हे भगवन्! पधारो - इस ओर शीतल छाया में पधारो। वन था - उसका घर वहाँ नहीं था, अतः आम्रवृक्ष की शीतल छाया

में नीचे ले गया। महात्माजी ने विश्राम किया और अपनी व्याकुलता का निवारण किया। नयसार ने धीरे से निवेदन किया - भगवन्! कृपा करके मुझे थोड़ा सा लाभ दो। लाभ लो के बजाय लाभ प्रदान करो - कहने में विवेक पूर्ण भावना है। विनम्र भाव से निवेदन किया। नयसार का अत्यंत विनित विनम्र भाव देखकर महात्मा भी आकर्षित हुए। महात्मा ने भी अल्प में से अल्पतम ग्रहण करते हुए थोड़ा सा लाभ दिया। श्रम दूर कर आहार करने के पश्चात् महात्मा विहार करने हेतु उद्यत हुए। इतने में नयसार ने अत्यन्त पुनः विनित भाव से निवेदन किया - हे कृपालु! अभी तो भीषण दाह है, तीव्र ताप है, पहले से आपके पाँवों में फफोले उठ पड़े हैं। भगवन्! आप कैसे विहार कर सकेंगे? यदि आप कुछ देर तक और विश्राम कर लें, तब तक संध्या काल हो जाएगा। सूर्य पश्चिम में नीचे ढल जायेगा। कुछ छाया भी बढ़ जायेगी और गर्मी में भी न्यूनता आ जाएगी। मैं आपके साथ विदा करने आ जाऊँगा। अब आप तनिक भी चिन्ता न करें। अब आप मार्ग नहीं भूलेंगे। मैं वनपथ से सुपरिचित हूँ। मैं आपको मार्ग दिखाऊँगा। नयसार की इतनी अधिक विनम्र भावना देखकर महात्मा मुग्ध हो गए और उन्होंने स्वीकृति दे दी। विश्राम करने के पश्चात् संध्या समय नयसार के साथ विहार प्रारंभ किया। पथ प्रदर्शन करता हुआ नयसार साथ चल रहा है। दूर से गाँव की सीमा दिखाई देने लगी अतः महात्मा ने नयसार से कहा - भाग्यशाली! अब तुम जाओ, गाँव सामने ही दिख रहा है, अतः अब मैं जा सकूँगा। तुम्हें भी, अन्य कार्य होंगे। महात्मा के ये शब्द श्रवण कर नयसार कहता है - भगवन्! आपसे बिछुड़ कर जाने का मन नहीं होता, परन्तु हे कृपानिधान! मैंने तो आपको वन का मार्ग दिखाया है, अब आप कृपया मुझे भी कोई मार्ग निर्देशन करो, मेरे हितार्थ कोई उचित मार्गदर्शन कर मुझे कृतार्थ करो। इन शब्दों में नयसार की योग्यता और पात्रता का हमें स्पष्ट परिचय हो जाता है। उसने अपना हृदय खोलकर दिखा दिया। व्यवहार में मात्र बाह्य विनय प्रदर्शन ही पर्याप्त नहीं है, परन्तु आभ्यंतर भाव विनय भी गहन प्रभाव डाल देता है।

मुनि महात्मा नयसार की उच्च कक्षा की योग्यता-पात्रता समझ गए। ओहो! यह कितना उच्च कोटि का जीव है? चलकर स्वयं मार्ग पूछ रहा है। भविष्य में तीर्थकर बनने वाले जीवों की इतनी ऊँची कक्षा की योग्यता पात्रता अवश्य होती है। भविष्य की भवितव्यता के लक्षण अल्पांश में भी वर्तमान में दिखाई पड़े बीना नहीं रहते हैं। महात्माने नयसार को भली प्रकार से धर्म-मार्ग समझाया। यह आत्म-

कल्याण का मार्ग था। मुनि ने महामंत्र नवकार देते हुए कहा - भाग्यशाली! यह एक महामंत्र है। इसमें अरिहंत और सिद्ध - ये दो देव-देवाधिदेव भगवान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु - ये तीनों ही गुरुस्वरूप हैं और इन पंच परमेष्ठियों को जो नमस्कार किये गए हैं, वे धर्म स्वरूप हैं, अतः देव-गुरु और धर्म की आराधना ही आत्मा को तारक सिद्ध होती है। निश्चित होकर तुम इस महामंत्र की आराधना उत्तम प्रकार से करते रहना। धर्मलाभ।

मुनि महात्मा की अमृतधारा बरसाती हुई पीयूष वाणी और उसमें झरता हुआ करुणारस और उसमें भी महामंत्र नवकार की उत्कृष्ट साधना प्राप्तकर नयसार अर्थादि के चिन्तन में निमग्न हो गया। वह इसे अन्तरात्मा में भावपूर्वक स्वीकार कर रहा था। वह उच्च अध्यवसाय में आरुढ़ हो गया और यथाप्रवृत्तिकरण - अपूर्वकरण, आदि की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई। अन्तर्मुहूर्त में तो राग-द्वेष की जटिल ग्रंथी को भेदकर नयसार की आत्मा घोर मिथ्यात्व के पडल दूर कर उच्च कोटि की श्रद्धा स्वरूप सम्यग् दर्शन प्राप्त करती है। नयसार इसी चिन्तन की धारा में धर लौटता है। आज मानो चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ हो - इतना उसे आनंद है, इतना वह रोमांचित है। उसकी समग्र रोमराजी विकस्वर हो गई है। ऐसी ही आनंद और उत्साहपूर्ण पलें होती हैं जिस में आत्मा प्रबल कर्म निर्जरा करती ही जाती है। पत्नि ने भोजन करने का निमंत्रण दिया, परन्तु नयसार का पेट तो नित्य भरता ही था, आज तो उसका मन भर गया था, तृप्त हो चुका था। मन संसार को और धर्म को, आत्मा को और जगत को तथा बाह्य विभावावस्था तथा, अभ्यंतर स्वभावावस्था को भिन्न भिन्न समझ कर चलते रहे विभावावस्था के अध्यवसायों का त्यागकर उपादेय में निमग्न रहने लगा। नयसार ने जीवन का शेष काल इसी उत्तम साधना में व्यतीत किया और पंचपरमेष्ठी महामंत्र का सतत रटन जारी रखा। सजाग सावधान आत्मा पापभीरु और भवभीरु बनी। महामंत्र की महान् साधना में स्थिर रहकर समाधिस्थ होकर नयसार ने स्वशरीर का त्याग किया। मृत्यु को क्या सुधारा मानो सम्पूर्ण जीवन ही सुधार लीया। जीवन धन्य धन्य बन गया। क्षण क्षण पावन हो गई। नयसार की आत्मा यह आयुष्य पूर्ण कर दूसरे भव में स्वर्ग सिधारी। वहाँ भी प्रबल साधना की। नवकार के प्रभाव से नयसार ने अपने तीसरे भव में भगवान ऋषभदेव के पौत्र और भरत चक्रवर्ती के पुत्र के रूप में जन्म धारण किया। अपने पितामह प्रथम तीर्थंकर और पिता चक्रवर्ती तथा स्वयं इसी अवसर्पिणी काल के

चरम तीर्थकर अंतिम भगवान होनेवाले हैं तथा भविष्य में वासुदेव तथा चक्रवर्ति भी होने वाले हैं । इस प्रकार कितने गजब का पुण्योपार्जन किया। यह नयसार अन्य कोई नहीं, बल्कि भगवान महावीर का जीव था। भावि के अंतिम भव में भगवान महावीर बना, परन्तु प्रथम भव में नवकार से ही इसका बीजवपन हुआ था। बीजारोपण हुआ था तो एक दिन फलित हुआ न? जीवन तो धन्य बनाया, साथ ही समस्त जगत के जीवों को भी धन्य धन्य कर दिया। वे स्वयं तो तीरे ही, पर अनेक भव्यात्माओंको भी तीरा गए। यह था चमत्कार नवकार का। आत्मा नवकार के बीज से सम्यक्त्वादि प्राप्त कर अंत में तीर्थकर बनकर मोक्षगामी बनी। इससे अधिक ऊँचा अन्य चमत्कार नमस्कार महामंत्र का क्या हो सकता है? इस अर्थ में अपने जैसे जीव भी नमस्कार की साधना कर सकें - इस दृष्टि से यह एक उच्च कक्षा का आदर्श अपने समक्ष प्रस्तुत किया गया है ।

नवकार की त्रैकालिक साधना -

साधना अजर-अमर होती है। साधना न मरती है, न इसका अंत आता है, बल्कि इससे साधक साध्य को प्राप्त कर लेता है। साधना साधक को पूर्ण बना देती है। गाडी व्यक्ति को बम्बई पहुँचा देती है, फिर गाडी तो लौटती ही है। गाडी तो नित्य दौड़ती है, परन्तु साधक व्यक्ति अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है - साध्य को प्राप्त कर लेता है। साध्य प्राप्ति के बाद गाडी तो छोड़ देनी होती है। साधना नित्य शाश्वत है, अतः यह सभी जीवों के लिये है। नयसार महावीर बन कर मोक्ष में चले गए। उन्होंने साध्य को प्राप्त कर लिया, परन्तु उनकी साधना का मार्ग तो आज भी है । अतः साधना का मार्ग अजर-अमर सदाकाल का, शाश्वत है। हमें साधना से मतलब है। साध्य के आदर्श का तो अवलम्बन लेना ही है, फिर हमारी साधना भी हमें साध्य तक पहुँचा देगी। साधना पूर्ण तभी बनती है, जब साधक को वह साध्य की प्राप्ति करवा दे । साध्य को प्राप्त करना अर्थात् साधक का अपूर्ण में से पूर्ण बनना, अल्पज्ञ में से सर्वज्ञ बनना है। अतएव साधना का मार्ग जगत में तीनों काल में शाश्वत रहता है। महावीर तो एक साधक थे। उन्होंने भी शाश्वत साधना जो अनेकों के माध्यम से चली आ रही थी, वह साधना की और एक दिन साधना की पूर्णाहुति स्वरूप चरम साध्य को प्राप्त करने में वे सफल हो गए, परन्तु जिस साध्य की भगवान महावीर ने प्राप्ति की, उसकी साधना को भगवान महावीर

अपने साथ नहीं ले गए। साधना का मार्ग तो वे जगत को देकर गए। उन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी कि जगत में कोई भी साधक यह साधना करेगा, वह साध्य की प्राप्ति कर सकेगा।

नवकार एक साधना है। भूत-वर्तमान और भविष्य तीनों ही काल की दृष्टि से यह साधना भी शाश्वत अजर-अमर है। अतः नवकार भी अजर-अमर है। अजरता और अमरता ही नवकार का शाश्वत स्वरूप है। अतः नवकार साधना के स्वरूप में अजर-अमर शाश्वत है। साधना क्या है? साध्य प्राप्ति का मार्ग साधना है। साधक को साध्य के गन्तव्यस्थल पर पहुँचाने वाला यह मार्ग है। साधक और साध्य का मेल करवाने वाला माध्यम साधना है। ऐसी साधना तो सदाकाल रहेगी, परन्तु साधना करने वाला साधक बन जाएगा। अतः साधक को सोचना यह है कि मुझे साधना करनी है, या नहीं। यदि वह साध्य को प्राप्त करने का इच्छुक है, तब तो उसके लिये साधना करना, अपेक्षित है, अन्यथा जैसी इच्छा। साध्य के निर्णय बिना साधना संभव नहीं है। इसी प्रकार साधना के बिना साधक भी बनना अशक्य है।

नवकार महामंत्र में प्रयुक्त “लोए” और “सव्य” शब्द नवकार की व्यापकता के सूचक हैं। ‘लोए’ शब्द भौगोलिक स्थिति का निर्देश करता है जब कि ‘सव्य’ शब्द सर्व व्यापकता का निर्देश करता है। चौदह राजलोक में सर्वत्र व्याप्त नवकार वास्तव में सर्वव्यापक है। नवकार का साम्राज्य चौदह राजलोक के तीनों ही लोकों में व्याप्त है। नवकार का अस्तित्व त्रिलोक में है। इसका रटन-स्मरण सदैव एवं सर्वत्र होता रहा है - हो रहा है। ऐसा कौन सा स्थल है, जहाँ नवकार का रटन-स्मरण न चलता हो? नरक में नवकार गिना जा रहा है, तिच्छा लोक में मनुष्य और तिर्यच इसे गिन रहे हैं, और ऊर्ध्व लोक के स्वर्ग में इसकी गणना प्रचलित है। नरक के असंख्य नारकीय जीवों में से विशेष संख्या में तो नवकार गिनते ही होंगे - इसी प्रकार स्वर्ग - देवलोक के भी असंख्य देवताओं में से संख्यात सम्यक्त्वधारी जीव तो नवकार गिनते ही होंगे और इसी प्रकार तिच्छा लोक के व्यापक क्षेत्र में तिर्यच पञ्चैन्द्रिय जीव भी अल्प संख्या में नवकार की साधना करते होंगे, और इसी प्रकार संख्यात संख्यावाले मनुष्यों की संख्या में से भी अल्पसंख्या में मनुष्य भी नवकार गिनते होंगे। इस प्रकार तीनों ही लोक में नवकार की साधना, अविरत-निरंतर चलती है। भूतकाल के अनंत वर्षों में नवकार की साधना होती थी। आज भी हो रही है और भविष्य में भी अनंत वर्षों तक नवकार की साधना होती

रहेगी। काल यदि अनादि, अनंत और शाश्वत है, तो उस काल में रहनेवाला नवकार महामंत्र भी अनादि अनंत और शाश्वत है। तीनों ही काल में नवकार की साधना चलती है, चलती थी और चलती ही रहेगी। इसे रोकने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

मात्र चलती ही है ऐसा नहीं, परन्तु अविरत - अखंड और सतत चलती है। तीनों ही लोक और सभी क्षेत्रों के जीवों की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट चित्र खड़ा होगा कि नरक में नवकार चल रहा है। श्रेणिक, कृष्णादि के जीव जो वर्तमान काल में नरक गति में है और वहाँ वे नवकार महामंत्र गिन रहे हैं, उनकी साधना वहाँ चल रही है। स्वर्ग में देवतागण नवकार की साधना कर रहे हैं। इसी प्रकार तिर्छालोक में ढाई द्वीप के १५ कर्मभूमिक्षेत्र में भी सैंकड़ों नर-नारी नवकार की सतत आराधना कर रहे हैं। इस प्रकार कालिक दृष्टि के साथ साथ क्षेत्रीय दृष्टि मिलाकर विचार करें तो कालिक - क्षेत्रीय उभय दृष्टि से स्पष्ट स्वरूप में व्यापक रूप से देखने पर ख्याल आ जायेगा कि नवकार की साधना कीतनी व्यापक है। समस्त चौदह राजलोक के सर्वक्षेत्र और सर्वकाल का व्यापक दृष्टि से विचार करें तब भी स्पष्ट रूप से समझ में आएगा कि एक दिन तो क्या, परन्तु एक घंटे का भी अवरोध या भंग नवकार की साधना में संभव नहीं है। छठे आरे में धर्म लुप्त हो जाता है, धर्म रहता ही नहीं हैं, तब प्रश्न होता है कि नवकार कि गणना कहाँ से संभव हो सकती है ? बात तो ठीक ही है। आपका यह प्रश्न यथार्थ ही है, परन्तु हम मात्र अपने भरत क्षेत्र की दृष्टि से ही तो चर्चा नहीं कर रहे हैं। दृष्टि को व्यापक बनाने की आवश्यकता है। चौदह राजलोक के तीनों ही लोक और ढाई द्वीप तथा महाविदेह क्षेत्रादि सभी क्षेत्रों की व्यापक दृष्टि से विचार करोगे तो बात स्पष्ट हो जाएगी, और तभी नवकार महामंत्र की सर्व व्यापकता समझ में आएगी।

महाविदेह क्षेत्र में काल शाश्वत है। वहाँ सदैव चौथा आरा ही प्रवर्तित रहता है। अपने यहाँ भरतक्षेत्र में काल भी परिवर्तनशील है, आरे बदलते रहते हैं, जब कि पाँचो ही महाविदेह क्षेत्र में काल अपरिवर्तनशील है। वहाँ आरे (काल) कभी भी बदलते नहीं, सदाकाल नित्य-शाश्वत स्वरूप में चौथा आरा ही होता है, अर्थात् अपने यहाँ भरतक्षेत्र में जैसा चौथा आरा होता है, वैसा ही काल वहाँ सदैव रहता है, अतः वहाँ धर्म भी सदा-नित्य-शाश्वत होता है। धर्मप्रवर्तक, धर्मसंस्थापक तीर्थकर भगवंत आदि भी वहाँ सदा-शाश्वत होते हैं। इतना सब कुछ सदा शाश्वत हो तो फिर मोक्ष और मोक्षप्राप्ति भी महाविदेह में सदा-नित्य शाश्वत होते हैं और यदि काल-

धर्म-भगवान मोक्षादि सभी भाव वहाँ शाश्वत हो तो क्या नवकार अशाश्वत हो सकता है? क्या यह संभव है? क्योंकि नवकार के बिना मोक्षगमन कैसे होगा ? नवकार और इसके द्वारा ही मोक्ष संभव है। शास्त्रकार महर्षि स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि।

पत्ता पाविस्संति पावंति य परमयपुरं जे ।

पंच नमुक्कार महारहस्स सामत्थजोगेण ॥

परम अर्थात् अंतिम श्रेष्ठ पद-मोक्षरूप नगर जिन्होंने भूतकाल में प्राप्त किया है, जो भविष्यकाल में प्राप्त करेंगे और जो वर्तमान में प्राप्त कर रहे हैं, वे सभी पंच परमेष्ठि नमस्कार महारथ के सामर्थ्य योग से ही प्राप्त कर सके हैं, अर्थात् नवकार के बिना मोक्ष प्राप्ति सर्वथा असंभव है। इस श्लोक में नवकार की तीन काल की त्रैकालिक सत्ता बताई गई है। मात्र नवकार की अस्तित्ववाची सत्ता ही नहीं, बल्कि नवकार की फलदायिनी सक्रिय सत्ता का भी परिचय दे दिया गया है। नवकार से भूतकाल में मोक्ष प्राप्त हुआ है, भविष्य में होगा और वर्तमान में भी मोक्ष प्राप्ति हो रही है - इसलिये नवकार को सामर्थ्य योग का रथ कहकर उत्तम उपमा दी है। जैसे रथ गन्तव्य स्थान तक जाने के लिये साधन है, माध्यम है, उसी प्रकार नवकार भी गन्तव्य साध्य स्थान - मोक्षपद को प्राप्त करने के लिये साधन है, माध्यम है ।

इसी प्रकार त्रिकाल में नवकार की सत्ता सिद्ध होती है, तीनों ही लोकक्षेत्र में नवकार की सत्ता सिद्ध होती है, और मात्र अस्तित्व प्रधान सत्ता ही नहीं, बल्कि साधनारूप कृतित्ववाची सक्रियता सिद्ध होती है। चौदह राजलोक - त्रिलोक - सर्वक्षेत्र तथा सर्वकाल की कालिक तथा क्षेत्रीय उभय दृष्टि कोण से विचार करने पर नवकार की सततता अखंडीतता सिद्ध होती है ।

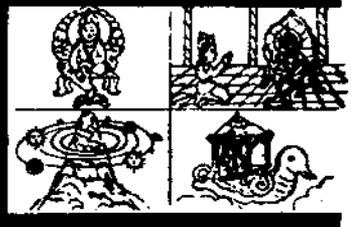
चारों ही गति में नवकार की साधना -

जीवों की दृष्टि से विचार करें तो संसार में चार गतियाँ हैं। प्रतिदिन मंदिर में हम जो स्वस्तिक करते हैं, वह स्वस्तिक चार गतियों का सूचक-प्रतीक है। ऊपर की दाहिनी पँखुड़ी देवगति की सूचक है जब कि बाँयी पँखुड़ी मनुष्य गति की सूचक है, नीचे की दाहिनी पँखुड़ी नरकगति की, और बाँयी पँखुड़ी तिर्यच गति की सूचक है। इस प्रकार चौदह राजलोक के समग्र ब्रम्हांड में जीव इन चार गतियों में स्थित है। ये चार गतियाँ समस्त संसार में व्याप्त हैं। जगत में जितने भी अनंत जीव हैं,

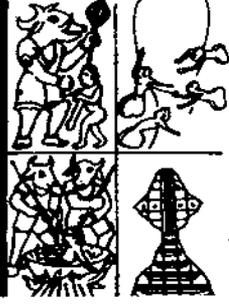
म
नु
ष्य
ग
ति



देव गति



जुप



ति
थ
य
ग
ति

तिथय गति

वे सभी इन चार गतियों में ही रहते हैं । देवगति में चार निकाय के देवता निवास करते हैं। इसे देवगति - देवलोक, ऊर्ध्वलोक, स्वर्ग के नाम से भी जाना जाता है। देवलोक में नवकार की आराधना के विषय में जो विचार हम पूर्व में कर चुके हैं, वही विचार यहाँ देवगति में समझे, क्योंकि देवगति में या देवलोक में जीव तो वही के वही ही है। देवता तो वे ही है। देवगति गतिसूचक है, देवलोक क्षेत्रसूचक शब्द है - बस अन्तर इतना ही है। देवगति में उच्चतम देवलोक के रूप में पाँच अनुत्तर देवलोक गिने जाते हैं जिनके गणना कल्पातीत देवलोक में होती है। इन में उच्चतम कोटि के सर्वोच्च देवता निवास करते हैं, जिनकी ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट आयु होती है । (१) विजय, (२) वैजयन्त (३) जयन्त (४) अपराजित और (५) सर्वार्थ सिद्ध - इस प्रकार के पाँच नाम अनुत्तर स्वर्ग के विमानों के है। यहाँ उत्पन्न होने वाले जीव एकावतारी होते है, अर्थात्, यहाँ से उतरकर मनुष्य गति का एक भव करके वहाँ से सीधे मोक्ष में चले जाते हैं । ऐसी उत्कृष्ट कक्षा के देवता सम्यग्दृष्टि होते हैं। ये देवता भोग-विलास में आसक्त नहीं होते हैं , परन्तु तत्त्वचिंतन में अपना

कालनिर्गमन करते रहते है, अर्थात् उनकी चिन्तन साधना में सम्यग् श्रद्धा में नवकार ही मुख्यविषय होता है। इस कक्षा के देवताओं को प्रमादादि सेवन करना तनिक भी पसंद नहीं आता। निद्रा तो देवगति में होती ही नहीं है, अतः सम्यग्दृष्टि देवता नवकार की साधना कितनी सुंदर करते होंगे? अनुत्तरोववाईय (अनुत्तरोपपातिक) नामक अंगसूत्र में ऐसे देवताओं का बड़ा ही अनुठा वर्णन है ।

नरकगति भी नरक क्षेत्र में अधोलोक शब्द से सूचक है। नरक गति के नारकी य जीव इस अधोलोक में निवास करते है। वहाँ भी नवकार की साधना तो चल ही रही है - इसकी चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं । मनुष्य गति का क्षेत्र मात्र ढाई द्वीप पर्यन्त ही सीमित है। इन ढाई द्वीप के मनुष्यों की संपूर्ण जनसंख्या मनुष्यगति में समा जाती है। क्षेत्र भौगोलिक शब्द है। क्षेत्र के सर्व जीवों का वाची शब्द गति है। मनुष्य गति में भी सदा काल नवकार महामंत्र की साधना चलती रहती है ।

तिर्यच गति में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों का समावेश होता है। देव-नारक और मनुष्यों के सिवाय जगत की समस्त जीवसृष्टि इस तिर्यच गति में गिनी जाती है। कीडे, मकोडे, मक्खी, मच्छर, अमीबा, केंचुए आदि तथा सभी प्रकार के पशु-पक्षी आदि सभी जीवों की गति की दृष्टि से तिर्यच गति में गणना होती है। अतः एकेन्द्रिय जाति के पृथ्वीकाय, अपकाय, तेऊकाय, वायुकाय, और वनस्पतिकाय इन सभी स्थावर जीवों की गणना भी एकेन्द्रिय जाति में होती है। विकलेन्द्रिय के द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, और चतुरीन्द्रिय जीव भी तिर्यच गति में गिने जाते है। द्वीन्द्रिय में केंचुए, अमीबा, कृमि, शंख, शीप आदि की गणना होती है। तेइन्द्रिय में चींटी, मकोडे, पिल्लू, धनेरा, जू, लीख, खटमल आदि का समावेश होता है। चतुरिन्द्रिय में मक्खी, मच्छर, भ्रमर, टिड्डी आदि जीवों की गणना होती है। यहाँ तक अर्थात् एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में नवकार बिल्कुल ही संभव नहीं हैं। साथ ही असंज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के लिये भी नवकार संभव नहीं है। मात्र संज्ञि समनस्क पर्याप्ता पंचेन्द्रिय जीव जिन में गाय-भेंस-घोडा-हाथी-ऊँट-बैल आदि पशु हैं तथा जलचर, स्थलचर, खेचर, हैं, अथवा तो पक्षी जैसे कौवा - कबूतर-तोता-धील आदि जीव है - वहीं तक नवकार की साधना संभव है ।

सामान्य विचार करें तो कदाचित यह बात गले न भी उतरे, परन्तु तिर्यचगति के अनेक जीव नवकार की साधना से तिर जाने के उदाहरण शास्त्रों में उपलब्ध है। निमित्त मिल जाए, तो ये जीव भी प्राप्त कर जाते हैं - कल्पसूत्र

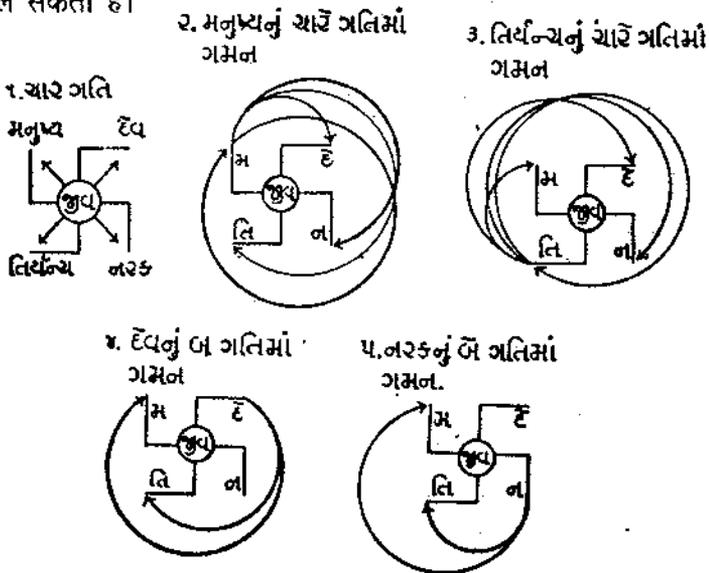
में दो बैलों की बात आती है, जो इस बात की पुष्टि करती है।

गतियाँ चार है। संसार चक्र इन चार गतियों का बना हुआ है। (१) देव, (२) मनुष्य, (३) नरक और (४) तिर्यच गति। इस प्रकार ये चार गतियाँ प्रसिद्ध है। इन चार गतियों में समस्त ब्रह्मांड के सभी जीवों का विभाजन किया गया है। इन चार गति सूचक स्वस्तिक में दो गतियाँ ऊपर हैं तथा दो गतियाँ नीचे है। स्वस्तिक को हम मध्य से विभक्त करें, तो एक आधा भाग ऊपर रहता है और दूसरा अर्ध भाग नीचे रहता है। इन में ऊपर के अर्ध भाग में मनुष्य और देव गति है। मनुष्यगति बाँयी ओर तथा देवगति दाहिनी ओर - इस प्रकार ऊपर की दोनों गतियाँ सद्गति सूचिका हैं, तथा नीचे के भाग में बाँयी ओर तिर्यच गति तथा दाहिनी ओर नरक गति है। ये दोनों ही गतियाँ दुर्गति सूचिका है। सद्गति में सद् शब्द शुभ अथवा अच्छे के अर्थ में प्रयुक्त है जब कि दुर्गति में दुर् शब्द अशुभ अथवा बुरे के अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार दो गतियाँ शुभ होने से उन्हें सद्गति कहते है। देव और मनुष्य की गतियाँ सुखपूर्ण अच्छी गतियाँ है। तिर्यच, और नरक की गतियाँ दुःखमय होती है। दुर्गति में पीडा-वेदना-कष्ट आदि अनेक प्रकार के दुःखों की प्रधानता होती है। जब कि सद्गति में धन, धान्य, संपत्ति, वैभव-भोग-विलास आदि सुखशांति की प्रधानता होने से सुख की गति के अर्थ में सद्गति कहलाती है। जीवों का एक गति में से अन्य गति में गमनागमन तो चलता ही रहता है। यह गमनागमन जन्म-मरण की प्रक्रिया के फल स्वरूप होता है। संसार एक चक्र है। चक्र गतिशील होता है अर्थात् जन्म-मरण के कारण गत्यन्तर और एक गति से दूसरी गति में गमनागमन तो सतत चलता ही रहता है।

चार गतिओं में जीवों का गमनागमन -

सूक्ष्म स्वरूप में चार गतियों में गमनागमन आदि का वर्णन तो दंडक सूत्र के गति आगति दंडक द्वार में सविस्तार किया गया है। यहाँ तो सामान्य रूप से (ग्रंथविस्तार के भय से) मात्र इतना ही वर्णन करते हैं कि स्थूलस्वरूप में चारों ही गतियों में से जीव किस गति में से आते है, और किस गति में जाते हैं। उपर्युक्त चित्र देखने से समझने में अधिक सरलता होगी। प्रथम चित्र में चार गति की दिशा प्रदर्शित है। दूसरे स्वस्तिक में दिखाया गया है कि मनुष्य गति के जीव चारों ही गतियों में जा सकते है, अर्थात्, मनुष्य मृत्यु होने के पश्चात देवता भी बन सकता

है, नरक में भी जा सकता है, तिर्यच गति में जाकर पशु-पक्षी के रूप में भी जन्म ले सकता है, और पुनः मनुष्य भी बन सकता है। इस प्रकार मनुष्य चारों ही गतियों में जन्म ले सकता है।



तिर्यच के जीवों का विचार करें तो तीसरे स्वस्तिक में बताई गई तीरवाली रेखाएँ देखने से पता चलेगा की तिर्यच गति के पशु-पक्षी भी मृत्यूपरान्त मनुष्य में, देव में, नरक गति में और अंत में तिर्यच मरकर तिर्यच गति में पुनः भी जा सकता है अर्थात् पुनः पशु-पक्षी आदि के रूप में उत्पन्न हो सकता है।

चौथे स्वस्तिक में देवगति बताते हुए कहा है कि देवगति के देवता मर कर तिर्यच गति में पशु-पक्षी के भव में उत्पन्न होते हैं, अथवा मनुष्य गति में जाते है। वे इस प्रकार मात्र दो ही गतियों में जन्म लेते है। उन में भी ९९% तो तिर्यच गति में ही जाकर उत्पन्न होते हैं। कोई विरले ही मात्र मनुष्य गति में उत्पन्न होते है। इसीलिये मानवजन्म को अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है, मनुष्य गति को सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ गति बताई है। देवगति को भी सर्वोत्तम - सर्वश्रेष्ठ गति न बताने का कारण यही है कि देवगति में से मोक्ष-गमन संभव नहीं है। एक मात्र मनुष्यगति में से ही मोक्ष में जा सकते हैं। इसीलिये तो इसी गति की प्राप्ति श्रेष्ठ है, इसीलिये मनुष्य जन्म उत्कृष्ट - सर्वश्रेष्ठ जन्म है, अमूल्य एवं दुर्लभ जन्म है। देवलोक के देवतागण भी मनुष्य जन्म के लिये तरसते रहते हैं।

अंतिम पाँचवे स्वस्तिक में नरक गति के नारकी जीवों का गमन-संचरण बताया गया है। इस में कहा गया है कि नारकी जीव मरकर त्रिच गति में पशु-पक्षी के रूप में उत्पन्न होते हैं, कोई विरले ही मनुष्यगति प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार नरक के जीव भी मात्र दो ही गतियों में जाते हैं। इन दो के सिवाय वे कहीं नहीं जाते। इस प्रकार चारों ही गतियों के जीवों के चार गतियों में गमनागमन, गति-आगति संबंधी अटल नियम इस प्रकार शास्त्रों में वर्णित है। ये नियम, अपरिवर्तनशील हैं। इन्हीं नियमों के अनुसार चारों ही गतियों में गमनागमन चलता रहता है। संसार चक्र में जीवों का एक गति से दूसरी गति में, एक जाति से दूसरी जाति में एक भव से दूसरे भव में इन नियमों के अनुसार ही सतत परिभ्रमण चलता रहता है।

गतिसूचक हेतुओं और प्रवृत्ति के आधार पर गतियाँ -

जीव की गति आगति उसके स्वयं के कर्म के आधार पर है, किसी अन्य के हाथ में नहीं है। कोई उपरवाला या अन्य कोई नियंता नहीं है जो संसार का नियंत्रण करता हो। जीवों ने जैसे शुभ-अशुभ कर्म किये हो तदनुसार ही जीवों की गति-आगति होती है। दंडक प्रकरण की ३४ वीं गाथा में स्पष्ट कहा गया है कि “सव्ये उववज्जंति निय निय कम्माणुमाणेणं” - अर्थात् सभी जीव स्व-स्व कर्मानुसार उत्पन्न होते हैं - जन्म लेते हैं, आते हैं, और जाते हैं। अतः जीव की गति उसके कर्मानुसार होती है। इस में कोई भी अन्य कारण नहीं बनता। यह सिद्धान्त स्वीकार करने में ही सम्यक्त्व है - सत्यता है।

कोई ज्योतिषि-ब्राह्मण-पंडित अथवा हस्तरेखाशास्त्री आदि भी पूछने पर नहीं बता सकते हैं कि जीव किस गति में से आया है और किस गति में जाने वाला है। हाथ या पाँव की रेखाएँ देखकर भी कोई ज्योतिषि यह निर्णय नहीं दे सकते हैं कि इस गति के विषय में निश्चित रूप से तो क्या परन्तु सामान्यरूप से भी कुछ नहीं बता सकते हैं। हाथ की, आयुष्य रेखा जहाँ समाप्त हो जाती है वहीं तक किसी ज्योतिषि का ज्ञान उपयोगी होता है। बस, आयुष्य रेखा के अनुसार अंगुली की गणना करके उतने वर्षों तक आयुष्य होने की बात वे कह सकते हैं, परन्तु यह भी अनुमान है। ज्योतिष अथवा हस्तरेखा में अनुमान शास्त्र अधिक निश्चित कार्य करता है, अथवा अनुमान अधिक काम करता है। प्रश्न अवश्य खड़ा होता है। अनुमान में

५०%-५०% सत्य-असत्य दोनों ही पक्ष होते हैं, अतः कुछ भी शत प्रतिशत सच्चा नहीं कहा जा सकता है। भविष्यवाणियाँ सत्य भी सिद्ध हो सकती हैं और न भी हो सकती हैं। इस प्रकार अनुमानों से भी भविष्यवाणी करके कहने का हो, तब भी भूतकाल की गति तथा भविष्य काल की गति डंके की चोट नहीं बता सकते, जब कि कल्पसूत्र जैसे शास्त्र शिरोमणि ग्रंथ में लक्षण के आधार पर और पूज्य वाचक मुख्य उमास्वातिजी महाराज ने स्वरचित तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में लक्षण प्रवृत्ति तथा कर्म के आधार पर जीवों की गति बताई है जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

(९) नरकगति के योग्य आयुष्य बंध के आश्रव -

सरागः स्वजनद्वेषी, दुर्भाषी मूर्खसंगकृत् ।

शास्ति स्वस्यगता यातं, नरो नरकवर्त्मनि ॥

अर्थात्, तीव्र रागवाला, स्वजन-संबंधी पर द्वेषवाला, अपशब्दयुक्त गंदी भाषा बोलनेवाला तथा मूर्ख की संगति करने वाला - ऐसे अशुभ लक्षण इस बात का सूचक है कि वह नरक गति में से आया है, और पुनः नरक गति में ही जानेवाला है। इस प्रकार कल्पसूत्र की टीका में विनयविजयजीमहोपाध्यायजी म. फरमाते हैं। नरक गति में जाने के लिये अन्य आश्रवद्वार तत्त्वार्थकार और कर्मग्रंथकार इस प्रकार बताते हैं ।

बह्म्वारंभ परिग्रहत्वं च नारकस्यायुषः॥ तत्त्वार्थसूत्र ॥

बंधइ निरयाउं महारंभपरिग्रहरओ, रुद्धो॥ कर्मग्रंथ ॥

अत्यन्त अधिक प्रकार का आरंभ समारंभ करने से जितने अधिक प्रमाण में जीव विराधनाएँ होती हो, महापरिग्रह रखने से, तीव्र क्रोधादि कषाय करने से, रौद्रध्यान की परिणतिवाले, कृष्ण लेश्यावाले जीव, हिंसादि पापारंभ की प्रवृत्ति में रत रहनेवाले, पंचेन्द्रिय जीवों का वध-हिंसादि करनेवाले, मद्य-मांसादि का सेवन करनेवाले जीव, अत्यन्त विषयलोलुप जीव, घोर मिथ्यात्वी, मुनिघातक, महाचोर, व्रतघातक, रात्रिभोजन करनेवाले, गुणीजनों की निंदा करनेवाले, तीव्र मत्सर बुद्धिवाले जीव प्रायः नरकगति उपार्जन करते हैं और नरकगति का आयुष्य बाँधकर नरक में जाते हैं ।

(2) मनुष्य गति के योग्य आश्रव -

निर्दम्भः सदयो दानी, दान्तो दक्षः सदा ऋजुः।

मर्त्ययोनेः समुद्भूतो, भविता च पुनस्तथा ॥

दंभरहित, माया कपट न करनेवाला, दयालु, दानवीर, उदार स्वभाववाला हो, इन्द्रियों को वश में रखनेवाला जितेन्द्रिय, समझदार सज्जन और सरल स्वभाववाला जीव हो, तो उसे विशेषतः मनुष्यगति में से आया हुआ समझें और ऐसे ही लक्षण पुनः दिखाई पड़ते हों, तो पुनः वह जीव मनुष्य गति में ही जाएगा - ऐसा समझें ।

अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ॥ तत्त्वार्थसूत्र ॥

पर्यई इतणुकसाओ, दाणरुई मज्झिमगुणो आ ॥ कर्मग्रंथ ॥

अत्यन्त अल्प जीवनाशक आरंभ समारंभ करनेवाला हो, स्वभाव से विनयी-विनम्र और अत्यन्त सरल ऋजु स्वभाव वाला हो, निर्दोष कपट रहित हो, तथा जिसके क्रोधदि कषाय सर्वथा क्षीण हो गए हो, ऐसा अल्प कषायवाला जीव, दानादि पुण्य कार्य करने कि रुचिवाला जीव, क्षमादि भाववाला, मृदुतादि मध्यम गुणवाला, जिन पूजन भक्ति में रत रहनेवाला, धर्मध्यान करनेवाला किसी के साथ, अन्याय न करनेवाला, न्यायप्रिय रहनेवाला, न्याय नीतिपूर्वक धनोपार्जन करनेवाला, यतनापूर्वक जीवरक्षा करनेवाला, साधु-संतों का आदर -सत्कार करनेवाला, सेवा करने वाला, भद्रिक परिणामवाला, परनिंदा न करनेवाला, परोपकार परायण ऐसे अनेक प्रकार के लक्षणों से युक्तजीव प्रायः मनुष्यगति का उपार्जन करके - मनुष्यायु बाँधकर मनुष्य के रूप में उत्पन्न होता है।

(3) तिर्यग्वगति योग्य आश्रव हेतु -

माया-लोभ-क्षुधा-लस्य-बह्याहारादिचेष्टितैः।

तिर्यग्योनेः समुत्पत्तिं ख्यापयत्यात्मनः पुमान्॥

तीव्र माया कपटमय वृत्तिवाले, लोभी-लालची, तीव्र क्षुधा, आलस्य और प्रमाद वाले, अत्यन्त आहार करनेवाले, तीव्र आहार संज्ञावाले ऐसे लक्षण जिन में दिखाई पड़ते हो, उन्हें, तिर्यच गति में से, आए हुए और पुनः तिर्यच गति में जानेवाले समझें ।

माया तैर्यग्योनस्य ॥ तत्त्वार्थसूत्र ॥

तिरिआउ गूढहिअओ, सबे ससल्लो तथा मणुस्साऊ ।

माया-कपट, छल-प्रपंच घोर-विधासघात करनेवाले, मूढ प्रौर शठ हृदयवाले, मूर्ख स्वभाववाले, पेट में शल्पयुक्त पापवृत्ति रखनेवाले, अन्यो को ठगनेवाले, शीलगुणविहीन, मिथ्यात्व का उपदेश देनेवाले, गलत तोल-मान माप द्वारा व्यापार करनेवाले, कुकर्म की वृत्ति रखनेवाले तथा उसकी चर्चा करनेवाले, मिलावट करके बेचनेवाले, झूठी साक्षी देनेवाले, चोरी करनेवाले, निरन्तर आर्तध्यान में रहनेवाले, अत्यन्त आहारादि करनेवाले - अत्यन्त आहार की तीव्र संज्ञा रखनेवाले, चाहे जितना खाने पर भी सन्तुष्ट न होनेवाले, कृष्ण नील कापोत लेश्यावाले जीव प्रायः तिर्यवगति बाँधकर तिर्यच का आयुष्य लेकर पशु-पक्षी के रूप में ही जन्म धारण करते है।

(४) देवगति योग्य आश्रव -

सद्धर्म, सुभगो नीस्क्, सुस्वप्नः सुनय कविः।

सूचयात्यात्मनः श्रीमान् नरः स्वर्गगमा गमौ॥

सुंदर धर्मा राधना करनेवाले जीव, अच्छे भाग्यशाली, सौभाग्यशाली, पुण्योपार्जन करनेवाले पुण्यशाली, निरोगी कायावाले जिन्हें स्वप्न भी सुंदर आते हो, और जो सुंदर उत्तम सच्ची नीति-रितीवाले जीव हो, जिन में कवित्व शक्ति हो, ऐसे जीव स्वर्ग में से ही आए हैं और पुनः स्वर्ग में ही जानेवाले हैं - ऐसा संकेत प्राप्त होता है ।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामु निर्जराबालतपांसि देवस्य । तत्त्वार्थ

अविरयमाइ सुराउ, बालतवा कोमनिज्जरो जयइ ॥ कर्मग्रंथ ॥

सरागसंयम चारित्र के आराधक, अविरतिवान् सम्यग्दृष्टि देशविरतिधर श्रावक जीवन की आराधना करनेवाले, अकाम निर्जरा करने से, बालतप करने से, अज्ञानकष्ट सहन करते हुए तपादि करने से दुःखगर्भित और मोहगर्भित वैराग्य वाले, शुभ ध्यानादि साधक, जिनपूजा भक्ति ध्यानादि करनेवाले, साधु-साध्वीजनों की सेवा वैयावृत्य सन्मानादि करनेवाले, शोक-संताप घटाने से, गुणानुरागी, व्रतपालनादि नियमधारी जीव, यतना का पालन करने से, जीवों पर दया अनुकंपादि करने की वृत्तिवाले, तथा गुरुवंदन से, लौकिक लोकोत्तर गुणधारी जीव देवगतियोग्य

कर्मोपार्जन करके देवगति में से आए हैं एवं स्वर्गमन करते हैं ।

इस प्रकार कल्पसूत्र की टीका, तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और कर्मग्रंथ के आधार पर लक्षणयुक्त तथा प्रवृत्ति स्वभावादि के अनुसार बद्ध होते कर्मों के अनुरूप जो गति तथा आयुष्य निर्मित निश्चित होते है उसकी स्पष्ट बात इस प्रकार है। जीव की स्वयं की गति-आगति उसी के स्वयं के हस्तगत है। वह जैसे भी कर्म करेगा वैसी ही गति उसे प्राप्त होगी, परन्तु यह सिद्धान्त ज्ञान से विपरित मानना मिथ्यात्व है अज्ञानता है। जैसे कि ऊपरवाला हमें एक से दूसरी गति में ले जाता है, हमारे आयुष्य की रस्सी ईश्वर के हाथ में है, उसकी इच्छानुसार हमें वह जहाँ - जिस गति में भेजता है, वहीं हमें जाना पडता है, वह जितना और जैसा आयुष्य हमें देता है - उतने काल तक हमें जीना पडता है, रहना पडता है - यह सब मिथ्याज्ञान है। यह कर्म सिद्धान्त से विपरीत विचारधारा है।

स्वर्गवास - सांसारिक व्यवहार मात्र -

लोकव्यवहार में प्रतिदिन सैंकड़ों मरते हैं और लाखों जन्म लेते हैं संसार चक्र इसी का नाम है, जहाँ गतिशील चक्र के आधार पर जीव एक गति से दूसरी गति में सतत आवागमन करते रहते हैं। घर में पिता की मृत्यु होने पर पुत्र समाचार पत्र में शोक संदेश छपवाता है कि - मेरे पिताश्री — का स्वर्गवास हुआ है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार हम देख चुके हैं कि जीव मात्र स्वर्ग में ही नहीं जाते, परन्तु चारों ही गतियों में जाते हैं । वे नरक में भी जाते हैं, तो फिर नरकवास भी लिखा जा सकता है। तिर्यचवास भी लिखा जा सकता है और मनुष्यवास भी लिखा जा सकता है, परन्तु आज दिन तक इस प्रकार नरकवासादि शब्द लिखते हुए किसी को नहीं देखा। सभी स्वर्गवास ही लिखते हैं - तो ऐसी क्या बात है? इस शब्द से क्या यही समझा जाए कि जितने भी मरते हैं वे सभी स्वर्गगमन ही करते हैं ? सभी का निवास क्या एक मात्र स्वर्ग में ही होता है? संसार में किसी की भी मृत्यु होने पर स्वर्गवास लिखने का रिवाज ही प्रचलित हो गया है, तब तो इस विचार के अनुसार तो सभी जीवों का प्रवेश एक मात्र स्वर्ग में ही होता होगा, अन्य सभी गतियाँ तो रिक्त ही रह जाएगी। अन्यत्र तो कहीं भी कोई जीव रहेंगे ही नहीं ?

लोकव्यवहार की ही भाषा में हम इस प्रश्न का उत्तर देखेंगे तो रहस्य खुल जाएगा। पिता-पुत्रादि की मृत्यु के पश्चात् सगे-स्नेही-स्वजन-मित्रादि वर्ग को जब

पत्र लिखे जाते हैं तब उन में लिखा जाता है कि हमारे पिताश्री/पुत्रादि — का स्वर्गवास हुआ है । संसार के व्यवहार के अनुसार सगे-संबंधी-स्नेहीजन जब प्रत्युत्तर देते हैं तब क्या लिखते हैं? वे शब्द प्रायः इस प्रकार होते हैं -आपका पत्र प्राप्त हुआ, आपके पिताश्री का स्वर्गवास हुआ है यह वास्तव में बहुत ही बुरा हुआ है — सुनकर हमें अत्यन्त दुःख हुआ है। अब विचार करो — जब आप स्वर्गवास लिखते हो, चारों ही गतिओं में सर्वोत्तम सद्गति वाचक स्वर्गवास शब्द का प्रयोग करते हो, उसके प्रत्युत्तर में स्नेही-स्वजन उत्तर देते हैं कि बड़ा ही बुरा हुआ है - बहुत दुःख हुआ है, यह और ऐसे ही उत्तर उचित है ? हाँ, यदि आपने नरकवास अथवा तिर्यचवास लिखा होता और सामनेवाले अत्यन्त दुःख होने की बात लिखते, तो यह बात गले उतरने जैसी थी, परन्तु जब आप उत्तम गति सूचक शब्द-स्वर्गवास का प्रयोग करते हो, तो वे ऐसा प्रत्युत्तर क्यों देते हैं कि बुरा हुआ - दुःख हुआ आदि । इसके स्थान पर तो उन्हें लिखना चाहिये कि आपके पिताश्री का स्वर्गवास हुआ है - यह जानकर अत्यन्त आनंद हुआ, प्रसन्नता हुई, सचमुच ही बहुत ही अच्छा हुआ कि आपके पिताश्री स्वर्ग में जाकर बसे है - आदि - परन्तु संसार में ऐसा लिखना किसी को स्वीकार्य नहीं है । ऐसा व्यवहार प्रचलित नहीं है और यदि कोई ऐसा कटु सत्य लिख दे तो बेचारा मूर्ख ही सिद्ध होगा ।

यदि आप स्वर्गवास लिखते हो और उत्तरदाता - इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त करने के बजाय ऐसा ही लिखता है कि बहुत ही बुरा हुआ तो कभी उत्तरदाता को ही पूछकर तो देखो कि भाई! आप ऐसा क्यों लिखते हो? जब हम स्वर्गवास हुआ है - ऐसी सुंदर भाषा लिखते हैं, हमारे संबंधी की सद्गति होने की बात लिखते हैं, फिर भी आप ऐसा क्यों लिखते हो कि बुरा हुआ, खेद हुआ? कदाचित् उत्तर दाता आपके ऐसे प्रश्न पर कह देगा - तेरे पिताश्री स्वर्ग में कैसे जा सकते है? तू तो कल का बालक है, तेरे पिता तो मेरे मित्र थे। हम दोनों साथ साथ खेलते-उठते-बैठते, घूमते-फिरते और खाते-पीते थे। मैं तुम्हारे पिताजी से सुपरिचित हूँ। वे क्या क्या करते थे । कहाँ कहाँ जाते थे । किस होटल में, किस क्लब में वे क्या करते थे । आदि सभी बात मैं भली प्रकार जानता हूँ, क्योंकि मैं भी अनेक स्थानों पर उनके साथ था, अतः उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ। दुनियाभर के सैकड़ों पाप करनेवाले कभी स्वर्ग में जा सकते हैं क्या? ये तो नरक में जाने चाहिये थे, क्योंकि इनके पाप बहुत अधिक थे। तू पुत्र होकर ऐसा लिखता है कि - मेरे पिताश्री का

स्वर्गवास हुआ है - आदि - तो हमारे में भी बुद्धि तो है न? धर्म सुना है तो हमें भी थोडा तो पता चलता ही है कि आजीवन ऐसे इतने पाप करनेवाले इसके पिताश्री का स्वर्गगमन कहाँ से हुआ? यकायक सीधे ही स्वर्ग में कैसे चले गए? यह सुनकर हमें तो आश्चर्य हुआ है अतः हमने बहुत बुरा होने की बात लिखी है। इस बात से तो हमें लगता है कि वास्तव में यह तो बहुत ही बुरा हुआ है। नरक में जाने चाहिये थे - वे स्वर्ग में कैसे चले गए? अतः बुरा हुआ है - ऐसा लगता है और इसीलिये भूल में कदाचित नरक के बदले स्वर्ग में चले गए होंगे - यह जानकर बहुत दुःख होता है।

अब सगे-स्नेहीजनों के उत्तर के पीछे रहा हुआ रहस्य-जानकर क्या आपको आश्चर्य नहीं होगा? यह भेद और रहस्य इस उत्तर में छिपा हुआ है? अर्थात् क्या पिता की मृत्यु के पश्चात उसकी गति पुत्र के हाथ में है? बेटा स्वर्ग में भेजे तो क्या पिता स्वर्ग में ही जाता है या बेटा जहाँ भेजे वहाँ पिता जाता है? पिता की गति की लगाम या सनद क्या पुत्र के हाथ में है? नहीं, नहीं, यह तो मात्र लोकाचार है। औपचारिकता है। स्वर्गवास शब्द लिखने में संसार के रिवाज के सिवाय कुछ भी नहीं है, यह तो मात्र संसार का व्यवहार है। अच्छा शब्दप्रयोग है, अतः पुत्र पिता के लिये अच्छा शब्द प्रयोग कर लेता है। नरकवास या तिर्यचवासादि शब्द लिखना जरा अशोभनीय लगता है, अतः स्वर्गवास शब्द का प्रयोग लोकव्यवहार में प्रचलित हो गया है। बाकी मरनेवाले की गति किसी पुत्र या पौत्र के हाथ में नहीं है। जीवने स्वयं जैसे शुभ-अशुभ, पुण्य या पाप कर्म किये होंगे उनके आधार पर ही उसकी गति होना निश्चित है। अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही वह वैसी गति में जाएगा। यथा मतिस्तथा गतिः - का नियम यहाँ लागू होता है। जिस जीव की जैसी मति होगी वैसी ही उसकी गति होगी। जीवन में पाप या पुण्य की जैसी भी प्रवृत्ति की होगी, वैसी ही उसकी गति होगी। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है तदनुसार गति और आयुष्य के लक्षणों को समझ लें। उनके आधार पर जिस जीव की प्रवृत्ति जिस गति के अनुरूप होगी, वैसी ही गति उस जीव की होगी। कर्म सिद्धान्त के अनुसार ही जगत चलता है।

नक्कार के आधार पर सद्गति -

सद्गति और दुर्गति का चिन्तन हम पूर्व में कर चुके हैं। नक्कार महामंत्र

का रटन-स्मरण-जाप आदि मति को नम्र-सरल बनाता है, जिससे पापादि की विचारधारा दूर होती है और दुर्गति से बचा जा सकता है। अतः सद्गति नवकार से संभव है। एक बड़ी ही रोचक कथा आती है कि -



देवलोक का एक देवता तीर्थयात्रा के लिये निकला है और पर्वतमाला में कोई ज्ञानी-गीतार्थ साधु महात्मा काउत्सगग ध्यान में खड़े थे। उस देवता ने उन्हें देखा, और सद्भाव से मुनि के दर्शन - वंदन हेतु वह देवता उनके पास गया। वंदनादि करके देवता वहाँ बैठ गया। महात्मा का कायोत्सर्ग ध्यान पूर्ण होने पर उन्होंने देवता को धर्मलाभ देकर करुणामय दृष्टि से उसके सामने देखकर पूछा कैसे हो भाग्यशाली! क्या बात है बोलो ! अचानक उस देवता के मन में ऐसा स्फुरण हुआ कि मैं अपनी आगामी गति के विषय में इन ज्ञानी महात्मा को कुछ पूछूँ। मुझे कौन सा जन्म धारण करना है? यदि आप कृपाकर ज्ञानयोग से बताएँ तो लाभ होगा। देवता यद्यपि जन्म से अवधिज्ञानी होते हैं, स्वयं सब कुछ जान सकते हैं, उपयोग द्वारा वे सब कुछ देख सकते हैं - जान सकते हैं, फिर भी भक्ति भावपूर्वक ज्ञानी महात्मा के पास जानने की इच्छा हुई, अतः पूछ लिया, परन्तु ज्ञानी महात्मा ने संसार के लोक व्यवहार का सार स्वर्गवास का उत्तर नहीं दिया। दे भी क्यों? स्वर्गवासी तो स्वयं देवता

है ही, फिर स्वर्गवास का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है? मुनि महात्मा ने अपने ज्ञानयोग से उपयोग द्वारा वस्तुस्थिति जानकर स्पष्ट करते हुए कहा - भाग्यशाली ! इस प्रश्न का उत्तर यदि तुम्हें दूँगा तो सुनकर तुम्हें बहुत दुःख होगा, बुरा लगेगा। अतः यह पूछने का आग्रह मत रखो ।

देव-नहीं भगवन! बुरा किया होगा तो तदनुसार ही गति होगी, इस में बुरा लगेगा तो भी क्या करना है ? आप तो फरमा दें ।

मुनि - ठीक है तो सुनो। यह तुम्हारा भव अब लगभग समाप्त होने आया है। तुम यह देव भव पूर्ण करके मृत्यूपरान्त तिर्यच गति में जाओगे। अधिकांश देवता तिर्यचगति में ही जाते हैं, क्योंकि देवता नरक में तो जाते नहीं, और तुरन्त पुनः देव भी बनते नहीं हैं, इस नियम के अनुसार दो गतिओं के द्वार तो तुम्हारे लिये बंद ही हो चुके हैं, अतः अब मनुष्य और तिर्यच की मात्र दो ही गतियों के द्वार खुले हैं। मनुष्य की गति में तो सीमित-मर्यादित ही संख्या है। मात्र निश्चित संख्या में ही जीव मनुष्य गति में जाते हैं । उन में भी कोई विरले ही प्रबल उत्कृष्ट पुण्यशाली जीव ही मनुष्य गति में जाते हैं, शेष ९९% देव तो मरकर तिर्यच गति में ही जाते हैं । इसके अतिरिक्त मनुष्य गति में तो चारों ही गतिओ में से जीव आते हैं । तुम्हारे अशुभ कर्मोपार्जन के कारण तुम तिर्यच गति में जाओगे और उसमें भी एक बंदर के रूप में विंध्यगिरी पर्वतमाला की श्रृंखला में तुं उत्पन्न होगा - ऐसा मेरे ज्ञानयोग में दिखता है। संभव है तुम्हें भी उपयोग द्वारा स्पष्ट दिखाई देगा। देवता यह सुनकर सखेद विस्मित हो गया।

देवता - अरे भगवन! गजब हो गया। ऐसी तो मैंने कल्पना भी न की थी, अब मेरा क्या होगा? अरे रे! बन्दर के भव में मैं क्या करूँगा ? अरे...रे !

मुनि - भाग्यशाली! कुछ करना हो तो तिर्यच गति में भी बहुत कुछ हो सकता है, ध्वराने की क्या बात है ?

देवता - हे परम करुणानिधान! आप ही उपाय बताओ, जिससे इस वानर भव से बचा जा सके।

मुनि - देखो भाई! सर्वथा इस गति में से ही बचना तो कैसे संभव है? तुम ही ने उपार्जित कि है, तुम्हारे अशुभ कर्मों के कारण ही यह उपार्जन हुआ है, अतः तुम्हें जाना तो पडेगा ही, तुम्हें वहाँ जन्म तो लेना ही पडेगा। ऊपर से कोई ब्रह्मा-विष्णु आदि तुम्हारी गति बदलने के लिये आनेवाले नहीं है। जीव ने जो भी पाप-

पुण्य किये हों वे तो उसे भुगतने ही पडते हैं ।

इसीलिये कहा है कि - “कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि” किये हुए कर्मों से कोई छुटकारा नहीं है , “कृतं कर्म अवश्यमेव भोक्तव्यम्” किये हुए अथवा उपार्जित निकाचित कर्म तो अवश्य भोगने ही पडते हैं। कृतकर्म भोगे बिना छुटकारा ही नहीं है, अतः तुम्हारी बाँधी हुई गति तो तुम्हें ही भोगनी होगी।

देव - भगवन् ! इस गति में जाना निश्चित ही है, मैं इसे टाल नहीं सकता हूँ, तो इस गति में जाकर मुझे क्या करना होगा जिससे पुनः मेरा उत्थान हो सके? भगवन् ! कोई उपाय तो बताईये।

मुनि - हाँ, भाग्यशाली! एक उपाय है, देखो! तुम अपने अवधिज्ञान का उपयोग करके, अभी ही अपने भावी उत्पत्ति स्थल पर जाओ और पर्वतमाला की खाईयों, श्रृंखलाओं, गिरिकन्दराओं तथा बड़ी बड़ी शिलाओं पर चारों ओर नवकार महामंत्र लिख दो। जितना हो सके उतना चारों ओर लिख दो। वृक्षों के बड़े बड़े तनों पर भी लिख दो। नीचे एक और बन्दर का, दूसरी ओर तुम्हारा देव का और मध्य में मुनि की आकृति बना लो। अभी तो तुम देव हो, तुम्हारे पास वैक्रिय शक्ति है, सब कुछ है, अतः अभी तो तुम सब कुछ कर सकोगे - और हाँ, इतना करने के पश्चात अब इस भव के शेष काल में तुम सतत नवकार का स्मरण - जाप करते रहो ।

देव - हे भगवन् ! यह सब कर लेने के पश्चात इससे किस प्रकार लाभ होगा? यह भी कृपया बता दो ।

मुनि - देखो भाग्यशाली! तुम जब बंदर होकर उस पर्वतमाला में फिरोगे, तब वहाँ नवकार महामंत्र, बंदर तथा देव आदि का चित्र देखकर तुम्हें आश्चर्य होगा, तुम विस्मित होओगे चारों ओर यही - एक ही वस्तु तुम्हें दिखाई पड़ेगी - अतः तुम चिन्तन करोगे कि यह सब क्या है? इस से बन्दर के भव में तुम्हें जाति स्मरण ज्ञान अर्थात्, पूर्वजन्मों का स्मृति ज्ञान होगा। वह ज्ञान होते ही तुम्हें अपना देव भव प्रत्यक्ष दिखाई देगा। यह नवकार जिसकी आराधना तुमने यहाँ इस भव में सतत की होगी, वह तुम्हारे स्मृति पटल पर स्पष्ट - जाप आदि करोगे, जिससे नवकार के माध्यम से पुनः तुम्हारा उद्धार संभव होगा।

देव स्थिरतापूर्वक सब कुछ समझ गया - उसे आशा बँध गई, बन्दर के भव में से भी पार उतरने का उपाय उसकी समझ में आ गया। समझने के पश्चात

विलम्ब किस बात का? अब यदि प्रमाद किया तो इस भव के साथ साथ आनेवाला भव भी हाथ से निकल जाएगा - आलस्य और विलंब में सम्पूर्ण खेल बिगड जाएगा।

देवता पर्वतमाला की श्रृंखला में गया। अपनी वैक्रिय शक्ति से चारों ओर मुनिवर की सूचनानुसार सब कुछ लिखता गया। नवकार आलेखित हो गई, चित्र चित्रित हो गए और स्वर्ग में जाकर देवभव के शेष आयुष्य काल में वह नवकार महामंत्र की सतत उपासना करने लगा। अब तो अधिक निष्ठा से करने लगा, क्योंकि आगामी भव को सुधारने की कला इस भव के हाथ में है। यह है नवकार की साधना। यह भव तो हाथ में है ही - अब तो यह भव अनेक भव सुधार सकेगा, परन्तु कौन? वही जिसके हाथ में नवकार जैसा महामंत्र हो, वही अपना आगामी भव भी सुधार सकता है। दत्तचित्त होकर देवता नवकार का रटन करता है। भावपूर्वक स्मरण सतत चला। वानर भव में भी मुझे यह नवकार महामंत्र याद आए और वहाँ जाति-स्मरणज्ञान प्राप्त हो तथा तिर्यच गति में भी मैं नवकार प्राप्त कर सकूँ-गिन सकूँ-आदि की तैयारी हेतु उपयोग तथा एकाग्रतापूर्वक यहाँ इस भव में जापादि करने लगा।

अंत में उस देव ने अपना जीवन ही नवकारमय बना दिया। तन्मयता, तादात्म्यता और तदाकारता लाकर और मृत्यु प्राप्तकर वह देव तिर्यच गति में गया। वहाँ वानर के रूप में वह उत्पन्न हुआ। बाल्यकाल बीता। वानर की तरह उछल कूद करना, वृक्षों से फल-फूल, आदि खाना उसका जीवन निर्वाह का क्रम था। तिर्यच गति है - पशु का जन्म है, अतः आहार संज्ञा का प्रबल होना स्वाभाविक है, परन्तु पूर्व भव में जो सब तैयारी करके आया हो उसका क्या? वह धोडा बडा हुआ। इधर - उधर उछल कूद करते करते एक दिन एक शिला के पास वह बैठा हुआ था। शिला पर आलेखित नवकार महामंत्र तथा चित्र देखने लगा और देखते देखते वह स्तब्ध हो गया। उछल कूद करता करता जहाँ भी वह जाए और जहाँ भी उसकी दृष्टि पड़े उसे यह आलेखन - चित्रण दिखाई दे। वह आश्चर्यचकित हो गया। विचार श्रेणी पर अग्रसर होने लगा - यह सब क्या है? यह किसका चित्र होगा? यह क्या लिखा हुआ है? इस तरफ यह पुरुष कौन खडा है? विचारों के प्रवाह में आगे बढ़ता ही गया। क्या प्रश्न रूपी चावी ने अंदर का ज्ञान - द्वार खोला? मनन - चिन्तन बढ़ता ही गया और धीरे धीरे स्मृति पटल पर पड़े हुए आवरण दूर हटते गए। वानर को जाति स्मरण ज्ञान हुआ, उसके पूर्व जन्म की स्मृति ताजी हो गई। पूर्व जन्म

के देवता-मुनि-नवकार का रटन - आदि के चित्र टी. वी. के पर्दे पर उभरने वाले चित्रों की भाँति उसकी आत्मा के ज्ञान के पर्दे पर स्पष्ट दिखाई देने लगे। जिस नवकार का स्मरण पूर्व भव में किया था उसका स्मरण पुनः स्मृतिपटल पर आ गया। वह वानर अपनी आंखें मूंदकर नवकार रटने लगा। जिसकी आत्मा एकबार जागृत हो जाए उसे पुनः जगाने की आवश्यकता नहीं होती। सोये हुए को जगाया जाता है, जागते हुए को कोई नहीं जगाता। उसके पूर्व जन्म की साधना सफल हो गई।

उस वानर ने कुछ ही काल में अनशन धारण कर लिया। तिर्यचगति में नवकारमय जीवन बना दिया और नवकार का स्मरण करता करता मृत्यु पाकर पुनः देवगति में गया। अब पुनः नवकार गिनने का सामर्थ्य बल, शक्ति आदि प्राप्त किये। इस प्रकार नवकार महामंत्र से सद्गति प्राप्त की जा सकती है, दुर्गति से बचा जा सकता है। दुर्गति में भी कुछ साधना हो सकती है। दुर्गति से पुनः सद्गति में आना शक्य है। इस प्रकार एक नवकार की साधना इस भव और आगामी भव दोनों ही सुधार सकती है।

इस नवकार महामंत्र की महिमा अनन्य है, अद्वितीय है। हम भी अपने जीवन में नवकार की साधना करे, सच्चे अर्थ में साधक बनें और सद्गति साधें, यह भव और आने वाले भव सुधार लें - ऐसी ही शुभाभिलाषा सहित।

णमो अरिहंताणं — ।

णमो सिद्धाणं —॥

‘ नमो भाव की आवश्यकता ’

नमस्करणीय ... वंदनीय ... पूजनीय... स्मरणीय... आदरणीय.... पंचरपरमेष्ठि भगवंतो के चरण कमल में अनंत बार नमस्कार करते हुए....

ताणं अन्नं तु नो अत्थि, जीवाणं भवसायरे ।

वुद्धंताणं इमं मुत्तुं, नमुक्कारं सुपोययं ॥

भवसागर में डूबते हुए जीवों को इस संसार में बचानेवाला - रक्षक अथवा प्राणदाता नवकार महामंत्र के सिवाय कोई भी मंत्र नहीं है । नवकार महामंत्र रूपी नौका ही रक्षणदातृ है ।

आत्मा अनादि - अनंत - शाश्वत है और नवकार महामंत्र भी अनादि - अनंत शाश्वत है । दोनों ही नित्य भाव से शाश्वत हैं । नित्य पदार्थ तत्त्व की गणना में आते हैं । क्षणिक या नश्वर की अपेक्षा नित्य - अविनाशी भावों की विशेषता जगत में अधिक होती है । नमस्कार धर्म है उसका धर्मी आत्मा है । धर्म - धर्मी, गुण-गुणी अन्योन्याश्रित हैं, गुणी नित्य हो तो उसके गुण भी नित्य ही होते हैं । आत्मा अनादि अनंत, अजर-अमर नित्य शाश्वत-अविनाशी द्रव्य - गुणी या धर्मी है तो उसका धर्म-गुण नमस्कार भी नित्य शाश्वत अविनाशी ही रहेगा । ऐसा तो नहीं कह सकते हैं कि .. लाखों वर्ष पूर्व सूर्य तो था, सूर्य उदित भी होता था, परन्तु प्रकाश नहीं था, नहीं होता था । सूर्य का प्रकाश था ही नहीं, और बाद में धीरे धीरे कालांतर में सूर्य में प्रकाश की वृद्धि होती गई या उस में प्रकाश का प्रवेश बाद में हुआ - ऐसा तो हम कह भी नहीं सकते । श्वेत वस्त्र जब से मिल में बना है, तभी से उस वस्त्र के साथ ही उसकी श्वेतता बनी है, क्यों कि मूलभूत द्रव्य के साथ ही उसका गुण रहता है । इसी प्रकार नमस्कार क्या है ? नमस्कार गुण है, धर्म हैं । किसका धर्म ? किसका गुण ? तो कहते हैं कि यह आत्मा का धर्म हैं, आत्मा का गुण है । निर्जीव या जड़ पदार्थ कभी नमस्कार नहीं करते । अजीव - जड़ पदार्थ में नमन करने का गुण है ही नहीं । वह स्वयं नमन करने का सामर्थ्य नहीं रखता, जब कि जीव स्वयं नमन कर सकता है । वह स्वतः स्वयं नमस्कार कर सकता है । नमस्कार एक भावात्मक स्वरूप है, भावात्मक गुण है, भावात्मक धर्म है । नमस्कार में भावना की प्रधानता नहित है । यह भावुकता प्रधान गुण है, नमन करने की, नमस्कार करने की स्वयं जीव की भावना होती है,

जब कि अजीव-जड़ पदार्थ ज्ञानादि भाव से रहित है, अतः उसमें भावुकता होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्यों कि नमस्कार ज्ञानादि गुणों से संयुक्त है - संलग्न है। नमस्कार में आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि भाव कार्य करते हैं, अतः नमस्कार ज्ञानादि गुणों का समूहात्मक स्वरूप है। यह भावनाओं में से निर्मित है। आत्मा के ज्ञानादि गुण तो एक-एक स्वतंत्र गुण हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा अनंतवीर्य आत्मा के प्रत्येक स्वतंत्र भिन्न भिन्न गुण हैं, यद्यपि सभी मिलकर संयुक्त रूप से आत्मा के साथ आत्मभाव में रहे हुए हैं, जब कि नमस्कार तो एक ऐसा गुण है जिस में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप-वीर्यादि सभी गुणों का समावेश हो जाता है। नमस्कार इन सबसे निर्मित है, इन सभी का सामूहिक - संयुक्त रूप है। नमस्कार ज्ञान प्रधान है, ज्ञान युक्त है, दर्शन युक्त है, चारित्र योग में स्थित है, इसका अस्तित्व तपोवृत्ति में भी है तथा इसे वीर्य गुणयुक्त भी माना है।

पंचाचारमय नमस्कार

गुणों का आचरण ही धर्म है। ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि पाँचों ही आत्मा के मूलभूत गुण हैं, जो अनंत स्वरूप में आत्मा के साथ संकलित है। ये ही गुण जब तक संबंधित कर्म से आच्छादित रहते हैं, तब तक प्रच्छन्न भाव में हैं, परन्तु उनका अस्तित्व तो है ही ... नहीं है ऐसा तो नहीं है - इनके होने में तनिक भी शंका नहीं है, क्यों कि आत्म गुणों की क्रिया लोकव्यवहार में दृष्टिगोचर होती है - प्रत्यक्षानुभूत है। उदाहरण के लिये ज्ञान गुण की क्रिया जानना-समजना, हेय-ज्ञेयादि का विवेक करना आदि ज्ञान की क्रियाएँ हैं। बोलना, देखना, पाँचों ही ईन्द्रियों का व्यवहार दर्शनगुण पर आधारित है। जानना और देखना दोनों ही स्वतंत्र क्रियाएँ हैं, अतः ज्ञान और दर्शन भी स्वतंत्र गुण हैं। चारित्र स्वस्वरूप की साधना के रूप में है। आत्मा स्वस्वरूप में है।

अनंत काल व्यतीत हो गया। काल के भयंकर थपेड़ों में भी जीव जड़ नहीं बना। अनेक भयंकर कर्मों का बंधन किया और उनका क्षय किया, आए और गए, परन्तु आत्मा की स्वरूपावस्था में कुछ भी अन्तर नहीं आया। इसके आधार पर स्वरमणता का आचरण होता है। स्वस्वरूप की स्वभावावस्था में जाने की क्रिया प्रधान है। व्रत, विरति, नियम अथवा पचक्खाण भी अन्ततः तो आत्मा को आत्मभाव स्वभाव में ले जाते हैं,

अतः उनकी क्रिया, उनका आचरण भी आत्मक्रिया स्वरूप है । क्रिया की प्रधानता चारित्र गुण में है जब कि ज्ञान की प्रधानता ज्ञान गुण में है, अतः नमस्कार करना चाहिये । यह नमस्करणीय है, वंदनीय -नमनीय है, नमस्कार करने योग्य है, - यह निर्णय ज्ञान गुण ने किया, अतः क्रियाप्राधान्यता रूप में नमस्कार चारित्र गुण से किया । नमस्कार की क्रियाशीलता चारित्र गुण पर आधारित है ।

इसी प्रकार तप गुण भी आत्मा का है । आत्मा के ये गुण नौ तत्त्वों में स्पष्ट रूप से बताए गए हैं ।

नाणं च दसणं चैव चरितं च तवो तथा ।

वीरियं उवओगो य एअं जीवस्स लक्खणं ॥ नव तत्त्व ५.

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये छह गुण आत्मा के गुण हैं - ऐसा नव तत्त्वकार का फरमान है । तप गुण के ६ बाह्य और ६ अभ्यंतर कक्षा के गुण बताए गए हैं, जिन में अभ्यंतर के ६ भेदों में विनय दूसरे क्रम पर बताया गया है । विनय को यदि गुण के रूप में गिनते हैं तो उसका क्रियात्मक व्यवहार नमस्कार है । नमस्कार की क्रिया विनयगुण द्योतक है । पाँचवे क्रम पर वीर्य गुण आत्मशक्ति के अर्थ में बताया गया है । आत्मा अनंत वीर्यवान् है । नमस्कार जब क्रियाशील बनता है, तब उसमें भी आत्मा की वीर्य शक्ति का उपयोग होता है । श्री कृष्ण १८००० साधुओं को वंदन कैसे कर सके ? कितनी शक्ति होगी ? नमस्कार भी शक्ति पर आधारित है । इस प्रकार पाँचों ही आत्मिकगुणों से बना हुआ नमस्कार गुण है । नमस्कार में आत्मा के पाँचों ही गुणों का समावेश होता है । अतः नमस्कार आत्म-भाव है आत्म गुण है । नमस्कार जीवाश्रयी - जीव - विषाकी गुण है । अजीव - जड़ में न तो ये गुण हैं न इनके भाव होते हैं । भले ही एक यंत्र-मानव Robot हाथ जोड़कर आगंतुकों का स्वागत करता हो; आओ-पधारो Welcome भी कहता हो ... परन्तु वह जड़ है - निर्जीव है । अतः इसमें नमस्कार की भावात्मकता नहीं होती, मात्र जड़ क्रियात्मकता रह सकती है और वह भी जीव के द्वारा INPUT की गई है । अतः रह सकती है, परन्तु जड़ को नमस्कार की क्रिया के आधार पर निर्जरा का फल नहीं मिलता है । निर्जरात्मक नमस्कार तो ज्ञान-दर्शनात्मक होगा तभी संभव है और ऐसा नमस्कार जीवाश्रयी गुण है । नमस्कार ज्ञानादि योग से गुण स्वरूप है और चारित्र-वीर्यादि के योग से क्रियात्मक है ।

एक नमस्कार में ये ज्ञानादि पाँचो ही गुण अपना अपना दर्शन देते हैं। अपना रूप-स्वरूप दिखाकर नमस्कार करवाते हैं। किसे नमस्कार किया जाए? नमस्करणीय कौन हैं? कैसे हैं? इन्हें या ऐसों को नमस्कार किया जाए या नहीं - यह निर्णय ज्ञान गुण लेता है। एक बार यदि ज्ञानगुण हरी झंडी दिखा दे कि हाँ - ये नमस्करणीय है, वंदनीय हैं, पूजनीय हैं, तत्पश्चात् दर्शनादिगुण सक्रिय बनते हैं। वे भी अपनी अपनी क्रियाएँ शुरु कर देते हैं। दर्शन गुण आँखों के समक्ष देखकर इन्हे नमस्कार करना चाहिये, इन्हे करें यहाँ सम्मुख रह कर करें - आदि इन्द्रियों का व्यवहार उपयोगादि शुरु करता है। चारित्र गुण नमस्कार में क्रियाशीलता लाता है, नमस्कार को क्रियाशील बनाता है, श्रद्धा सम्पन्न बनाता है और श्रद्धायुक्त नमस्कार ही लाभदायक होता है। निर्जरा करवाने का सामर्थ्य इसी में है।

अनंत चारित्र पर आच्छादित आवरण मोहनीय कर्म का है। मोहनीय कर्म के दो मुख्य भाग हैं - (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय सम्यग्दर्शन-श्रद्धा को दबोच कर बैठा है, अतः दर्शन मोहनीय कर्म दर्शन को श्रद्धा सम्पन्न नहीं होने देता। दूसरी ओर चारित्र मोहनीय कर्म आचरण के ऊपर छाया हुआ आवरण है जो क्रियाशीलता को अवरुद्ध करता है। इसके कारण चारित्र्य मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण नमस्कार करने का मन ही नहीं होता। अतः जैसे जैसे कर्म घटते जाएँगे - इनका क्षयोपशम बढ़ता जाएगा, वैसे वैसे नमस्कार की क्रिया सक्रिय बनेगी - नमस्कार की प्रवृत्ति में विकास होगा। अतः सर्व प्रथम इन दोनों ही कर्मों को शिथिल करने की आवश्यकता है, तभी नमस्कार में क्रियाशीलता और श्रद्धा सम्पन्नता दोनों ही आ सकती हैं। इसीलिये नमस्कार में क्रियाशीलता और श्रद्धासम्पन्नता दोनों ही आ सकती हैं। इसीलिये नमस्कार में चारित्र गुण की प्रधानता है। इसी प्रकार तपगुण युक्त भी नमस्कार है, नमस्कार यदि क्रियाशील हो तो 'तप' गुण उस में भाव भरता है और उसे भावपूर्ण बनाता है।

विनय भाव प्रधान गुण है। विनय की गणना अभ्यंतर तप में होती है। भावनामय भाव-विनय गुण नमस्कार में आने से नमस्कार मात्र क्रियाशील ही नहीं रहता, परन्तु गुणप्रधान बन जाता है। फिर नमस्कार जीव की वृत्ति गुण प्रधान होती है। नमो भावयुक्त नमस्कार होगा, अन्यथा नमो भाव रहित औपचारिक

भाव से नमस्कार मात्र क्रिया प्रधान बन जाएगा । ऐसे नमस्कार से निर्जरा संभव नहीं हो सकती, जब कि नमोभाव युक्त विनयी नमस्कार निर्जराकारक बन सकेगा। अतः नमस्कार की प्रवृत्ति के साथ नमस्कार की वृत्ति भी जोड़नी चाहिये । एक का उद्गम स्थान चारित्र के घर में है, दूसरे का उद्गम स्थान तप में है । चारित्र दूध स्वरूप हो, तो तप उस में शक्कर का कार्य करता है, ईसी प्रकार नमस्कार में गुणवत्ता लाने का कार्य तप करता है । चाकू हो, पर यदि तीक्ष्ण धारयुक्त न हो तो किस काम का ? इसी प्रकार चारित्र के घर में सक्रिय-क्रियाशील नमस्कार की प्रवृत्ति है, परन्तु तप के घर से यदि उसमें विनम्रभाव, विनय सम्पन्नता की वृत्ति न घुले तो वह नमस्कार प्रभावशाली नहीं बनता, और इसका परिणाम यह होता है कि नमस्कार करने पर भी निर्जरा नहीं होती । बाहुबलीने नमस्कार भाव में केवलज्ञान की प्राप्ति की थी, अकेला नमस्कार मात्र चारित्र भाव का ही होगा, तो वह सवर प्रधान बन कर पुण्योपार्जनोपयोगी बन जाएगा परन्तु तप प्रधान विनय गुण संपन्न भावयुक्त बनेगा तब वही नमस्कार निर्जरात्मक बनेगा।

वीर्यगुणसम्पन्न नमस्कार :

जिस प्रकार नमस्कार ज्ञानदर्शन-चारित्र-तपादि भाव युक्त है, उसी प्रकार वीर्यगुण युक्त भी यही नमस्कार है । वीर्यशक्तिविहीन नमस्कार में कुछ भी सार्थकता नहीं होती है । वीर्यान्तराय कर्म आत्मा के वीर्य गुण को ढँक देता है। अंतराय का कार्य विघ्न डालना है । 'विघ्नकरणमन्तरायस्य' तत्त्वार्थकार इस सूत्र से स्पष्ट करते हैं कि विघ्न डालना अंतराय कर्म का कार्य है । इस प्रकार नमस्कार यदि वीर्यान्तराय कर्म के घर का होगा तो वह मात्र शारीरिक रहेगा और यदि यही नमस्कार वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम भाव से आत्मिक वीर्यगुण से प्रेरित होगा तो ऐसे नमस्कार में उत्साह-उमंग-आनंद आएगा । उत्साह-हर्ष-आनंदादि आत्मा के वीर्यगुण पर आधारित हैं । उत्साहादि भाव मन पर प्रभाव डालने वाले होते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप मन के साथ संकलित देह अपनी क्रिया-प्रवृत्ति में तदनुकूल उत्साह प्रदर्शित कर सकेगा । इसीलिये नमस्कार मात्र कायिक ही नहीं रहना चाहिये, बल्कि वह मनोयोग पूर्ण मानसिक नमस्कार होना चाहिये । मनोयोग में वीर्यगुणजन्य उत्साह उमंग आनंद घुलेगा तब नमस्कार और अधिक प्रबल और दृढ़ होगा तथा वही नमस्कार दसगुनी अधिक निर्जरा करवाएगा । अतः नमस्कार

को वीर्यगुण युक्त बनाना चाहिये ।

“नमो” भाव की घनता

उपयोग भी आत्मा का गुण है । नमस्कार उपयोग प्रधान होना आवश्यक है । क्रियारत नमस्कार में भाव का उपयोग रहना चाहिये । उपयोग ज्ञान-दर्शनात्मक चेतना स्वरूप है अतः उपयोग प्रधान क्रियायुक्त नमस्कार में चेतना आती है । ज्ञानात्मकता-दर्शनात्मकता की उपस्थिति जानी जाती है ऐसा उपयोग भाव आत्मा को नमस्कार के बाहर नहीं जाने देगा अतः उपयोग युक्त नमस्कार प्रवृत्तिरूप नहीं, बल्कि वृत्ति रूप ही रहेगा । क्रियारूप की अपेक्षा भी गुणरूपिता उसमें अधिक रहेगी अर्थात् आत्मा नमस्कार की क्रिया की अपेक्षा भी नम्रता का भाव अधिक रखेगी - अधिक नम्र बनेगी । मनोयोग से नम्रता प्रकट होगी । नमस्कार जब क्रिया में से गुण में स्थिर होगा - जिस नमस्कार में से नम्रता और नम्रता में से भी नमोभाव तक आत्मा को पहुँचाएगा। यह प्रक्रिया विभाव में से स्वभाव में जाने की है । सामान्य औषधि का घनसत्त्व बनाने की यह एक प्रक्रिया है । नमस्कार सामान्य औषधि स्वरूप में रहेगा, तो नम्रता उसका अर्क रहेगा । उस में से भी आगे बढ़ने पर 'नमो भाव' में अर्क का भी घनीकरण होगा अर्थात् घनसत्त्व नमो भाव के प्रकट होगा । सभी जीव 'नमो' भाव वाले नहीं होते हैं । अल्प संख्यक जीव ही नमो भाव वाले होते हैं, जब कि बहु संख्यक जीव नमस्कार - प्रवृत्ति वाले होते हैं, क्यों कि नमस्कार की प्रवृत्ति बाह्य है, कायिक है, व्यवहारिक है, सामान्य है, जब कि नमो भाव आभ्यंतर है, आत्मिक है, नैश्चयिक है, विशेषगुण प्रधान है ! नमस्कार क्रिया-प्रधान रहेगा तब तक विभावदशा में जाने की आशंका रहेगी, जब कि नम्रता के द्वार पर यदि वही नमस्कार नमोभाव में परिणत हो जाएगा, तो वही नमस्कार स्वभाव दशा में लीन रहेगा । नमस्कार की क्रिया निरर्थक नहीं है । एक बार नहीं, बल्कि हजारों-लाखों बार के नमस्कार क्रियाशीलता में उपयोगी बनेंगे, तब उनका अर्क उन में से खिंचकर आने ० पश्चात् उन में से घनसत्त्व रूप में नमोभाव ही प्रकट होगा ।

बाहुबलीने नमस्कार से ही नहीं बल्कि नमोभाव से केवलज्ञान की प्राप्ति की थी । नमस्कार की क्रिया कायिक क्रिया रहेगी, अतः नमस्कार कायिक कायप्रधान कहलागा, जब कि नम्रता मानसिक गुण कहलाएगी । उसका केन्द्रस्थान मन होगा

तब मनोभाव आत्मिक कहलाएगा । आत्मा का भाव नमोभाव प्रधान बनेगा इसीलिये नवकार महामंत्र में 'नवकार अरिहंताणं' या 'नमस्कार अरिहंताणं' नहीं कहा गया है, बल्कि णमो (नमो) अरिहंताणं कहा गया है । यहाँ णमो (नमो) इसका अर्थ यह है कि अरिहंतो को मात्र नमस्कार ही करते न रहो, परन्तु उससे भी आगे बढ़कर अरिहंतो के प्रति नमोभाव प्रकट हो जाना चाहिये । आत्मिक नमोभाव लाभदायी है । पूज्य भाव, सद्भावादि जो है वे सभी नमो भाव में हैं । ऐसा नमस्कार हमें लाना है.....

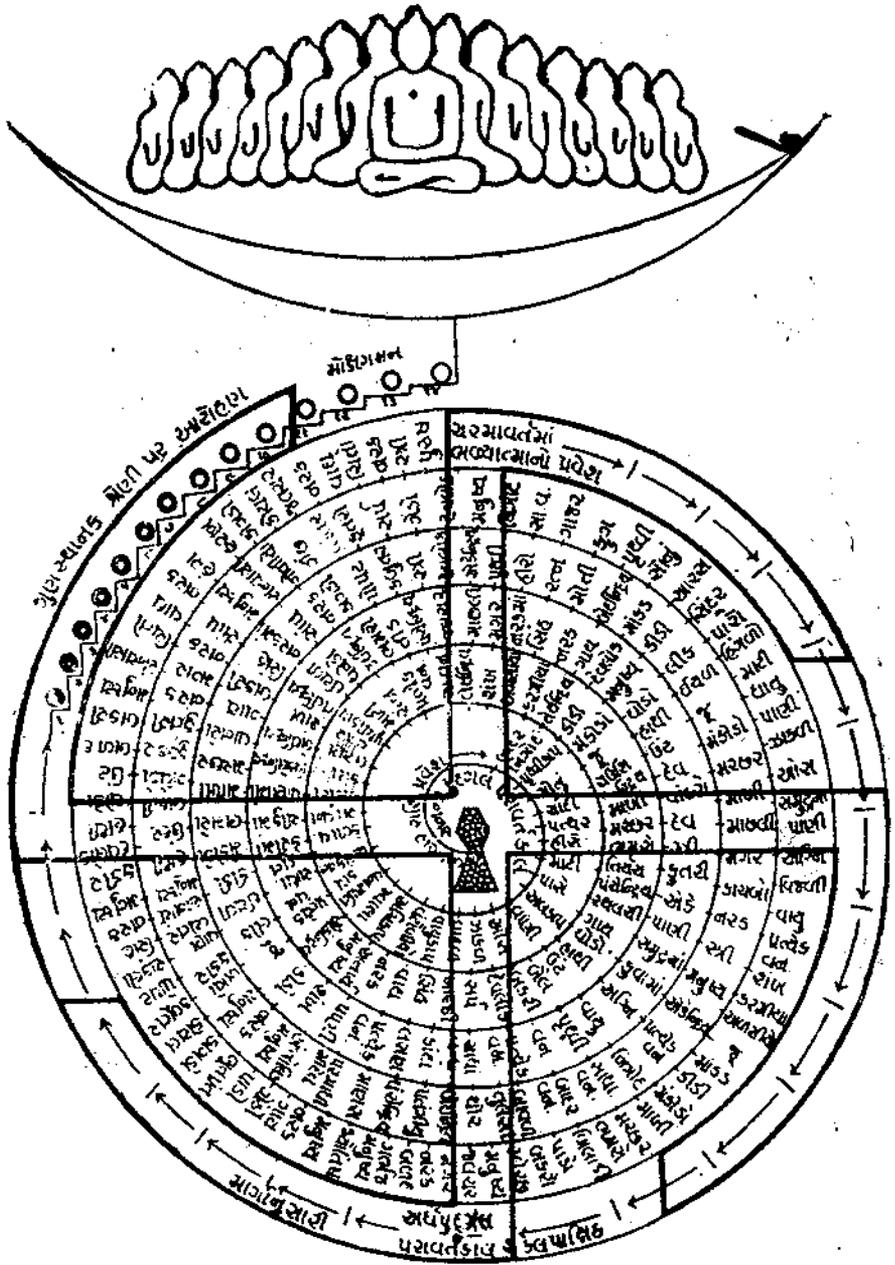
इस प्रकार नमस्कार को ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप-वीर्य और उपयोग आत्म-गुणयुक्त कहा हैं, इसलिये नमस्कार भी आत्म गुण हैं, आत्माधीन है, जीव विपाकी गुण है, चेतनगुण है, चेतनाशक्ति है, अतः उस गुण का आधार गुणी आत्मा शाश्वत है - नित्य है तो फिर उसके आश्रय पर रहने वाला नमस्कार गुण भी शाश्वत ही होता है - और है भी । मात्र काल के साथ मिलकर वह आत्मा के साथ चले वही उपयोगी है ।

काल के साथ चलता हुआ नमस्कार

आत्मा भी अनादि अनंत काल से इस संसार में है, नमस्कार भी नित्य शाश्वत होने से अनादि अनंत काल से संसार के व्यवहार में प्रचलित रहा है। काल का प्रवाह अनादि अनंत है । काल तत्त्व की भी न आदि है न इसका अंत है । अनादि अनंत द्रव्य अवश्य ही नित्य - शाश्वत रहने वाले हैं और सदैव काल के साथ जुड़े रहेंगे । अनादि - अनंत इस संसार में अनंत जीव चारों ही गतिओं में परिभ्रमण करते ही आए हैं । संसार चक्र में परिभ्रमण करते ही रहे हैं । एक गति से दूसरी गति में, एक भव से दूसरे भव में और एक जन्म से अन्य जन्म धारण करते करते अनंत काल व्यतीत करते ही आए हैं । इन में एक-एक जीव के अनंतानंत भव हुए हैं । जो भूतकाल व्यतीत हुआ है, उसमें आपके और मेरे सभी के अनंतानंत भव बीते हैं ।

जैसा कि चित्र में दिखाया गया है चौदह राजलोक में स्थित असंख्य निगोद के गोले में से एक गोले में जो अनंतजीव रहे हुए हैं, वे जीव निगोद के गोले में भी अनंत भव बिताते हैं और उस गोले में से बाहर निकलकर भी जीव संसार चक्र परिभ्रमण काल में भी अनंत भव बिताते हैं । ये अनंत भव मात्र एक ही गति

में नहीं होते हैं, बल्कि चारों ही गतिओं में होते हैं। जीव चारों ही गतिओं में जाता है और आता है। जन्म-मरण होते ही रहते हैं और उनके आधार पर परिभ्रमण



चलता ही रहता है । इन अनंत भवों में हम अनंत बार एक-एक गतिमें हो आए हैं । अनंत बार तिर्यच गति में गए और अनंत बार पशु-पक्षियों के जन्म धारण किये । इसी प्रकार अन्य गतिओं के विषय में भी समझें मनुष्य गति में मनुष्य के भव भी जीव ने अनेक बार किये हैं ।

नमस्कार मिला या पंच परमेष्ठि ?

ऐसे अनेक बार के मानव-जन्म में हमें कौन मिला ? नमस्कार मिला या पंच परमेष्ठि ? अधिक या कम अथवा पहले या बाद की दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है । विचार करने पर लगता है कि ऐसे भवों की संख्या भी अनंत गुनी बीती होगी, जिन में हमें पंचपरमेष्ठि न मिले हों । जब कि पंचपरमेष्ठि मिले हों, ऐसे भवों की संख्या तो कदाचित् पूर्व के अनंत की तुलना में अनंतवे भाग की ही रही होगी; परन्तु मान भी लो कि अरिहंतादि पंचपरमेष्ठि मिले भी परन्तु हम उन्हें नमस्कार भी न कर सके तो वे मिले तो भी क्या अर्थ ? थाली में परोसा हुआ भोजन सामने आए खाद्य सामग्री प्राप्त भी हो, परन्तु एक कवा भी यदि न खया हो तो उस भोजन की प्राप्ति किस प्रयोजन की ? बिना खाए पेट कहाँ से भरेगा? इसी प्रकार नमस्कार के बिना पंचपरमेष्ठियों का मिलना भी हुआ तब भी उसका फल कैसे प्राप्त हो सकता है ? अतः अभी विचार करते हैं कि क्या हुआ ? क्या हुआ था ? क्या नमस्कार अधिक बार अधिक भवों में मिला था ? या पंच परमेष्ठि भगवंत अधिक बार मिले थे - ऐसा भी मान लेते हैं, परन्तु जिस भव में नमस्कार मिला था उसी भव में पंच परमेष्ठि भी मिलें थे या नहीं ? या दोनों ही अलग अलग भवों में मिले थे ? क्या हुआ था ? क्या कुछ जन्म विशेष में नमस्कार प्राप्त हुआ था और बादके जन्म विशेष में पंच परमेष्ठि मिले थे। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस जन्म में नमस्कार भाव ही जागृत न हुआ था क्या नमस्कार की 'भावना' ही न जगी थी ? हाँ, ऐसे भी अनेक भव हुए हैं । अनंत भूतकाल में ऐसे अनेक भव हुए हों - इस में जर्रा भी आश्चर्य नहीं लगता ।

जिन भवों में नमस्कार प्राप्त हुआ था और अरिहंतादि पंचपरमेष्ठि नहीं मिले थे, तो उन जन्मों में नमस्कार प्राप्त करके भी हमने क्या किया ? हमने किन्हें नमस्कार किया ? ये और ऐसे ही नमस्कारों से क्या लाभ हुआ? क्या उनसे कर्म-निर्जरा हुई ? अथवा ऊपर से कर्मबंध हुए ? क्यों कि पंच परमेष्ठियों के बिना

हमने नमस्कार निश्चित रूप से रागी-द्वेषियों को ही किये होंगे । संसार के त्यागीजनों को नहीं, बल्कि संसार के रागी और संसारी जनों को ही किये होंगे - इसीलिये उन नमस्कारों का हमें लाभ नहीं मिलेगा, बल्कि वे हमारे संसार-वृद्धि में सहायक ही बने, क्यों कि संसारी-रागी-द्वेषीजनों को किये गए नमस्कार संसार की वृद्धि कर्ता ही होते हैं इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं । रागी - द्वेषी देव देवियों की प्राप्ति हुई होगी । बावे और फकीर ही मिले होंगे, मिथ्यात्वी देव-देविओं की मान्यता में ही मैं निमग्न रहा होऊँगा ! इस प्रकार ऐसों को किये हुए नमस्कार लाभदायक सिद्ध नहीं हुए। इससे मेरे में सम्यक् श्रद्धा तो बढ़ न पाई, परन्तु मिथ्यात्व का ही पोषण अवश्य हुआ । मिथ्यात्व में ही अभिवृद्धि हुई ! बात भी सही है । उनके पास यही संभव है । अन्य अपेक्षा भी क्या रखी जा सकती है।

हाँ ! ऐसे भी अनेक भव हुए होंगे जिन में अरिहंतादि पंच परमेष्ठि भी प्राप्त हुए होंगे । इस तथ्य को भी नकारा नहीं जा सकता, परन्तु संभव है कि प्राप्त अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों को नमस्कार ही न किया हो अथवा मिथ्याभिमान के नशे के प्रबल प्रभाव के कारण नमस्कार करने के भाव ही जागृत न हुए हो । पंच परमेष्ठि विस्मृत हो गए हों अथवा जान-बूझकर भुलाने का प्रयत्न किया होगा । मिथ्यात्व के नशे में धुत होकर संभवतः यह भी कहता रहा होऊँगा कि नहीं - नहीं मैं तो मानता ही नहीं हूँ । मेरा तो ऐसे पंच परमेष्ठि अरिहंतादि में विश्वास ही नहीं है । मुझे तो इन में भी शंका है - आदि विचारों से प्राप्त पंच परमेष्ठि भी नमस्कार के अभाव में निरर्थक गए ।

कालांतर में भवितव्यता के योग से कदाचित् ऐसे भी जन्म हुए होंगे जिन में नमस्कार भाव जागृत हुआ हो और दूसरी ओर अरिहंतादि पंच परमेष्ठि भगवंत की भी प्राप्ति हुई हो; फिर भी संभव है कि भावों में तीव्रता न आई हो । मानसिक अथवा कायिक पापाचार में ऐसे आकण्ठ निमग्न हो गए हों प्रमाद वश प्रभु को भूल चुके हों । पंच परमेष्ठि दृष्टिपटल से विस्मृत हो गए हो । हम अभिमान में इतने आगे बढ़ गए कि मिथ्यात्व ने सीमा ही लाँघ दी, भाषा विकृत बन गई, और हम बोल उठे कि अरिहंतादि कुछ भी हैं ही नहीं, सिद्ध हैं ही नहीं, मोक्ष जैसी कोई वस्तु ही नहीं है - इन सभी को हमने मानसिक मिथ्या कल्पना ही माना और देखते ही देखते छोटी सी जाँदगी व्यर्थ समाप्त हो गई । दुनिया भर का निरर्थक पाप सिर पर लेकर चलते बने ।

नमस्कार से भी संसारवृद्धि

इस प्रकार नवकार प्राप्त किये बिना कितने ही भव निरर्थक चले गए। नमस्कार प्राप्त किया - नमस्कार किये, परन्तु जिन्हें करने चाहिये थे उन्हें नहीं किये। जो पंच परमेष्ठी नमस्करणीय थे, उन्हें तो नमस्कार किये नहीं, बल्कि दूसरों का अनुसरण किया, और उन्हें अनेक नमस्कार किये अनेक बार नमस्कार किये। क्या हमें नहीं लगता है कि ऐसे नमस्कारों ने भी हमें डुबोया है? ऐसे नमस्कार करने से हमारे संसार की अभिवृद्धि हुई है, भव बढ़े हैं और हमें बहुत अधिक भटकना पड़ा है। ये बातें सुनकर आश्चर्य होता है कि क्या ऐसा शक्य है? क्या नमस्कार से भी संसार बढ़ता है? नहीं.. भी कह सकते हैं और हाँ भी कह सकते हैं। यदि ऐसे अयोग्य अनुचित नमस्कार किये जाएँ, तो संसार बढ़ता है, भव परम्परा बढ़ती है, परन्तु योग्य नमस्कार योग्य नमस्करणीय महापुरुषों को ही यदि उचित ढंग से किये जाएँ तो संसार बढ़ने के बजाय घटता ही है। कर्मों की निर्जरा होती है और संसार का अंत भी आता है।

उभय से सम्यग् साधना :

भूतकाल के भवों में जो कुछ भी हुआ वह तो हुआ, परन्तु भूतकाल के भवों की भूल इस भव में पुनः न हो जाए-इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है। भूतकाल की भूलों से जो हानि हुई है, उसकी प्रतीति आज हमें हो चुकी है। प्रत्यक्ष प्रमाणों से हमें पता लग गया है कि अभी तक तो हम जहाँ के वहाँ हैं, जैसे थे वैसे ही हैं, अभी तक तो हम भटक ही रहे हैं, और पंच परमेष्ठी भगवंतों का अनादर कर ही रहे हैं, अथवा हम संपूर्ण अटल शत प्रतिशत श्रद्धावान न हो पाए हैं। अतः अभी तो हमें कुछ विशेष प्रयत्न, अधिक पुरुषार्थ सच्ची दिशा में करना पड़ेगा।

आज हमें जो भव प्राप्त हुआ है, इसमें हमारे अनेक जन्मों का पुण्य बल फलित हुआ है, जिसके योग से हमें यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, आर्य क्षेत्र मिला है; वितराग के धर्मवाले कुल-जाति में हमारा जन्म हुआ है और देव-गुरु-धर्म की प्राप्ति हुई है और सद्धर्म श्रवण कर रहे हैं। माता-पिता ने हमें जन्म से ही नवकार महामंत्र सिखाया है, हमकें बचपन से गोद में उठाकर जिनालय में ले जाकर अरिहंत परमात्मा के दर्शन करवाए हैं, दादा का परिचय करवाया है, अपने

हाथों से भंडार में कैसे डलवाए हैं, अपने हाथों से निर्धनों दीन-दुखियों को अनुकम्पा दान दिलवाया है, अपने इन हाथों से महापुरूषों-मुनि महात्माओं के पात्रों में सुपात्र दान प्रदान करवाया है । हम तो बड़े ही सौभाग्यशाली हैं कि यह सब हमें जन्म से ही प्राप्त हुआ है ।

भगवान महावीर का जीव प्रथम भव में नयसार के रूप में था - उनके साथ यदि हम थोड़ी सी तुलना करें तो हमें आश्चर्य होगा कि उस नयसार के पास तो कुछ भी न था, जब कि हमारे पास तो सब कुछ है । ऊपर जितनी चर्चा की है, उसमें से नयसार को कितना प्राप्त था ? क्या नयसार जन्म से जैन था ? क्या उसे जन्म से नवकार महामंत्रादि कुछ मिला था ? क्या उसे पता था कि सांधु महात्मा किसे कहते हैं ? कैसे होते हैं ? सुपात्र दान कैसे दिया जाता है ? अरिहंत भगवंत कौन ? जैन धर्म अर्थात् क्या ? आदि । यह तो हमारा सौभाग्य है कि अपने पूर्व जन्मों में यह सब कुछ मिला होगा और पूर्व जन्मों में हमने थोड़ी बहुत भी साधना की होगी जिसके फलस्वरूप इस भव में अनेक जन्मों के संचित पुण्य बल के योग से यह सब हमें जन्म से ही प्राप्त हुआ है । हमें तो इसकी प्राप्ति का गौरव होना चाहिये - संतोष और आनंद की हमें अनुभूति होनी चाहिये ।

पूर्वाराधना का प्रभाव :

इस भव में यह सब कुछ प्राप्त हुआ है - यही इस बात का प्रमाण है कि हमने अपने पूर्व भवों में आराधना की है । इस भव में धर्म के प्रति रुचि सहज स्वाभाविक रूप से जागृत होना ही प्रमाणित करता है कि हमने विगत भवों में सम्यग् साधना, सम्यग् आराधना की है, जिसके परिणाम स्वरूप ही इस जन्म में यह सब कुछ हमें पुनः प्राप्त हुआ है - सहज में ही सद्भाव पैदा होते हैं, श्रद्धा उत्पन्न होती है, और श्रद्धा के भाव से हम धर्म के प्रति आकर्षित हो रहे हैं । सुदेव सुगुरु और सद्धर्म के दर्शन होते ही सहज ही हम नतमस्तक हो जाते हैं । हमारे में अहोभाव पैदा हो जाता है । भले ही कदाचित् हो या न हो, कदाचित् हमारी शारीरिक दुर्बलता हो, अथवा प्रतिकूल परिस्थितिवश भी अशक्य हो, परन्तु हृदय में तो भाव विद्यमान हैं, मन होता है - इच्छा होती है । इतना ही नहीं, अन्य को धर्माराधना करते हुए देखकर भी हमारा मन मयूर नृत्य करने लग जाता है, अहोभाव तथा अनुमोदन करने का भाव जागृत हो जाता है, तो भी समझ लें कि

भूतकाल के भवों में हमने कभी न कभी ऐसी ही सुंदर आराधना - उपासना अवश्य की है और इसी का यह परिणाम है कि हमारे अतीत की साधना इस वर्तमान में पुष्पित एवं फलद्रुप हुई है। भूतकाल में साधना करते समय हमने कभी ऐसी भावना भी प्रदर्शित की होगी कि....“भवो भव तुम चरणों नी सेवा, हूँ तो मांगू छुं देवाधिदेवा...” अर्थात् हे देवाधिदेव प्रभु ! भवोभव जन्म जन्मांतर में मुझे आपके चरणकमलों की सेवा भक्ति प्राप्त होती रहे ऐसी माँग आपसे करता हूँ, भक्तिभावपूर्वक आपसे प्रार्थना करता हूँ... आज जो कुछ भी हमें जन्म से प्राप्त हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि में अपनी इस प्रबल प्रार्थना और माँग का भी आधार रहा है। किसी अन्य को नहीं, बल्कि हम अपने स्वयं को ही धन्यवाद अर्पण करें। हम अपने जीवन में ही धन्यवाद देते हुए अनुमोदन के भाव पूर्वक आत्म संतोष और शांति का अनुभव करते हुए कहते हैं कि हे जीव ! अच्छा हुआ कि विगत भवों में ऐसी सुंदर धर्मााराधना की और नवकार महामंत्र के जापादि किये कि जिनके प्रभाव से, जिनके योग से इस भव में भी यह सब कुछ मैं प्राप्त कर सका, अन्यथा यह सब कैसे प्राप्त होता है ? और धर्म के अभाव में मेरा क्या होता ? अतः जो प्राप्त किया है, उसकी धन्यता का अनुभव करें आत्मानंदपूर्वक गौरवान्वित हैं। प्रसन्न इस लिये हों कि इस भव में मैं यह सब कुछ प्राप्त करने में सफल हुआ हूँ।

धर्म करना हमारा कर्तव्य है :

यह तो बात हुई हमारी स्वयं की, परन्तु अन्य प्रकार से विचार करेंगे तो हमारी समझ में आएगा कि हमने जिन धर्मात्मा माता-पिता के घरमें जन्म लिया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी हमारा संचित पुण्यबल कार्य कर रहा है, अन्यथा ऐसा घर मिले ही नहीं। सात-पीढी से जिस घर में धर्म होता आया है - सतत हो रहा है, हमारे पूर्वजों -पिता, पितामह-प्रपितामहआदि सभी ने जो सतत धर्म किया है, जिस धर्म के संस्कार वंशानुक्रम से उतरे है, वर्षों से जिस प्रकार देव गुरु धर्म की आराधना उपासना समस्त परिवार में होती चली आ रही है, जिस में परिवार के कितने ही लोगों ने धर्मापासना की होगी, कई बार की होगी तभी ऐसा सुंदर वातावरण निर्मित हो पाया है। ऐसा कुल ऐसी जाति - ऐसा वंशानुक्रम और वातावरण यह सब सुंदर सुयोग्य और अच्छा तथा सच्चा प्राप्त होना क्या कम

पुण्य की बात है ? कदाचित् कल्पना करो कि यदि हमारा जन्म जनपथ पर झुपड़पट्टी अथवा नीच कुल-गोत्र में हुआ होता, तो जन्म से हमें क्या मिलता ? और आज भी हम क्या करते होते? अतः यह सब इतना सुंदर जो कुछ भी हमें प्राप्त हुआ है उसके पीछे हमारे स्वयं के उच्च गोत्र कर्म की पुण्य प्रकृति का हाथ है । यह भी विचार करो कि ऐसी उच्च गोत्र कर्म की पुण्य प्रकृति बाँधने के पीछे भी शुभ प्रवृत्ति करना आवश्यक है, अन्यथा यदि अशुभ पाप-प्रवृत्ति ही की, तो अशुभ पाप प्रकृति का ही बंध होगा ।

कर्म में तो शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार की प्रकृतियाँ हैं तथा संसार में उनके अनुरूप दोनों ही प्रकार की शुभ-अशुभ पुण्य-पाप की प्रवृत्तियाँ भी है । जैसी प्रवृत्ति करेंगे - वैसी ही प्रकृति का बंध होगा । अतः दोनों का बंध अपने हाथ में है । जैसा निर्णय करें, वैसा कर सकते हैं । जैसा प्रकृति बंध हम करना चाहें वैसा हम स्वयं कर सकते हैं - यह कर्म का सिद्धान्त है । अच्छे - बुरे कुल, जाति अथवा गोत्र में जन्म देना किसी अन्य ऊपरवाले के हाथ में नहीं, बल्कि अपने ही हाथ में है । हमें कहाँ जन्म लेना है ? इसके लिये कर्म सिद्धान्त सचोट और सच्चा है । कर्म पर श्रद्धा रखकर शुभ प्रवृत्ति करें तो निश्चित रूप से लाभ होगा ।

इस प्रकार विचार करते हैं तो जो सात-सित्तर पीढ़ियों से कुल - जाति वंश गोत्र और खानदानी में वंशानुक्रम से जो धर्म हमें वसीयत में प्राप्त हुआ है वह कब प्राप्त हुआ ? कैसे प्राप्त हुआ ? हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार उत्तम कोटि की धर्मारोपण की होगी सतत धर्म करके इसे किस प्रकार टिकाये रखा होगा ? कि आज हमें वह प्राप्त हुआ है । धर्म कैसे टिकता है ? धर्म तो धर्म करने से ही टिकता है । हमारे कुल में धर्म टिका है, इसका अर्थ यही है कि हमारे पूर्वज सतत यह धर्म करते आए हैं - करते रहे हैं, तभी यह टिक पाया है । हमने ऐसे कुल में जन्म लिया है जिसकी सित्तर पीढ़ियाँ उज्ज्वल हैं और यदि अब हम धर्म नहीं करते हैं तो कैसे चलेगा ?

विशाल समुद्र में नौका चलती हो और उस में यात्रा करने वाले यात्रीगण बैठे हो तथा बारी बारी से पतवार न चलाते हों तो क्या वह नाव चल पाएगी ? जब पतवार चलाकर नौका को मध्य तक ले गए और फिर यदि पतवार चलाना बन्द कर दिया तो क्या स्थिति होगी ? तब तो आशंका है कि समुद्र के मध्य ही डूबने की नौबत आ जाएगी, इसी प्रकार हमारे पिता-पितामह आदि जो धर्म करते

आए हैं, धर्म करके ही जिन्होंने धर्म को टिकाए रखा है, और उन्हीं के कुल-गोत्र में हमने जन्म लिया है जो हमारा प्रबल पुण्य है कि जिसके योग से हम ऐसे उच्च कुल में आए हैं, फिर भी यदि हमने धर्म न किया - अपना कर्तव्य समझकर भी यदि धर्म से विमुख रहे, तो इसका परिणाम क्या होगा ? एक तो हम स्वयं धर्म से वंचित रहेंगे और साथ ही हम अपनी भावी पीढ़ी को भी धर्म से वंचित रखेंगे। इसके अलावा धर्म को टिकाने में हमारा कुछ भी योगदान नहीं रहेगा और जिस धर्म करके हमारे अग्रजों ने टिकाए रखा है - बनाए रखा है उस धर्म को न करके हम मिटा देंगे। अतः धर्म भावी में सदा सुरक्षित रहे बना रहे - आगे भी सबको प्राप्त होता रहे इस हेतु से भी धर्म करना आवश्यक है। धर्म के प्रति यदि हम अपना कर्तव्य भी समझ लें तो बहुत ही अच्छा होगा। अतीत में इतने अधिक हजारों लाखों लोगों ने धर्म की सुरक्षा और विकास के लिये अपना जो अमूल्य योगदान किया है और जो धर्म आज हमें प्राप्त हुआ है उसमें हमारा कितना और क्या योगदान रहा - यह विचारणीय बिन्दु है। क्या हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं है? धर्म से पुण्योपार्जन करके हम यहाँ तक पहुँचे - ऊपर चढ़ें और अब इसी धर्म के प्रति क्या हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता ? धर्म के साथ ऐसा विश्वासघात करते हैं तो हमारा उद्धार कैसे होगा ? इस हेतु से भी उपेक्षा करना न्यायोचित नहीं है। धर्म के क्षेत्र में नियम ऐसा है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः' अर्थात् जो धर्म की रक्षा करता है उसकी धर्म भी रक्षा करता है। धर्म हमारी रक्षा धर्म करे - ऐसा हम चाहते हैं, परन्तु क्या यह क्षम्य है कि हम धर्मकी रक्षा न करें ? ऐसी एक पक्षीय स्वार्थी विचारणा कैसे चल सकती हैं ? बिल्कुल नहीं चल सकती।

नवकार किस प्रकार टिका है ?

ऊपर जिस प्रकार हमने धर्म की चर्चा की वैसी ही विचारणा हम अब नवकार महामंत्र के संबंध में करते हैं, क्यों कि नमस्कार एक धर्म है, और ऐसा नमस्कार प्रधान धर्म टिका है तो कैसे टिका ? क्या नवकार महामंत्र दीवार पर लिखकर रखने से टिका ? क्या यह ताम्रपत्र पर लिखकर भूमिगतग करने से टिका नहीं, पत्थर पर खुदाई कर लिख रखने से भी यह महा मंत्र नहीं टिका, न यह पुस्तकों में लिखकर रखने से टिका है। यह तो यदि टिक पाया है तो एक मात्र गिनते रहने और गिनाते रहने से ही टिका है। इसकी आराधना उपासना अविरत

रूप से चलती रही है, इसीलिये यह सुरक्षित रह पाया है। हजारों लाखों ही नहीं - बल्कि अनंत वर्षों से इकधारा अविरत रूप से और सतत नवकार महामंत्र आराधित रहने के कारण ही इसका अस्तित्व बच पाया है। इतना ही नहीं, परन्तु चारों ही गतिओं में, त्रिलोक में, १५ कर्मभूमिक्षेत्र में इसकी आराधना सर्वत्र होती रही है। भरत-ऐरवत क्षेत्र में अवश्य ही छठा-छठा आरा ये दोनों साथ साथ आ जाते हैं, इतना लम्बा काल बीच में धर्म के बिना निकले जाता है, परन्तु फिर भी महाविदेह क्षेत्र में नवकार की आराधना सतत चलती रहती है। अतः इस दृष्टि से यह शाश्वत मंत्र है। आत्मा अनादि शाश्वत है और आत्मा के आधार पर ही नवकार महामंत्र भी अनादि अनंत और शाश्वत है, तब तो फिर शाश्वतता की दृष्टि से नवकार अपनी ही जाती का होता है, अतः हमें भी आराधना करनी चाहिये। दोनों ही एक जाति के हैं - समान धर्मी हैं अतः हमें ही अन्योन्याश्रयी होना चाहिये।

थोड़ा सा विचार करिये - 'नवकार हमारे आधार पर हैं या हम नवकार के आधार पर हैं ? कौन किसके आधार पर टिक सका है ? यदि एक पक्षीय विचार करेंगे तो हमें अभिमान का दोष लगेगा, कि हमारे आधार पर नवकार महामंत्र टिक रहा है ? नहीं... नहीं, वास्तव में तो हम ही नवकार के आधार पर टिके हुए हैं। आज दुर्गति में न गिरकर सद्गति में उच्च मनुष्य गति में हम टिके हुए हैं - इसका अर्थ तो यही होता है कि भूतकाल में कहाँ कब और कितनी बार नवकार का रटन स्मरण हमने किया होगा ? किस भाव की साधना आज हमें तिराने के लिये समर्थ बनी है ? कब की हुई कौन सी धर्मासाधना आज उदय में आई है ? इसका हमें कहाँ पता है। नवकार हमारे आधार पर नहीं टिका है, हमारे घर के आधार पर नहीं टिका है, क्यों कि नवकार गिनने वाले तो लाखों करोड़ों नहीं, परन्तु संख्या में असंख्य हैं, भूतकाल में भी नवकार गिनने वाले बहुत थे और आज भी हैं तथा भविष्य में भी रहने वाले ही हैं, अतः नवकार तो सतत टिकने ही वाला है। नवकार को टिकाए रखने का अभिमान हमें करने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है, हम १-२ या ५-२५ नवकार न भी गिने तो कहाँ फर्क पड़ने वाला है - कहाँ नवकार डूबने वाला है ? अथवा यह धर्म डूबने या नष्ट होने वाला है ? यह नवकार ऐसा कहाँ हम पर जीवित है - या टिका हुआ है ? अतः ऐसा विचार करने की आवश्यकता भी नहीं है।'

हाँ, एक बात निर्विवाद है कि नवकार अपना अस्तित्व बनाए हुए है। एक मात्र नवकार गिनने वालों से, रटने से, स्मरण करने से, जाप या ध्यान अथवा आराधना से टिका है, वह भी गिनने से टिका है, अतः सोचो कि हमारे अग्रजों पूर्वजों पिता पितामहों और प्रपितामहों सभी ने सतत इस नवकार महामंत्र की आराधना उपासना की होगी, और परम्परागतरीति से करते करवाते रहे होंगे, तभी तो हम तक आज यह नवकार पहुँचा है, जन्म के पश्चात् बाल्यावस्था में ही माता-पिता ने हमें नवकार सिखाया, है, हम इसकी आराधना करते ही आए हैं, अतः एक बात तो निश्चित है कि नवकार तो आराधना उपासना करने से ही टिकने वाला है। अतः हमें इसी मार्ग पर चलना उचित है। हम भी इस मार्ग पर अपना अमूल्य योगदान दें, और इसमें अभिमान न करके अपना कर्तव्य समझे तभी हमें लाभ हैं; क्यों कि हमसे नवकार धर्म का उद्धार नहीं, बल्कि इसके विपरीत नवकार धर्म से हमारा उद्धार अथवा कल्याण है। जो प्रयत्न हमारे पूर्वजों ने किया है, वही प्रयत्न हमें भी करना पड़ेगा। ऐसा प्रयत्न बड़ा ही सरल है। मात्र पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करना - यह बात जितनी बड़ी और गंभीर लगती है, उतनी ही बात प्रयत्न से सरल और सुगम है। मात्र अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करना है।

नमस्कार धर्म :-

नवकार महामंत्र में सर्व प्रथम 'नमस्कार' का महत्त्व बताया गया है। अरिहंत सिद्धादि धर्म नहीं - वे तो महान् धर्मी हैं, मात्र उन्हें नमस्कार करना धर्म है, अतः इस महामंत्र का नामकरण भी नमस्कार महामंत्र हुआ है। जगत में नमस्कार का ही व्यवहार बड़ा है और धर्म भी नमस्कार का ही बड़ा है। सर्व प्रथम नमस्कार तत्पश्चात् अन्य बात ! अतः हमारे लिये तो कुछ भी करने का नहीं रहता, मात्र नमस्कार करना ही रहता है। इस नमस्कार धर्म के सूचक शब्द 'नमो' के हैं जो बार बार नवकार में प्रयुक्त हुए हैं।

नवकार का नामकरण :

इस जगत में प्रत्येक वस्तु का नामकरण होता है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसका नाम न हो। और न कोई ऐसा नाम है जिसकी वस्तु न हो। संसार का

यह नियम है। वस्तु हो और नाम न हो यह कैसे हो सकता है ? इसका व्यवहार कैसे चल सकता है ? हमने जन्म लिया अतः हमारा नाम रखा गया, अन्यथा हमें संबोधित करने आदि का व्यवहार कैसे होता ? और नामकरण भी जन्मराशि, नक्षत्र आदि के आधार पर माता-पिता ने किया है, अतः इन नामों से दुनिया में अपना व्यवहार चल रहा है, परन्तु नवकार का नाम क्या रखा जाए ? क्यों कि नवकार कोई राशि या नक्षत्र में तो न जन्मा है न बना है। इसका रचनाकाल भी नहीं - फिर प्रश्न ही कहाँ होता है ? अतः नवकार के नामकरण की प्रणाली भिन्न है। अपने यहाँ नामकरण की दो पद्धतियाँ चलती हैं।

नामकरण

(१) आद्याक्षरी (आद्य शब्दानुसारी) (२) विषयानुसारी

(१) आद्याक्षरी - आद्यशब्दानुसारी अर्थात् जिस सूत्र का जो प्रथम आद्य शब्द हो उसके आधार पर नामकरण करना - आद्यशब्दानुसारी कहलाता है। उदाहरणार्थ 'नमुत्थुणं सूत्र', 'लोगस्स सूत्र' सिद्धाणं बुद्धाणं सूत्र, इसी प्रकार नवकार मंत्र। इन सभी सूत्रों में नमुत्थुणं, लोगस्स, आदि प्रथम-आद्य शब्द हैं, अतः इन शब्दों से ही इनके नाम हो गए। इन शब्दों से ही ये सूत्र प्रारंभ होते हैं, अतः लोगों की सामान्य स्मरणशक्ति में सरलता और सुविधा रहे - इस हेतु से ये नाम सरल रहते हैं, किसी को भी कहे - भाई ! लोगस्स सूत्र बोलो, नमुत्थुणं बोलो कि वह तुरन्त ही लोगस्स उज्जोअगरे। नमुत्थुणं अरिहंताणं - से शरु करके बोलने लग जाता है। अतः स्मरण शक्ति को याद रखने में सरलता रहने से व्यवहार में यह पद्धति प्रचलित हो गई है। इस पद्धति के अनुसार नवकार का नाम 'णमोकार मंत्र' या 'णमोकारसूत्र' पड़ा। 'णमो' प्रथम शब्द है अतः इसके आधार पर 'णमोकार सूत्र' नाम हो गया तथा प्रचलित भी हो गया।

(२) विषयानुसारी - दूसरी पद्धति है विषयानुसारी ! इस पद्धति के सूत्र में जो मुख्य विषय होता है तदनुसार नामकरण होता है, उदाहरणार्थ नामस्तव, श्रुतस्तव, सिद्धस्तव, शक्रस्तव आदि। अब यदि ये नाम लेकर हम किसी को कहे कि भाई ! शक्रस्तव सूत्र बोलो। नामस्तव सूत्र बोलो, तो प्रारंभ में तो वह

सिर खुजलाने लग जाएगा । स्मरणशक्ति पर बल प्रयोग होगा । विचारमग्न हो जाएगा कि मुझे क्या बोलने का निर्देश आदेश है ? यह भला कौनसा सूत्र है ? और संभवतः उत्तर भी दे बैठे कि श्रीमान् ! यह सूत्र तो मुझे नहीं आता है । मैंने इसे नहीं पढ़ा परन्तु यदि उसे सूत्र के दोनों नाम समझा दें कि भाई ! यह तो वही सूत्र है जो तुम्हे अच्छी तरह याद है । यह और कोई नहीं बल्कि 'लोगस्स सूत्र' है । लोगस्स का ही यह अपर नाम है नामस्तव सूत्र । शक्रस्तव का ही दूसरा नाम है नमुत्थुणं सूत्र... यदि इतना सा संकेत दे दें तो कोई भी फौरन त्वरित गति से बोल सकता है, क्यों कि उसकी स्मरणशक्ति पर आधारित जो पद्धति थी, वह उसके स्मृति पटल पर उभर आई और वह तुरन्त क्रियान्वित हो गई ।

इस दूसरी विषयानुसारी पद्धति के अनुसार नवकार का नामकरण 'श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध' किया गया है । श्री महानिशीथ सूत्रादि आगमों में इस नाम का विशेष उल्लेख है । पंच अर्थात् अरिहंतादि पाँच परमेष्ठि । भगवंतों को किये जाते नमस्कार का सूत्र-श्रुत शास्त्र अर्थात् श्रुतज्ञान के क्षेत्र में महाश्रुतस्कंध है ।

समस्त शास्त्रों के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं जिनमें १४ पूर्व और द्वादशांगी आदि समस्त श्रुत शास्त्रों का समावेश हो जाता है । ऐसे द्वादशांगी रूप महा श्रुत के स्कंध - आधार स्तम्भ रूप में नवकार महामंत्र को गिना गया है । अर्थात् द्वादशांगी को एक भव्य प्रासाद के रूप में स्वीकार कर उसके मूलाधार स्तंभ के रूप में श्री नमस्कार महामंत्र को स्थान दिया गया है ।

नवकार का शब्दार्थ :

नवकार लोकभाषा में प्रचलित और प्रसिद्ध नाम हो गया है । लोक व्यवहार में अधिकांशतः नवकार शब्द अधिक बोला जाता है । इस लोक प्रचलित नवकार शब्द का क्या अर्थ करेंगे ? विनोद के लिये भी लोग चाहे जो अर्थ कर देते हैं । नवकार के नव अर्थात् नवीन, नई New और कार अर्थात् car कहने से नवकार का अर्थ New car हो जाता है । यह अर्थ हमें अभिप्रेत नहीं है । नवकार शब्द के नव को संख्यावाची अर्थ में लेते हैं तो ९ बन जाता है और फिर कार-गाड़ी तो इस प्रकार नवकार नौ गाड़ियाँ हो जाता है जो बहुत ही हास्यास्पद है - निरर्थक है । नवकार का मुख्य अर्थ कुछ और ही है ।

वास्तव में तो 'नवकार' प्राकृत भाषा का शब्द है, जिसका संस्कृत शब्द है 'नमस्कार' नमस्कार का ही वाची और नमस्कार के अर्थ में ही नवकार शब्द प्रयुक्त होता है। प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार स्वजातीय अक्षर ही संयुक्ताक्षर के रूप आ सकते हैं। उदाहरणार्थ नमुक्कारो, सव्वेसिं, परन्तु अन्य विजातीय भिन्न अक्षर साथ मिलकर संस्कृत भाषा की तरह संयुक्ताक्षर प्राकृत भाषा में प्रयुक्त नहीं होते हैं। नवकार महामंत्र मूलतः प्राकृत भाषा में हैं। प्राकृत भाषा किसी समय लोक भाषा के रूप में प्रचलित थी। प्राकृत भाषा की दृष्टि से नमस्कार का ही नवकार शब्द बनता है। नवकार का अर्थ नमस्कार ही होता है, अतः नवकार मंत्र कहें अथवा नमस्कार मंत्र कहें - बात एक ही है।

नवकार अथवा णमोकार :

'न' अथवा 'ण' नवकार भी बोला जाता है और णमोकार भी बोला जाता है, दोनों में सही और गलत का विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि दोनों ही सही है। प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार 'न' का विकल्प 'ण' होता है, अतः 'न' या 'ण' दोनों में से कोई भी बोल सकते हैं। विकल्प का अर्थ ही होता है यह भी और वह भी। अतः नमोकार बोलो अथवा णमोकार बोलो - दोनों एक ही बात है। सही और गलत का प्रश्न ही नहीं उठता। दोनों ही सही ही है। नवकार महामंत्र का प्रारंभ नमो से होता है अतः नमोकार मंत्र और णमोकार मंत्र दोनों ही शब्द नाम प्रयुक्त होते हैं। अतः इसे णमोकार मंत्र भी कहते हैं। इसीलिये दिगम्बर संप्रदाय में णमोकार मंत्र नाम प्रचलित और प्रसिद्ध हुआ है। उनमें 'णमोकार मंत्र' के नामसे बोलने की रुढि हो गई है, जबकि श्वेतांबर संप्रदाय में नवकार शब्द अधिक प्रचलित हुआ है।

इसी प्रकार 'नमो अरिहंताणं' पद सच्चा है अथवा 'णमो अरिहंताणं' पद सच्चा है ? इन प्रश्नों के उत्तर में भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा। 'न' का 'ण' विकल्प से होता है अतः 'न' भी चलता है और 'ण' भी चलता है; फिर भी एक पक्ष 'ण' पर अधिक बल देता है, इसका अर्थ यह न समझें कि दूसरे पक्ष का 'न' गलत है। इसलिये दोनों ही 'ण' और 'न' प्रचलित हैं। यदि 'न' गलत होता तो कभी से लुप्त हो गया होता।

नमस्कारार्थक 'नमो' का प्रयोग :

इस नमस्कार में नमस्कार भाव की ही प्रधानता है । नमस्कार करने की बात कही गई है, अतः नमस्कार भावसूचक 'णमो' शब्द आरंभ में रखा गया है । इस नवकार महामंत्र में पदों की संख्या, लघु अक्षर, (गुरुअक्षर) तथा सम्पदाएँ आदि सभी की गणना कर संख्या बताई गई हैं । गणित की दृष्टि से इन सभी की संख्या का अधिक महत्व है । अतः इसमें शब्दों की गणना सीमित है - मर्यादित है, फिर भी इस नवकार मंत्र में देखने से लगेगा कि 'णमो' शब्द कितनी बार प्रयुक्त हुआ है ? 'णमो' शब्द पाँचबार प्रयुक्त हुआ है और नमस्कारार्थक शब्द कितने ? तो हम देखते हैं कि नमस्कारार्थक (सूचक) शब्द हैं - पाँच पदों में पाँच बार 'नमो' शब्द प्रयुक्त हुआ है और छठी बार 'ऐसो, पंच नमुक्कारो' के छठे पद में 'नमुक्कारो' शब्द का प्रयोग हुआ है । ये सभी छठी बार नमस्कार के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु इस छठीबार प्रयुक्त शब्दों के अक्षरों की संख्या गिनें तो कुल १४ होती है - 'णमो' - 'णमो' पाँच बार अर्थात् दस अक्षर हुए और 'नमुक्कारो' शब्द के ४ उनमें जोड़ने से कुल अक्षर हुए १४ । ६ शब्दों के १४ अक्षर । नमस्कार के अर्थ में इस प्रकार नमस्कारवाची शब्द ६ और अक्षर १४ नवकार महामंत्र में प्रयुक्त हुए हैं ।

जहाँ मंत्र में, शब्द में, शब्द और अक्षरों में, अक्षरों की गणना रखी गई हैं। द्विरुक्ति दोष का सेवन न होना चाहिये - एक शब्द दो, चार बार - बार प्रयुक्त न होना चाहिये, फिर भी नवकार में 'णमो' शब्द बार बार प्रयुक्त हुआ है, और तब भी इस में किसी प्रकार का दोष नहीं बताया गया है, बल्कि गुण ही बताया गया है । नमस्कार भाव की वृद्धि, नमस्कार की आराधना, उसका लक्ष्य दर्शाया गया है । जीवन में प्रथम आवश्यकता नमस्कार की है।

सर्व प्रथम नमस्कार धर्म :-

जगत् में अनेक प्रकार के धर्म हैं । तप-सामायिक, प्रतिक्रमण पौषध, दर्शन-पूजन-दान-शील-तप-भावना आदि अनेक प्रकार के धर्म हैं और इसी प्रकार क्षमा, समता, सरलता, निर्लोभता, वैराग्य आदि आत्म धर्म भी अनेक हैं फिर भी इन सब से पूर्व मात्र नमस्कार धर्म की मुख्य आवश्यकता है । सभी प्रकार के धर्मों में नमस्कार धर्म की ही प्राथमिक कक्षा की उपयोगिता है । पहले कौन सा धर्म

सिखाना उचित है ? छोटासा बच्चा है, बच्चे के जीवन में धर्म की शुरुआत करनी है, उसकी माता उसे धर्म सिखाती है, तो सर्व प्रथम बच्चे को क्या सिखाया ? पहले सामायिक या पूजा ? तपश्चर्या या प्रतिक्रमण ? अथवा प्रथम क्षमा, समता या सरलता आदि धर्मों में से कौन से धर्म सिखाए ? बालक की अल्प वय, योग्यता, पात्रता आदि सब का विचार करते हुए लगता है कि 'नमस्कार धर्म' ही सर्व प्रथम सिखाना आवश्यक है। प्रारम्भ में ही बच्चा सामायिक करना अथवा समता में रहना कैसे सीख सकेगा ? अथवा क्या वह तप तपश्चर्या कर सकेगा ? क्या उसे दान-पुण्य करना आएगा ? नहीं, संभव ही नहीं है ।

सर्व प्रथम बच्चे को नमस्कार धर्म ही सिखाया जाता है । यही प्रचलित व्यवहार है । इसी प्रकार समस्त जगत में चलता है । माता प्रारम्भ में अपने बच्चे को दोनों हाथ जोड़कर सिर झुकाकर नमन कराना सिखाती है । यह नमस्कार की क्रिया है फिर इस क्रिया का नाम 'जे-जे' है - ऐसा साथ में नाम व्यवहार भी सिखाती हैं जिससे हर बार बालक के हाथ पकड़नें और सिर झुकाने की क्रिया माता को करनी न पड़े । फिर यह क्रिया नाम वाची बन जाती है । इस प्रकार बच्चे के ज्ञान में अभिवृद्धि होती है । निश्चित हो जाता है कि इस प्रकार हाथ जोड़कर सिर झुकाने की क्रिया को 'जे - जे' कहते हैं। अतः 'जे - जे' शब्द का अर्थ क्या होता है - इसे बच्चा कुछ भी नहीं समझता, परन्तु व्यवहार में प्रचलित होने से इसका भाव - इसका अर्थ नमस्कार ही है - इस प्रकार व्यक्ति के जीवन में बाल्यावस्था से ही सर्व प्रथम नमस्कार धर्म के बीज का ही वपन होता है । प्रारंभ से ही नमस्कार धर्म सिखाया जाता है । नमस्कार के ही संस्कार डाले जाते हैं, जिससे बच्चा नम्र, विनीत, विनयी बने - ऐसा माता का भी भाव होता है, और नम्र, विनीत बच्चा सर्व प्रिय, सब का दुलारा, सब का मन हरने वाला बन सकता है । ये ही उत्तम संस्कार भविष्य में सुदृढ़ बनेंगे तो जीवन विनयशील बनेगा, बच्चा बड़ा होकर उदंड, अविनयी न होकर सर्वप्रिय बनेगा - इसी हेतु से क्षमा - समता आदि धर्म शनैः शनैः बाद में सिखाए जाते हैं, परन्तु सर्व प्रथम तो नमस्कार धर्म की ही शिक्षा प्रदान की जाती है और यही उपयुक्त भी है । इस संबंध में एक कथानक इस प्रकार आता है ।

नमस्कार की शिक्षा

मगध देश के शालिग्रामनगर के सेठ पुष्पशाल का पुत्र फरशाल बाल्यावस्था से ही नम्र विनयी और सरल स्वभाववाला था। योग्य भूमि में पड़े हुए बीज जिस प्रकार हवा, पानी, प्रकाशादि की अनुकूलता से उग जाते हैं और उनका विकास होता है, उसी प्रकार पूर्वजन्म से संस्कारावस्था में पड़े हुए बीज देव-गुरु आदि के शुभयोग से प्रकट होते हैं और विकसित होते हैं। फरशाल ने बाल्यावस्था में ही धर्म गुरु के मुख से विनय-नमस्कारके गुण की बातें सुन रखी थी और मात्र सुनने तक ही सीमित न थी, बल्कि दूसरे ही दिन से गुरुजनों अग्रजों का सम्मान - विनयादि का सुंदर आचरण उसने नमस्कार द्वारा प्रारंभ कर दिया था।

बात भी सही है कि मनुष्य जेवर- आभूषणों आदि से सुशोभित नहीं होता परन्तु उसके जीवन के विशिष्ट गुण ही उसकी शोभावृद्धि करने वाले आभूषण बन जाते हैं। फरशाल कुमार भी अपनी शोभा नमस्कार प्रवृत्ति से बढ़ाता गया। नित्य प्रतिदिन माता-पिता आदि को नमस्कारादि करके उनके प्रति विनय को सुरक्षित रखने लगा। एक दिन पिता को अपने गाँव के सरपंच को नमस्कार करते देखा अतः पुत्र ने भी उन्हें नमस्कार किया। गुरुजनों को मिलने के लिये, उनके पास जाने के लिये नमस्कार ही श्रेष्ठ उपाय है - व्यवहार है - ऐसा पिता श्री ने उसे समझाया। नमस्कार करने वाला छोटा और जिसे नमस्कार किया जाता है वह नमस्करणीय बड़ा होता है। इस नियम के अनुसार जो जो बड़ा मिले उसे फरशाल नमस्कार करता रहता है। नमस्करणीय व्यक्ति उत्तम और उच्च होता है - ऐसा उसके पिता ने उसे स्पष्ट कर रखा था।

एक बार पिता - पुत्र राजगृही नगरी में गए। वहाँ राजपुरुष मंत्री आदि को नमस्कार करते हुए लोगों को देखा। अतः पिता को बिना पूछे ही बालक नमस्कार के नियमानुसार समझ गया कि यह कोई महान् व्यक्ति है। फिर राजदरबार में मगध के अधिपति सम्राट श्रेणिक को मंत्रियों आदि समस्त नागरिकों के द्वारा नमन वन्दन किये जाते देखा अतः फरशाल समझ गया कि यह सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति होना चाहिये, और उसने भी करबद्ध-नमस्कार किये तथा अपने पिताश्री को उसने प्रश्न किया, क्या इन से भी बढ़कर कोई महान् व्यक्ति तो अब नहीं है न? पिता ने कहा, 'पुत्र! हमें तो नमस्कार के नियमानुसार समझ कर व्यवहार करना चाहिये, जो नमन करता है वह छोटा और जो नमस्करणीय है वह बड़ा। अतः

यदि यह राजा भी किसी को नमस्कार करे, तो जिसे नमस्कार करे वह बड़ा और उसकी तुलना में राजा छोटा ।

संयोगवश एक दिन सम्राट श्रेणिक गजारूढ होकर राजमार्ग पर से निकल रहे थे, भव्य चतुरंगी सेना आदि से परिवृत्त थे. इतने में एक त्यागी मुनि महात्मा को राजमार्ग पर आते देखकर सम्राट अपने हाथी से नीचे उतरे और उन्होंने उन महात्मा को नमन-वन्दन किया । यह देखकर फरशाल तो दिग्भ्रूट सा हो गया । सोचनी लगा - कौन बड़ा ? राजा के पास कितना ठाठ है - वैभव है ? जब कि इन महात्मा के पास तो कुछ भी नहीं तो क्या समझा जाए ? परन्तु पुनः पिताश्री ने नमस्कार का नियम याद दिलाया । मुनि महात्मा को उपाश्रय में अपने गुरु को वंदन करते हुए देखा । गुरु उपाध्यायजी महाराज को वन्दन कर रहे थे और फिर उपाध्यायजी महाराज को आचार्य भगवंत को नमन-वंदन करते देखा । यह देखकर उसे लगा कि वास्तव में नमस्करणीय व्यक्ति कितने हैं, कितने महान् व्यक्ति हैं ? अंत में उसने आचार्य भगवंत को समवसरण में बिराजमान त्रिलोक के नाथ तीर्थंकर महावीर परमात्मा को प्रदक्षिणा सहित वंदन करते हुए देखा, अतः फरशाल समझ गया कि ये भगवान ही सब से महान् होने चाहिये ।

फरशाल ने प्रभु को नमन-वंदन करके पूछा - प्रभु ! मैं आपकी सेवा करने का इच्छुक हूँ । भगवंत ने कहा ! हे भाग्यशाली ! मैं तो क्षत्रिय वेष भूषा, तलवार शस्त्रादि से सज्ज व्यक्ति द्वारा सेवित नहीं होता, बल्कि रजोहरण, मुहपत्ति धारक से सेवित होता हूँ । अतः इस प्रकार जो सेवित है वही योग्य है । व्यवहार विनय का नमस्कार भी आत्मा को आज कितने उच्च कोटि के परमार्थ के मार्ग पर लाने में सफल हुआ ? सरल-विनीत आत्मा फरशाल ने सर्वस्व का परित्याग कर समवसरण में प्रभु के पास दीक्षा अंगीकार कर ली । बड़े ही विनीत भावपूर्वक प्रभु की सेवा भक्ति आदि करके फरशाल मुनि ने सद्गति प्राप्त की आत्मोद्धार साध लिया ।

महत्ता किसकी ? अरिहंत की या 'नमो' की ?

नवकार महामंत्र में 'णमो अरिहंताणं' - इस प्रकार पद-रचना की गई है और इसी प्रकार पाँचों ही परमेष्ठियों को नमस्कार करने में 'णमो' पद आदि में रखा गया है, और फिर अरिहंतादि के नाम रखे हैं । भावार्थ भी इसी प्रकार

अर्थवाची रखा है जैसे नमस्कार हो अरिहंतों को । नमस्कार हो सिद्धों को । नमस्कार हो आचार्यों को । नमस्कार हो उपाध्यायों को । नमस्कार हो इस लोक में रहे हुए सभी साधु भगवंतों को । इस प्रकार इन पाँचों ही पदों की शब्द रचना है । क्रम रचना की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि.... 'नमो शब्द प्रारंभ में रखा है और अरिहंत शब्द बाद में प्रयुक्त हुआ है ।' 'णमो अरिहंताणं' कहा है, परन्तु 'अरिहंताणं णमो' नहीं कहा । यदि हम अरिहंत को महत्त्व देते हैं और इसी प्रकार पंच परमेष्ठि भगवंतों की विशेष महत्ता गिनते हैं, नमस्कार भाव को गौण करते हैं तो नमो शब्द को अन्य में रखें और अरिहंतादि पंचपरमेष्ठियों के नाम पूर्व में रखें तो नवकार का स्वरूप निम्न प्रकार से होगा -

अरिहंताणं णमो ॥१॥ सिद्धाणं णमो ॥२॥ आयरियाणं णमो ॥३॥

उवज्जायाणं णमो ॥४॥ लोए सव्व साहूणं णमो ॥५॥

परन्तु इस प्रकार की नवकार मंत्र की रचना न रखकर 'णमो' पद आगे रखा गया है और पंच परमेष्ठियों के नाम बाद में रखे गए हैं । इस प्रकार नवकार मंत्र की रचना करके उसका शब्द देह अक्षर देह निम्नानुसार स्थायी रखा गया है-

णमो अरिहंताणं ॥१॥ णमो सिद्धाणं ॥२॥ णमो आयरियाणं ॥३॥

णमो उवज्जायाणं ॥४॥ णमो लोए सव्व साहूणं ॥५॥

यही रचना स्थायी स्वरूप में प्रस्तुत है और यही सच्चा स्वरूप है । इस में परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती । 'नमो' को पीछे रखने की जरूरत नहीं है, नमो जो आगे है वही सच्चा है । इसमें क्रम का भी रहस्य है यद्यपि नमो शब्द पूर्व में रखने से अरिहंत और सिद्धादि परमेष्ठियों की महत्ता घटती नहीं है, बल्कि बढ़ती ही है क्योंकि नमस्कार किसको किया जाता है तो उत्तर स्पष्ट है कि नमस्कार अरिहंतादि को ही किया जाता है ।

प्रश्न : 'नमो' शब्द पीछे रखने में अर्थ कहाँ बदल जाता है ? नहीं अर्थ तो नहीं बदलता, अर्थ तो वही रहेगा, परन्तु 'नमो' आगे रखने से नवकार की महत्ता-विशेषता बनी रहती है ।

'नमो' - नवकार का प्रवेश द्वार है :

कोई भी मकान या घर कितना ही विशाल क्यों न हो, पर उसका प्रवेशद्वार तो अवश्य होता ही है । मकान की अपेक्षा द्वार सदैव छोटा होता है । इस प्रकार

कल्पना करो कि नवकार मंत्र - एक विशाल अर्धमय भवन है जिस में स्वामी अरिहंतादि पंचपरमेष्ठी भगवंत रहते हैं । ऐसे भवन में इन स्वामी के पास पहुँचना है तो एक मात्र 'नमो' नमस्कार के प्रवेश द्वार से ही नवकार में प्रवेश हो सकेगा। प्रवेशद्वार सदैव किसी भी मकान - भवन के अग्रभाग में होता है - इसी प्रकार 'नमो' को अरिहंतादि के आगे रखा गया है - क्रम में प्रथम रखा हैं ।

'नमो' भवन के आगे के भाग के मुख्य प्रवेश द्वार पर खड़े हुए प्रहरी (watchman) का कार्य करता है । यह प्रहरी 'नमो' हमें निर्देश देता है कि - नमन कर - झुक कर अन्दर जाओ, अरिहंत - सिद्धादि को पाने जाना है तो नमन कर अर्थात् पहले बाहर से ही नमस्कार करके फिर अन्दर प्रवेश करो । नम्र बनो, नम्रतापूर्वक नमन करो और फिर आगे प्रस्थान करो । इसीलिये 'नमो' शब्द सूचक - प्रेरक बन गया है । यह आत्मा को कदम-कदम पर झुकाने का प्रयत्न करता है । अरिहंतादि पंच परमेष्ठीओं के पास जाते समय कदाचित, नमन करना विस्मृत हो न जाए, कदाचित रह न जाए, अतः आगे बढ़ने से पूर्व ही 'नमो' पद हमें सजग कर देता है । यह हमारा हितैषी भाव मित्र है । यह हमें अविनय, आशातना से बचाने का कार्य करता है । कदम - कदम पर हमें जागृत करता है - सावधान करता है कि हे चेतन! तू नमन करते ही रहना नमनपूर्वक ही आगे बढ़ना ।

नमन न करने का परिणाम

प्राचीन काल की बात है । एक पिता ने अपने पुत्र को कहा - बेटा! नित्य जिनमंदिर में जाकर प्रभु को नमस्कारादि करने चाहिये । यह बहुत ही सुंदर प्रथा है, घर के सभी लोग जाते हैं, प्रभु को नमस्कार करते हैं पर पता नहीं तू क्यों नहीं जाता ? नमस्कार सब प्रकार से हमारे लिये हितकारी है, परन्तु क्या हो ? पूर्व जन्म के घोर कर्मों के कारण पुत्र को यह बात रुचिकर नहीं लगती । वह स्वभाव से भी अविनयी, क्लेश-कषाय की वृत्तिवाला था, और पिता का सामना करने लगा उसने जिद्द पकड ली कि मंदिर तो मैं कदापि नहीं जाऊँगा, भगवान को न मैं नमस्कार करूँगा, न हाथ जोड़ूँगा । पुत्र के ऐसे विचार और व्यवहार से पिता बहुत ही दुःखी रहते थे । स्वाभाविक भी है - धर्मी आत्मा को अधर्मी का व्यवहार तनिक भी प्रिय नहीं लगता, परन्तु करें भी तो क्या करें ? संसार

बिगाड़े या सुधारें ? धर्मसंकट की स्थिति सामने थी । अविनयी उद्धत जीवों को जैसे जैसे समझाते हैं, वैसे वैसे वे जीव क्लेश कषाय की वृत्ति में अधिक दृढ बनते जाते हैं । सत्य ही कहा है कि

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।

पयः पानं भुजंगानां केवल विषवर्धनमेव ॥

जिस प्रकार सर्प को दुग्धपान करवाने से विष की ही वृद्धि होती है, उसी प्रकार मूर्खों को उपदेश देने पर क्रोध क्लेश कषाय की वृद्धि ही होती है, उनमें शांति का विकास नहीं होता । इसीलिये महापुरुषों ने समभाव के साथ माध्यस्थ भावना का अवलम्बन लेने का सुझाव दिया है ।

समझदार पिता ने पुत्र के साथ क्लेश - कषाय करना छोड़कर युक्ति से काम लिया । घर के आगे एक मंदिर का निर्माण करवाया । आगे की ओर द्वार बहुत ही छोटा और नीचा रखा, जिससे अन्दर आने वाले को सिर नीचे झुकाकर ही अन्दर आना पड़े । सिर फूटने के भय से भी यदि सिर अनिच्छापूर्वक भी झुका तो वह सम्मुख रहे हुए प्रभुजी को ही नमन करता है - ऐसा भाव आए, अतः द्वार के सम्मुख ही प्रभुजी की प्रतिमा विराजमान की और पीछे अपना घर रखा, ताकि मंदिर में होकर, प्रभुजी को नमन करके ही घर में प्रवेश हो सके । पिता की इस युक्ति से पुत्र को नमस्कार करवाने का ही भाव था । योजना बन गई ।

परन्तु कषाय वृत्ति में दुराग्रह का प्रश्न था । पुत्र भी अपने अभिमान में अडिग था । नमन नहीं करने पर वह दृढ निश्चयी था भले ही पिता ने कुछ भी किया हो । मैं तो हर्गिज नहीं नमूँगा । अविनीत अभिमानी पुत्र सिर न नमाने की वृत्ति में छोटे द्वार में से निकलते समय भी नहीं झुकूँगा अटल अडिग सीधा और अक्कड़ ही रहूँगा - इस विचार के साथ ऐसे ही द्वार में घुसने लगा कि उसका सिर पत्थर से टकराया और वह लोह-स्तुहान होकर धरा पर गिरा और गिरने के साथ ही वह मौत के मुँह में चला गया ।

अभिमान तो पतन ही करता है - इस में जरा भी शंका नहीं । इस पुत्र का जीव मृत्युपरान्त तिर्यच गति में समुद्र में जलचर मछली के रूप में उत्पन्न होता है । जीव अपने अपने कर्मों के अनुसार संबंधित गतिओं में जाते हैं - जन्म लेते हैं, काल निर्गमन करते हैं और मरकर पुनः अन्य गति में जाते हैं ।

कहते हैं कि समुद्र में सभी प्रकार की मछलियाँ होती है, एक मात्र गोल

चूड़ी के आकार की बलयाकार मछलियाँ नहीं होती, बाकी समुद्र में अन्य लाखों प्रकार की मछलियाँ होती हैं। वे मनुष्याकृति की भी होती हैं और पद्मासनस्थ जिन प्रतिमा की आकृतिवाली मछलियाँ भी संभव हैं। पुत्र का जीव जिस समुद्र में मछली हुआ, उसने एक दिन उसी समुद्र में अपने सामने जिन प्रतिमा की आकृतिवाली एक मछली देखी। वह तो आश्चर्य चकित हो गया। उसका विस्मयी मन चिन्तन करने लगा। यह क्या होगा ? क्या है ? अरे ! ऐसा तो मैंने पूर्व में कहीं देखा है ... हाँ... हाँ ... मुझे पक्का याद है। कुछ भी हो है तो पंचेन्द्रिय जीव न ? ख्याल तो आ ही जाता है। इस में भी कर्म के जो संस्कार प्रबल है। अचानक इस चिन्तन में निमित्त मिलते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया - अर्थात् पूर्व भव की स्मृति मानस पटल पर अंकित हो गई। इस स्मृति पटल पर पूर्व जन्म स्पष्ट दिखाई देने लगा। ओहो... ! अरे ! मेरे पिता ने बहुत बहुत कहा था कि बेटा भगवान को सिर झुकाकर नमन कर, परन्तु मेरा दुर्भाग्य कि मैं नहीं झुका सो नहीं झुका, नमन नहीं किया सो नहीं किया। इस प्रकार अनादर अहंवृत्ति में मैंने अपना अमूल्य जन्म बिगाड़ दिया, और आज मैं यहाँ तिर्यग्गति में मछली बना हूँ। अरे.. रे ! यदि वहीं विनम्र बन कर मैंने नमन किया होता तो यहाँ तो नहीं आना पड़ता।

भूतकाल की भूल यदि भविष्य में भी सुधर जाए तो भी लंबा भविष्य कष्टदायी - दुःख दायी नहीं बनता। आज ही सही - समुद्र में देखी हुई जिन प्रतिमा की आकृतिवाली इस मछली को ही आकृति सादृश्य से भगवान स्वरूप मान कर उसने उसे नमन करना प्रारंभ कर दिया। नमन क्रिया का प्रारंभ तो जब भी होगा तब लाभ ही होगा, जहाँ कहीं भी होगा वहाँ लाभ ही लाभ होगा। मछली के उस जीव ने अनशन पूर्वक पश्चात्ताप करते करते स्वकर्माँ का क्षय करना शुरु कर दिया और इसके परिणाम स्वरूप वह मृत्यु प्राप्त कर सद्गति में गया। भविष्य में अपना कल्याण साधा जा सकता है।

विचार करो। प्रतिमा को परमात्मा नहीं बल्कि पत्थर मानकर नमन न करने वाले, पूजन न करने वाले जीवों की कैसी गति होगी ? उन की भावदया ही मन में लानी रही। प्रतिमा तो जिनेश्वर देव की बनाई गई है। शिल्पकार ने पाषाण में से कुरद कुरदकर सुंदर प्रतिमा बनाई है। इसकी अंजनशलाका प्राण प्रतिष्ठा से प्राणारोपण आदि क्रियाएँ सम्पादित हुई हैं। कल तक जो पत्थर

हजारों के पैरों में आता था, वही पत्थर, आज प्रतिमा का रूप धारण कर हजारों लाखों लोगों द्वारा पूजित है, आज उस प्रतिमा के चरणों में हजारों लाखों के मस्तक नमन करते हैं, फिर भी प्रतिमा को पत्थर मानने की विरोधियों की, पत्थर हृदय की, पाषाण बुद्धि कितनी जड़ होगी ? ऐसे जड़ बुद्धि के जीवों के दिलों - दिमाग भी पत्थरवत् कठोर ही होते हैं, जब कि प्रतिमा में प्रभु मानकर उसकी पूजा करने वाले भक्ति प्रधान भक्त हृदय वाले कोमल होते हैं । अश्रद्धा कठोरता की जननी है, बाकि श्रद्धा भक्ति नम्रता को निमंत्रण देती है । अतः ऐसे प्रतिमा विरोधियों पर भाव दया का चिन्तन ही उपयुक्त है । हम भले ही इन्हें सुधार न सकें, परन्तु इन्हें तो कर्म सत्ता ही सुधारेगी । आज ये प्रतिमा को हाथ न जोड़े, परन्तु एक दिन तिर्यच गति में प्रतिमा की सादृश्यता देखकर उसे हाथ जोड़ेगें और इस प्रकार करके तब वे उस मछली के जीव की भाँति कुछ बोध प्राप्तकर आगे के भवों में पुनः सच्चे मार्ग पर आएंगे वे भवी जीव हैं तो संतोष मानकर उनके कल्याण की भी कामना करें ।

नमस्कार या अभिमान ।

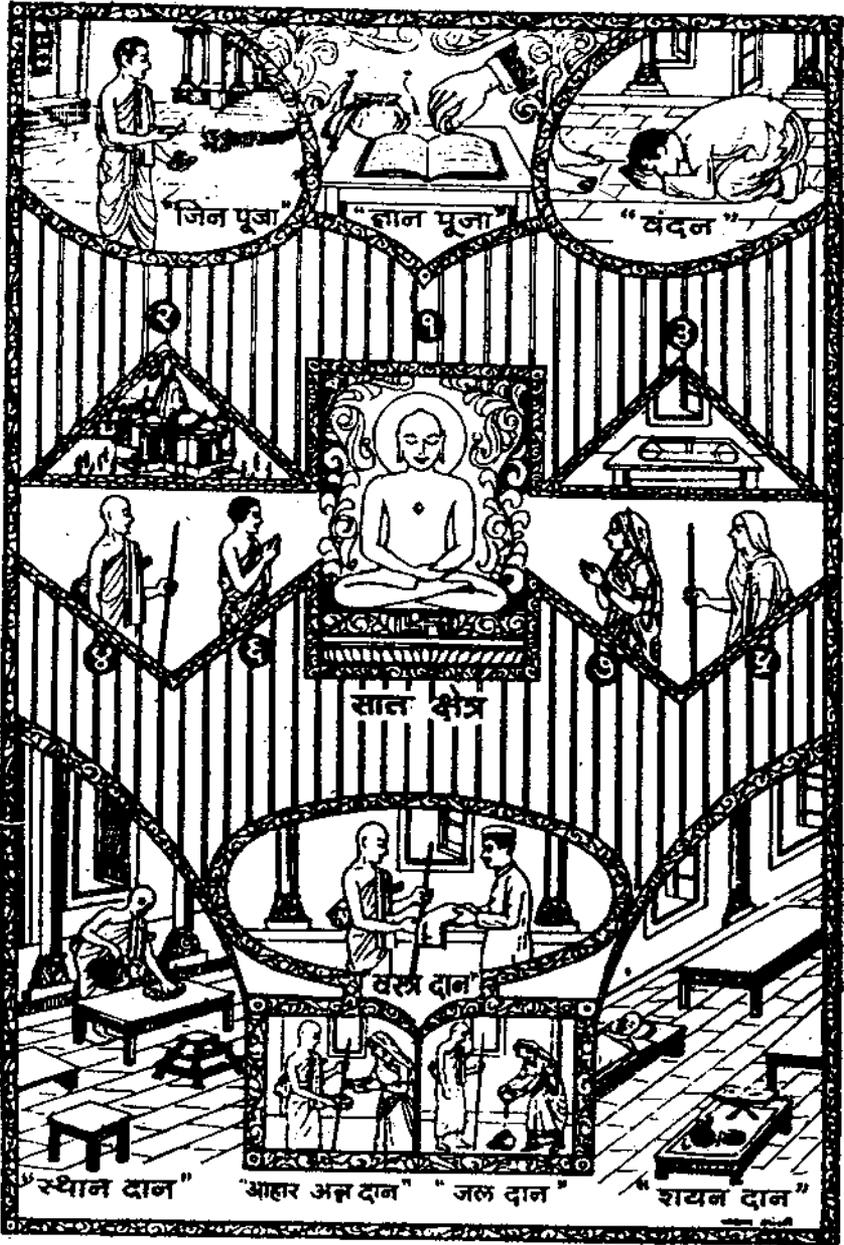
चराचर विश्व में अनादिकाल से नमस्कार और अभिमान इन दोनों के ही व्यवहार प्रचलित हैं । दोनों ही परस्पर विरोधी विपरीत धर्म हैं । एक गुण रूप है, तो दूसरा दोषरूप है, एक सदाचार है, तो दूसरा अनाचार है । संसार में जीव उभयवृत्तिवाले हैं । कई स्वभाव से ही अभिमानी होते हैं, उनका मान कषाय प्रबल होता है जब कि विरले ही स्वभाव से नम्र विनीत होते हैं । उनका मान-कषाय क्षीण हो चुका होता है । 'नमो' भाव का द्योतक नमस्कार व्यवहार जीवन में संभव हो सकता है । मूलभूत गुण की सत्ता के बिना उसके अनुरूप व्यवहार कैसे संभव हो सकता है ? नमस्कार की क्रिया में बाह्य दृष्टि से देखा जाता है, नमनकर्ता नीचे झुककर नमन करता है । नमनकर्ता नीचे जाता हुआ अथवा नीचा तो दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह जीव नीच गोत्र का अथवा नीच कुल-जाति तथा दुर्गति का नाश करके ऊपर की ओर उठता जाता है, जब कि अभिमानी जीव थोड़ी देर के लिये अक्कड़ बनकर ऊपर चढ़ता हुआ दिखाई देता है, परन्तु अन्ततः तो वह जीव नीच गोत्र कर्म बाँधकर नीच - कुल - जाति में उत्पन्न होता है, दुर्गति में गिरता है ।

अभिमान अधः पतन करवाता है, नमस्कार ऊर्ध्वगमन करवाता है । यदि हम अभिमान करेंगे तो नीचे गिरेंगे - हमारा अधः पतन होगा, और साथ ही साथ हमारे में से नमस्कारवृत्ति का अभाव हो जाएगा । नम्रता का भाव, नमो का गुण और नमस्कार वृत्ति यदि जीवन में से निकल गए तो निष्प्राण मृतक जैसी हमारी स्थिति हो जाएगी ।

यदि अभिमान अधिक सताता हो, और यह चोर हमारे घर में घुस गया है ऐसा भान हमें हो गया हो तो शीघ्रतिशीघ्र हमें नम्रता के नमो भाव से इसे बाहर निकालने का प्रयत्न करना चाहिये । नमो भाव में जागृति है - सावधानी है यह आत्मा की उपयोग दशा को जागृत करता है, जब कि अभिमान में क्लेश - कषाय की जागृति है अनुपयोग दशा प्रमाद है । नमो भाव में आत्मा की स्वभावदशा की रमणता है, जब कि अभिमान विभावदशा की वृत्ति है । नमो भाव में जीव कर्म की निर्जरा करता है, पुण्योपार्जन करता है, जब कि अभिमानवृत्ति में जीव कर्म बंधन करता है, पापोपार्जन करता है। शास्त्रों में कहा गया है कि नमस्कार से भी पुण्य बंध होता है ।

नमस्कार से पुण्य-बंध होता है :

पुण्य शुभआश्रव है । शुभ प्रवृत्ति करने वाले जीव पुण्योपार्जन करते हैं। पुण्योपार्जन करना और उपार्जित पुण्य को भोगना - दोनों ही भिन्न भिन्न बातें हैं। पुण्य का फल अवश्य ही सुख रूप हैं, परन्तु पुण्य का फल प्राप्त करने के लिये शुभाश्रयी प्रवृत्ति करके पुण्योपार्जित करना भी इतना ही आवश्यक है । यह ४२ प्रकार से भोगा जाता है, परन्तु यदि बैंक में जमाशिशि न हो तो रकम कैसे निकाली जा सकती है ? अतः पुण्य के फल की इच्छा रखने वाले का पुण्योपार्जन करना प्रथम आवश्यक है । शास्त्रों में पुण्योपार्जन करने के मुख्य नौ प्रकार - मार्ग बताए गए हैं ।



(१) योग्य पात्र को अन्न देना, (२) पात्र को जल देना (३) पात्र को रहने बैठने आदि के लिए यसति अर्थात् स्थानादि देना, (४) पात्र को सोने के लिये गद्दी-बिस्तर-पलंग-शयनादि देना, (५) वस्त्र-पात्रादि देना, (६) आगंतुकादि का किसी भी निमित्त से मनोयोगपूर्वक शुभ चिन्तन करना, (७) आगन्तुकादि के प्रति वचनयोग से स्वागतादि की शुभ-मधुर कर्णप्रिय भाषा बोलना, (८) काययोग से स्वयं सेवा - परोपकार आदि के शुभ प्रशस्त कार्य करना । (९) देव-गुरु-धर्म-संरक्षक-अग्रज, गुणवान पदस्थादि को नमस्कार करना - वंदन करना उनका सत्कार सम्मानादि करना ।

उपरोक्त जो नौ प्रकार बताए हैं उनका शुद्धाचरण करने से, शुभ प्रवृत्ति करने से पुण्य बंध होता है - पुण्योपार्जन होता है । इन नौ प्रकारों में बाह्य और आभ्यंतर दो विभाग करते हैं तो प्रथम पाँच बाह्य प्रकार हैं, जिन्हें द्रव्य पुण्य भी कहते हैं, क्यों कि इन पाँचों में द्रव्य-वस्तुएं जैसे वस्त्र, पात्र, अन्न, जल, स्थानादि देनने का उल्लेख है । इन द्रव्यों को देने से द्रव्य पुण्योपार्जन होता है परन्तु शेष चार भाव पुण्योपार्जन के मार्ग हैं । आनेवाले योग्य पात्र-सुपात्रादि को सब कुछ देते तो दे देते हैं - वस्तुएँ दे देना सरल है, परन्तु मन-वचन - और काया के योगों से शुभ चिन्तनादि करना दुष्कर है । मन में चिन्तन करना कि अति उत्तम हुआ कि आप आ गए, आनंद हुआ; वचन योग से स्वागत करना, आओ, पधारो, और काययोग से उठकर सामने जाना, आसनादि बिछा देना, योग्यआसन पर बिठाना आदि - इस प्रकार मन-वचन-काया के शुभयोगों की शुभ प्रवृत्तियां पुण्योपार्जन करवाने वाली हैं और अंत में नौवाँ अंतिम प्रकार नमस्कार पुण्य है । देव-गुरु-धर्म-सहधर्मी बंधु, अग्रज वर्ग, माता-पिता, विद्यादाता विद्यागुरुआदि को वंदन नमस्कार करना, उनका पूजनादि करना जो जिसके योग्य हो उसके अनुसार उचित वंदनादि करना भी पुण्य बंध का कार्य है ।

यदि पुण्य के हेतु से क्रिया या प्रवृत्ति की जाए तो पुण्यबंध होता है और यदि पुण्य का हेतु ही निकाल दिया जाए और कर्मक्षय-निर्जरा करने का भाव रखा हो तो निर्जरा भी होती है। जैसा हेतु वैसा कर्म । इस प्रकार नमस्कार से भाव पुण्य का बंध होता है । नमस्कार करने में रुपया-पैसा कहाँ लगता है ? तो फिर पुण्य को हाथ से क्यों जाने दें ? अतः देव-गुरुजनों को वंदन नमस्कारादि अवश्य करो।

जय जिनेन्द्र अवश्य करो :-

प्रायः जगत में अधिकांश धर्माजन जब परस्पर एक दूसरे को मिलते हैं, तब अपने अपने भगवान के नाम के साथ 'जय' शब्द जोड़कर नमस्कार भाव प्रकट करते हैं, यद्यपि स्पष्ट नमस्कार या प्रमाण शब्द बोलकर भी नमस्कार का व्यवहार किया जा सकता है, फिर भी स्वामिप्रेत भगवान का नाम जोड़कर उसके साथ 'जय' शब्द संलग्न करके नमस्कार किया जाता है। ऐसा कई लोग करते हैं - जैसे 'जय रामजी,' जय श्री कृष्ण, 'जय श्री केशरियाजी' 'जय सिताराम,' जय श्री गणेश, आदि वाक्य हिंदू धर्मावलम्बीजन परस्पर मिलने पर बोलते हैं। सिख पंजाबी 'जय सतगुरु' के नाम के साथ गुरु नानक का नाम जोड़कर बोलते हैं।

ऐसे अनेक वर्गों में ऐसा व्यवहार प्रचलित है। इसके पीछे भी ऐसी मान्यता है कि एक स्वधर्मी मिले तो उसे देखकर या उसके कारण भगवान का नाम तो इतनी बार लिया ही जाता है। इतनी बार प्रभु का नाम स्मरण होता है - अतः यह अच्छी बात है, शिष्टाचार है सभ्याचार है। व्यक्ति इस प्रकार बोलकर अपनी श्रद्धा भी व्यक्त करता है। धर्म को भी प्रकाशित करता है, साथ ही साथ स्वयं के धर्मी होने का परिचय भी देता है। अतः यह अच्छी बात है, शिष्टाचार है - सभ्याचार है। व्यक्ति इस प्रकार बोलकर अपनी श्रद्धा भी व्यक्त करता है। धर्म को भी प्रकाशित करता है, साथ ही साथ स्वयं के धर्मी होने का परिचय भी देता है। अतः यह व्यवहार उचित भी है।

तो क्या हम जैन इसका अनुकरण न करें? क्यों न करें? इसमें कौन सा बुरा हेतु है? क्या यह अशिष्टाचार असभ्याचार है? क्या इस में कोई विपरीतता है? क्या पाश्चात्य संस्कृति सूचक (Good Morning, Good Night) आदि शब्दों का व्यवहार ही उपयुक्त है? इन शब्दों के अर्थ में भी कोई आनन्द नहीं। मात्र रात या दिन का वाची शब्दों को याद करने के सिवाय इसमें और है ही क्या? परमात्मा का नाम स्मरण करने में तो आप संकोच अनुभव करते हैं, तो क्या इसे शिष्टाचार कहें? पुराने लोगों में कई बड़े वर्गों में आज भी 'जय जिनेन्द्र' बोलने की प्रथा है। परम्परागत चली आ रही प्रणाली जब बड़ों के पास नई पीढ़ी को प्राप्त होती है, तभी परम्परागत संस्कार टिक पाते हैं। 'जय जिनेन्द्र' शब्द प्रयोग में एक दूसरे को मिलते समय जिनेश्वर भगवान का स्मरण तो होता है - प्रभु को याद तो किया जाता है, इतने समय तो भगवान का शुभ नाम लिया जाता है।

किन अगम्य कारणों से कोई इस संस्कार का विरोध करके मात्र 'प्रणाम' बोलने की बात करते हैं .. इसका आशय समझ में नहीं आता । यह तो मात्र प्रथम दर्शी शिष्टाचार का व्यवहार है । कुमारपाल जैसे गुर्जरेश्वर को भी घोड़े पर जाते हुए यदि कोई जिनाज्ञा का तिलकधारी श्रावक सामने दिखाई पड़ता, तो वे तुरन्त ही अपने घोड़े पर से नीचे उतर कर स्वधर्मी सहधर्मी बन्धु को करबद्ध नमस्कार करते थे । यह शिष्टाचार तो रहना ही चाहिये - क्यों कि यह नम्र भावना का द्योतक है - नम्रता गुण को प्रकट करवाने वाला है ।

'नमो' में पूज्य भाव है :-

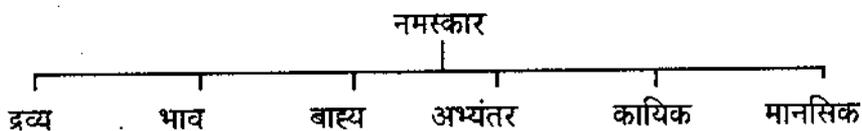
यद्यपि नमस्कार नम्रता - नम्रभाव सूचक अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ यह पूज्यभाव का द्योतक भी है । इसके द्वारा नमस्कार कर्ता नमस्करणीय के प्रति अपना आदर भाव - पूज्य भाव प्रकट करता है । नमस्कार करते समय नमस्करणीय के प्रति उसमें पूज्य भाव है - इसका परिचय वह मौन रूप से नमस्कार करके प्रकट करता है । जहाँ जहाँ पूज्य भाव हो वहाँ वहाँ नमस्कार होता है ? या जहाँ जहाँ नमस्कार होता है, वहाँ वहाँ पूज्य भाव होता है ? अधिक देशवृत्ति कौन है और न्यून देशवृत्ति कौन है ? इसी प्रकार व्याप्य - व्यापक भाव संबंध तथा अविनाभाविपन भी देखना चाहिये । नमस्कार अधिक देशवृत्ति है । पूज्य भाव न्यूनदेशवृत्ति है, अतः नमस्कार व्यापक है और पूज्यभाव व्याप्य है । नमस्कार में पूज्यभाव निहित है, परन्तु अविनाभावित्व की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट लगता है कि जहाँ जहाँ नमस्कार हो वहाँ वहाँ पूज्य भाव रहे अथवा न भी रहे, निश्चित नहीं है। रहता ही है - ऐसा हम भारपूर्वक निश्चित रूप से नहीं कह सकते हैं, क्यों कि अविनीत - उद्धत्त और मायावी जीव कपटवृत्तिसे भी नमस्कार करते हैं, कोई दिखावे मात्र के लिये नमस्कार करते हैं, कोई व्यवहार मात्र से ही नमस्कार करते हैं, कोई नमस्कार करने के खातिर ही नमस्कार करते हैं परन्तु मन से नमस्कार नहीं करते । इस प्रकार माया की कपटवृत्ति वाले जीव नमस्कार का दिखावा करके स्वार्थ साधने की तैयारी में ही रहते हैं । ऐसे नमस्कारों में पूज्य भाव नहीं होत ।

पूज्यभाव होगा, वहाँ नमस्कार अवश्य होगा । हाँ, पूज्यभाव, अहोभाव, ये नमस्कार द्योतक है । आदर भाव में नमस्कारवृत्ति अवश्य रहती है । मन में ही यदि पूज्यभाव हो और वह जीव नमस्कार न करे ऐसा कभी नहीं हो सकता । वह

तो नमस्कार किये बिना रह ही नहीं सकता है । नमस्कार मनोगत पूज्य भाव को प्रकट करने की क्रिया है, आन्तरिकभाव को प्रदर्शित करने का साधन है। व्यवहार में आने वाला है अतः व्यवहारिक स्वरूप नमस्कार को अवश्य दिया जाता है, परन्तु आभ्यन्तर कक्षा में रहे हुए पूज्य भाव का फल ही नमस्कार भाव है ।

जिस प्रकार अनुमान के लिये भूयो दर्शन का प्रत्यक्ष तथा लिंगलिंगी ज्ञान होना आवश्यक है - इसके बिना अनुमान की क्रिया पंगु है - ऐसा न्याय शास्त्र कहता है, इसी प्रकार किसी व्यक्ति विशेष में पूज्य भाव-अहो भाव अथवा आदरभाव है या नहीं - यह अनुमान करने के लिये भी प्रथमदर्शी व्यवहार स्वरूप नमस्कार का प्रत्यक्ष दर्शन उपयोगी है । अतः यह नमस्कार की क्रिया भूयोदर्शन की तरह लिंग-लिंगी ज्ञान का काम निकालेगी और उसके आधार पर पूज्य भाव का अनुमान हो सकेगा । यह नित्य नमस्कार करता है, अतः इसमें पूज्य भाव हो सकता है - ऐसा कहा जाता है, जब कि इसमें पूज्यभाव हो सकता है - इस वाक्य का प्रयोग अधिक उचित लगता है।

‘नमो’ यह मानसपूजा है -

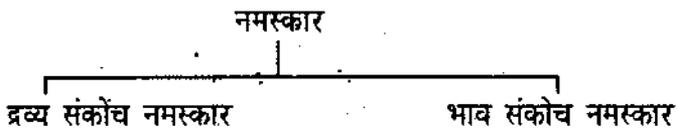


इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से हम नमस्कार के भेद कर सकते हैं। द्रव्य नमस्कार बाह्य नमस्कार है, जब कि भावनमस्कार के अर्थ में अभ्यन्तर नमस्कार है । कायिक नमस्कार क्रियात्मक है, जब कि मानसिक नमस्कार भाव नमस्कार है। मन में पूज्य भाव हो और मानस नमस्कार होता हो, तो उसे ज्ञानीजन मानस पूजा कहते हैं । कायिक नमस्कार हजार बार होने पर भी यदि भाव नमस्कार मानसपटल पर न आता हो तो वह निरर्थक है, क्यों कि नमस्कार में भावुकता का होना अत्यावश्यक है । द्रव्य तो भाव के लिये कारक है - सहायक है और कारण बनता है । भाव लाने के लिये तो द्रव्य निमित्त कारण है । भूख तो पेट में लगती है, तब खाने को मन लालायित होता है और उसके बाद खाद्य पदार्थ खाने की कायिक क्रिया होती है । इसी तरह पूज्य भाव मन में प्रकट हो जाने के पश्चात्

उस पूज्य भाव की द्योतक नमस्कार की कायिक क्रिया होनी ही चाहिये, परन्तु नमस्कार मात्र कायिक बनकर क्रियात्मक ही रह जाए और भाव कक्षा में मानस तक न पहुँचे और पूज्य भाव में यदि परिणत न हो तो उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है। पूज्य भाव पूजा को प्रकट करता है। पूज्य भाव एक गुण है, पूजा गुणात्मक है - इसका स्थान मन है और इससे भी आगे बढ़ें तो आत्मा - चेतन जीव स्वयं इस का स्थान है।

लौक व्यवहार में भी पत्रादि लिखते समय हम परम पूज्य, अद्वरणीय सम्मानीय, पूजनीय आदि शब्द लिखकर संबोधन करते हैं, क्यों कि जिन्हें पत्र लिखा जा रहा है, वे प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि दूर हैं, उन्हें भी अपने पूज्य भाव की अनुभूति हो इसलिये ऐसे सुंदर शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ये शब्द हमारे मानसिक भावों को प्रकट करते हैं कि हमारे मन में सामने वाले व्यक्ति के प्रति कितने पूज्य भाव हैं - ऐसी ही बात परमात्मा के प्रति भी है। प्रभु के दरबार में गए, वहाँ प्रभु के प्रति पूज्य भाव प्रकट करना है, पूज्यभाव मन में है उसे बाहर लाने के लिये नमस्कार का व्यवहार, नम्र भाव की गुण स्तुति, द्रव्य से पूजन, आदि जो पूज्य भाव प्रकट करने के साधन हैं, और साधन भी साधना का ही उपयोगी अंग है। साधन के बिना साधना नहीं हो सकती है। नमस्कार की साधना करनी है, उसके लिये द्रव्य नमस्कार हाथ-पाँव, मस्तक आदि साधनभूत अंग हैं, हाथ, पाँव सिर नमाकर नमस्कार करते हैं, फिर भी मनोयोग से मानस भाव पूजा पूज्यभाव में प्रकट हो वही अधिक उपयोगी है।

द्रव्य - भाव संकोच नमस्कार



इस प्रकार नमस्कार के दो भेद बताए गए हैं। द्रव्य संकोच नमस्कार में ही बाह्य का समावेश होता है। देह द्वारा कायिक नमस्कार करना भी बाह्य भेद है। आत्मा के लिये काया बाह्य तत्त्व है - बाह्य द्रव्य है और हाथ - पाँव मस्तक आदि नमाने की नमस्कार की क्रिया को भी हम द्रव्य नमस्कार ही कहेंगे। यहाँ संकोच

शब्द जोड़ा है । 'संकोच' शब्द संकुचन के अर्थ में है, सीमित करने, न्यून मात्रा में वस्तु का उपयोग करने, अनावश्यक वस्तुओं का परित्याग करने, आवश्यक में स्थिर रहने के अर्थ में है । संकोच यहाँ शोभ के अर्थ में नहीं है । द्रव्य संकोच में मात्र बाह्य द्रव्यभूत जो काया-शरीर है, उसके अंगों को संकुचित करना द्रव्य संकोच है । हाथ-पाँव आदि जो लम्बे हैं, उनका विस्तार संकुचित करके मोड़ना अंगों का संकुचन है और वही कायिक द्रव्य संकोच नमस्कार है । इसी का अर्थ होगा - हाथ - पाँव मस्तकादि पाँचों ही अंगों को संकुचित कर नमाना, अर्थात् द्रव्य संकोच नमस्कार में शरीर का संकोच हुआ, अंग संकुचित हुए, अंगों का विस्तार संकुचित हुआ अर्थात् द्रव्य नमस्कार हुआ ।

दूसरा भेद भावसंकोच नमस्कार का है । यहाँ भी संकोच का अर्थ यही रहेगा । शब्दार्थ नहीं बदलता । मात्र द्रव्य के स्थान पर भाव शब्द हैं । भाव शब्द किसी अंग या काया का संकुचन नहीं करता । द्रव्य संकोच शरीर अनुलक्षी है तो भाव संकोच मन अनुलक्षी है । द्रव्य संकोच में दिखाई देने वाले हाथ-पैर आदि बाह्य अंगों का संकुचन संभव है - यह बात तो मानने में आने जैसी है, परन्तु प्रश्न है कि भाव संकोच में किसका संकुचन करोगे ? क्यों कि बाह्य-अंगदि द्रव्य नहीं हैं अतः भाव संकोच में ~~मन~~ को लिया है, मन आभ्यन्तर है और साथ ही साथ मन भी शरीर की भाँति पौद्गलिक ही है, तो उस दृष्टि से तो मन की गणना भी भाव संकोच के बजाय द्रव्य संकोच में होगी । तब भाव संकोच में क्या बचेगा ? अतः कहते हैं कि भाव संकोच में आभ्यन्तर कक्षा के आत्म स्वरूप में रहे हुए अहंभाव अभिमान, द्वेष, मान कषाय, माया कषाय जन्य कपटवृत्ति आदि जो नमस्कार में बाधक भाववाले कषायों आदि का संकोचन करना होगा । कहने का तात्पर्य दुर्बुद्धि के भावों को बीच से निकालने होंगे, उनका संकुचन करना होगा । इस संकोच से मन में नम्रता, नमो भाव और उसके द्वारा मानस्पटल पर पूज्य भाव नमस्कार भाव प्रकट होगा । 'नमो अरिहंताणं' में आगे रखा हुआ 'नमो' शब्द अरिहंत के ऐसे दो प्रकार के नमस्कार करवाता है । द्रव्य संकोच नमस्कार में शरीर के अंग-हाथ-पाँव आदि के संकुचन पूर्वक पंचांग प्रणिपात पूर्वक नमस्कार करवाता है और इसी का भाव संकोच नमस्कार भेद मन की अशुद्धियाँ अभिमान आदि कर्म की प्रकृतियों को दूर करके नमस्कार करवाता है । इस प्रकार दोनों पद्धतियों के संयुक्त आचरण से शुद्ध कक्षा का नमस्कार होता है । इन दोनों में से

एक भी कम न करें । दोनों की पूरी आवश्यकता है ।

वंदन स्वरूप नमस्कार :

वंदन और नमस्कार समानार्थक है । मात्र संस्कृत के धातु कोष में दोनों ही वंद और नमस् धातु भिन्न भिन्न दिये हैं । नमस् धातु नमन करने के अर्थ में हैं, और वंद धातु वंदन करने के अर्थ में है । नमन और वन्दन दोनों के योगरूप से अर्थ और भाव समान ही होते हैं, फिर भी व्यवहार में वंदन को बड़े अर्थ में और नमस्कार को छोटे अर्थ में लेते देखने में आता है । अर्थात् नमस्कार की क्रिया छोटे स्वरूप में है, जब कि वंदन की क्रिया विस्तृत है । नमस्कार तो मात्र हाथ जोड़कर करें तब भी चलेगा, परन्तु वंदन की विशिष्ट क्रिया में हाथ जोड़ने के साथ साथ मस्तक नमाने की क्रिया करनी पड़ती है, इस के अतिरिक्त इसमें अर्ध शरीर भी नमाने की क्रिया भी करनी पड़ती है ।

इसी प्रकार नमस्कार की क्रिया कई बार मात्र वाचिक अथवा शाब्दिक ही बन कर रह जाती है । उदाहरण के लिये नमस्ते, नमस्कार, प्रणाम आदि शब्द बोलकर चलते बने, अथवा चलते चलते ही बोल गए तो चलता है, जब कि वंदन में विधिपूर्वक खमासमण आदि देने पड़ते हैं । वंदन मात्र शाब्दिक नहीं, परन्तु वह तो क्रियात्मक होता है, वंदन करता हूँ. वंदन कर रहा हूँ, वंदामि - इस प्रकार क्रियात्मकता वंदन में सिद्ध होती है ।

इसी प्रकार नमस्कार भी कई बार संकेतात्मक सांकेतिक हो जाता है - संकेतमात्र में हो जाता है जिनमें वाचिक शब्द भी नहीं होते, मात्र हाथ ऊंचा करके दिखाते जाते हैं, अथवा मात्र मस्तक झुकाते चलते रहते हैं । बस, ट्रेन अथवा स्कूटर पर जाते जाते किसी को हाथ ऊंचा करके इशारा करते हुए आगे बढ़ जाते हैं, स्कूटर पर जाते जाते किसी को सिर झुकाते जाते हैं, मंदिर के सामने से निकलना होता है तो सिर नमा देते हैं अथवा हाथ जोड़ देते हैं, तब वाचा या मानसिकता गौण बन जाती है; जब कि वंदन तो अपनी निर्धारित क्रिया के अनुसार ही होगा । उसमें तो स्कूटर या गाड़ी को रोकना पड़ता है, नीचे उतरना पड़ता है, गुरु महाराज के सम्मुख विधिपूर्वक खमासमणा आदि देकर सूत्रों के शाब्दिक उच्चारण पूर्वक वंदन करना पड़ता है, अग्रज, बंधु माता पितादि दूसरी ओर जाते हों और हम उन्हें इस ओर से देखते हैं और नमस्कार के बजाय वंदन

करने की इच्छा हो तो सामने जाकर हाथ जोड़कर फिर उनके चरण स्पर्श करके मस्तक पर चढ़ाते हैं। लोक व्यवहारमें इसे वंदन होना कहते हैं, कि पुत्र ने पिता को वंदन किया,, भाविक आत्माओं ने गुरु महाराज को वंदन किया।

नमस्कार से वंदन में प्रवेश

नमस्कार प्रथम दर्शी क्रिया है, जब कि वंदन उत्तरवर्ती क्रिया है। नमस्कार संक्षिप्त स्वरूप में है, जब कि वंदन विस्तृत स्वरूप में है। नमस्कार अल्प शब्दात्मक अल्प सूत्रात्मक है, जब कि वंदन अधिक शब्दात्मक, अधिक सूत्रात्मक है। नमस्कार अर्थ द्रव्य संकोचात्मक है, जब कि वंदन पूर्ण द्रव्य संकोचात्मक है। नमस्कार में सभी अंग नहीं झुकते, जबकि वंदन में सर्वांग झुकने चाहिये। नमस्कार और वंदन में बाह्योपचार देखते हुए इस प्रकार हमें अन्तर लगेगा - यह स्वाभाविक है अतः नमस्कार सामान्य स्वरूप में है जब कि वंदन विशेष स्वरूप में है नमस्कार को बार बार घोटकर फिर उसमें से वंदन की क्रिया बनाई गई है - अर्थात् ऐसा कह सकते हैं कि नमस्कार में से वंदन में जा सकते हैं। नमस्कार तो अभी प्राथमिक स्तर पर है, जब कि वंदन शिक्षा के अन्तिम वर्ष में है। बच्चे के लिये नमस्कार सरल रहेगा, उसके लिये वंदन कठिन कार्य होगा। इस प्रकार नमस्कार की अपेक्षा वंदन कई प्रकार से बढ़कर माना जाता है, उच्च कोटि का माना जाता है।

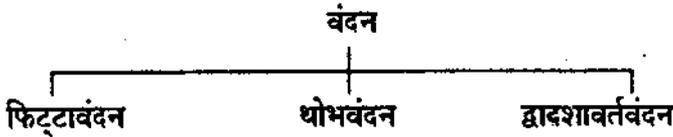
प्रश्न ऐसा होगा कि फिर नवकार महामंत्र में नमो शब्द का प्रयोग क्यों किया है ? यदि नमस्कार की अपेक्षा वंदन कई प्रकार से बढ़कर है, तो फिर वंदन शब्द का ही प्रयोग होना चाहिये था परन्तु ऐसा भी नहीं है। जैसा कि हम पूर्व में ही विचार कर चुके हैं कि नमस्कार और वंदन दोनों ही समानार्थक धातु हैं, समस्वभावी शब्द हैं दोनों ही शब्द समान अर्थ सूचन करते हैं। क्रियात्मकता के कारण दोनों में भेद दिखता है, परन्तु वंदन कई अपेक्षाओं से पीछे रह जाता है। अपेक्षा बदलने पर ख्याल आएगा कि वंदन में क्रिया की प्रधानता है, जब कि नमस्कार में भाव की प्रधानता है। वंदन जब कायिक क्रिया में रहेगा, तब नमो का विनम्र भाव मानसपटल पर रहेगा। नमो भाव आत्मि गुण है, जब कि वंदन कायिक क्रियात्मक स्वरूप में अधिक रहेगा। यदि वंदन चलने वाला घोड़ा है, तो नमस्कार उसकी लगाम हाथ में रखकर उस पर बैठा हुआ मालि है। भावनात्मकता

में नमो भा रहना आवश्यक है इस प्रकार जब जब अपेक्षाएँ बदलती रहेंगी, तब तब उस दृष्टिकोण से देखने पर दोनों की महत्ता भिन्न भिन्न प्रकार से समझ में आती रहेगी ।

वंदन के प्रकार :

गुरुवंदण - मह - तिविहं, तं फिट्टा छोभ बारसावतं ।

सिरनमणाईसु पढमं, पुण्ण खमासमण दुगि बीअं ॥१॥



गुरुवंदन भाष्य की इस प्रथम गाथा में उपरोक्त तीन प्रकार के वंदन बताए गए हैं । यद्यपि यहाँ गुरुवंदन में विवक्षा गुरुवंदन की है, फिर भी देव गुरु-धर्म और धर्मोपकरण तथा व्यवहारादि में वंदन प्रसिद्ध और प्रचलित है। फिर भी व्यवहार में जो प्रसिद्ध रीति है उसके अनुसार हमने नमस्कार और वंदन दोनों को देव और गुरु दोनों में बाँट रखा है अर्थात् देव में नमस्कार की प्रधानता रख कर हम उन्हें नमस्कार करते हैं, जब कि गुरु में वंदन की प्रधानता रखकर गुरु को वंदन करते हैं । किसी को भी कहते हुए भाषा के व्यवहार में इस प्रकार प्रचलितता आ गई है । दादा को, भगवान को नमस्कार करके आओ और उपाश्रय जाकर गुरुवंदन करके आओ, गुरु वंदन किया ? भगवान को नमस्कार किया ? इस प्रकार के व्यवहार से दोनों के बीच वंदन विधि को बाँट दिया हो - ऐसा लगता है। जैसे कि द्वादशावर्त वंदन मात्रगुरु को ही किया जाता है - यही वंदन मंदिर में प्रभु को नहीं किया जाता, परन्तु वास्तवमें ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं है ।

जो खमासमण क्षमाश्रमण गुरु को किया जाता है वही सूत्र बोलकर भगवान को भी नमस्कार किया जाता है । यह एक ही सूत्र देव और गुरु दोनों को तथा धर्म और धर्मोपकरण को वंदन करते समय बोलकर खमासमण दिया जाता है । इस में कुछ भी गलत नहीं है । इस में ननमस्कार भाव है और नम्रता तथा विनय की प्रवृत्ति है ।

यहाँ तीन प्रकार के वंदन कहे गए हैं जिनमें प्रथम फिट्टावंदन है । फिट्टावंदन

में सिरनमणाइसु पढमं मस्तक नमाकर वन्दन किया जाता है । राजस्थान भाषा में साफा था पगडी जिसे कहते हैं, वही गुजराती भाषा में फेंटा कहलाता है, अतः



उस फेंटे को हटाकर जो वंदन किया जाता है उसे फेंटा वंदन - फिट्टावंदन कहते हैं । फेंटा, साफा पगड़ी अथवा हेट-टोपी आदि अहंभाव सूचक बडप्पन सूचक साधन हैं । इन्हें सिर पर रखकर नमस्कार वंदनादि करने में दोष है । जिस प्रकार एक म्यान में दो तलवारें एक साथ नहीं रह सकती उसी प्रकार परस्पर विरुद्ध धर्म नमस्कार और अभिमान दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ? संभव ही नहीं है । नमस्कार नम्रता सूचक है । यह नमोभाव का प्रदर्शन करता है । नमस्कार करते समय अहंकारसूचक साधन पास में रखना शोभा नहीं देता । स्वाभाविक है कि दोनों में से एक की सत्ता प्रधान पद पर रहेगी ही ।

अतः फेंटा-साफा-पगड़ी टोपी आदि साधन हटाकर फिर सिर झुकाकर नमस्कार करना फेंटा वंदन - फिट्टावंदन कहलाता है । यहाँ क्रिया नमस्कार की और नाम वंदन का कहलाता है ।

इसी अर्थ में 'मत्थण वंदामि' कहलाता है । प्राकृत शब्द का संस्कृत



रूपान्तर 'मस्तकेन वंदामि' है अर्थात् मस्तक नमाकर वन्दन करता हूँ । इसमें मस्तक नमाने की क्रिया नमस्कार द्योतक है । मस्तक के द्वारा का अर्थ ही मस्तक नमाना करें । नमस्कार की क्रिया है, परन्तु समग्र क्रिया को वंदन में ले गए हैं - यह इस बात का सूचक है कि नमस्कार भी वंदनार्थक है और वंदन भी नमस्कारार्थक है । 'मत्थण वंदामि' और सिरनमणाइसु इन दोनों में रचना का भेद है । वैसे अर्थ दोनों का एक ही है ।

(२) थोभवंदन - 'खमासमण दुगि बीयं वंदन का दूसरा भेद थोभवंदन बताया गया है । यह थोभवंदन खमासमणपूर्वक होता है ।



वास्तव में तो खमासमण अर्थात् क्षमाश्रमण होता है। खमासमण प्राकृत भाषा का शब्द है। प्राकृत भाषा में 'श्र' और 'श' का उपयोग नहीं होता, अर्थात् मूर्धन्य 'ष' और तालव्य 'श' इन दोनों का प्राकृत भाषा में उपयोग नहीं होता है। इनका उपयोग संस्कृत भाषा में अवश्य होता है। संस्कृत भाषा में 'श' 'ष' और 'स' तीनों ही सकार प्रयुक्त होते हैं, जब कि प्राकृत भाषा में मात्र एक दन्त्य सकार ही प्रयुक्त होता है और 'श्र' में 'स' और 'र' संयुक्त हैं, अतः ऐसे संयुक्ताक्षर जिनमें विजातीय का मिश्रण होता है ऐसे संयुक्त अक्षर प्राकृत भाषा में प्रयुक्त नहीं होते

हैं। वहाँ श्री के स्थान पर "सिरि" का प्रयोग होता है।

संस्कृत क्षमा + श्रमण = क्षमाश्रमण शब्द हैं। क्षमा के धारक श्रमण अर्थात् साधु महात्मा को वंदन करना है। खमासमण वंदन सूत्र होने से इसे थोभ वंदन सूत्र कहते हैं, परन्तु आद्य शब्द प्रथमाक्षरी नामकरण की पद्धति के अनुसार इसका नाम खमासमण हो गया है। उच्चारण में अपभ्रंश करें तो यह 'खमासणु' कहलाता है। १२ खमासमणे देने हैं ऐसा बोला जाता है।

वास्तव में थोभवंदन को "पंचांग प्रणिपात" कहते हैं। पाँच अंग झुकाकर नमाकर दिये जाने वाले वंदन को पंचांग प्रणिपात कहते हैं। ये पंचांग अर्थात् पाँच अंग इस प्रकार हैं दो पाँव, घुटने, दो हाथ-कोहनी और एक मस्तक। इस वंदन में ये पाँचो ही अंग क्रमशः झुकते जाते हैं और वंदन किया जाता है, परन्तु इस प्रकार के वंदन में भी प्रथम फिट्टा वंदन की मुद्रा आ जानी चाहिये। पंचांग प्रणिपात को ही खमासमणा कहते हैं। यह सूत्र और इसका अर्थ इस प्रकार है -

इच्छामि खमासमणो वंदिदुं जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामी ।

इसे थोभवंदन सूत्र कहते हैं। इस के अर्थ का वर्णन करें तो इस प्रकार होता है - 'हे क्षमादि गुणों के धारक श्रमण अर्थात् साधु भगवंत ! शक्तिपूर्वक आपको सुख-शांता पूछकर अविनय आशातनादि पापवृत्ति का त्याग करके मस्तक झुकाकर आपको वंदन करता हूँ। शरीर के पाँचों ही अँगों क्रमशः पाव हाथ सिर

नमाने की क्रिया करने के साथ साथ सूत्र पाठ बोलते हुए झुकना चाहिये । इस वंदन की यह रीति है इस में काय योग अर्थात् क्रियात्मकरीति से अंग नमाते हुए और वचन योग - अर्थात् सूत्रोच्चार पूर्वक तथा मनोयोग अर्थात् नम्रता नमोभावपूर्वक इस प्रकार तीनों ही मन वचन, और काया के त्रिकरण योग पूर्वक यह वंदन नमस्कार किया जाता है ।



(३) द्वादशावर्त वंदन

द्वादश, अर्थात् १२ बारह और आवर्त अर्थात् गोलाकार फिराते हुए 'अहो कायं काय संफासं' बोलते हुए हाथ चरण से मस्तक तक स्पर्श करवाते हुए वांदणां लेते समय जो किया जाता है वह आवर्त । प्रथम वांदणां वन्दन में अहो, कायं, काय- संफास के तीन आवर्त और जप्ता भे ! जवणि ज्जंचभे! में भी तीन आवर्त इस प्रकार प्रथम बार वांदणां लेते समय अर्थात् वंदन करते समय 'सुगुरु' वंदण सूत्र में बोले जाने वाले ६ आवर्त होंगे जो $3 + 3 + 3 + 3 = 12$ आवर्त होंगे। इन बारह आवर्तोंको ध्यान में

रखकर इन्हें क्रियात्मक रूप देते हुए जो वंदन किया जाता है उसे द्वादशावर्त वंदन कहते हैं । यह तीसरे प्रकार का अन्तिम विस्तृत वंदन है । उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के वंदन किन्हें कैसे किये जाते हैं यह बात गुरुवंदन भाष्यकार स्वयं निम्न लिखित गाथा से बताते हैं :

तइयं तु छंदण दुगे, तत्थ मिहो आइमं सयल संघे ।

बीयं तुं देसणीण च, पयड्डियाणं च तइयं तु ॥४॥

तीसरा द्वादशावर्त वंदन दो वंदन पूर्वक होता है । इन तीन प्रकार के वंदनों में प्रथम फिट्टा वंदन मस्तक नमाने से, हाथ जोड़कर अंजलि पूर्वक तथा पाँच अंगोमें से १-२ अंग यथोचित ढंग से नमाते हुए किया जाता है । यह फिट्टावंदन श्री चतुर्विध संघ में चारों ही वर्ग परस्पर करते हैं । दूसरा पंचांग प्रणिपात खमासमणा पूज्य साधु-साध्वी को किया जाता है और तीसरा द्वादशावर्त वंदन

“पयद्वियाणं च तइयं तुं” पद पर बिराजमान मुनिजनों को किया जाता है। वह पद कहते हैं -

आयरिय उवज्जाए, पवत्ति थेरे तहेव रयणिए ।

किइकम्म निज्जरट्ठा, कायव्वमिमेसिं पंचण्हं ॥१३॥

आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, और रत्नादि पदविओं के धारक महात्माओं को स्व कर्म निर्जरार्थ यह तीसरा द्वादशावर्त वंदन किया जाता है।

इस प्रकार नमस्कार से भी विशेष विधियुक्त जो वंदन कहलाते हैं - वे कैसे करें और किन्हें करें ? उनके अधिकारी आदि कौन - आदि बातें हमें कही गई हैं।

विनय की परम्परा :-

नमस्कार और वंदन ये विनयगुण के प्रतीक हैं द्योतक हैं। इनका योगफल विनयगुण है, विनम्रता का भाव है। जीव अपना विनम्र भाव प्रदर्शित कर सकता है, और इन वन्दन नमस्कार में जीव के विनम्र भाव, विनयगुण की योग्यता पात्रता, नम्रता की पहचान है - परिचय है। हमें विनयी बनना है या अविनयी-उद्धत होना है ? नमस्कार करने वाला बनना है या तिरस्कारकर्ता बनना है ? गुणवान है या दोषयुक्त बनना है ?

दोषयुक्त क्यों बने ? इस में प्रारंभ में अपना कभी भी किसी प्रकार का लाभ नहीं है, जब कि विनयादि के आचरण में तो अनेक लाभ रहे हुए हैं। अतः विनयगुण की प्रशंसा शास्त्रकार महर्षियों ने खूब की हैं। इतना ही नहीं, इसे प्राथमिक आवश्यकता मानकर आचारकी श्रेणी में ही रख दिया है और कहा है कि :-

आचारस्स उ मूलं, विणओ सो गुणवओ य पडिवत्ती ।

सा य विहि - वंदणाओ, विही इमो बारसावत्ते ता ॥३॥

गुरुवंदन भण्ड्य की इस गाथा में कहते हैं कि “आचार धर्म” का मूल विनय है, और यह विनय गुणवान गुरु की भक्तिस्वरूप है। गुणवंत गुरु की ऐसी भक्ति विधिपूर्वक वंदना करने से होती है और यह विधि इस द्वादशावर्त वंदनादि में कथित है। इसमें क्रमशः बताया हुआ है कि आचार का प्रथम मूल विनय गुण है और विनय गुण से गुरु भक्ति विधिपूर्वक वंदन से होती है।

इस प्रकार वंदन में विनयगुण की सत्ता दिखाई गई है। यदि विनय गुण

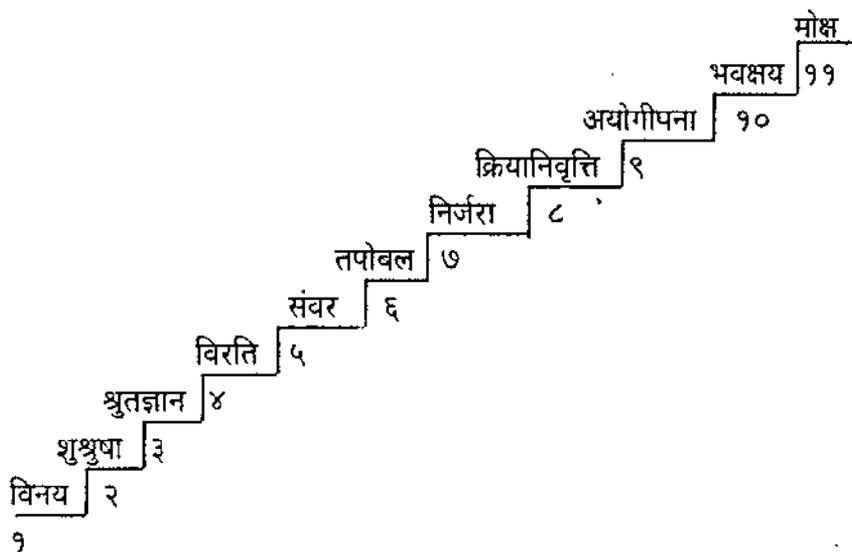
होगा तो वंदन अवश्य होगा, परन्तु मात्र वंदन की क्रिया हो और विनय गुण न हो तो क्रिया - क्रिया की दृष्टि से होगी, परन्तु आत्मा को कर्म निर्जरा का लाभ नहीं मिलेगा । अतः धर्म क्षेत्र में सर्व प्रथम विनय गुण की आवश्यकता गिनी है। कहा है कि धर्म के क्षेत्र में सर्व प्रथम वंदन नमस्कारादि ही मूलभूत हैं - प्रथम आवश्यकता इन्हीं की है ।

यद्यपि विनय गुण सर्व प्रथम गुण है और एक विनय गुण की प्राप्ति से ही प्रगति करते करते क्रमशः मोक्ष तक पहुँच सकते हैं । अतः विनय से मोक्ष तक गुणों की सीढ़ी बताई है, जिस पर एक एक सोपान गुणात्मक रीति से आगे बढ़ना संभव है - इस भाव को प्रशमरत्निकार पूज्य उमास्वाति वाचक -वर्य ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है :

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
 ज्ञानस्य फलं विरति विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥७२॥
 संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टमं ।
 तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रिया निवृत्तेरयोगित्वम् ॥७३॥
 योग निरोधात् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
 तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥७४॥

विनय गुण का फल शुश्रूषा अर्थात् शास्त्रादि का श्रवण मिलता है और ऐसे सुंदर ढंग से विनयपूर्वक गुरु भगवंतों के समीप शास्त्रादि का श्रवणकरने से श्रुत-ज्ञान अर्थात् आगमों का ज्ञान प्राप्त होता है । ऐसे श्रुतज्ञान की उपासना से विरति की प्राप्ति होती है । इस विरति से आश्रवमार्ग जिसके द्वारा पापों का आगमन होता है और कर्मबन्धन होता है, वह अवरुद्ध होता है और संवर भाव की प्राप्ति होती है । ऐसे संवर भाव से तप गुण प्रकट होता है और तप से निर्जरा होती है। तप घोर कर्मों की निर्जरा का प्रबल कारण है । निर्जरा द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्मा क्रिया से निवृत्त होती है । ऐसी क्रिया निवृत्ति से बहुत आगे चढ़ता हुआ जीव योग निरोध करता है । बस योग निरोध होने से जो भवरूपी संसार है - परिभ्रमण है उस भव परम्परा की निवृत्ति होती है और अन्त में भव परम्परा की ही समाप्ति हो जाती है अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है । इस प्रकार एक मात्र विनय गुण की प्राप्ति से उपासना से प्रगति करते करते अन्ततः जीव मोक्ष तक पहुँच जाता है । अतः कल्याण की परम्परा का यह श्रेष्ठ भाजन अथवा पात्र

विनयगुण है । विनयगुण ही मोक्ष तक की श्रेणी इसी प्रकार संभव है ।



इस प्रकार विनय गुण की प्राप्ति से उत्तरोत्तर मोक्ष की सीढ़ी पर जीव आगे से आगे विकास करता ही जाता है और एक में से दूसरा फल प्राप्त करता जाता है । एक का फल आगे दूसरे के लिये क्रियारूप कारण बन जाता है और फिर वही कारण क्रियारूप बनकर आगे के फल में परिणत होता है। इस प्रकार क्रमशः जीव मोक्ष तक पहुँच जाता है । विनय गुण की यह परम्परा है । बात तो बिल्कुल सही है । इतने सारे गुणों का आधार विनय पर है, परन्तु विनय का आधार किस पर है ? तो कहना ही पड़ेगा कि विनय गुण का आधार नमस्कार और वंदन पर है ।

विनय नमो भाव की दृष्टि से गुणप्रधान है और यह विनय गुण नमस्कार और वंदन की क्रिया पर आधारित है, अतः विनय क्रियात्मक सक्रिय है । नमस्कार और वंदन उसकी क्रियाएँ हैं । गुण का ही आचरण वह क्रिया बन जाती है और क्रिया कार्य बनती है, क्रिया फल दिलवती है । नमस्कार और वंदन की क्रियाएँ विनय का फल दिलवाएंगी फिर विनय का गुण घोटते घोटते आगे बढ़ते ऊपर ऊपर के विशिष्ट गुण प्राप्त होंगे । उस प्रकार नमस्कार वंदन की क्रिया महत्वपूर्ण है और यही विनय तक पहुँचाती है । एक बार मोक्ष की सीढ़ी तक पहुँचना आवश्यक है, फिर तो चढ़ना ही चढ़ना है । चढ़ने के लिये पहुँचना और

पहुँचने के लिये नमो भाव.... नमस्कार प्रवृत्ति - वंदन की क्रियादि सहायक हैं ।

एक बात निश्चित है कि सम्पूर्ण आधार विनय गुण पर हैं । मोक्ष प्राप्ति का मूलबीज विनय गुण है । जिस प्रकार बीज में से फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार विनय बीज में से मोक्ष का फल प्राप्त होता है । विनय गुण पर बहुत बड़ा आधार है ।

विनय से शोभा है :-

कुल रूप वचन - यौवन - धन मित्रैश्वर्यसंपदापि पुंसाम् ।

विनय - प्रशम - विहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥ ६७॥

न तथा सुमहार्धरपि वस्त्राभरणैरलंकृतो भाति ।

श्रुत-शील-मूल-निकषो विनीत विनयो यथा भाति ॥६८॥

अपना कुल, रूप, वचन, यौवन, धन सम्पत्ति, मित्र और ऐश्वर्य संपत्ति का ठाठ ये सभी विनय और प्रशम भाव के बिना शोभायमान नहीं होते हैं। जिस प्रकार नीर विहीन नदी शोभित नहीं होती, उसी प्रकार कुल, रूप आदि सभी विनय से ही शोभित होते हैं, अर्थात् विनय गुण विनम्र भाव-स्वभाव के बिना इस कुल आदि का कुछ भी मूल्य नहीं है। इसी प्रकार आजकल लोग वस्त्रों और अलंकारों से अपनी शोभा की वृद्धि हेतु प्रयत्नशील रहते हैं, परन्तु वास्तव में व्यक्ति की शोभा वस्त्र और अलंकार से नहीं, बल्कि श्रुत और शील की कसौटी के पाषाण रूपी विनय गुण से होती है । अर्थात् शोभा गुण से होती है, बाह्य दिखावों से नहीं । वस्त्राभूषण तो मात्र बाह्य शरीर की शोभा में वृद्धि करेंगे, पर आत्मा की शोभा कौन बढ़ाएगा ? विनयादि गुणरहित व्यक्तियों की शोभा नहीं होती है ।

‘नमो’ में चुंबकीय स्थिति :

नमस्कार भाव में और नमो गुण में Magnetic energy चुंबकीय शक्ति है। जिस प्रकार एक चुंबक अपने चारों ओर फैले हुए लोह-कणों को आकर्षित कर लेता है, इसी प्रकार नमो भाव से विकसित हुआ विनय गुण भी चुंबक बन जाता है । उसका काम चारों ओर के सभी गुणों को आकर्षित कर खींच लेना है । इससे विपरीत यदि व्यक्ति में अभिमान अथवा अविनय आदि दुर्गुण हों तो वे दुर्गुण उतने

ही गुणों को निकाल फेंकता है और जीवन को खोखला बना डालता है। अतः नमस्कार भाव में चुंबकीय शक्ति है।

नमस्कार का ऐसा नियम है कि जीव जिसे नमन करता है उस नमस्करणीय के गुणों को वह अपने अन्दर खींच लेता है। अन्य के गुणों को खींचकर अपने अन्दर लाना, अथवा अन्य में दिखाई पड़ने वाले गुणों के प्रति अपने को लुभाने आकर्षित करने का कार्य यह नमो भाव-नम्रता गुण करता है। अतः नवकार महामंत्र कहता है कि गुणवान को नमो, गुणों को नमो। नवकार में ऐसे गुणवान् पाँच-पाँच परमेष्ठि हैं। उनके गुण भी अधिक हैं।

१)	अरिहंत के	१२ गुण
२)	सिद्ध के	८ गुण
३)	आचार्य के	३६ गुण
४)	उपाध्याय के	२५ गुण
५)	साधु पद के	२७ गुण
	पंच परमेष्ठि के कुल		१०८ गुण हैं।

ऐसे महान गुणों के धारक अपने पंच परमेष्ठि भगवंत हैं। उन्हें हम नमन करते हैं नमस्कार करते हैं। अपना नमस्कार एक और इनके गुण कितने? गुण अनेक हैं, और ऐसे अनेक गुण अपने एक नमस्कार से आकर्षित होकर हमारे में आते हैं। 'नमो' भाव की कितनी बड़ी चुंबकीय शक्ति कहलाती है? इसे हम एक प्रकार का (Magnetic Force या Magnetic Energy) नाम दे सकते हैं - यह चुंबकीय शक्ति आकर्षण का कार्य करती है।

आकर्षण भी सजातीय का होता है - विजातीय का नहीं हो सकता। लोहचुंबक जिस प्रकार लोहकण Iron particles को ही आकर्षित कर सकता है, पत्थर अथवा पीतल को आकर्षित नहीं कर सकता, उसी प्रकार नमन - नमस्कारकर्ता साधक जो नमस्करणीय हैं उन्हीं को नमन करता है। उन नमस्करणीय के गुण ही हमारे में आते हैं। उन्हीं के गुणों का आकर्षण होगा। गुण सजातीय हैं। नमस्करणीय परमेष्ठि परमात्मा भी आत्मा हैं और नमन करने वाले हम भी आत्मा ही हैं। आत्मा की दृष्टि से हम दोनों सजातीय कहलाते हैं और आत्मगुणों की दृष्टि से भी सादृश्यता के योग से हम सजातीय कहलाते हैं। अरिहंत सिद्धादि परमेष्ठि आत्म स्वरूप हैं वे परमात्मा हैं और हम नमन करने वाले पामर आत्मा

हैं, भले ही हम पामर है परन्तु आत्म स्वरूप से तो दोनों में एकरूपता है, दोनों ही आत्म स्वरूप हैं । द्रव्य से तो एक रूपता सादृश्य है तो फिर गुण की दृष्टि से भी विपरीतता तो न होनी चाहीये । आत्मा के ही गुण आत्मा में आते हैं - जड़ के गुण चेतन में नहीं आते है, न चेतन के गुण जड़ में जाते हैं । यह संक्रमण नहीं होता अतः यह जगत का दृढ नियम है - शाश्वत सिद्धान्त है अतः नमो - नमस्कार में रही हुई चुंबकीय शक्ति नमस्करणीय के गुणों को ही आकर्षण करेगी ।

नमस्कार की चुंबकीय शक्ति मात्र गुणों का ही आकर्षण करती है - ऐसी बात नहीं है, बल्कि साथ ही साथ यह अरिहंतादि पंच परमेष्ठि भगवंतो का भी आकर्षण करती है । हमें इनके व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित करती है। इस में उभयाकर्षक शक्ति है । यदि हमारा आकर्षण उनके प्रति बढे तो हम अन्य सांसारिक पदार्थों को भूलकर अथवा जगत की अन्य व्यक्तियों को भूलकर मात्र उनकी ओर ही आकर्षित हों, फिर अन्य ओर जाने या नमन करने की आवश्यकता भी न रहे । इसी प्रकार विचार करें तो लगेगा कि इनके गुणों का आकर्षण यदि बढे तो इनके सिवाय अन्य किसी के भी गुणों के प्रति हमारा आकर्षण कभी भी नहीं बढेगा । इसकी आवश्यकता भी नहीं रहेगी, क्यों कि ग्राह्य गुण जो भी इस जगत में है वे सभी गुण इन परमेष्ठि भगवंतो में ही हैं अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं । अन्यत्र थोड़े - बहुत भी नाम मात्र दिखाई पड़ेंगे तो भी वे गुण संपूर्ण रूप से विकसित दिखाई नहीं पड़ेंगे अतः हमे इतने अद्भूत गुणों का खजाना इस नवकार महामंत्र में बिराजमान नमस्करणीय अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों में ही प्राप्त हो चुका है तो फिर अन्यत्र भटकने की क्या आवश्यकता है ? अन्यत्र देखने जानने की भी आवश्यकता क्यों होने लगी ? जरा भी नहीं । जीव को समझाना पड़ेगा कि हे जीव! जो कुछ भी है वह इस परमेष्ठि नमस्कार स्वरूप नवकार महामंत्र में ही है, इसी में निहित है । नवकार से बाहर कहीं भी कुछ भी नहीं है । जगत में भी कहीं नहीं है, अर्थात् नवकार महामंत्र में गुण और गुणी सभी विद्यमान हैं ।

नवकार में गुणानुराग है :

राग और राग को अनुसरण करने वाला, राग के पीछे पीछे चलनेवाला अनुराग है, और वह भी गुणानुराग अर्थात् गुणों का अनुसरण करने वाला गुणानुराग कहलाता है । नमस्कारकर्ता गुणी है या नहीं, परन्तु नमस्करणीय जो

गुणी महात्मा हैं, उनके प्रति जो गुणानुराग है उसके कारण स्वयं नमन करने वाला गुणी कहलाता है, क्यों कि किसी के गुण देखने गुण ग्रहण करने का भाव भी गुण है - इस अपेक्षा से नमनकर्ता भी गुणवान है - गुणी है और वह जिन्हे नमन कर रहा है वे नमस्करणीय भी गुणी हैं । उभय पक्ष में गुणसत्ता होने से सादृश्यता आती है । इस प्रकार नमस्कारकर्ता को भी इस बात पर गर्व करना है कि अन्ततः तो मैं भी इन्हीं की श्रेणी में आता हूँ । इन्हीं की जाति का हूँ । आज मैं एक गुण वाला हूँ और ये परमेष्ठि गण अनंत गुणमय हैं, तो एक दिन मैं भी इन्हीं के समान अनंत गुणों का धारक बन सकूँगा ।

इसके लिये आवश्यकता है गुणानुराग के पोषण व विकास की । और गुणानुराग के लिये नमस्कार की प्रवृत्ति अत्यन्त उपयोगी और आवश्यक है । जिस किसी को भी गुणानुराग विकसित करना हो, उसे 'नमो' नमस्कार की वृत्ति प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिये । जिस प्रकार सूर्य के बिना दिन टिक नहीं सकता, सूर्य हो तभी दिन टिक सकता है, उसी प्रकार नमस्कार के बिना गुणानुराग टिक नहीं सकता । नमस्कार वृत्ति नमोभाव हो तभी गुणानुराग टिक सकता है । गुणानुरागीपन ही विनम्र भाव है - विनयी वृत्ति है ।

मात्र गुणों के प्रति अनुराग जग जाए, गुण प्रिय लगने लग जाएँ फिर तो उन गुणों को स्व जीवन में लाया जाए या नहीं ? देखने में सुन्दर लगे. गुण अच्छे हैं, मात्र इतना कहना ही पर्याप्त नहीं होता । जो अच्छे लगे हैं, जो गुण प्रिय हैं उन्हें तो फिर स्वीकार करना ही चाहिये जीवन में उतारना ही चाहिये प्रश्न है उन्हें आत्मसात् कैसे करे ? कहते हैं कि इसके लिये नमो वृत्ति नमोभाव ही उपयोगी होगा । नमस्कार भाव हमें नमस्करणीय व्यक्ति के अधिक निकट ले जाएगा । हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इन्होंने अपने जीवन में ये गुण किस प्रकार विकसाए हैं ? इसी प्रकार हमें भी इन गुणों के विकास की कला सीखने को मिलेगी । गुणानुराग जागृत हो तभी नमस्कार सच्चा - ऐसा समझ लें । पंचपरमेष्ठियों में जो १०८ गुण हैं उन गुणों के प्रति हमारा आकर्षण जागृत होना चाहिये और उन गुणों को बढ़ाने के लिए की ही उपासना करनी चाहिये । गुणो जाप ध्यानादि के होंगे । माला उनके गुणों की ही फेरनी हैं, क्यों कि हमारे अन्दर अरिहंतादि परमेष्ठि व्यक्ति तो आने वाले नहीं हैं उतरने वाले नहीं हैं । वे महापुरुष तो मोक्षगमन कर गए । अब तो हमारे में मात्र उनके गुण ही अवतरित होना - ही

संभव है । अतः अब तो हमें इसी दिशा में प्रयत्न करना चाहिये । इनके गुणों की ही माला फेरनी चाहिये । उपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं कि 'तेरे गुण की जपुं जपमाला' 'हे भगवन् ! मैं सदैव तेरे गुणों की ही माला फेरता हूँ । नाम की माला फेरने और गुणों की माला फेरने में कितना अन्तर है ? जाप नाम का होता है और ध्यान गुणों का होता है । अतः जपमाला नवकारवाली गुणों की गिनता हूँ अर्थात् ध्यान की धारा में तेरे गुणों का ध्यान धरता हूँ । इसीलिये नाम जपने की अपेक्षा गुणों का जाप करने की कक्षा ऊँची है और उसी में सिद्धि है ।

गुण भक्ति से ही दर्शन शुद्धि की प्राप्ति होती है । यह बात समझाते हुए देवचंद्रजी महाराज कहते हैं कि 'स्वामी गुण ओलखी, स्वामीने ने भजे, दरिशन शुद्धता तेह पामे.. ! अर्थात् स्वामी अरिहंतादि भगवंत के गुणों को पहचानकर, गुणों के दर्शन करता करता जो स्वामी की भक्ति पूजा आदि करता हैं वही भाग्यशाली भक्त जीव ! दर्शन की शुद्धि प्राप्त करता है - सच्चे अर्थ में प्रभु के दर्शन प्राप्त करता है । परमात्मा के गुण दर्शन ही शुद्ध दर्शन है । गुणी के दर्शन और गुणों के दर्शन ये दोनों ही प्रकार के दर्शन हैं और हमें ये दोनों प्रकार के दर्शन करने हैं । प्रथमदर्शी गुणी के दर्शन करने हैं और तत्पश्चात् प्रगति करते करते गहरे अन्दर उतरकर गुणदर्शन करने हैं, क्यों कि मुख्य साध्य गुण दर्शन है जब कि गुणी के दर्शन साधन हैं और इन दोनों के लिये नमोभाव निमित्त है ।

नमस्कार स्वलक्षी है :-

'नमो' पद की आराधना आत्मा को अन्तर्मुखी करनेवाली है । आत्मा नमस्कार के बिना राग-द्वेष की बाह्य प्रवृत्ति में स्व का होश हवास भूलकर बाह्य पदार्थों में निमग्न था, इसने स्व का ही भान न रखा, अतः अब नमस्कार भाव हमें अपना स्वयं का भी भान करवाता है कि हे जीव ! तुझे अपना लक्ष्य सामने रखना है - तू अपने अन्दर देखना सीख ।

नमस्कार भाव हमें अपने अन्दर देखना सिखाता है, अन्य की ओर नहीं । हम नमस्कार अपने लिये करते हैं या अन्य के लिये ? अपने लिये हमारे नमस्कार से अन्य को लाभ नहीं होने वाला है, लाभ तो हमें ही होगा। जिन्हें नमस्कार करते हैं, उन नमस्करणीय को क्या लाभ होगा ? कुछ भी नहीं, लाभ तो नमस्कार करने वाले को ही होगा । अतः नमस्कार अन्तर्मुखी साधना है जो

हमें आत्मानुलक्षी बनाती है। नमस्कार के साधक को स्वलाभ देखना हैं, परलाभ नहीं। नमस्कार करने से सामने वाले नमस्करणीय में क्या परिवर्तन आया - यह बात न देखकर हमें तो यह देखना है कि मेरे में क्या परिवर्तन आया ? मेरी कषायवृत्ति घटी या न घटी ? अभिमान द्रवित हुआ या नहीं ? मान दशा शिथिल हुई या नहीं ? मेरे में नम्रता बढ़ी या नहीं ? विनयगुण विकसीत हुआ या नहीं ? यह परिवर्तन हमें अपने अन्दर देखना और लाना ही नमस्कार की साधना का मुख्य हेतु है।

नमस्कार भाव नमाने वाला है :

गृहिणी प्रातः घर में कल के बासी पानी को छानकर शुद्ध करती है। इसके लिये वह घड़े को झुकाती है। जब तक संपूर्णरूप से पानी न निकल जाए वहाँ तक वह उसे धीरे धीरे झुकाती रहती है, नमाती रहती है। जैसे जैसे घड़ा झुकता जाएगा वैसे वैसे उसके अन्दर रहा हुआ बासी पानी बाहर निकलता जाएगा। तत्पश्चात् छानकर वह नया पानी भर सकेगी। इस प्रक्रिया से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी है कि इस काया रूपी घट में से पुराना बासी सब कुछ निकाल देना है, क्यों कि काया को घट की उपमा तो अनेक स्थलों पर की गई है। 'घट घट में व्याप्त आत्मा' इस वाक्य में घट शब्द काया के लिये प्रयुक्त हुआ है और आत्मा उसमें व्याप्त होकर रही है। अतः इस काया रूपी घट को नमाने से ही अन्दर स्थित सब जो भी बासी है वह बाहर निकल जाएगा। इसी के लिये ही पंचांग प्रणिपात है।

पंचांग प्रणिपात में प्रथम हाथ जोड़कर काया रूपी घट को पकड़कर नमाने रहना है, फिर घुटने टेककर काया को अर्ध नमाना है, तत्पश्चात् कटि को झुकाकर नमाकर भूमि पर दोनों हाथों की कोहनियाँ स्पर्श कर सकें इस प्रकार रखकर नीचे झुकते जाना है। जिस प्रकार घड़े के मुख का भूमि के साथ स्पर्श करवाया जाता है तब पानी निकलता जाता है, उसी प्रकार हमें भी इस काया के मुँह-मस्तक का भूमि से स्पर्श करवाना होगा ताकि इसके द्वारा अंदर का सब पुराना बाहर निकल सकेगा।

नमस्कार से कर्मक्षय :-

इस प्रकार घड़े की भाँति काया रुपीघड़े को संपूर्णतः नमाने से अन्दर के भूतकाल के बासी दुर्भाव, अहंकार वृत्ति के पाप, अशुभ कर्म निकलते जाएँगे। आत्मा ऐसे अशुभ कर्मों को उगल सकेगी बस, यह प्रक्रिया सुंदर है। पंचांग प्रणिपात ही काया का पूर्णरूप से नमा देने वाला पूर्ण वंदन है। हिन्दू धर्म में होने वाले साष्टांग दंडवत् नमस्कार की अपेक्षा यह अधिक सुंदर और पूर्ण वंदन है। साष्टांग में शरीर के आठों ही अंग दंडवत् अर्थात् डंडा या लकड़ी जमीन पर सीधी पड़ी रहती है, संपूर्णरूप से पृथ्वी का स्पर्श करती हो। उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर को दंड की तरह पृथ्वी पर स्पर्श करवाना होता है, इसीलिये दंडवत् शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् दंड की तरह साष्टांग अर्थात् अष्ट-आठ अंग सहित सीधे दंड की भाँती जो नमस्कार हो उसे साष्टांग दण्डवत् नमस्कार कहते हैं।



इस प्रकार साष्टांग दंडवत् और पंचांग प्रणिपात इन दोनों में अन्तर देखे तो लगता है कि अधिक नमन करवाने वाला पंचांग प्रणिपात है। यह काया को सीधी नहीं रखता, बल्कि कमर से झुकाकर कमर पीठ का भाग उभरा हुआ रखकर मुँह भूमि पर स्पर्श करवाकर संपूर्णतः नेत

की बेत की तरह मोड़कर नमाएगा, जिससे अन्दर का सब कुछ पुराना बाहर निकलेगा।

इस प्रकार पंचांग प्रणिपात के नमस्कार में जितना महत्व काया को झुकाने नमाने का है उतना ही महत्व मन को नमाने का भी है।

पंचांग नमाते हुए दिये जाने वाले खमासमणे के साथ साथ जो थोभवंदन सूत्र बोला जाता है, उस में 'वंदिउं' शब्द वंदन के भावों का प्रदर्शन करता है। इस में मन नमन करता है जब कि 'जावणीज्जाए' शक्तिपूर्वक सुख शांता पूछते हुए और 'निसीहिआए' अर्थात् पाप प्रवृत्ति का त्याग करते हुए अथवा अविनय आशातना का भी त्याग करते हुए मैं नमन करता हूँ वंदन करता हूँ।

वंदन करने के लिये नमन करने के लिये प्रयुक्त इस छोटे से सूत्र में भी यहाँ, 'निसीहिआए' शब्द क्यों रखना पड़ा ? इसका कारण यह है कि ऐसे ही नमन नहीं करना है, बल्कि पाप का त्याग करते करते अनिवय आशातना का

निवारण करते करते नमन करना है । अविनय आशातना अहंकार वृत्ति में कषायवृत्तिमें संभव है । यह अनुपयोग भाव में शक्य है अतः उसका क्षय करना है - निवारण करना है और ये सभी पाप नमस्करणीय को नमन करने से निकल पाएँगे - दूर हो सकेंगे ।

नमस्कार करने से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्मों का क्षय होगा और सब से अधिक तो मोहनीय कर्म का क्षय होगा । इन में रहे हुए कषायादि दुभावों का निवारण होगा और यही हमें करना है । इस प्रकारे 'जावणिज्जाए' शब्द शक्ति पूर्वक अर्थ सूचक है अर्थात् अंतराय कर्म और उसमें भी विशेष रूप से वीर्यान्तराय कर्म का क्षय करना है । इस प्रकार चारों ही घाती कर्मों का क्षय करना है - जो नमस्कार भाव से ही संभव है ।

बाहुबली महात्मा बारह माह तक काउसग्य मुद्रा में ध्यान साधना के अंत में नमस्कार भाव आने पर तुरन्त ही चारों ही घाती कर्मों का क्षय कर केलज्ञान प्राप्त करते हैं । प्रक्रिया नमस्कार भाव की बनी । केवलज्ञान की प्राप्ति में नमस्कार भाव सहायक कारण बना ।

नमस्कार जीव के भाव में है :-

नमस्कार की क्रिया जीव भाव के साथ संबंधित है । अजीव भाव के साथ इसका संबंध नहीं है । जीव के गुणों को लक्ष्य में रखकर नमस्कार किया जाता है, अजीव के गुणों को लक्ष्य में नहीं रखा जाता । भले ही हम 'अरिहंतादि' की पाषाण की प्रतिमा को नमस्कार वंदनादि करते हैं उसमें अजीव - जड़ पाषाण को हम नमस्कार नहीं करते, बल्कि उस प्रतिमा में भी पुरुषाकृति जो बनाई है, उस में उन तीर्थकर प्रभु के भाव-शक्ति आदि आरोपित हैं, तत्पश्चात् ही दर्शन - पूजन - स्तुति स्तवनादि के समय भी उनके गुणगान करते करते संकीर्तन किया जाता है । अतः अजीव - जड़ या पाषाण रूप में उन्हें देखने का भाव नहीं है, बल्कि जीव विषयक गुण देखते देखते नमस्कार किया जाता है । ऐसे रहस्य पीछे होते हुए भी और प्रत्यक्ष ऐसे हेतु स्पष्ट दिखाई पड़ने पर भी प्रतिमा के विरोधियों को प्रतिमा देखने के साथ ही क्यों और कैसे अजीव या जड़ पाषाण भाव आ जाते हैं ? संभव है उनकी जड़ बुद्धि के कारण ही उन्हें प्रतिमा में जडत्व ही दिखाई देता होगा ? मात्र जड़ भाव से अथवा जड़ दृष्टि से ही पूजने की बात

होती तब तो अनेक पत्थर पड़े हैं, अनेक विशाल शिलाएँ पड़ी है उन्हीं की पूजा क्यों न करते ? तब निरर्थक ही लाखों रुपये खर्च कर ऐसी अद्भुत मूर्तियों की रचना क्यों करवाएँ ? लाखों रुपयों के व्यय से मूर्तियाँ भरवाना और फिर लाखों रुपये खर्च कर उनकी प्राण प्रतिष्ठा करवाना आदि आवश्यक ही न था । क्या ऐसा करने वाले सभी लोग मूर्ख थे ? ऐसा मानने में भी हमारी ही मूर्खता का प्रदर्शन होता है और इस प्रकार यदि पत्थरों की ही पूजा करनी होती तब तो बड़े बड़े हिमालय जैसे पर्वतों की ही पूजा कर लेते, पर ऐसी बात नहीं है ।

‘नमो अरिहंताणं’ का मंत्र पद भी इस पूजा में चरितार्थ हो जाता है, जाप में इस पद का उच्चारण होता है, पूजा में इसका आचरण होता है - इसे चारित्र में डाला जाता है । दर्शन की प्रक्रिया में भी इस पद का आचरण होता है, अतः दर्शन अथवा पूजा नमो भाव से, पूज्य भाव से नमस्कार महा मंत्र के आचरण की ही क्रिया हुई, नवकार को ही चरितार्थ करने वाली क्रिया हुई । जाप में जो नवकार सैद्धांतिक Theoretical थी, वही नवकार महामंत्र जिनालय में दर्शन-पूजन की क्रिया में प्रयोगात्मक Practical हो गया है । मंदिर में हम नवकारमय बन जाते हैं । पंच परमेष्ठियों की पूजा अर्थात् पाँचों ही परमेष्ठियों के प्रति नमोभाव, नमस्कार गुण को भाव कक्षा तक विकसित कर देते हैं । इस प्रकार नमो भाव में पूजा समाहित है, पूज्य भाव रहा हुआ है, जीवलक्षी गुणों का दर्शन रहा हुआ है ... जीवलक्षी नमस्कार है, अजीव-जड़लक्षी नमस्कार नहीं है।

नमस्कार नम्र बनाता है :-

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । समाज में जीने के लिये सर्व प्रथम सुंदर योग्य स्वभाव की आवश्यकता होती है । स्वभाव यदि बुरा हो, तो स्वयं का जीवन तो दुःखदायी बनता ही है, परन्तु साथ ही साथी व्यक्ति का जीवन भी नीरस बन जाता है । अच्छा सुंदर स्वभाव किसे कहते हैं ? और बुरा स्वभाव किसे कहते हैं ? यह हम सभी भली प्रकार जानते हैं और साथ ही हम इस बात से भी सुपरसिंचत हैं कि हमारा स्वभाव कितने प्रतिशत अच्छा है, तथा कितने प्रतिशत बुरा है ? इसी प्रकार अन्य अनेक लोगों के स्वभाव से भी हम परिचित हैं । स्वभाव को सुधार कर भली प्रकार यदि हम जीवन थापन करते हैं तो जीने का भी आनन्द है, अन्यथा तो बुरे स्वभाव में जीना एक प्रकार का दंड भुगतना है ।

स्व + भाव = स्वभाव कहलाता है । स्व अर्थात् आत्मा और भाव अर्थात् गुण । आत्मा के गुणों को स्वभाव कहते हैं । क्रोधादि कषाय करना आत्मा के गुण नहीं हैं - ये स्वभाव नहीं हैं, बल्कि ये तो बहिर्भाव हैं। स्वभाव में तो आत्मगुणों का ही समावेश होता है । प्रथम विचार करें कि नमस्कार आत्मा का गुण है । रेलगाड़ी में जिस प्रकार इंजिन आगे होता है और उसके पीछे डिब्बे होते हैं, वैसे ही सभी गुणों में नमस्कार गुण सबसे आगे होता है । नमो भाव सभी भावों में सबसे अग्रणी रहने वाला प्रथम गुण है । नवकार के जाप से, चिन्तन से अथवा ध्यान से यदि एक नमस्कार गुण से नम्रता की वृत्ति या नमोभाव प्रकट हो जाए तो अन्य सभी गुण उसके पीछे पीछे स्वतः चले आएँगे ।

किसी की भी नम्रता के प्रथम दर्शन होने के बाद यह अनुमान लगता है कि यह व्यक्ति अच्छा है । इस प्रकार नम्रता का गुण नमो भाव देखने के पश्चात् इसका स्वभाव अच्छा होगा यह अनुमान प्रायः गलत सिद्ध नहीं होता, क्यों कि नम्र व्यक्ति अपने अहंकार मान-अभिमान, उदंडता, उच्छलता, अविनय आदि दोषों दुर्गुणों से मुक्त होता है । अतः ऐसे गुणीजन के मुख से चाहे जैसे अपशब्द, गाली गलौच अथवा अभिमान प्रदर्शन आदि दिखाई नहीं देंगे ॥ अतः नमोभाव प्रकट हो तो स्वभाव उत्तमोत्तम हो सकता है । नमोभाव के पीछे अन्य सभी स्वभावों की स्थिति रही हुई है । इस एक को ही प्रकट करने का प्रयत्न करें तो लाभप्रद है, अतः यथाशक्य अधिकतम नम्र बनने का प्रयत्न करना चाहिये । इस संकल्प में नमस्कार महामंत्र अपनी पूरी सहायता करेगा - इस में जरा भी शंका नहीं है।

लघुता और प्रभुता :-

अनेकान्तवाद में अनेक वादों कथनों का समावेश है । वस्तु को अनेक प्रकार से देखने की, अनेक अपेक्षाओं से विचार करने की विचारधारा अनेकान्तवाद ने दी है । पूर्व में हमने विचार किया था कि नमस्कार स्वपक्ष में लाभकर्ता है, परपक्ष में नहीं । वहाँ कहने का आशय भिन्न था । यहाँ हम लघुता और प्रभुता के दृष्टिकोण से विचार कर रहे हैं । नमस्कार क्रियात्मक बन जाने के पश्चात् बार बार यदि सतत उपयोग में आता रहे तो वह नम्रता गुण को प्रकट कर देता है । पुनः पुनः घिसने व घुटने पर औषध भी भस्म बन जाती है, अपूर्व शक्तिमय भस्मौषधि बन जाती है, बड़ी उपयोगी हो जाती है । इसी हेतु से नमस्कार को ही

मंत्र बना दिया है । प्रभु का नाम मंत्र है या नमस्कार मंत्र है ? 'नमो अरिहंताणं' पद में अरिहंत प्रभुवाची पद है और नमस्कार हमारी क्रिया का द्योतक पद हैं ।

एक ही पद में हमारा और प्रभु का दोनों का सूचन किया गया है । हमारे लिये प्रयुक्त नमो पद नम्रता लघुता का सूचक है जब कि प्रभु के लिये प्रयुक्त अरिहंत पद प्रभुता का सूचक है । अब इन दोनों में से हम मंत्र किसे बनाएँ ? या नमो अरिहंताणं दोनों को संयुक्त कर मंत्र बनाना अधिक उपयुक्त है ? क्या किया जाए ? प्रचलितता नमो अरिहंताणं की ही है और यह ठीक भी है, क्यों कि दोनों पदों को अलग अलग करके किसी एक पद को स्वीकार करेंगे तब भी हमारा कार्य तो सिद्ध नहीं होगा । अतः दोनों को साथ में रखने में ही अधिक लाभ है । इसका कारण यह है कि अरिहंतरहित अकेले नमस्कार का क्या मूल्य ? फिर नमस्कार ही किसे और नमस्कार रहित मात्र अरिहंत पद रखते हैं तो क्या करना ? कौन सी क्रिया करें ? माँगे बिना माँ भी नहीं देती, तो नमस्कार किये बिना तो अरिहंत के योग से भी तिर जाना संभव नहीं है । अतः नमो अरिहंताणं यह संपूर्ण मंत्र ही लाभदायी होगा ।

नमो स्वपक्ष से लाभदायी है क्यों कि नमो में लघुता प्रदर्शित है, जब कि परपक्ष से प्रभुता द्योतक अरिहंत पद है । एक ही पद में लघुता और प्रभुता दोनों प्रकट होती हैं । नमस्कार करने वाले की नम्रता लघुता, विनय विवेक सूचक पद नमो पद है । नमोगुण को जैसे ही हाथ में लिया उपयोग में लेकर क्रियान्वित किया कि हमारी लघुता - नम्रता निश्चित रूप से प्रकट हो जाएगी ।

हम नमस्कार किन्हें करते हैं ? हम नमस्कार अरिहंतादि को करते हैं। यह नमस्कार हमारे लिये लाभप्रद है अथवा अरिहंतादि के लिये ? निश्चितरूप से यह हमारे लिये ही लाभप्रद है, परन्तु हमारे नमस्कार से पर पक्ष में अरिहंतादि की प्रभुता, श्रेष्ठता, बड़प्पन, गरिमा में वृद्धि होती है । वृद्धि में निमित्तभूत सहयोगिता का लाभ हमारे हिस्से में आता है । जैसे जैसे परपक्ष में अरिहंतादि की प्रभुता, श्रेष्ठता अथवा सर्वोत्कृष्टतामें वृद्धि होती जाएगी वैसे वैसे हमारे में नमस्कार की गुणवत्ता भी बढ़ती जाएगी । इस प्रकार दोनों ही पक्षों में लाभ ही लाभ है ।

नमस्कार फलदायी या मंत्र ?

क्रियात्मक रूप से नमस्कार को मंत्र से अलग करें और मंत्र भाग को नमस्कार से अलग करें, क्यों कि नमस्कार के बिना स्वाहा, वषट् आदि से भी मंत्र तो बनता ही है। फिर ऐसे अनेक मंत्र हैं जिनका उपयोग किया जाता है। अनेक बड़े बड़े लम्बे लम्बे अक्षरों वाले बड़े मंत्र भी अनेक होते हैं जिनकी लम्बाई के कारण जीव उन्हें गिनने में असमर्थता का अनुभव करता है। अनुकूल न लगते हो तो क्या किया जाए ? और यदि अशुद्ध रूप से गिने जाएँ तब भी दोष लगता है, तो आखिर क्या करना ? इस परिस्थिति में कल्पसूत्र के रचयिता पूर्वधर महापुरुष भद्रबाहू स्वामी अपनी उवसग्गहरं स्तोत्र की रचना में नमस्कार का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि-

चिट्ठउ दूरे मंतो, तुज्झ पणामो वि बहुफलो होई ।

नर तिरिएसु वि जीवा, पावन्ति न दुक्ख दोगच्चं ॥३॥

भावार्थ यह है कि 'हे पार्श्वनाथ भगवान ! आपके नाम का बना हुआ बड़ा लंबा मंत्र तो दूर रहो... अठारह अक्षरों का लंबा मंत्र है और इसी प्रकार अन्य भी लंबे बड़े मंत्र अनेक हैं ऐसे मंत्रों का गिनना इनका जाप करना भी अनुकूल न लगता हो, तो वे तो दूर रहो, परन्तु आपको भक्ति भाव पूर्वक एक प्रणाम नमस्कार भी किया जाए तो वह भी अनेक फलदाता है। आपको प्रणाम-नमस्कार करने वाले भी अनेक फल प्राप्त करते हैं। वैसे प्रणाम करने वाले मात्र मनुष्य ही नहीं, बल्कि तिर्यच जाति के पशु-पक्षी भी प्रणाम करें तो दोनों प्रकार के जीव दुःख और दुर्गति नहीं पाते हैं। उनकी दुर्दशा नहीं होती है। अर्थात् प्रभु को प्रणाम करने वाले जीव दुःख और दुर्गति दुर्दशा से बच कर ऊपर उठ जाते हैं। प्रभु को किये हुए प्रणाम में इतना लाभ है। तिर्यच पशु पक्षी भी तिर जाते हैं तो फिर मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?'

'तुज्झ पणामो' शब्द यह सूचित करता है कि प्रभु को किया हुआ प्रणाम भवसागर से पार उतारता है। न कि अकेला नमस्कार, न अकेले प्रभु, परन्तु दोनों का संयुक्त भाव तिराता है, प्रभु और प्रणाम दोनों संयुक्त रूप से तारक हैं, अतः प्रथम पद में "नमो अरिहंताणं" साथ साथ रखे गए हैं। अकेले नमस्कार नहीं, परन्तु अरिहंत को किया हुआ नमस्कार तिराता है।

एक नमस्कार भी तिरा सकता है :

एक नमस्कार भी कितना सक्षम और सबल है ? इसकी पुष्टि का प्रमाण "सिद्धाणं बुद्धाणं" सूत्र में आता है -

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर - वसहस्स वद्धमाणस्स ।

संसार सागराओ, तारेई नरं व नारिं वा ॥३॥

जिनेश्वरों में भी सर्वोत्तम श्रेष्ठ श्री वर्धमान (महावीर स्वामी) प्रभु को कृत एक भी नमस्कार नर-नारियों को संसार समुद्र से तिराने वाला होता है, संसार एक भयंकर समुद्र है ऐसे भयंकर संसार सागर से कैसे पार उतरना ? कैसे बचें ? धर्म के बिना भव सागर में से कैसे तिरा जाए ? तैरना कैसे संभव है ? जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र से पार उतरना संभव नहीं, उसी प्रकार धर्म के बिना संसार सागर भी कैसे पार किया जा सकता है ? इस भाव को शांतिसूरी महाराज जीव विचार में बताते हैं कि-

एवं अणोरपारे, संसारे सागरंमि भीमंमि ।

पत्तो अणंतरवुत्तो, जीवेहीं अपत्तधम्महीं ॥४४॥

कष्ट उठाकर भी पार न किया जा सके ऐसे अपार भयंकर संसार रुपी समुद्र में से धर्म को नहीं प्राप्त किये हुए जीव तिर नहीं सके. परन्तु अनंत बार मृत्यु प्राप्त कर वे मरे ही हैं, अधिक से अधिक गहरे डूबे ही हैं । बात स्पष्ट है कि धर्म विहीन जीव चार गति रुपी कीचड़ से भरे हुए संसार रुपी समुद्र के गर्त में डूब जाते हैं, फँस जाते हैं, पर तैर कर पार नहीं उतर सकते हैं, यह बात वित्कुल सत्य है ।

नमस्कार धर्म हैं, नमस्कार करने वाला धर्मी है, और जिन्हें नमस्कार किया जाता है, वे नमस्करणीय, वंदनीय, पूजनीय, आदरणीय हैं । ऐसे नमस्कार धर्म के बिना जीव कैसे तिर पाएगा ? नमस्कार न पाया हुआ तो कदापि तिरने वाला ही नहीं है । पाया हुआ भी यदि नमस्कार का आचरण न करे तो वह भी तिरने में असमर्थ रहेगा । बात स्पष्ट ही है कि यह नमस्कार धर्म जो प्राप्त कर चुका है, जो भक्ति भावपूर्वक नमस्कार करता है वह नमन करने वाला जीव भले ही स्त्री हो अथवा पुरुष हो प्रत्येक नमस्कार धर्मी जीव संसार सागर से निश्चित रूप से पार उतर जाता है और वह भी एक नमस्कार मात्र से ।

एक ही नमस्कार इतना प्रबल हो जाए, सक्षम और समर्थ बन जाए कि

संसार के नर नारियों को वह इस संसार सागर से पार उतार दे, तो वह नमस्कार कैसा ? किसे किया हुआ वह नमस्कार ? ऐसे अनेक प्रश्न विचारणीय हो जाते हैं अतः कहा है कि जिनेश्वरों में सर्वोत्तम श्रेष्ठ श्री वर्धमान स्वामी भगवान को किया हुआ नमस्कार और वह भी एक ही नमस्कार यदि सबल सक्षम हो तो संसार के नर-नारियों को इस महासागर से तिराने के लिये पर्याप्त है । ऐसा एक नमस्कार करने वाला जीव भी तिर जाता है ।

समर्थ को किया हुआ, नमस्कार भी समर्थ :-

‘सिद्धाणं बुद्धाणं’ सूत्र की इस तीसरी गाथा में स्पष्ट ध्वनि दोनों पक्षों में निकलती है - एक ओर तो वर्धमान स्वामी कैसे हैं ? तो कहते हैं कि जिनेश्वरों में वृषभ के समान सर्वोत्तम सर्वश्रेष्ठ हैं । दूसरी ओर ‘इक्को’ शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है एका एक नमस्कार भी कैसा होना चाहिये ? हजारों में से एक वस्तु को चुनना हो तो हम कैसी सुन्दर और बढ़िया वस्तु चुनते हैं । इसी नियम के अनुसार यदि विचार करें तो स्पष्ट दिखाई देगा कि हमने माला फेरी जिसमें १०८ नवकार गिने और उनमें हमने १०८ बार नमस्कार किये । इस प्रकार १० माला फेरते हैं तो एक हजार नमस्कार करते हैं, परन्तु इन एक हजार नमस्कार में अच्छा, उच्चतम उत्तम कोटि का नमस्कार कौन सा ? ऐसा एक नमस्कार हम अलग छॉट सकते हैं या नहीं ? अथवा तो आज दिन तक ५०-६० वर्ष की आयु तक जितनी भी नवकार गिनी हैं, इन सब में से चयन करके कहना हो कि श्रेष्ठ उत्तम नवकार कौन सी गिनी गयी ? अथवा कौन सा नमस्कार शुद्ध भावपूर्वक का था इतनी सारी नवकार गिनी उन में कौन सी नवकार हमारी स्मरणशक्ति में याद रही उत्तर है कि उच्च भावयुक्त विशुद्ध नमस्कार अवश्य याद रह जाता है ।

वाहुबली महात्मा ने ऐसा वह कैसा एक नमस्कार किया था, जिससे उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ? ऐसा किस कोटि का उत्कृष्ट नमस्कार भाव आया था कि उनका पाँव उठते ही केवलज्ञान हो गया ? लेखक को स्पष्ट शब्दों में लिखना पड़ा कि ‘पग उपाडयो रे वांदवा... उपज्युं केवलज्ञान’...वंदन करने के लिये जाने हेतु जैसे ही पाँव उठाते हैं कि वहीं उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है । नमन करने हेतु जाने नमस्कार करने के भाव आने के साथ ही उसे तुरन्त क्रियाचित करने लगे .. नमस्कार का जैसा भावोल्लास जगा कि तुरन्त, ही नमस्कार करने

के लिये क्रियात्मक पालन और उसके लिये पाँव उठते ही वंदनार्थ प्रभु के पास जाने की शुरुआत ही केवलज्ञान में निमित्त बनती है । अभी तो प्रभु के पास पहुँचे ही नहीं, अथवा गए नहीं । परन्तु 'कडेमाणे कडे' की जाने वाली क्रिया हो चुकी का भाव विचारें तो क्रियात्मकता... सक्रियता का भाव भले ही इन्हें काया से समवसरण में न पहुँचाए, परन्तु मन से भाव से तो वहाँ पहुँचा ही दिया । मनोगत भाव मानसिक रूप से तो नमस्कार की क्रिया हो ही चुकी है तब ऐसा कहा जाता है यह सत्य ही है कि नमस्कार वंदन से और वैसे भाव से बाहुबली ने केवलज्ञान प्राप्त किया । अतः यह नमस्कार कितना उत्कृष्ट कोटि का था ? एक नमस्कार और उसका भाव भी कितना उत्कट ? हमें भी अपने समक्ष ऐसा ही उच्च आदर्श रखना है । मन के सामने भाव रखना है कि नमस्कार भी केवलज्ञानदाता है ।

एक भी नमस्कार निष्फल नहीं जाता :-

दो-चार बच्चे मिलकर किसी उद्यान में गए । वहाँ आम खाने की इच्छा होने से उन्होंने वृक्ष-पर से आम गिराने का विचार किया । नीचे पड़े हुए पत्थरों में से एक-एक पत्थर लेकर वे आम-वृक्ष पर फेंकने लगे । एक पत्थर दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा... दसवाँ इस प्रकार करते करते सभी पत्थर फेंकते हैं, परन्तु आम नहीं गिरते । फिर भी वे प्रयत्न नहीं छोड़ते और पन्द्रहवाँ बाईसवाँ - पच्चीसवाँ पत्थर फेंका और अंत में सत्ताईसवाँ पत्थर ऐसा फेंका कि जाकर सीधा ही किसी आम को लगा और वह आम तुरन्त ही नीचे गिर पड़ा । इतने में एक सज्जन का उधर आगमन हुआ । वे बोले - मूर्ख! तो प्रारम्भ में ही यह सत्ताईसवाँ पत्थर ही फेंक देना था न ? इतने अधिक अन्य पत्थर क्यों फेंके ? क्या मिला ? बच्चा कहता है पर मुझे प्रारंभ में ऐसा कहाँ पता था कि इस पत्थर से ही आम गिरेगा ? अतः मैं तो एक के बाद एक पत्थर फेंकता ही गया !

इस प्रसंग को ध्यान में रखकर हम विचार करें कि.. क्या उस बच्चे ने जो एक के बाद एक करके छब्बीस पत्थर फेंके वे सब निरर्थक थे ? नहीं ... एक भी पत्थर निरर्थक नहीं था । विचार करने पर स्पष्टतः पता चलेगा कि प्रथम पत्थर जब फेंका था तब वह बहुत जोर से फेंका गया था अतः आम से आगे बढ़ गया था । इस बात को समझ कर दूसरा पत्थर धीरे से फेंका तो वह बीच में ही गिर पड़ा अतः तीसरा फेंका तो वह दाहिनी ओर गिर पड़ा । तब चौथा फेंका पर वह

बायी और गया, अतः पाँचवा फेंका तो वह शाखा से टकरा कर गिर पडा । इस प्रकार समझ समझ कर उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखते हुए वह पत्थर फेंकता ही गया तब कहीं अंतिम सत्ताईसवे पत्थर से आम गिरा ।

इस प्रश्न को सुक्ष्म दृष्टि से देखें तो स्पष्ट ख्याल आएगा कि वास्तव में एक भी पत्थर निरर्थक या व्यर्थ नहीं गया, क्या कि प्रत्येक पत्थर ने लक्ष्य सोचने के लिये कुछ न कुछ तो सिखाया ही है । इस प्रकार सभी पत्थर उपयोगी हुए है।

इस उपमा का घटक दृष्टान्त से नवकार महामंत्र के विषय में विचार करें। कोई साधक १०८ मणकों की माला फेरता है और कोई प्रतिदिन ८ से १० मालाएँ गिनता है । कोई एक माह में ४०० से ५०० तक भी मालाएँ गिनते होंगे और कोई वर्ष में एक-दो लाख नवकार भी गिनते होंगे । प्रश्न यह उठता है कि 'सिद्धाणं वृद्धाणं' सूत्र के कथनानुसार तो एक ही ऐसा नमस्कार करते हुए नवकार गिन लें कि जिससे बाद में बार बार नित्य वर्षों तक नवकार गिननी ही न पड़े । बात आपकी सही है, परन्तु जिस प्रकार उस बालक को पता नहीं था कि यही सत्ताईसवाँ पत्थर है, उसी प्रकार हमें भी यह कहाँ पता है कि यही एक अन्तिम नवकार है और इस के पश्चात अब गिनने की आवश्यकता नहीं है । ऐसी कक्षा की अन्तिम नवकार तो आई नहीं न ? अतः नित्य गिननी ही पड़ती हैं ।

जिस प्रकार बालक द्वारा फेंका गया एक भी पत्थर निरर्थक अथवा निष्फल नहीं गया उसी प्रकार हम जैसे साधकों के द्वारा गिनी जानने वाली नवकारों में से एक भी नवकार निष्फल नहीं जाती ऐसा ही मानकर चलें । भूलें ही नवकार गिनते समय कुविचार आते हैं, गलत अशुद्ध उच्चारण होता है, - सभी बातें सही हैं परन्तु इसका भी पता कहाँ से कब चला ? एक नवकार गिनने के बाद पता चला कि इस में तो ऐसे विचार आए हैं अतः दूसरी नवकार में ध्यान रखें, दूसरी में ऐसे विचार आए अतः तीसरी में ध्यान रखें और तीसरी में निद्रावश हो गए अतः चौथी में जागृत रहें, पाँचवी में माला हाथ से गिर पड़ी अतः छठी में अधिक सावधानी रखें । इस प्रकार क्रमशः होता ही रहेगा, परन्तु यदि हम लक्ष्य अथवा साध्य को सामने रखकर साधना करते रहेंगे तो सावधानी आते आते एक दिन अंतिम नवकार भी प्राप्त हो जाएगी - जैसे बाहुबली को बारह माह लगे और आखिरकार एक अंतिम नवकार ऐसी आ ही गई कि सीधा केवलज्ञान ही हो गया। बस फिर, तो कोई प्रश्न ही न रहा । केवलज्ञान अप्रतिपाती होने से फिर तो सीधा

मोक्षगमन ही रहता है ।

इस प्रकार धैर्यतापूर्वक साधना करते ही जाना चाहिये । विद्यार्जन करने वाला विद्यार्थी कदाचित् असफल हो भी जाए तब भी उसे शाला से उठाकर घर नहीं बिठा देते । यदि उसे घर बिठा दोगे तो वह कभी भी उत्तीर्ण नहीं होगा । विद्यालय में होगा तो इस वर्ष नहीं तो आगामी वर्ष में भी उत्तीर्ण अवश्य होगा । इसी प्रकार यह मन साधना के क्षेत्र में कदाचित् नवकार गिनने में असफल हो जाए, तब भी माला गिनना छोड़कर मन को अन्य कार्य में जुटाया नहीं जा सकता, क्यों कि यदि माला का त्याग कर देंगे, नवकार छोड़ देंगे तो कभी भी यह मन साधा नहीं जा सकेगा । अतः कभी भी यह मन तो नमस्कार से ही साध पाएंगे । यही इसकी कुंजी है । ऐसा समझकर साधना में बाधा न आने दें - यही लक्ष्य रखना है ।

दूसरी बात यह है कि अनादि अनंत काल से मन तो भटकने का आदि है। मन के संस्कार तो इंद्रियों के पीछे दौड़ने के ही हैं, - विषय वासना में आनंदित होने के ही है । इसमें तो नवकार की साधना करने के संस्कार ही नहीं हैं - इसे तो इसकी आदत ही नहीं है । इसे तो बलपूर्वक हमें स्थिर करना होगा, अतः यह मन तो थोड़े बहुत नाटक करेगा ही । बालक को विद्यालय जाना और पढ़ना रुचिकर नहीं लगता है, उसे तो खेलना ही प्रिय है तो क्या किया जाए ? क्या उसे विद्यालय न भेजे ? उठाकर उसे घर बिठा देंगे तो परिणाम क्या आएगा ? ऐसी ही स्थिति मन की है । इसे भी विषय कषाय का, रंग-राग का, मौज-शौक का ही संसार प्रिय लगता है । इसी में इसे आनंद आता है । जिसकी जैसी आदत, जिसके जैसे संस्कार और स्वभाव उसे उन्हीं में आनंद आता है । उपाध्यायजी यशोविजयजी महाराज ज्ञानसार अष्टक में फरमाते हैं कि -

मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने, विष्टायामिव शूकरः ।

ज्ञानी निमज्जति ज्ञाने मराल इव मोनसे ॥

इस प्रकार समझ कर मन को समझा बुझा कर मन से कार्य करवाना है । मन को भूतकाल में ऐसे सुंदर संस्कार साधना के नहीं पड़े, बल्कि वासना के ही संस्कार पड़े हैं, अतः बेचारा मन अब क्या करेगा ? जैसे ही हमने माला हाथ में ली कि मनजी भाई को चैन हुई । लगे घूमने-फिरने ! भटकने का इन्हें तो मानो अवकाश मिला ! निश्चिन्त होकर भ्रमण करने जाएँगे, परन्तु भ्रमण करने कहाँ

जाना ? इसका निर्णय यह मन अपनी आदतों के अनुसार करता है । इस प्रकार मन को जाने की स्वतन्त्रता मिल जाती है और माला गिनते समय मन भटकने लग जाता है, कुविचारों में चढ़ जाता है, परन्तु इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है । यदि उब कर माला को ही छोड़ दोगे अथवा नवकार ही छोड़ दोगे तो यह मन कभी भी वश में नहीं आएगा, अतः मन को साधना ही हो, तो साधना छोड़ने से कार्य सिद्धि नहीं होगी ।

अतः यह समझकर ही आगे बढ़ना है कि... माला गिनते गिनते भी यह मन कुविचारों पर चढ़ता है, अकरणीय विचार करता है ... कोई बात नहीं, माला या नवकार गिनते गिनते मन की पहचानने का तो ज्ञान हुआ । बहुत अच्छा हुआ। इस प्रकार प्रारंभ में मन को पहचानना भी बहुत जरूरी है । इस प्रकार भी मन की आदतों इसकी क्रीडा, इसका स्वभाव इसके संस्कार आदि परिचय हो जाय, तो मन को साधना संभव है - शक्य है सरल है और सुविधाजनक हो जाता है । अतः मन के कारण नवकार या माला को न छोड़े ॥ सभी नमस्कार निष्फल या निरर्थक ही जाते हैं - ऐसा मानने की आवश्यकता नहीं है । यह साधना का क्षेत्र है, साधना में क्षेत्र छोटा है, पर इस में काल लंबा लगता है, गिनते गिनते आज नहीं तो कल एक दिन एक ऐसी नवकार अवश्य आएगी कि जिससे हम भी बाहुबली की केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षगमन कर सकेंगे ।

मन की साधना के लिये नमः

मनः एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः । तत्त्वार्थ सूत्र ॥

क्षणं सप्तति याति जीवस्तंदुलमत्स्यवतः ।

मन ही मनुष्यों के लिये कर्म बंध और मोक्ष दोनों का कारण है । क्षण में तो यह जीव को सातवीं नरक में भी ले जाता है, जैसे कि तंदुल नामक छोटी सी मछली को सातवीं नरक में जाना पड़ता है । समुद्र में विशाल-काय मगरमच्छ की आँख की पलक के किनारे के बाल में रहने वाला चावल के दाने जितना छोटा सा जीव - तंदुल मत्स्य भी मगर को मुँह फाड़कर मछलियों का आहार - पानी लेते हुए और पानी बाहर फेंकने के साथ ही दाँतों के बीच से छोटी छोटी मछलियों को बाहर निकलते हुए देखता है तो यह दृश्य देखकर तंदुल मत्स्य विचार करता है कि यदि मगर के स्थान पर मैं होता तो एक भी मछली को जीवित नहीं छोड़ता-

मुक्त नहीं करता ।

तंदुल मत्स्य इतना सूक्ष्म है कि वह स्वयं कुछ भी खाने में असमर्थ है, फिर भी विचार धारा से मानसिक पाप इतना अधिक उर्पाजन कर बैठता है कि उसे सातवी नरक में जाना पड़ता है ।

जिस प्रकार प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भी मन के कारण विचार धाराओं में ही मानसिक युद्ध में ऐसे निमग्न हो गए कि सातवी नरक में जाने की तैयारी हो गई, परन्तु तत्काल उन्हें होश आ गया । उनकी आत्मदशा पुनः जागृत हुई और पश्चात्ताप की धारा में पुनः अग्रसर हुए ...बस ... फिर तो आवश्यकता ही किस बात की थी ? सातवी नरकगमन से तो बचे ही साथ ही साथ कुछ ही देर में केवलज्ञान भी प्राप्त कर लिया और वे सर्वज्ञ केवली बन गए ।

ऐसा है यह मन । कर्म बंधन में भी यह मन ही कारण है और कर्मक्षय से मोक्ष प्राप्ति में भी यह मन ही कारण है । सातवी नरक में भी यह मन ही ले जाता है और मोक्ष में भी यह मन ही ले जाता है । अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कार्य मन के ही हैं । अतः मन बुरा ही है अथवा अच्छा ही है - ऐसा निर्णय न कर बैठें । मन तो जड़ है - यह अच्छा भी है और बुरा भी है । सन्मार्ग पर मोड़ो और कर्म निर्जरा करवाए तो मन सर्वोत्तम है । इसी प्रकार यदि मन को कुमार्ग की ओर मोड़ो और कर्मबंध करवाओ तो यह निकृष्टतम है ।

ऐसे मन को कैसे मोड़े ? इसका क्या उपाय है ? इसकी शोध हमें करनी होगी । यह उपाय बहुत ही स्पष्ट और सरल है, बिल्कुल सादा है। मन जो शब्द है, उसे ही उल्टे अक्षर करके देखें तो पता चलेगा कि आगे का 'म' पीछे और पिछला 'न' आगे रखने पर क्या शब्द बनता है ।

संस्कृत भाषा में मनः का विपर्यास नमः और नमः का विपर्यास मनः होगा। इस प्रकारवर्ण विपर्यास करके अर्थात् पीछे का अक्षर आगे और आगे का अक्षर पीछे रखने से शब्द को विपरीत करके देखने से पता चलेगा कि नमस्कार शब्द का ही प्रथम नम शब्द है और इस नम को ही उल्टा करने पर मन शब्द बनता है । यदि मन को उल्टा किया जाए तो नम बनता है, अतः इन दोनों शब्दों को देखकर मिलाकर भली प्रकार विचार करें तो एक दूसरे के ये सहयोगी लगते हैं या नहीं? ऐसा लगता है कि मन को साधने के लिये 'नम' की साधना अर्थात् नमस्कार करने की साधना करनी पड़ती है । नमस्कार शब्द के मूल में नम धातु नमन

करने के अर्थ में संस्कृत व्याकरण में है, नम् अर्थात् नमना नमन करना । इस प्रकार मन को ही अन्दर ही अन्दर संबोधित कर समझाते हुए कहें कि हे मन तू नम, हे मन तू नम... नमन करता जा, नमस्कार करता जा, नमस्कार महामंत्रे जपता जा, गिनता जा, ध्यान जाप आदि साधना करता जा, जिससे संभव है मन को वश में किया जा सके । अतः मन को नमः नमन करने के कार्य में जोड़ देने से भी मन साधा जा सकेगा ।

मन को नमाते हुए नमस्कार

हाथ जोड़ना, मस्तक नमाना, पंचांगप्रणिष्ठात में पाँचो ही अंगो को नमाना अथवा साष्टांग दंडवत् नमस्कार में संपूर्ण देह को भूमि पर सुला देना आदि शरीर के अंगों को नमानेपूर्वक की इस क्रिया को हम शारिरिक नमस्कार कहेंगे, परन्तु इससे भी बढ़कर विशेष मानसिक नमस्कार हम किसे कहेंगे ? क्या नमस्कार मात्र शरीर से ही करें और मनोजन्य मानसिक नमस्कार क्या न करें ? क्या मन से नमस्कार नहीं होता ? नहीं - ऐसी बात नहीं है । हमारा नमस्कार मात्र कायिक ही रह जाता है, मानसिक नहीं होता, इसीलिये तो मन पर हमें विजय नहीं मिलती और हम मात खा जाते हैं । इसी हेतु से हमें साधना के क्षेत्र में कहा जाता है कि

माला फेरत जुग गया, गया न मन का फेर ।

कर का मनका डाल दे, मन का मनका फेर ॥

सत्य ही कहा है कि हे जीव ! माला हाथ में फेरते फेरते तो युगों के युग व्यतीत हो चुके हैं । (युग वर्ष वाचक संज्ञा है । पाँच वर्ष का एक युग कहलाता है) इतने युगों के सैंकड़ों वर्ष माला फेरते फेरते बीत चुके हैं, फिर भी अभी तक मन का फेर नहीं हुआ । मन में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ा अतः अब हाथ में रही हुई मनकों की माला को छोड़ दे और उसके स्थान पर इस मन को ही मनका बनाकर हाथ में रखकर अर्थात् स्ववश करके फिराना शुरु कर । यहाँ कवि मनका शब्द का प्रयोग करके मन को ही मनका बनाकर धागे में पिरोकर फेरने का निर्देश देते हैं । माला क्या है ? १०८ मनको को धागे में पिरोया कि वह माला बन गई। इस माला फेरते हैं, परन्तु इससे तो कई वर्ष युग बीतने पर भी मन में कुछ भी परिवर्तन नहीं आता अतः यह एक विचारणीय बिन्दु है ।

पकड़ना तो मन को ही था । मन को ही मनका बनाकर इसे ही हाथ में

अर्थात् नियंत्रण में रखकर माला फेरनी थी, परन्तु साधक की भूल हो गई है जिसके कारण मन को तो स्वच्छंद छोड़ दिया और माला का मनका हाथ में आ गया तो साधक उसे ही फेरने में निमग्न हो गया है, परन्तु इस में तो कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी साधना साध्य की ओर आगे नहीं बढ़ पाएगी - साध्य को साध नहीं पाएगी । अतः मन की ही साधना करनी है, अर्थात् मन को साधने की ही साधना करनी है ।

नमस्कार मानसिक साधना है :-

वर्ण विपर्यास करके जो मन को नमाने की बात की है उस में मन को ही मनका बनाकर उसे ही नमाना है । शारीरिक नमस्कार के साथ साथ मानसिक नमस्कार करना है । शरीर जब नमता है तब हमें अंदर देखना चाहिये । आंतरदृष्टा बनकर अंदर दृष्टिपात करना चाहिये कि अन्दर से मन नमता है या नहीं । यदि भाव जागृत होते हैं तो समझ लें कि मन नम रहा है । यदि नमस्कार के भाव ही जागृत न होते हो तो समझ लें कि यह तो मात्र कायिक शारीरिक नमस्कार है, परन्तु मानसिक नमस्कार नहीं हुआ । कायिक नमस्कार को द्रव्य अथवा बाह्य नमस्कार कहा है, जब कि मानसिक नमस्कार को ही भाव अथवा आभ्यंतर नमस्कार कहा गया है । द्रव्य या बाह्य कायिक नमस्कार तो हमने अनेक किये, वर्षों से करते चले आ रहे हैं ... परन्तु अब साधना के क्षेत्र में कुछ आगे बढ़े और भाव अर्थात् आभ्यंतर नमस्कार करना सीखें । ऐसा करते करते अपनी यह नमस्कार की साधना सार्थक और सफल हो जाएगी ।

अतः नमस्कार मन को साधने की साधना है, मन के द्वारा करवाने की साधना है, मानसिक साधना है । इसे मात्र कायिक ही न रखें । मानसिक साधना होगी, तभी मन तक पहुँचेगी, मन को प्रभावित करेगी तभी कुछ भाव पैदा होंगे। तभी चिंतन की धारा शुरु होगी । अध्यवसाय की शुद्धि होगी, परिणामों की वृद्धि होगी - अन्यथा संभव नहीं है । मन को काम में लगाने की, मन को पिरोने की, नमस्कार में मन को पिरोने की साधना नवकार की साधना है । नवकार के लिये ही 'मन' को नमस्कार के कार्य में पीरो सकेगी नमस्कार करने के काम में मन को लगा सकेगी । इसीलिये मन को साधने, मन को वश में रखने मन को जीतने का सरल-सादा उपाय नवकार की साधना है । यह सुंदर है, उत्तम है और सरल भी है ।

‘नमो’ की आज्ञा सूचकता :

लोक व्यवहार में भी शब्द रचना में ओकार ‘ओ’ अक्षर का उच्चार आज्ञा के अर्थ में होता है । शब्द के अंत में ‘ओ’ अक्षर रखकर आज्ञा प्रदान की जाती है । आओ, जाओ, खाओ, पीओ, रहो, चलो, बैठो, उठो, खेलो, दोड़ो, कूदो, नाचो आदि सैंकड़ो धातुओं के, अन्त में ओकार लगाकर बोलने में आज्ञा की ध्वनि स्पष्ट दिखाई पड़ती है । इसी प्रकार नमो (णमो) शब्द में भी आज्ञा की ध्वनि रही हुई है । नम् + ओ = नमो अर्थात् नमते चलो, नमस्कार करते जाओ, पर किसे इसी लिये अरिहंताणं पद रखा है । अरिहंतो को नमो, सिद्धो को नमो आचार्यों को नमो, उपाध्यायो को नमो, साधु महाराजाओं को नमो । इस प्रकार महामंत्र में नमो आज्ञा स्वरूप है और किन्हें नमन करना है ? तो इसके लिये पंच परमेष्ठियों को बताया है, उन्हें ही नमो इनमें भी अरिहंतादि पाँच परमेष्ठी वाले पदों में भी नमो पहले आगे रखा गया है । यह क्रम भी पहले नमने की आज्ञा करता है । अरिहंतादि पंच परमेष्ठी भगवंतों के पास जाओ तो नमन करके जाओ । प्रथम नमन करो और बाद में उन्हें मिलो इतना भाव मन को समझा दें तो कितना अच्छा होगा ?

नमः की सिद्धि :

प्राकृत भाषा में नमो और ‘न’ का ‘ण’ होने से णमो इस प्रकार दोनों हैं । णमो प्राकृत भाषा का शब्द है । इस का संस्कृत नमः होता है । संस्कृत भाषा के नमस अव्यय से नमो बनता है नमः नैपातिक सिद्ध पद हैं, संस्कृत व्याकरण के साधनिका क्षेत्र में नमः को निपात सिद्ध कहते हैं । यह स्वयंसिद्ध है । नम् धातु संस्कृत में नमाने के अर्थ में प्रयुक्त है । ‘नम धातु को असुच प्रत्यय लगाने से नमस् बनता है । स् का र् और (र पदान्ते विसर्गस्तयोः) के नियम से नमः बनता है । नमस् नमर् और अंत में नमः बनता है । इसका प्राकृत में नमो बना । नमो निपात सिद्ध नैपातिक पद है और अव्यय है । अव्यय स्थिर भाव से सदा सर्वत्र एकसा ही रहता है । चत्र व्यति तदव्ययम् के नियमानुसार अव्यय उसे कहते हैं जिसका कभी भी व्यय न हो - जो कभी भी नष्ट न हो ।

हम सभी ऐसे नमो भाव की सतत उपासना करें और उसके द्वारा अव्यय पद की प्राप्ति करें यही शुभ भावना...



‘सृष्टिस्वरूप और ईश्वरवाद’



नमस्करणीय, वंदनीय, पूजनीय, आदरणीय, प्रातः स्मरणीय, महामंत्र के अधिष्ठता पंच परमेष्ठी भगवंतों के चरण कमल में अनन्तानंत नमस्कार करते हुए — .

ताव न जायद् चित्तेण, चिंतियं पत्थियं च वायाए ।

काएण समाउत्तं जाव न सारिओ नमुक्कारो ॥

मन - चित्त से चिंतित काम, वचनयोग भाषा से प्रार्थित काम और काया शरीर से आरंभ किया हुआ कार्य तब तक सिद्ध नहीं होता, जब तक पंच परमेष्ठी मंगलस्वरूप नमस्कार महामंत्र का स्मरण नहीं किया जाता।

श्री नवकार का अस्तित्व - इसकी व्यापकता चौदह राजलोक के समस्त ब्रह्मांड में प्रसरित है। ऊर्ध्व - अधो और तिर्यक् लोक - ऐसे त्रिलोक से व्याप्त जो चौदह राजलोक परिणाम का समस्त ब्रह्मांड है उसमें नवकार सर्वत्र व्याप्त है। नवकार महामंत्र के पाँचवे पद में ‘लोए’ और ‘सव्व’ शब्द प्रयुक्त है। ‘लोए’ शब्द यहाँ भौगोलिक और ब्रह्मांड की स्थिति का सूचक है। इन दोनों को मात्र पाँचवे पद में ही रखा है। यहाँ ‘लोए’ शब्द से लिया जाता लोक शब्द साधु की दृष्टि से समझने का है। अर्थात् जितने क्षेत्र में साधुगण स्थित है उतने ही लोक को ‘लोए’ शब्द सूचित करता है। परन्तु ‘लोए’ और ‘सव्व’ दोनों शब्दों को पाँचो ही पदों में स्वतंत्र रूप से अलग अलग रखकर अर्थ करें तो वह परमेष्ठी का ‘लोक’ व्याप्त आ जाएगा। ये पद रखने पर पद का स्वरूप इस प्रकार होगा :-

(१) नमो लोए सव्व अरिहंताणं ॥१॥

(२) नमो लोए सव्व सिद्धाणं ॥२॥

(३) नमो लोए सव्व आयरियाणं ॥३॥

(४) नमो लोए सव्व उवज्जायाणं ॥४॥

(५) नमो लोए सव्व साहूणं ॥५॥

अर्थ - (१) लोक में रहे हुए सभी अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो ।

(२) लोक में रहे हुए - लोकाग्र पर रहे हुए सभी सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो।

(३) लोक में रहे हुए सभी आचार्य भगवंतों को नमस्कार हो ।

(४) लोक में रहे हुए सभी उपाध्यायजी महाराजाओंको नमस्कार हो ।

(५) लोक में रहे हुए सभी साधु भगवंतों को नमस्कार हो ।

इस प्रकार सूत्र और अर्थ का ऐसा स्वरूप होता है ।

प्रथम पद में लोक का अर्थ समग्र लोक होगा जबकि द्वितीय पद में दो प्रकार से अर्थ होगा - समग्र लोक में तथा समस्त लोक के अग्र भाग पर रहे हुए सिद्ध भगवंतों को नमस्कार हो । ' सिद्धस्तव सूत्र', में पाठ दिया है - 'लोअगमुवगयाणं नमो सया सव्व सिद्धाणं' । लोक के अग्रभाग में रहे हुए सर्व सिद्ध भगवंतों को सदा नमस्कार हो । यहाँ लोक शब्द को लोक के अग्रभाग का वाची बताया है । बात भी सही है। पहले समग्र लोक को पहचानना होगा तभी लोकाग्र भाग को पहचान सकेंगे। उसके बिना यह लोक का अग्र भाग है, अन्तिम छोर है - यह बात कैसे समझ में आएगी? और नवकार महामंत्र के शेष तीन पद - में लोए शब्द समस्त चौदह राजलोक - ऐसा गौण अर्थ हो जाएगा - दूसरी अपेक्षा से हो जाएगा, जब कि प्रमुख रूप से लोक अर्थात् ढाई द्वीप का लोक ऐसा अर्थ हो सकेगा । ढाई द्वीप परिमाण के लोकक्षेत्र में रहे हुए सर्व आचार्य, उपाध्याय और साधु महाराज को नमस्कार हो। अपेक्षा बदल कर गौण विवक्षा से, निक्षेपों को जोड़ने की सहायता से द्रव्य से क्षेत्र से, काल से और भाव से - इस प्रकार चारों ही अपेक्षाओं से तीनों ही मुरुपद पर आसीन आचार्य, उपाध्याय और साधु भगवंत द्रव्य से उनके जीव रूप में, काल से - भूत, वर्तमान और भविष्यकाल में जो जो साधु थे हैं और होंगे वे तथा क्षेत्र से जिस जिस क्षेत्र में रहे हुए हों उन्हें नमस्कार हो ।

इस प्रकार पूर्वानुवृत्ति और पश्चानुवृत्ति के नियमों का विचार करके 'लोए' और 'सव्व' शब्द का अर्थ बिठने का भाव रखा गया है । अतः 'लोए' और 'सव्व' शब्द को प्रथम पद में न रखकर अन्तिम पंचम पद में रखा है और फिर भी सभी पाँचों ही पदों में जोड़े जा सकते हैं । पश्चानुवृत्ति समझकर लिये गए हैं । जिस प्रकार सिद्ध हेम व्याकरणादि में अष्टाध्यायी के अंदर सूत्रों में आने वाले नियमों को अनुवृत्ति से अथवा इस अनुवृत्ति तक - इस प्रकार दोनों ही तरह से सूचित किया है, उसी के अनुसार यहाँ समझा जाए । 'लोए' और 'सव्व' शब्द पंचम पद में रखने पर भी उन्हें सभी पदों के साथ जोड़कर अर्थ की विचारणा की जा सकती है । विवक्षा जहाँ जिस रीति से बैठती हो, वैसे ही वहाँ बिठनी है ।

तीन प्रकार से १४ की विवक्षा :-

श्री नमस्कार महामंत्र की गणितानुयोग की दृष्टि से विचारणा करें तो

गणितीय चमत्कारों की सैकड़ों बातें मिलेंगी । इसका स्वतंत्र विषय के रूप में अलग से विचारणा अन्त में करेंगे, परन्तु यहाँ १४ का विषय अभिप्रेत है । नवकार महामंत्र में से ही शब्दाक्षरों की गणना करके १४ की संख्या निकाली गई है । जिस प्रकार पहले १४ पूर्वों की चर्चा हम प्रथम व्याख्यान में कर चुके हैं, उसी प्रकार यहाँ अन्य प्रकार से भी १४ की संख्या का विचार करें -

(१) णमो (२) णमो (३) णमो (४) णमो (५) णमो (६) णमुक्कारो शब्द द्वार
अक्षर २ + २ + २ + २ + २ + ४ = १४

इस प्रकार नमस्कार महामंत्र में प्रथम पाँच पदों में 'णमो' शब्द पाँच बार प्रयुक्त हुआ है और छठे पद में 'णमुक्कारो' शब्द है जिसके ४ अक्षर हैं और 'णमो' जो पाँच बार है उनके १० अक्षर हैं । इस प्रकार $१० + ४ = १४$ संख्या सूचित है ।

यह १४ पूर्ववाची संख्या है, अतः 'समरो मंत्र' के महिमा छंद में 'यह है चौदह पूर्व का सार' कहा गया है । नवकार को चौदह पूर्व का सार बताया गया है ।

इसी प्रकार विचार करें तो नवकार के तीन पदों में 'सव्व' शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है ।

नमो लोए सव्व साहूणं - पाँचवे पद में 'सव्व' शब्द है ।

सव्व पावप्पणासणो - सातवे पद में 'सव्व' शब्द है ।

मंगलाणं च सव्वेसिं - आठवे पद में 'सव्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार 'सव्व' शब्द को १४ की संख्या के साथ तीन बार जोड़कर अर्थ की विचारणा करें । सर्व १४ पूर्व । इस प्रकार सर्व को चौदह की संख्या के साथ जोड़ने पर उस संख्या वाच्य १४ पूर्वादि सभी ग्रहित होंगे । चौदह की संख्या तीन प्रकार से तीन अर्थ में मुख्य रूप से सूचित हुई है ।

१) १४ पूर्व २) १४ राजलोक ३) १४ गुणस्थानक

इस प्रकार नमस्कार महामंत्र को तीनों में सब प्रकार से संपूर्णतः घटाया जा सकता है । (१) १४ पूर्वों में सर्वत्र नवकार मंत्र है । चौदह पूर्वों का संपूर्ण सार यह नवकार मंत्र है । (२) १४ राजलोक में सर्वत्र नवकार महामंत्र है जिसकी विचारणा हम पूर्व में कर चुके हैं । (३) १४ गुणस्थानों में नवकार महामंत्र का भावात्मक स्वरूप है । इसे मंथन करके निकालना पड़ता है ।

जिस प्रकार नवकार को १४ पूर्व का सार कह सकते हैं, इसी प्रकार नवकार महामंत्र को १४ राजलोक का सार भी कह सकते हैं । १४ राजलोक रूप समस्त ब्रह्मांड

में सारभूत तत्त्व यदि कोई है, तो वह यह नवकार मंत्र है और अंत में १४ गुणस्थानों में सारभूत भी कोई हो तो वह नवकार महामंत्र है। इस प्रकार १४ संख्यावाची तीनों ही विवक्षा की दृष्टि से नवकार सबका सार है सारांश है - सारभूत है।

नवकार का सार - 'नमो अरिहंताणं'

नवकार महामंत्र चौदह पूर्वों का, चौदह राजलोक का तथा चौदह गुण स्थानों का - सभी का सार है - सारभूत है, परन्तु नवकार के सार का क्या ? नवकार अन्य का सार है तो नवकार का सार इसका प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' है, जिसका अर्थ है नमस्कार हो अरिहंतों को। इस प्रथम पद को ही सार क्यों कहा गया है ? इसका कारण यही है कि अन्य किसी भी पद पर नवकार या जगत का जितना आधार नहीं है उतना आधार नवकार महामंत्र के प्रथम अरिहंत पद पर है। दूसरे कारण में यह कहा जा सकता है कि अरिहंत नवकार के केन्द्र-स्थान में है। अरिहंत पद पर ही अन्य सभी पदों का आधार है। अरिहंत पद के आधार पर ही अन्य सभी पद आश्रित हैं, अतः केन्द्र में रहे हुए अरिहंत पद पर ही सबका आधार है। धर्म की आराधना भी अरिहंत को केन्द्र में रखकर ही की जाती है।

अरिहंत ही भगवान है। परम ईश्वर - परमेश्वर हैं परमात्मा हैं, तीर्थंकर हैं, वीतराग हैं, जिन जिनेश्वर - जिनेन्द्र हैं। इस प्रकार भगवानवाची शब्द अनेक हैं। जगत के अन्य धर्मों में भगवानवाची शब्दों में भगवान, ईश ईश्वर परमेश्वर मालिक God और Father आदि शब्द प्रचलित हैं। अन्य धर्मों में हमारे अरिहंत वीतराग, जिन, जिनेश्वर आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है और इसी प्रकार जैन धर्म में भी सर्वत्र भगवान शब्द अथवा ईश्वरादि शब्द भी अधिक प्रचलित नहीं हैं। जैनों ने पूर्व से ही अरिहंत वीतराग, तीर्थंकर शब्दों को ही भगवान के अर्थ में अधिक प्रचलित रखा है। इन शब्दों का ही बार बार प्रयोग किया है। इन शब्दों की ही परम्परा मिलती है अधिक प्रचलन इन शब्दों का ही है। नवकार में भी भगवान या ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार आगे के नमुत्थुणं लोगस्स आदि अनेक सूत्रो-स्तोत्रों में सर्वत्र अरिहंत - वीतराग तीर्थंकर शब्दों का ही प्रयोग प्रायः अधिक दिखाई पड़ेगा, परन्तु ईश्वर भगवानादि शब्दों का प्रयोग नहिंवत् अत्यन्त अल्प मात्रा में मिलेगा।

इसका कारण यह है कि 'भगवान' शब्द का एक नहीं बल्कि अलग अलग अनेक अर्थों में प्रयोग होता है। ईश्वर शब्द का रुढ अर्थ जगत का कर्ता - सृष्टि

के रचयिता के अर्थ में प्रायः होता है । अतः ये अर्थ जैन सिद्धान्त को स्वीकार्य न होने से इन शब्दों से भी दूर रहे और इन शब्दों से वाच्य जो भगवान और देव हैं उनसे भी दूर रहे । इस प्रकार जैन धर्म और जैन धर्मानुयायी जैनों ने अरिहंत को भगवान के स्वरूप में माना है ।

सृष्टिकर्ता के अर्थ में - ईश्वर :-

जगत के अधिकांश धर्मों में ईश्वर या भगवान को सृष्टिकर्ता के रूप में माना गया है । जगतकर्ता ही ईश्वर हो सकता है और ईश्वर ही जगत की रचना कर सकता है । बस, इसके सिवाय अन्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती । ईश्वर के सिवाय जगत का कर्ता अन्य कोई संभव ही नहीं हो सकता और जगत की रचना ईश्वर के सिवाय संभव ही नहीं हो सकती । ऐसी उभय पक्षीय विचारणा रखने वाले धर्म जगत में अनेक हैं । उनकी ऐसी मान्यता है । अतः भगवान या ईश्वर कौन ? तो एक ही उत्तर है कि जो जगत का कर्ता है । इस संसार को बनाने या बसानेवाला ही ईश्वर है वही भगवान है । बस, उसे ही भगवान माना जाए । यही आराध्य और उपास्य तत्त्व है । ईश्वर के सिवाय सृष्टि की रचना संभव ही नहीं है क्योंकि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई सर्वशक्तिमान अथवा समर्थ है ही नहीं, अतः सृष्टि की रचना भी अन्य किसी से संभव ही नहीं है । इसीलिये इसे ही एक मात्र ईश्वर माना जाता है । यदि दोनों को अलग अलग माने तो बाजी बिगड़ जाती है । जगत की रचना करने वाला ईश्वर अन्य और उपास्य ईश्वर कोई अन्य मानें तो दोनों में छोटे - बड़े कौन ? न्यूनाधिक शक्तिवाले कौन ? सर्व शक्तिमान् कौन ? आदि अनेक भेद-प्रभेद अलग अलग ईश्वर मानने में हो जाते हैं । अतः सृष्टिकर्ता भी यही ईश्वर और उपास्य आराध्य देव भी यही ईश्वर है अलग अलग नहीं है - ऐसी उनकी मान्यता है ।

ईश्वर कर्तृत्ववादी धर्म :-

जगत के अधिकांश धर्म ईश्वर को जगत के कर्ता के रूप में मानते हैं, सृष्टि के रचयिता के रूप में मानते हैं, अर्थात् वे धर्म अपने अपने भगवान को जगत् कर्ता ईश्वर के अर्थ में स्वीकार करते हैं ।

१) हिन्दू धर्म में ईश्वर को जगत का कर्ता माना गया है ।

२) ईसाई धर्म में The Almighty is God the Supreme Power

को सृष्टि कर्ता ही कहा गया है । इनके कथनानुसार इनके भगवान ही इस सृष्टि की रचना करते हैं ।

३) मुसलमानों के इस्लाम धर्म की दृष्टि से भी अल्लाह-खुदा ही सृष्टि का निर्माता है । इनकी मान्यता भी ईश्वर की सृष्टि रचना करने वाले के रूप में ही है । हिन्दू धर्मान्तर्गत अनेक पक्ष और मत भी सृष्टि के कर्ता के अर्थ में ईश्वर को ही मानते हैं । वेदों के मानने वाले वेदान्तमतानुयायी भी ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानते हैं । नैयायिक - वैशेषिक भी सृष्टि कर्ता - जगत का रचायिता ईश्वर को ही मानते हैं । शैव-शंकर मतवादी भी सृष्टि कर्ता को ही ईश्वर मानते हैं ।

सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को न माननेवाले पक्षों में जैन, बौद्ध, सांख्य और मीमांसको का समावेश होता है । इसी प्रकार पाश्चात्य मतों में भी जगत्कृतत्ववादी पक्ष ही अधिकांशतः हैं । जैन धर्म में ईश्वर को जगत्कर्ता के रूप में नहीं माना है । इनके अनुसार आत्मा ही परमात्मा स्वरूप में शुद्ध होती है । उस परमात्मस्वरूप को ही ईश्वर माना है । इसे अरिहंत तीर्थंकर अथवा वीतराग की अवस्था में पूजा की जाती है । इनके अनुसार जगत के कर्ता की कोई आवश्यकता ही नहीं है - सृष्टि के कर्ता की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि सृष्टि स्वयंभू है । जीव-अजीव के जो मूलभूत पदार्थ स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं वे ही उनके संयोग वियोग की स्थिती के अनुसार सृष्टि का निर्माण करते चलते हैं । संयोग जीव-अजीव को मिलाते है वियोग जीव-अजीव को अलग अलग करते हैं । इस प्रकार जीव स्वयं अजीव के संयोग से अपने ही तरीके से स्वयं निर्माण कर लेता है । पौद्गलिक सृष्टि में पुद्गलों की प्रधानता है । जीव पुद्गलों के ग्रहणकर्ता हैं । अतः सृष्टि के कर्ता बनानेवाले की आवश्यकता नहीं रहती । जीव जिस प्रकार अजीव के संयोग से सृष्टि निर्माण करता है उसे ईश्वर कहने की कोई आवश्यकता नहीं है । अतः जैन मान्यता स्पष्ट है कि अरिहंत भगवान इस सृष्टि का निर्माण नहीं करते । वे जगत की रचना नहीं करते और जीव स्वयं अजीव के योग-संयोग से जो रचना करता है उसे भगवान या ईश्वर नहीं कहते, न सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर की कल्पना भी की गई है । अन्य सभी धर्मों ने सृष्टि की रचना को स्विकार किया है अतः उसे बनाने वाले को ईश्वर मान लिया है । सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर की कल्पना करें ? या ईश्वर के लिये सृष्टि - रचना के कार्य की कल्पना करें ? सृष्टि की रचना के लिये ईश्वर को मानना आवश्यक है या ईश्वर को मानने के बाद वह

क्या कार्य करता है। फिर ईश्वर को क्या करना रहा ? अतः कुछ भी कार्य न मिले तो ईश्वर के लिये सृष्टि की रचना करने का कार्य उन सभी धर्मों ने मान लिया है, क्यों कि सृष्टि की रचना के सिवाय ईश्वर के करने योग्य कार्य उसकी मान-मर्यादा के अनुरूप अन्य कोई रहता ही नहीं है, दिखता ही नहीं है, अतः ईश्वर के जिम्मे यह कार्य डाल दिया गया है। इस प्रकार अन्योन्य दोनो अकल्पनीय, अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष कार्यों के बीच जन्य - जनक भाव बिखरकर दोनों तत्त्वों को एक दुसरे के साथ जोड़ दिया गया है। ईश्वर के बिना सृष्टि नहीं और सृष्टि रचना का कार्य किये बिना ईश्वर का अस्तित्व नहीं - क्या यह बात उचित है - न्यायसंगत है ?

इस प्रकार तर्क का स्वरूप बिखरकर विचार करें कि दोनों ही पक्षों में से कौन सा पक्ष कहाँ तक न्यायोचित है ? 'ईश्वर सत्त्वे सृष्टि सत्त्वं' वा 'सृष्टि सत्त्वे ईश्वर सत्त्वं' ईश्वर हो तो सृष्टि होती है या सृष्टि हो तो ईश्वर होता है ? इसके उत्तर में दोनों को एक दूसरे का पूरक बना दिया है। दोनों के साथ जोड़ दिया है; परन्तु सृष्टि की उत्पत्ति अथवा रचना अथवा निर्माणकर्ता ईश्वर को न माननेवाला जैन दर्शन दोनों को एक दूसरे का कारण स्वरूप नहीं मानता है। यह तर्क तो ऐसा है जैसे सूर्य हो तो रात्रि संभव है या रात्रि हो तो सूर्य संभव है ? जिस प्रकार सूर्य के साथ रात्रि का कुछ भी लेना-देना नहीं है, उसी प्रकार रात्रि का भी सूर्य के साथ कोई संबंध नहीं है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर का सृष्टि की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं है और न सृष्टि का भी ईश्वर के साथ कुछ भी लेना-देना है; फिर भी अन्य मतवादी दोनों के बीच कार्य-कारण भाव संबंध मानते हैं और ईश्वर को सृष्टि का कारण मानकर चलते हैं। एक ही सिक्के के दो पहलुओं की भाँती ईश्वर और सृष्टि को जोड़ दिया गया है।

सृष्टि के संबंध में विचारणा :-

जगत के सर्व सामान्य लोगों को निश्चित रूप से यह सृष्टि देखने पर कल्पना खड़ी होती है कि यह सब किसने बनाया ? कब बनाया ? कैसे बनाया ? कितनों ने मिलकर बनाया ? क्या किया होगा ? किस में से बनाया होगा ? आदि सैकड़ों प्रश्नों का उपस्थित होना स्वाभाविक है। समय संबंधी प्रश्नों में ऐसे विचार आते होंगे कि यह सृष्टि कब बनी ? कितने वर्ष हुए ? बनने में कितने वर्ष लगे ? क्या जादू या चमत्कार की तरह एक चुटकी बजाने के साथ ही इस सृष्टि का निर्माण

हो गया ? अथवा कितने वर्षों में यह बन पाई ? परन्तु इस समय को ही कैसे बनाया ? काल भी कोई वस्तु तो है ही ? इसे कब बनाया ? इतना ही नहीं, बल्कि घूमने - फिरने के लिये किसी पर्वतीय स्थल पर गए हो और वहाँ से सृष्टि के सौन्दर्य को देखें तो भी ऐसा लगता है कि इतने सारे पर्वत, मीलों तक लंबी पर्वतमालाएँ, नदियाँ, झरने, वृक्ष, पौधे, पत्ते और कल्पनातीत विशाल शिलाएँ, चट्टाने, चोटियाँ, विस्तृत भूभाग, बड़े बड़े गहन वन, असंख्य वृक्ष - फल फूल तथा पत्ते, विविध प्रकार के पशु-पक्षी नाना प्रकार के रंग-बिरंगे सुंदर पक्षीगण, पशुगण आदि सब कितनी अद्भुत यह जीव सृष्टि है ? माउन्टआबू, महाबलेश्वर, माधेरान, सापुतारा, शिमला मसूरी, दार्जिलिंग और हिमालय के बद्री-केदार-अमरनाथ आदि के दृश्य देखते समय मानव मुख से उपरोक्त शब्द प्रस्फुटित हो जाता हैं । मानव आश्चर्यचकित हो जाता है । वह तो अहा - अहा बोल उठता है । एक बात तो निश्चित रूप से स्पष्टतः समझ में आती है कि यह सब मानवनिर्मित तो कदापि नहीं है । किन्हीं भी परिस्थितियों में यह **Man Made** तो नहीं लगता है । मानव का सामर्थ्य नहीं कि वह इतनी लम्बी पर्वतश्रेणिं खड़ी कर सके। कदाचित् मान भी लें कि हजारों - लाखों श्रमिकों को लगाकर इतनी जबरदस्त पर्वतमालाएँ खड़ी कर दी हों, परन्तु उनके लिये इतनी बड़ी बड़ी विशाल शिलाएँ कहाँ से लाई गई । ये किसने बनाए ? मानव ने ये कैसे बनाए ? कदाचित् यह भी मान ले कि पत्थर भी मानव ने ही बनाए हैं तो ये किस में से बनाए ? पत्थरों के लिए कच्चा माल कहाँ से लाए ? और कैसे बनाए ? इस प्रकार एक विचार में से अन्यविचार और विचारों की लम्बी श्रृंखला ही चलती रहेगी।

पर्वतमालाओं को देखने पर कदाचित् मानव सृष्टि की ओर थोड़ी बहुत विचारणा ढलती भी लगे परन्तु जब आकाश - पृथ्वी और समुद्रोंकी ओर देखकर विचार करते हैं तब क्या लगता है ? इतना विशाल आकाश किसने बनाया ? कब बनाया ? कहीं भी आकाश का छोर तक नहीं दीखता है । अनन्त पृथ्वी को भी किसने और किसमें से बनाया ? और यह समुद्र ? इतना पानी और यह भी कितना गहरा होगा ? कितना लम्बा - चौड़ा है आदि हजारों विचार आने पर मस्तिष्क एक ही स्थल पर रुकता है कि यह सब किसने बनाया ? कब बनाया होगा ? बनाए हुए कितना समय हुआ ? बनाने में कितना समय लगा होगा ? कैसे मान लें कि यह सब मानव कृति है ? मानव सृष्टित यह सृष्टि हो-यह संभव ही नहीं है । सम्पूर्ण दुनिया देखने पर अमेरिका, आफ्रिका, चीन, रुस, ग्रीस आदि सैंकड़ो देशों की और

देखने पर तथा वहाँ की प्राकृतिक विचित्रताएँ देखने पर मननिश्चित रूप से आश्चर्यचकित हो जाता है और अहा-अहा- कहने के सिवाय हमारे पास कुछ भी नहीं बचता है ।

अंत में ईश्वर का आश्रय :-

इस प्रकार चारों ओर की सृष्टि देखने के पश्चात् और इसके संबंध में हजारों प्रकार की अटकलें लगाने के बाद मस्तिष्क निष्क्रिय सा बन जाता है और बहुत मंथन करने के बाद निरुत्तर बना हुआ मानव मन और मस्तिष्क तथा कल्पना के अश्व भी जब अंत में थक गए तब मानव कल्पना ने ईश्वर को ढूँढ निकालने की विवशता दिखाई । यह मन की एक निर्बलता है कि मानव जहाँ घुटने टेककर शरणागति स्वीकार कर लेता है वहाँ वह स्वयं ही अपनी बुद्धि के द्वार बंद कर बैठता है और सच्ची बात लगती है कि वर्षों से और सदियों से विचार करते करते थक चुके मानव को एक बात तो लगती है कि - यह तो अपनी बुद्धि से बाहर की बात लगती है, यहाँ बुद्धि काम ही नहीं कर सकती । कल्पनाओं के घोड़ोंको बुद्धि की लगाम में बाँधकर दौड़ाते भी है परन्तु मस्तिष्क का दर्हीं होने पर भी यदि मानव को निरुत्तर ही रहना पड़ता हो वहाँ मानव करे भी तो क्या करे ? किसी को भी श्रेय देकर संतोष न करे तो करे भी क्या ? ऐसी गजब की सृष्टि - यह सब देखने के पश्चात् मुँह में से यही उद्गार निकलें कि यह सब ऊपरवाले का कार्य होगा ।

यह ऊपरवाला कौन है ? कैसा है ? हजार हाथों वाला है या हजार मुखवाला है ? कुछ भी पता नहीं चलता है । वृद्ध है या युवक ? रूप रंग में गोरा है या श्याम है ? सर्वशक्तिमान् स्वयं अकेला ही है या उसकी सेना है, उसके अधीनस्थ कार्यकर्ताओं की विशाल संख्या है जिन्हे आज्ञा देकर जहाँ तहाँ सब निर्माण करवाता रहता है ? क्या यह ऊपरवाला सशरीरी है या अशरीरी है ? इच्छानुसार कार्य करता है या अनिच्छापूर्वक कार्य करता है ? सुव्यवस्थित आयोजन पूर्वक कार्य करता है या सब कुछ अव्यवस्थित ही चल रहा है ? क्या यह कोई जादूगर जैसा है या इन्द्रजालिक है ? क्या यह मंत्र शक्ति से चुटकी बजाने जितने समय में ही ऐसी विशालसृष्टि की रचना कर डालता है या फिर विभागवार शनैः शनैः विचारपूर्वक सुंदर आयोजन के अनुसार व्यवस्थित कार्य करता है ? इससे भी किसी प्रकार की भूल होती है या नहीं ? क्या सारे समुद्र का पानी खारा हो गया या जान बुझकर

ऐसा बनाया ? अथवा भूल से नमक अधिक गिर पड़ा और सब पानी खारा बन गया ? क्या उसे पानी तो मीठा ही बनाना था पर जल्दबाजीमें उससे खारा बन गया ? तो फिर यह ऊपरवाला सभी प्रकार से सभी बातों में जानकार - होशियार सर्वज्ञ होगा या अल्पज्ञ होगा ? इतनी बड़ी विशाल सृष्टि बनाने की आवश्यकता क्या थी ? क्यों बनाई क्या प्रायोजन था ? क्या किसी के कहने से उसने यह सृष्टि बनाई ? क्या हुआ ? मानव मन की अटकलें रुकने वाली नहीं है ।

मानव कल्पना की उत्पत्ति - ईश्वर और सृष्टि :-

सृष्टि देखने के पश्चात् अटकलों और अविरत दौड़ते हुए कल्पना के घोड़ों को कहीं भी विश्राम न मिला तब अन्तिम विश्राम स्थल के रूप में उसने ईश्वर का घर ढूँढ़ लिया । हार मान कर ईश्वर को मानना पड़ा या मस्तिष्क पर बोझ मानकर ईश्वर का आभार मानना पड़ा ? क्या हुआ ? मानव इस सैंकड़ों प्रश्नों के समाधान प्राप्त करने हेतु ईश्वर की सत्ता को ढूँढ़ निकालता है; परन्तु मकड़ी की भाँति स्व. निर्मित प्रश्न चिह्नों से भरी हुई इस सृष्टि के रहस्यों को ईश्वर के सिर-मढ़ने गया वहाँ तो ईश्वर तत्व भी ऐसा गूढार्थ वाला ढूँढ़ निकाला कि उससे भी अधिक जटिल समस्या खड़ी हो गई । अभी तक तो मानव सृष्टि-विषयक ही अटकलें करता था.. परन्तु सृष्टि का कारण ढूँढ़ना तो दूर रहा, परन्तु शोध में ईश्वर हाथ लगा और मानव मन ने कल्पना के घड़ों को विश्राम देने हेतु भी जहाँ ईश्वर को माना, वहीं ईश्वर विषयक अनेक कल्पनाएँ जागृत हो गई, सैंकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों अटकलें शुरू हो गई। ईश्वर को माना तो ईश्वर का स्वरूप भी इतना धुँधला और संदिग्ध रहा कि ईश्वर का शुद्ध सच्चा स्वरूप किसी के भी हाथ न लगा ! प्रत्येक धर्म के व्यक्ति अपने अपने ढंग से ईश्वर के स्वरूप के विषय में दावा करते रहे, परन्तु उसमें भी संशयास्पद ही रहे ।

ईश्वर को कैसा मानें ? इस बात का आधार सृष्टि पर रह गया । जैसी सृष्टि है, जैसी सृष्टि की रचा है इसी प्रकार ईश्वर को भी सृष्टि छोरवत् ही व्यापक और विराट मानना रहा ! सृष्टि अकल्प है । इस में एक नहीं, परन्तु अनंत वस्तुएँ हैं। अतः ईश्वर को भी अनंत स्वरूप मे मानना रहा । ईश्वर को अचिन्त्य शक्तिमान् सर्व शक्तिमान् स्पन्न मानना ही रहा हजार हाथ वाला और इच्छा मात्र शक्ति सम्पन्न मानना ही पड़े - क्यों कि तभी सृष्टि की समस्या का समाधान हो सके, तभी सृष्टि विषयक

शंकाओं का समाधान हो सकता है । इस प्रकार जैसी सृष्टि वैसे ही ईश्वर । सृष्टि की कल्पना के आधार पर ईश्वर की कल्पना करने गए । इसमें हुए ऐसा कि सृष्टि तो सत् पदार्थ विद्यमान थी और है जब कि उसके आधार पर हुई कल्पना के अनुसार ईश्वर कल्पनाओं में उतरता भी है या नहीं ऐसा भी विचार नहीं आया और ईश्वर का ही रूप स्वरूप ऐसा हो गया कि वह ईश्वर ही काल्पनिक लगने लगा है । अब सृष्टि तो दूर रही, परन्तु ईश्वर-विषयक कल्पनाओं-विचारणाओं ने मानव को सत्य से लाखों कोस दूर ले जाने का कार्य किया और मानव ईश्वर के विषय में भी कल्पनाओं के घोड़े दौड़ाने लगा, अटकलें करने लगा ।

ईश्वर के विषय में संभाव्य प्रश्न :-

क्या ईश्वर है या नहीं? होगा या नहीं ? होगा तो कैसा होगा ? होगा तो कहाँ होगा ? कहाँ रहता होगा ? वह दिखता है या नहीं ? कब दिखता है ? उसका शरीर हो तो दिखाई दे या अशरीरी है ? यदि शरीर है तो कैसा है ? अपने जैसा है या फिर भूत-प्रेत-व्यंतर या देवता जैसा है ? वह दृश्य है या अदृश्य है? सशरीरी है या अशरीरी ? सशरीरी है तो हजार हाथवाला है या हजार मुँहवाला है ? नहीं - नहीं - इतनी बड़ी सृष्टि की रचना करनी है तो अवश्य ही हजार हाथवाला ही होगा । वरना इतनी विशाल सृष्टि कैसे बना सकता था ? तो फिर ईश्वर अकेला है या — किसी राजा जैसा राजसी ठाठ के वैभव में रहनेवाला है? उसके सेवक - कर्मचारी - अंगरक्षक - लश्कर आदि कितने होंगे इतनी बड़ी सृष्टि की रचना उसने अकेले ने स्वयं ही की या श्रमिकों को आदेश देकर उनसे करवाई? तब तो इतनी बड़ी सृष्टि की रचना करने के लिये कितनी बड़ी संख्या में मजदूर लगाए होंगे ? तब ऐसा विशाल राजाशाही काफिला कहाँ रहता होगा ? राजा के रूप में ईश्वर होगा, तो उसका राज्य या राजदरवार आदि कुछ तो होगा ही न? क्या सब अदृश्य है या उसका अस्तित्व है ? नहीं — नहीं ऊपर आकाश में होगा क्या ? आकाश क्या है? आकाश कितना बड़ा होगा ? आकाश कब बनाया? पहले ईश्वर बना या पहले पृथ्वी - पानी - वायु - अग्नि - आकाश आदि बनाए? यदि प्रारंभ में कुछ भी न था और ईश्वर अकेला ही था तो फिर उस ईश्वर को किसने बनाया ? यदि उसका शरीर था तो फिर उसे जन्म देने वाले माता पिता थे या नहीं ? वे कौन थे ? ईश्वर के पिता भी ईश्वर के रूप में थे या सादे-सामान्य व्यक्ति थे ? तो वे कहाँ से आए थे ? इस

प्रकार ईश्वर के पूर्व भी कोई सृष्टि थी या नहीं ? अर्थात् सृष्टि की रचना ईश्वर के बाद की मानें या ईश्वर से पूर्व की मानें ? यदि पूर्व में कुछ था तो वह क्या था ? किस स्वरूप में था ? यदि पृथ्वी - पानी - अग्नि - वायु, आकाशादि ईश्वर के पहले भी अस्तित्व में थे ऐसा पक्ष स्वीकार करते हो, तो फिर ईश्वर ने क्या बनाया ? ईश्वर के हिस्से में बनाने का क्या रहा ? और यदि ईश्वर से पूर्व सब कुछ बना हुआ ही था तो वह किसने बनाया था ? तो क्या उसके लिये किसी अन्य ईश्वर की कल्पना या व्यवस्था की जाए ? या फिर एक ही ईश्वर को मानें ? एक ईश्वर की बात गले नहीं उतरती । अतः अनेक ईश्वर माने जाएँ । यद्दि अनेक ईश्वर मानते हैं तो किस संख्या पर जाकर रुकें ? इस प्रकार ईश्वर की संख्या कितनी होगी ?

सृष्टि विषयक ईश्वर संबंधी प्रश्न :-

काल की दृष्टि से विचारणा करें तो भी सैंकड़ों प्रश्न खड़े होंगे । ईश्वर ने काल बनाया या फिर ईश्वर के पहले भी काल था क्या ? था तो काल क्या था ? किसने बनाया था ? पृथ्वी - पर्वत आदि के लिये तो पत्थर लेकर पृथ्वी आदि बनाए हों उसी प्रकार काल को किस कच्चे माल से बनाया था ? काल कितना गिनें ? सृष्टि हुए कितना काल बीता ? और ईश्वर को हुए कितना काल हुआ ? इन दोनों में समान संख्या वाले वर्षों का ही उत्तर आएगा या फिर विशेष संख्या के वर्ष आएँगे ? अर्थात् ईश्वर और सृष्टि के बीच अंतर कितना गिनें ? और यदि अंतर काल आता है तो कितने वर्षों का आता है ? और इतने अंतर काल के वर्षों में ईश्वर क्या करता था ? जब सृष्टि निर्माण न करता था तो फिर क्या करता था ? सृष्टि बनाने के लिये ईश्वर या फिर ईश्वर के सिर सृष्टि को यश दिया ? क्या ऐसी सृष्टि बनाने से ईश्वर का यश बढ़ा ? मान बढ़ा ? प्रशंसा सभी के मुख से सर्वानुमति से हो रही है या हजारों लाखों दुःखी लोग ईश्वर को गालियाँ भी देनेवाले हैं । गालियाँ क्यों देते होंगे ? क्या सृष्टि का निर्माण करना आवश्यक था ? या न भी किया होता तो चलता ? क्या सृष्टि बनाने से ईश्वर को यश प्राप्ती हुई ? क्या सृष्टि की रचना करके ईश्वर को प्रसन्नता हुई ? या फिर उसे अपनी कृति पर पछताना पड़ा ? दोनों में से क्या हुआ ? क्या यह सृष्टि बराबर है या इस में कुछ भूलें रह गई है ? क्या जल्दबाजी में कुछ उल्टा सीधा हो गया है ? क्या माना जाए ? यदि मानते हैं कि ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि में कुछ न्यूनता रह गई है तो ईश्वर के कौशल - अनुभव

और ज्ञान में शंका होती है या नहीं? क्या ईश्वर में आत्म विश्वास नहीं है अतः वह वेद की पोथियों में देख-देखकर सृष्टि बनाता है ? यदि वेद-पोथियों में देख देखकर ही ईश्वर सृष्टि बनाता है तो फिर वह ईश्वर सर्वज्ञ कैसे सिद्ध हो सकता है ? उसकी सर्वज्ञता में शंका होगी या नहीं ? यदि वह सर्वज्ञ न हो तो फिर उसे अल्पज्ञ मानना पड़े । यदि उसे अल्पज्ञ मानें तो सैकड़ों विषय ऐसे रह जाएँ जो ईश्वर जानता ही न हो, तो फिर वह कैसे पदार्थ कैसे बना पाए ? और यदि अल्पज्ञ की बनाई हुई यह सृष्टि माननी ही हो तो फिर ईश्वर की ही बनाई हुई क्यों मानें ? मानव भी अल्पज्ञ ही है । मानव द्वारा ही निर्मित सृष्टि को हम क्यों न मानें ? मानव दृष्टिगोचर तो है? ईश्वर दृष्टिगोचर भी नहीं और दूसरी ओर सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा रचित सृष्टि माननी हो तो फिर सृष्टि के सैकड़ों विषयों में विपरीतता, विचित्रता अथवा विषमता क्यों रह गई ? सागर में अगाध पानी है पर उसे खारा क्यों बनाया ? ऐसा खारा पानी जगत के जीवों के पीने के उपयोग में कैसे आ सकता है ? गुलाब के पुष्प बनाए तो उन्हें काँटों में क्यों खिलाए ? अनेक वनस्पतियों को भी कँटीली बनायी है - पर क्यों ? यदि ईश्वर दयालु है - कृपालु है, करुणावंत है तो फिर उसने नरक और नारकी जीवों का निर्माण क्यों किया ? कारागृह दंड और अपराध के क्षेत्र बनाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ? इस प्रकार परस्पर विरोधी भाव और विपरीतता दृष्टिगोचर होते हैं - ऐसे पदार्थों को बनाने की क्या आवश्यकता पड़ी? क्या किसी समर्थ द्वारा निर्मित पृथ्वी में कोई त्रुटि बता सकता है ? यदि सर्वज्ञ के कार्य में अल्पज्ञ सामान्य मानव त्रुटि बताए तो फिर क्या समझा जाए ? सर्वज्ञ ईश्वर के गुणों की पुष्टि हो जाती, परन्तु जो गुण ईश्वर में बताए जा रहे हैं, उनसे विपरीत सृष्टि बताई जा रही है तो क्या समझा जाए ? स्वाभाविक है कि इंसान की बुद्धि ऐसे सैकड़ों प्रश्नों की झड़ी लगाए ? ऐसे ही सैकड़ों प्रश्न सर्वथा निराधार तो नहीं । एक व्यक्ति के नहीं बल्कि लाखों लोगों के ऐसे प्रश्न हैं और होते हैं। जगत का आगे पूछते हैं परन्तु प्रश्नकर्ता को पूर्ण उत्तर मिलते नहीं, उत्तर दिये ही नहीं जाते अतः मन को संतोष नहीं होता । दूसरी ओर ईश्वर और सृष्टि दोनों को मानव कल्पना शक्ति के बाह्य विषय बना दिये गए हैं और दोनों को अदृश्य कह दिया । कल्पनागम्य भी नहीं रहने दिया अतः मानव अनंत वर्षों तक भी द्विधा में संशय में ही फँसा रहे। फिर श्रद्धा रखने का दबाव डाला जाए और ऐसे बुद्धिगम्य न होने पर भी इन पर श्रद्धा रखने की बात कही जाए और फिर श्रद्धा न रखनेवालों को, न मानने वालों

को नास्तिक, अंधश्रद्धालु और मिथ्यात्वी कहकर उन्हें मधुर गाली देकर बहिष्कृत किया जाए - यह कैसा न्याय ?

भगवद् गीता में सृष्टि दर्शन :-

हिन्दू धर्म का प्रसिद्ध धर्मग्रंथ 'भगवद्गीता' किसी से छिपा नहीं है। यह एक विशालकाय ग्रंथ है। कई बार 'भागवद् सप्ताह' चलता है। उस कथा में भगवद्गीता का वाचन होता है। इस भगवद्गीता ग्रंथ के 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक 99वे अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन को योग विश्व के रूप का दर्शन करवाते हैं उसका वर्णन है। अर्जुन स्वयं विश्व दर्शन करने की अपनी इच्छा प्रकट करते हुए निवेदन करते हैं -

एवमेतद्यथऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।

दृष्टुमिच्छामि ते रूपमेश्वर पुरुषोत्तम ॥३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया दृष्टुमिति प्रभो ।

योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥४॥

हे परमेश्वर ! मैं आपका रूप और ऐश्वर्य देखने की इच्छा रखता हूँ। हे प्रभो! हे योगेश्वर ! यदि शक्य हो तो वह मुझे दिखाओ। इसके उत्तर में श्री कृष्ण कहते हैं कि -

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्ण कर्तृनि च ॥५॥

पश्यादित्यान्यसून रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ! ॥६॥

हे पार्थ अर्जुन ! देखो मेरा सर्वाश्रयीरूप सो रूपों में, हजार रूपों में, अनेक रूपों में, अनेक प्रकार का रूप, दिव्य रूप, भाँती भाँती के रूप रंगादि का रूप देखो 92 सूर्य - 2 वसु, 99 रुद्र, अश्विनी, वायु आदिको देखो और इस जगत में जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, शास्त्र से दिखाई देता है, पूर्व में कभी भी न देखे हों ऐसे अदृष्ट और सभी आश्चर्यकारी सर्व लोक और सर्व वस्तुओं को और विचित्रताओं को तु मेरे में देख। इतना कहकर योगेश्वर अर्जुन को कहते हैं कि -

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमने नैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामी ते चक्षुःपश्य मे योगमेश्वरम् ॥७॥

हे अर्जुन ! इन तेरे चर्म चक्षुओं से तो तु मुझे इस प्रकार देख नहीं सकेगा। तुझे मैं ये दिव्यचक्षु देता हूँ जिनसे तू मुझे और मेरे योग और ऐश्वर्य को देख सकेगा। इतना कहकर श्री कृष्णने अर्जुन को दिव्य नेत्र प्रदान किये और फिर दिव्य सृष्टि का रूप - स्वरूप दिखाया ।

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥९॥

सृष्टि का रूप अपने अन्दर दिखाते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण दिखाते हैं

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥११॥

तत्रेकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकथा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

ततः स विस्मयाविष्टो वृष्टरोमा धनञ्जयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे सर्वास्तथा भूत विशेष संधान् ।

ब्रह्माण्मीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अनेक बाहूदरवक्त्र नेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदि पश्यामि विश्वेश्वर । विश्वरूप ॥१६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिण च तेजोराशिं सर्वं तो दिप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीआनलार्कं द्युतिम प्रमेयम् ॥१७॥

अनादि मध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यं नेत्रम् ।

पश्यापि त्वाम् दीप्तदुताशनवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं पन्तम् ॥१८॥

द्यावापृथिव्यारिदमन्तरे हि व्याप्तं वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।

दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदे तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्र्वः ॥

गन्धर्व यक्षासुर सिद्ध संघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्व ॥२१॥

नभस्स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्रविशालनेत्रम् ।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामिशमं च विष्णो ॥२४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निर्मानि ।

दिशा न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

दिव्य अंतरिक्ष में एक साथ हजारों उदित सूर्य प्रकाशमान् ॥

देखे - इन सब की प्रभा जो प्रकाश स्वरूप है वह सब आपका ही माहात्म्य है । देव देव के इस रूप में पांडवों का रूप भी अर्जुन ने देखा । यह आश्चर्य देखकर अर्जुन ने विस्मित बुद्धि से प्रणाम करके भगवान की स्तुति की और निवेदन किया कि हे देव ! मैं आपकी देह में सभी देवताओं के दर्शन कर रहा हूँ और सभी प्राणियों को भी देख रहा हूँ । स्थावर - जंगम सभी प्राणियों के समूह, कमलासन पर आसीन चतुःमुखरूप ब्रह्मा को पृथ्वी रूपी कमल पर विराजमान देखे, वशिष्ठादि ऋषि, वासुको आदि को दिव्य स्वरूप में देखा, अनेक हाथ, मसूड़े, मुँह, नेत्र आदि युक्त अनंतरूपयुक्त भगवान को सर्वत्र देख रहा हूँ । विश्व के ईश्वर, विश्व के नेता, विश्व के शरीर रूप को अनंत स्वरूप में देख रहा हूँ । विश्व के नेहा, विश्व के शरीर रूप को अनंत स्वरूप में देख रहा हूँ । जिनका अंत नहीं, मध्य नहीं और आदि भी नहीं उन विश्वेश्वर को मैं देखता हूँ । मुकुट, गदा-चक्रधारी प्रकाशपुंज स्वरूप चारों ओर से देदिप्यमान ईश को, प्रदीप्त वायु, अग्नि, अग्नि की ज्योति युक्त कष्टपूर्वक भी न देख सकें ऐसे ईश को भी देख रहा हूँ । आदि - मध्य और अन्त रहित अनादि - अनंत शक्तिशाली, अनंत हाथवाले, सूर्य और चन्द्र रूप दोनों नेत्रों वाले, दीप्त अग्निसे, व्याप्त मुखवाले अपने प्रबल प्रकाश से तप्त समस्त विश्व को देखता हूँ । स्वर्ग, पृथ्वी आकाशादि सब तारे एक के द्वारा ही व्याप्त किये गए हैं और सभी दिशाएँ भी एक के द्वारा ही व्याप्त हैं, अर्थात् तू ही सर्वत्र व्याप्त है । ऐसे सर्व व्यापी अत्यन्त उग्ररूप से लोक व्यापी स्वरूप को देखकर सभी व्यथित हुए लगते हैं ।

रुद्र, सूर्य, वसव, आदि देवतागण भी तेरी कृपा को प्राप्त किए हुए देवता भी तुझे देखते हुए होते हैं, विश्व में देवता अश्विनी, वायुदेव, उष्म पा पितर, हाहा-हुहु आदि गंधर्व, कुबेरादियक्ष, सुर और असुर, कपिलादि सिद्ध-समूह सभी आश्चर्यचकित होकर तुझे ही देख रहे हैं ।

समस्त आकाशव्यापी अग्नि से मानो जाज्वल्यमान दीप्त प्रसारित मुख और उसमें भी लाल लाल फटी हुई आँखोंवाले तेरे स्वरूप को देखकर अन्तरात्मा व्यथित हो गई है । वे धैर्य सुख-शांती और स्वस्थता को पाने में असमर्थ रहे हैं। हे विष्णु सर्व व्यापी भगवान् ! आपका इतना भयंकर रूप देखकर भयभीत बने हुए प्राणि अन्यत्र कहीं भी न जा सके — कहाँ जाएँ ? तू ही समग्र आकाश में व्याप्त हो तो फिर आकाश से अर्थात् तुझ से बाहर कैसे जाएँ ? वे कहीं गए ही नहीं — अर्थात्

तू ही सर्वत्र व्याप्त है । हे भगवन् ! युग के अंत में प्रलयकाल के समय तेरा रूप इतना विकराल और भयंकर हो जाता है कि - तेरे द्वारा विस्फारित भयावह मुख और उसमें रहे हुए दाँतादि इतने डरावने लगते हैं कि दशों ही दिशाएँ भी तुझे देखकर सुख-शांति प्राप्त न कर पायी बल्कि घबरा गई। हे जगत के निवास रूप ! ब्रह्मादि ईश्वरों के भी परमेश्वर रूप प्रभु ! मुझ पर प्रसन्न हो और इस सृष्टि में मेरे प्राप्त करने योग्य स्थान दिखाओ ।

इस प्रकार श्री कृष्ण ने अपना मुँह फाड़कर अपना जो विकराल रूप दिखाया और अर्जुन ने जो प्रलयकाल का रूप देखा - उससे उसने व्याकुल बनकर घबराकर भगवान को प्रार्थना की कि हे प्रभु ! मुझ पर आप प्रसन्न हों और मेरे करने योग्य कार्य की मुझे आज्ञा दो - दिखाओ - इसके बाद श्री कृष्ण ने अर्जुन को मुँह में धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों को परस्पर लड़ते हुए दिखाया - भीष्म और द्रोणादि को भी लड़ते हुए दिखाये । भगवान के मुँह में मानो साक्षात् प्रलयकाल का विकराल स्वरूप देखा हो इस प्रकार अर्जुन भयभीत हो गए । फिर श्री कृष्ण ने कहा - 'नाशाय विशन्ति' देखो ! ये सब नाश के लिये ही तैयार हैं - मरने के लिये ही आए हैं तो फिर तू किसकी प्रतीक्षा कर रहा है ? उख तीर-धनुष और तू क्या करता है ? तू कहाँ मारनेवाला है ? यह सब तो मैं ही करता हूँ, तू क्यों अभिमान अपने सिर लेता है कि मैं करता हूँ, तू तो कुछ भी नहीं है । यह सब मेरी ही लीला है । मेरे संकेतानुसार तू तो नाचनेवाली मेरे हाथ की कठपुतली है । ऐसा कहकर श्री कृष्ण ने अर्जुन को उत्साहित करते हुए कहा-

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यथोलभस्वजित्वा शत्रून्मुहःदव राज्यं समृद्धम् ।

यथैवेते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

हे अर्जुन ! उठ ! खड़ा हो, शत्रुओं पर विजयी बनकर यश प्राप्त कर और समृद्ध राज्य को भोग । तू क्यों घबरा रहा है ? मेरे द्वारा ही ये सब को लीया जाता है, अर्थात् निश्चित रूप से तो ये मार डाले गए हैं, प्राण रहित कर दिये गए हैं, तू तो निमित्तमात्र है । अतः निमित्त बन । युद्धभूमि में रण संग्राम में तू आगे बढ़ और चढ़ अपने धनुष पर तीर - इस प्रकार बार बार कहकर श्री कृष्ण ने अर्जुन के मन को प्रेरित किया और अन्त में अर्जुन महाभारत का युद्ध करने के लिये तैयार हुआ तथा एक के बाद एक को मारने की शुरुआत की । इच्छा न होने पर भी ईश्वरेच्छा को मान देकर अर्जुन युद्ध हेतु तैयार हुए । अर्जुन ने कौन सा युद्ध किया ? यही

कहलाता है । परोक्ष रूप से तो श्री कृष्ण ही युद्ध करते थे - लड़ते थे - और मारते थे - परोक्ष रूप से वे ही भीषण संहार कर रहे थे। यह ईश्वर की लीला थी और उन्होंने अर्जुन को मानसिक रूप से तैयार करने के लिये इस प्रकार अपना मुँह फाड़कर माया-स्वरूप दिखाया था । हे अर्जुन ! तुझ पर प्रसन्न होकर तुझे ही इस सृष्टि का दर्शन करवाया है ।

मया प्रसन्नैः तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टं पूर्वम् ॥४७॥

श्री कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! यह तो तुझ पर प्रसन्न होकर मैंने तुझे मेरा तेजस्वी रूप आत्मयोग से दिखाया है । ऐसा विश्व - दर्शन जो मैंने तुझे करवाया है उस में आदि - मध्य - और अन्त रहित सृष्टि तुझे दिखाई है । ऐसा रूप आज से पूर्व तेरे सिवाय मैंने ओर किसी को भी नहीं दिखाया । यह तो एक मात्र तुझे ही दिखाया है । अरे ! यह रूप - दर्शन तो वेद पढ़ने से भी नहीं होता, यज्ञ - याग - होम - हवन करने से भी नहीं होता, दान क्रिया या तप से भी यह शक्य नहीं है। यह तो मात्र तुझे ही मैंने दिखाया है । ऐसे रूप - स्वरूप को देखने के लिये देवतागण भी सदा लालायित रहते हैं फिर भी यह रूप मात्र तुझे ही दिखाया है । इस प्रकार बार बार विविध वचनों से अर्जुन को प्रेरित करके और जगाकर श्री कृष्ण ने अर्जुन के पास महाभारत का भीषण युद्ध करवाया ।

भगवद्गीता के 'विश्वरूप दर्शन योग' नामक ११ वे अध्याय में श्री कृष्ण अर्जुन को सृष्टि का दर्शन करवाते हैं - उसका यहाँ वर्णन किया है । सृष्टि के रचयिता ईश्वर है और ८ वे अध्याय में भी श्री कृष्ण ने कहा कि -

प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।

भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥९॥

विचित्र परिणाम वाली जो मेरी स्वयं की है, मुझ पर ही आश्रित है, मेरे ही वश में है, उसे पुनः पुनः विसर्जित भी करता हूँ । जीव समुदाय जो देव - मनुष्य - तिर्यच और स्थावरात्मक चारों प्रकार की सृष्टि है उस में ही मात्र क्रीडा - लीला रूपमें रचता हूँ बनाता हूँ और प्रलय करके उसका विसर्जन भी मैं ही करता हूँ । यह मेरी मोहिनी रूप है । बार बार समय समय पर मैं इसका सर्जन भी करता हूँ। इसमें प्रकृति का स्वभाव होता है - और मेरी लीला - क्रीडा के लिये भी मैं इस सृष्टि की रचना करता हूँ और इसे समाप्त भी करता हूँ । 'कल्पक्षये पुनस्तानि

कल्पादौ विसृजाम्यहम्' अर्थात् कल्प कल्प में सर्जन करता हूँ और कल्प पूर्ण - समाप्त होने पर मैं सृष्टि का विसर्जन अर्थात् प्रलय भी करता हूँ - मैं ही सब कुछ करता हूँ ।

सृष्टि विषयक यह बहुत लंबी मान्यता है । अर्जुन को बताते हुए स्वयं श्री कृष्ण भगवान् भगवद् गीता में इस प्रकार कहते हैं ।

मनुस्मृति में सृष्टि का वर्णन :-

मनुस्मृति को हिन्दु धर्म का महान् पवित्र धर्म ग्रंथ माना गया है श्री मनु के नाम से मनु स्मृति नाम रखा गया है । विविध विषयक वर्णनों में सृष्टि विषयक वर्णन भी इस में उपलब्ध है जो इस प्रकार है । मनुस्मृति ग्रंथ के प्रथम अध्याय के श्लोक नं ७ से सृष्टि रचना का वर्णन शुरु होता है । उसके श्लोक स्थान संकोच के कारण यहाँ उद्धृत नहीं हैं मात्र भावार्थ ही लिखा जा रहा है जिसके आधार पर समझ लें (विशिष्टाभ्यास हेतु ग्रंथ में से श्लोक देख लें)

(श्लोक १-७) जो परमात्मा अतिन्द्रिय, सूक्ष्म रूप, अव्यक्त, नित्य और सभी प्राणिओं के आत्मा रूप हैं वे परमात्मा स्वयं प्रकट (उत्पन्न) हुए । (१-८) उन परमात्मा ने इच्छा की कि मैं सृष्टि उत्पन्न करूँ और फिर उस इच्छा से ध्यान करके सर्व प्रथम सृष्टि में पानी को उत्पन्न किया और उसमें शक्ति रूप बीज छोड़ा । (१-९) फिर वह बीज हजारों सूर्य की भाँती प्रकाशवान् शुद्ध सोने का अंडा बन गया । फिर उस अंडे में सभी लोकों की सृष्टि करने वाला ब्रह्मा उत्पन्न हुआ । (१-१२) ब्रह्माजी इस अंडे में एक वर्ष तक रहे (३६० ब्रह्म दिन) और ध्यान करके इस अंडे को फोड़कर उसके दो टुकड़े किये । (१-१३) फिर उस अंडे के दो टुकड़ों में से एक से स्वर्ग और दूसरे से पृथ्वी की रचना की और बीच के भाग में आकाश आठ दिशाएँ और जलाशय - समुद्र बनाया । (१-१४) ब्रह्मा ने स्वयं से सत्-असत् आत्मा वाले मन की सृष्टि की अर्थात् मन बनाया । उसके पूर्व अहंकार की वृत्ति उत्पन्न की । (१-१५) अहंकार से पूर्व आत्मोपकारक महत् की, और संपूर्ण सत्त्व, रज, तम से युक्त विषयों की और रूप-रसादि विषयों को ग्रहण करने वाली पाँच इंद्रियों की गुदा पाँच कर्मेन्द्रियों की, पाँच शब्द तन्मात्रादि की रचना की । (१-१६) पूर्व कथित अनंत शक्तिवाले उन ६ के सूक्ष्म अवयवों की तथा विकारों में मिलाकर सभी प्राणियों की रचना की - (१-१७) प्रकृती युक्त उन ब्रह्मा के शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ और अहंकार ये ६

सूक्ष्म अवयव हैं। कर्म भाव से उसका आश्रय करते हैं, इसीलिये लोग ब्रह्मा की मूर्ति को ही शरीर कहते हैं । (१-१८) उस ब्रह्मा ने अपने अपने कर्मों से युक्त पंच महाभूत आकाशादि सूक्ष्म अवयवों के साथ मन की सृष्टि की ।

(१-१९) फिर विनाशरहित उस ब्रह्मा से महाशक्ति युक्त सात पुरुषों की सूक्ष्म मूर्ति के अंशों से विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ ।

(१-२१) उस हिरण्यगर्भ रूपी ब्रह्मा ने वेद में लिखित वाक्यों और शब्दों के अनुसार सब के नाम, कार्य तथा लौकिक व्यवस्था आदि अलग अलग व्यवस्थित रूप से जमाए ।

(१-२२) फिर उस ब्रह्मा ने इन्द्रादि देव, कर्मस्वभाव वाले प्राणी, अप्राणी अर्थात् अजीव रूप पृथ्वी, पत्थर आदि साध्यगण और सनातन यज्ञ की सृष्टि नित्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद को क्रमशः प्रकट किया ।

(१-२४) फिर उस ब्रह्मा ने समय (काल) उसके विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदियाँ, समुद्र, पर्वत, सम-विषम (१-२५) तप, वाणी, रति, इच्छा और क्रोध की रचना की और प्रजा की सृष्टि करने की इच्छा से ब्रह्मा ने (२६) कार्यों की विवेचना हेतु धर्म और अधर्म की अलग-अलग व्यवस्था की और जीवों को सुख-दुःख से युक्त किया।

(२७) ब्रह्मा ने जिसे जिसे जिस जिस कर्म में लगाया वह पुनः पुनः सृजित होकर वही कर्म करने लगा ।

(२८) हिंसा - अहिंसा, मृदु-कठोर, धर्म-अधर्म, सत्य और असत्यादि की सृष्टि की आदि में ही जिसके लिये ब्रह्मा ने बनाए थे वे वे जीव बार बार उसी में अदृष्टवश स्वयं ही करने लगे ।

(३०) जिस प्रकार ६ ऋतुएँ परिवर्तन पाती हुई स्वयं ही लक्षण प्रकट करती हैं, उसी प्रकार जीव भी कर्मों को स्वयं ही प्राप्त करते हैं ।

(३१) लोक - वृद्धि हेतु ब्रह्मा ने मुख, हाथ, छाती और पाँव से क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की उत्पत्ति की ।

(३२) उस ब्रह्मा ने स्वदेह को दो भागों में विभाजित करके, आधे भाग से पुरुष को और फिर आधे भाग से स्त्री का निर्माण किया । तत्पश्चात् उसी स्त्री में 'विराट' नामक पुरुष की उत्पत्ति की ।

(३३) उस विराट पुरुष ने तपश्चर्या करके जिस मनु को जन्म दिया वही मनु पुरुष संसार का जन्मदाता माना गया ।

(३४) फिर उस मनु ने सृष्टि रचना करने की इच्छा से प्रेरित होकर अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करके प्रथम १० प्रजापतिओं की रचना की जिनके नाम थे - मरीचि अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वशिष्ठ, भृगु और नारद ।

(३६) इन दसों ने अन्य ७ मनुष्यों, देवताओं, उनके निवास स्थानों और महर्षिओं की उत्पत्ति की ।

(३७) फिर यक्ष, राक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सराओं, असुर, नाग, सर्प, गरुड, पितृगण.

(३८) बिजली, वज्र बादल रोहित, इन्द्रधनुष, उल्का, निर्धात , धूमकेतु और अन्य अनेक प्रकार के तारागण, ध्रुव और अगस्त आदि.

(३९) किन्नर, वानर अनेक प्रकार की मछलियों, पक्षी, पशु, मृग, सिंह, बाघ, आदि दोनों ओर अर्थात् ऊपर - निचे दाँत वाले पशुगण,

(४०) कृमि, छोटे छोटे कीड़ो, कीट, पतंगो, जू, मक्खी, खटमल, सभी प्रकार के डाँस और मच्छरों तथा अनेक प्रकार के स्थावरों की उत्पत्ति की -

(४१) बीच में ब्रह्मा कहते हैं कि - इस प्रकार उन महात्मानों ने मेरे आदेस से तपोबल द्वारा स्थावर और जंगम सृष्टि की रचना उनके कर्मानुसार की ।

(५१) इस प्रकार अचिन्त्य सामर्थ्यवान् ब्रह्माने हमारी (मनु आदि की) तथा सभी स्थावर - जंगम जीवों की सृष्टि रचना करके पुनः प्रलयकाल में सृष्टि का विनाश करके स्वयं में ही अंतर्धान हो गए ।

इस प्रकार मनुस्मृति ग्रंथ में स्वयं मनु भगवान प्रथम अध्याय के श्लोक क्रमांक ७ से ४१ तक स्वयं ही कहते हैं कि उन्होंने सृष्टि की रचना किस प्रकार की और ५१ वे श्लोक में ब्रह्मा के लीन हो जाने की बात आ गई । वर्णन तो आगे तक बहुत लम्बा है परन्तु सृष्टि रचना संबंधी कार्य का वर्णन इतना ही है ।

भगवद्गीता और मनुस्मृति नामक दोनों ही ग्रंथों में प्राप्त हिन्दू धर्म के मतानुसार सृष्टि रचना का वर्णन उपर्युक्तानुसार है । स्वयं पाठ्यगण पढ़कर विचार कर सकेंगे । इस प्रकार भिन्न भिन्न अनेक पुराणादि ग्रंथों में भी जो वर्णन उपलब्ध है, उस पर भी संक्षेप में मन्त्र करें -

पद्मपुराण में - उत्तरखंड के २९ वे अध्याय में कहा है कि - वेणू राजा के दाहिने हाथ को मलने लगे, उसमें पसीना हुआ, ब्राह्मण मलते ही जा रहे थे कि पृथु की उत्पत्ति हुई ।

मत्स्यपुराण के १० वे अध्याय में वर्णन है कि स्वयंभू वेश में अंग के पापी पुत्र राजा वेणु के कुचले जाते शरीर में से पृथु निकला। विष्णु को प्रसन्न करके वह राजा बना; परन्तु पृथ्वी को जलाने हेतु कमर कसी, तब पृथ्वी गाय का रूप लेकर भागी, और पृथु उसके पिछे दौड़ा। तत्पश्चात् पृथ्वी रूपी गाय खड़ी रही, और दुग्ध दोहन की अनुमति प्रदान की। अनुक्रम से भिन्न भिन्न लोग गाय का दोहन करते गए। उसी प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती गई। विष्णुपुराण में थोड़े से अन्तर के साथ यही बात कही गई है कि भागती हुई गाय रूपी पृथ्वी को राजा पृथु धनुष मारने हेतु तैयार हुआ तब पृथ्वी रूपी गाय ने वचन माँगा और वह स्थिर हो गई जो पृथ्वी कहलाई।

कर्मपुराण सृष्टि के विषय में कहता है कि - प्रथम नारायण देव उत्पन्न हुए। उनसे ब्रह्मा हुए और ब्रह्मा से सनकादि पाँच मुनि हुए। उन पाँचों ही मुनियों को सृष्टि रचना करने की इच्छाविहीन देखकर ब्रह्मा माया से ईश्वर में मुग्ध हुए। फिर विष्णु के बोध से पुत्ररूप ब्रह्मा ने उग्र तप किया परन्तु तप की निष्फलता के कारण खेद तथा क्रोध होने से आँखों में से आँसू गिरे। उन आँसुओं से जमीन वक्र हो गई और उसमें से महादेव हुए। उन महादेव को ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना करने की अनुमति प्रदान की। उसने सृष्टि रचना में अनेक भूत-प्रेत-पिशाच उत्पन्न किये परन्तु उन्होंने अपनी उत्पत्ति के साथ ही जगत का भक्षण करना प्रारंभ कर दिया। यह गड़बड़ हुई देखकर ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ और उन्होंने महादेव को कहा - 'अलंप्रजाभिः ष्टाभिरी हशिभिः' बस। ऐसी उत्भूत् प्रजा से तो काम भी चौपट हो गया। अर्थात् ब्रह्मा ने सृष्टि रचना का कार्य बन्द करने का आदेश दिया। इस प्रकार ब्रह्मा ने शिव से सृष्टि बनवाई।

रामायण में - अयोध्याकांड में दो प्रकार के वर्णन हैं। अरण्यकांड के २१ वे स्वर्ग में ब्राह्मण - क्षत्रिय - वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों की उत्पत्ति काश्यप की पत्नि मनु शतरूपा के चार अंगों में से होने का वर्णन है।

पृथ्वीसृष्टिखंड - के ३ रे अध्याय में श्लोक १०१ से १०४ तक वर्णन है कि ब्रह्मा के कपाल से अर्ध पुरुष रूप में, अर्ध नारी के रूप में शिवाजी पैदा हुए। उनसे विश्व रचना हुई।

मत्स्यपुराण में उल्लेख है कि विष्णु के कान के मैल से उत्पन्न मधुकैटभ दैत्य के साथ विष्णु ने पाँच हजार वर्षों तक युद्ध किया था। इसमें ब्रह्मा से शिव

की उत्पत्ती का वर्णन है। अनेक प्रकार के भिन्न भिन्न छोटे छोटे मत्तों में अनेक प्रकार से भिन्न भिन्न बातें कही गई हैं। अक्षरवादी कहते हैं कि अक्षर से ही वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी अनुक्रम से हुए हैं। (त. प्रा. १६३) मधुकैटभ के शव से भी सृष्टि रचना का उल्लेख है। (सतश्य) नारदपुराण में - नारायण की दाहिनी भुजा से ब्रह्मा और बाँयी भुजा से विष्णु तथा मध्य से शिव के निकलने का उल्लेख है। भागवत् में कहा गया है कि विष्णु की नाभी में से एक कमल का फूल निकला। उस फूल में से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, और फिर उन ब्रह्माजी ने विश्व की उत्पत्ती की। मार्कण्डेय पुराण में भिन्न प्रकार का ही वर्णन है। उसमें बताया है कि महालक्ष्मी से विष्णु, महाकाली से महादेव, और महासरस्वती से ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं और फिर उन्होंने सृष्टि की रचना की है। इस प्रकार विविध प्रकार के पुराणों में भिन्न भिन्न अनेक प्रकार की मान्यताएँ बताई गई हैं।

विविध दर्शनों में सृष्टि विवेचन -

वैशेषिक दर्शन - वैशेषिक दर्शन के रचयिता आद्यपुरुष कणाद महर्षि का मत है कि तत्त्व से पूर्व कुछ भी नहीं। अणु ही अनादि है। अणु से ही पानी, ब्रह्मांड, विष्णु, नाभि कमल, और ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार सृष्टि की रचना अणु-परमाणु से होती है - ऐसा वैशेषिक दर्शन का मत है। इसलिये वैशेषिक परमाणुवादी अणुवादी कहलाते हैं।

पतंजलि - पतंजल व्याकरण के रचयिता पतंजलि महर्षि का कथन है कि आत्मा और परमात्मा दोनों तत्त्व स्वतंत्र नहीं हैं।

सांख्य मत - सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल मुनि कहते हैं कि - प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं, दोनों अनादि अनंत हैं और उन्हीं से सृष्टि प्रवाह चलता है। विश्व का कर्ता कोई नहीं है। वह प्रवाह से ही अनादि अनंत है। आत्मा अनेक है, प्रकृति एक है। (कई के मतानुसार प्रकृति भी अनेक हैं) अनुक्रम से प्रकृति, विकृति और विषाद वाले लघुता, उपाष्टंभ और गौरव धर्मवाले सत्त्वादि तीन गुण (सत्त्व, रज - तम) की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। वह आदि - मध्य और अन्त विहीन है अनादि - अनंत है, अव्यय, अनवयव, साधारण और शब्द रूप, रस, गंध तथा स्पर्श से रहित है। प्रकृति को ही प्रधान अथवा अव्यक्त कहते हैं। प्रकृति से बुद्धि का जन्म होता है, बुद्धि से अहंकार पैदा होता है और फिर अहंकार से शब्द, रूप

रस, गंध और स्पर्श - ये पंचतन्मात्रा प्रकट होते हैं। बुद्धि, अहंकार और पंचतन्मात्रा ये सातों ही तत्त्व प्रकृति-विकृति संब कुछ है। इन में से आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ी - ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय बनती है। तत्पश्चात् वाणी, हाथ आदि पाँच कर्मेन्द्रिय और मन इस प्रकार कुल ११ विकार बनते हैं। एक प्रकार से प्रकृति आदि २४ तत्त्व हैं और पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष ही सांख्य मतानुसार भगवान है। वह अमूर्त, चेतन भोगी, नित्य, सर्वगत, सक्रिय, अकर्ता, निर्गुण और सूक्ष्म आत्मा है। इस प्रकार २५ तत्त्वज्ञान विषयक सांख्यमत है। सांख्यमतावलम्बी ईश्वर को जगतकर्ता नहीं मानते हैं। वे इस प्रकार प्रवाह से अनादि - अनंत सृष्टि मानते हैं।

मीमांसक - मीमांसावादी जैमिनि सृष्टि और वेद दोनों को अनादि - अनंत मानते हैं। मीमांसक सर्वज्ञ पुरुष का ही खंडन करते हैं अतः ये लोग सर्वज्ञ पुरुष को मानते ही नहीं हैं। सृष्टि के विषय में मीमांसा दर्शन के भाष्यकार श्रीमत्पार्थ सारथि मिश्र प्रथम अध्याय के प्रथम वाद की व्याख्या में लिखते हैं कि - “न च सर्गादिनां कश्चित् कालोऽस्ति सर्वदा ईदृशमेव जगदिति दृष्टानुसारादवगन्तुमुचितम्। न तु स कालोभूत् यदा सर्वमिदं नासीदिति प्रमाणाभावात्”। अर्थात् इस सृष्टि की उत्पत्ति का कोई निश्चित एक समय नहीं है। ऐसा कोई समय ही न था जब यह अर्धसृष्टि थी ही नहीं। इसमें न थी कहने में कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः सृष्टि का कर्ता भी नहीं है और इसकी न आदि है न इसका अंत है। यह अनादि - अनंत है जैमिनी सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथमपद के पाँचवे अधिकार की व्याख्या करते हुए श्री पार्थसारथि मिश्र शास्त्र दीपिका में लिखते हैं कि ‘सृष्टि - जगत की आदि में मात्र एक आत्मा का ही अस्तित्व था’ वह आत्मा ही स्वेच्छा से उसी प्रकार आकाशादि विस्तार रूप में परिणत होता गया जिस प्रकार बीज ही वृक्ष में परिणत होता है। अविद्या के उपादान कारण वाले स्वप्न प्रपंचकी भाँति महादादि प्रपंचमय यह सृष्टि है।

सातवी सदी में हुए शंकराचार्यजी केवलाद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा एक है। जगत की उत्पत्ति का कारण ब्रह्म है। इस जगत रचना अचिन्त्य शक्तिशाली परमेश्वर तथा माया से इन्द्रजाल की तरह बनती है। जीवों को उनके दुष्कृत्यों के फल भोगने पड़ते हैं और अन्त में जगत का अंत-प्रलय होता है।

ब्रह्मसूत्र १-४-३ के भाष्य में उल्लेख है कि संसार में जो पशु-पक्षी आदि

पदार्थ व्यक्त होते हैं वे प्रलय से पूर्व अर्थात् सृष्टि रचना होने से पहले अव्यक्त भाव से ब्रह्मा में लीन थे यह अव्यक्त अवस्था ही, निर्विशेष ब्रह्म सत्ता का रूपान्तर मात्र ही जगत रूप कार्य का उपादान कारण है। कारण बीज शक्ति अथवा दैविक शक्ति है। शक्ति रहित शुद्ध (बीज युक्त) ब्रह्म जड़ जगत का उपादान कारण है। केवलाद्वैतवादी ही प्रलय काल में भी बीज का ही प्रादुर्भाव मानते हैं और फिर वही सृष्टि के रूप में परिणत होता है - ऐसा गौड्यादकारिका में कहा गया है।

शंकराचार्य जगत के विवर्तरूप में मानते हैं। वल्लभाचार्य इसे सत् रूप में और परिणाम रूप में मानते हैं, जब कि दयानंद सरस्वती इसे जड़रूप मानते हैं।

बौद्धदर्शनवादी कहते हैं कि प्रारंभ में कुछ भी नहीं था। सब कुछ शून्य था। निरंजन पुरुष नीर में था। धर्म निरंजन देव ने ब्रह्मासन में बैठकर योग में १४ युग निकाले तत्पश्चात् 'हाई' बोलने पर उलूक (उल्लू) हुआ। वे उलूक मुनि १४ युग तक भुखे रहे और तत्पश्चात् प्रभु के पास खाद्यपदार्थ की माँग की जिस पर प्रभु ने थूंक दिया जिसमें से दो-चार छॉटे उलूक मुनि के मुख से बाहर गिर पड़े जो सागर बन गए। फिर उलूकमुनि एक पंख तोड़कर पानी में फेंकते हैं जिससे उलूक सृष्टि बनती है, हंस सृष्टि बनती है फिर प्रभु ने कछुआ आदि बनाए - फिर प्रभु ने कान का कुंडल पानी में फेंका जो मेंढक बन गया - गौरी के गर्भ से ब्रह्मा - विष्णु तथा शिव का जन्म हुआ है - ऐसी ऐसी बातों का उल्लेख शून्य पुराण, धर्मपूजा विधान आदि में मिलता है। सृष्टि की बात ब्राह्मण सृष्टिवाद से मेल खाती है। औलुक्यदर्शन की ये बातें हैं।

नेपाल के बौद्धधर्मावलम्बी कहते हैं कि पूर्व में शून्य के सिवाय कुछ भी न था। जब स्वयंभू अकेले थे। उन आदि बुद्ध की इच्छा अनेक बनने की हुई और बुद्ध तथा प्रज्ञा के योग से प्रज्ञागाय, अथवा शिव-शक्ति अथवा ब्रह्मा, माया की रचना हुई। उसके बाद पाँच बुद्धों का जन्म हुआ। आदि बुद्ध ने उन पाँचों ही बुद्धों को सृष्टि की रचना करने का आदेश दिया - तब से अब तक ४ बुद्ध और ४ बुद्ध कल्प हो गए हैं। नेपाल के बौद्धों की ऐसी मान्यता है। संतानवादी बौद्ध शून्यवाद-क्षणिकवाद और संतान परम्परा में मान्यता रखते हैं।

'विवर्तवादी' शांकरमत का कथन है कि - 'अतात्त्विको अन्यथा विवर्त इति उदीरितः'। जो वस्तु सत् रूप में न होने पर भी वैसी ही है - ऐसा लगता है इसे विवर्त कहते हैं। जिस प्रकार सर्प न हो और पता चले कि सर्प है तो उस भ्रम को

विवर्त कहते हैं। इसी प्रकार 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' ब्रह्म सत् पदार्थ है सत्ता स्वरूप है और यह जगत भ्रमरूप मिथ्या है। वास्तव में कुछ भी नहीं है परन्तु होने का आभास होता है। स्वप्न में जैसे कुछ भी होता ही नहीं है फिर भी स्वप्न में सब कुछ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह जगत अथवा सृष्टि मिथ्या है मात्र आभास है विवर्तरूप में है। सचमुच में कुछ भी वास्तविकता ही नहीं है, मात्र भाष्यमान है। अतः सृष्टि निर्माण, प्रलय, अनादि-अनन्तादि की चर्चा-विचारणा करने का विवर्तवादियों के लिये तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो मात्र काल्पनिक हैं भ्रमात्मक है। जिस प्रकार स्वप्न पूर्ण होने पर और आँखे खुलने पर वास्तव में स्वप्न का कुछ भी दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के नेत्र खुलने पर यह जगत कुछ भी नहीं, घर-पुत्र-पत्नी आदि सब कुछ भी नहीं होने का ज्ञान होता है। अतः विवर्तवादिओं के मतानुसार स्वप्नवत् यह संसार कुछ भी नहीं है। स्वप्न से बढ़कर इसमें कुछ भी न होने से यह मिथ्या है।

सृष्टि की उत्पत्ति तथा उसकी रचना - कर्ता - काल आदि अनेक अपेक्षाओं से विचार करनेवाले अनेक वादि अनेक मत है। सभी भिन्न भिन्न प्रकार की बातें करते हैं। सबके अलग अलग अपने अपने मत हैं, उनकी स्वयं की अलग अलग विचार धाराएँ हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार है।

सृष्टि वादी :-

इच्छन्ति कृत्रिमं सृष्टिवादिनः सर्वमेवामति लोकम् ।

कृत्स्नं लोकं महेश्वरादयः सादिपर्यन्तम् ॥

सृष्टिवादी इस सम्पूर्ण लोक को कृत्रिम मानते हैं। इनमें भी महेश्वरादि से सृष्टि की उत्पत्ति माननेवाले सृष्टिवादी संपूर्ण लोक को आदि - अन्तमय मानते हैं। कई जनों का कथन है कि अभिमानी - अहंकारी ईश्वर से जगत की उत्पत्ति हुई है। कई सोम और अग्नि से जगत की उत्पत्ति मानते हैं और कई संसार को 'षड्द्रव्य' का विकल्परूप मानते हैं। वैशेषिक मत पृथ्वी आदि ९ प्रकार के द्रव्य, शब्दादि २४ गुण, पाँच कर्म, सामान्य दो प्रकार से, समवाय एक, विशेष अनन्त - इन षट् पदार्थों को कणाद मुनि मानते हैं और जगत इतना ही है - इसके अलावा और अन्य कुछ भी नहीं है।

कुछ और भी मान्यताएँ :-

कईयों के मतानुसार एक परमेश्वर की ३० अवस्थाएँ हैं । (१) हरि (विष्णु) (२) शिव और (३) ब्रह्मा । इन तीन में शिव जगत् का कारण है; विष्णु कर्ता है और क्रिया ब्रह्मा करता है । कईजनों की मान्यता है कि यह जगत् विष्णुमय अर्थात् विष्णु द्वारा रचित है । कई इसे कालकृत मानते हैं, कई मानते हैं कि जगत् में जो कुछ भी होता है वह सब ईश्वर की इच्छा से उसी की प्रेरणा से हो रहा है और कई ऐसे हैं जो सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा को बताते हैं । कपिल के मतावलम्बी संपूर्ण जगत् को अब्यक्त से उत्पन्न मानते हैं । शाक्य मुनि के सन्तानीय विज्ञानाद्वैतवादी जगत् को क्षणिक मानते हैं । वे क्षण को ही महत्त्व देते हैं और उन्हीं के कई सन्तानीय बौद्ध जगत् को शून्यरूप में ही मानते हैं ।

कई ऐसे भी हैं जो जगत् को पुरुष से उत्पन्न हुआ मानते हैं, अथवा पुरुषमय ही सम्पूर्ण जगत् है । इसी वचन के आधार पर कई दैवयोग से और स्वभाव योग से भी इस जगत् की उत्पत्ति मानते हैं । कई 'एकोहं बहुस्यामिति वचनात्' अर्थात् मैं एक हूँ और अनेक रूपमय बनता हूँ - इसी वचन के आधार पर अक्षर ब्रह्मा के क्षरने से अर्थात् मायायुक्त होने से जगत् की उत्पत्ति मानते हैं और कोई ऐसा भी पक्ष है जो जगत् की उत्पत्ति अंडे में से होने की बात करता है । ऐसा कहना है कि यह लोक यदृच्छा अर्थात् स्वयंमेव ही उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार अन्य कई ऐसे भी हैं जिनकी मान्यतानुसार यह जगत् भूतों के विकार से उत्पन्न हुआ है । कई यों की ऐसी भी मान्यता है कि जगत् अनेक कपी है । सृष्टि की उत्पत्ति - स्थिती विषयक ऐसे अनेक विकल्प हैं ।

कालवादिओं का पक्ष :-

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः ।

कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥

कालवादी कहते हैं कि काल ही पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाशादि पंचभूतों का निर्माण करता है, काल ही प्रजा का संहार करता है । जिस समय जीव सोए हुए होते हैं तब उनकी रक्षा करने हेतु काल ही जागृत रहता है । काल ही प्रत्येक की रक्षा करता है । ऋतु विभाग, सर्दी, गर्मी, वृष्टि, गर्भधारण, गर्भजन्म, स्थिती, बाल्यादि विविध अवस्थाओं आदि कृतक कार्यों में एकमात्र काल की ही

महत्ता: दिखाई पड़ती है। इसीलिये काल दुरतिक्रम है अर्थात् इसका उल्लंघन करना बड़ा ही कष्टमय है।

स्वभाववादी का मत :- 'स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं' - स्वभाव से ही सब कुछ प्रवर्तित है। कौन सी व्यक्ति है जो काँटों को नुकीले तीक्ष्ण करती है, मयूर - मृग - तोते आदि पशु-पक्षियों को मनोहर रंग-बिरंगे रंगों से चित्रित कौन करता है ? कोई भी नहीं। स्वयं की इच्छा से कुछ भी नहीं होता, सब कुछ स्वभाव से ही होता है। प्रत्येक कार्य का कारण-स्वयं का स्वभाव ही है, सभी पदार्थ स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, जैसे कि मिट्टी में घड़ा बनने का स्वभाव है, आटे में रोटी बनने का स्वभाव है, इसीलिये उसी में से वह बन पाती है। सीमेंट से रोटी नहीं बनती और आटे से मकान नहीं बनता। धागे में से ही वस्त्र बुना जाता है। स्वभाव से ही मूँग सीझ जाते हैं जब कि कठोर मूँग का स्वभाव सीझने योग्य न होने के कारण वे लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं पकते। इक्षु में माधुर्य, पान में लालिमा, पुष्प में सौरभ और चंदन में शीतलता संबंधित पदार्थों की स्वभावजन्यस्थिति के कारण है। अतः स्वभाव से ही सब कुछ होता है। कोई स्वभाव को ही प्रकृति कहते हैं। प्रकृति का अर्थ ही स्वभाव कहा जाता है। इसीलिये सृष्टि को प्राकृतिक अर्थात् स्वभावोत्पन्न कहनेवाले भी हैं।

दैववादी का कथन :- दैव अर्थात् भाग्य। मात्र दैव या भाग्य को ही सभी कार्यों में एक मात्र प्रधानकारण माननेवाले दैववादी कहते हैं कि - स्वच्छंद रूप से धन, गुण, विद्या, धर्माचरण, सुख-दुःख आदि नहीं रहते, न आते हैं परन्तु काल रुपी रथारुढ दैव स्वेच्छानुसार जिसे जहाँ ले जाता है वहाँ सभी जाते हैं, अर्थात् भाग्य से ही सब कुछ होता है। जो भी होता है वह सब दैवयोग से ही घटित होता है। काल तो उसमें निमित्त - कारण मात्र होता है। अन्य अनेक निमित्त - कारण होने के बावजूद भी मुख्य कारण तो एक मात्र दैव है। स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि - दैवं यतो जयति तेन यथा व्रजामि - भाग्य ही प्रबल है - भाग्य ही बलवान है।

अक्षरवादियों का मत :- अक्षर से क्षर का काल उत्पन्न होता है - इस हेतु से काल को व्यापक माना गया है। व्यापकादि प्रकृति तक को ही सृष्टि कहा जाता है। एक प्रकार से अक्षरवादी भी कालवादियों के जैसे ही होते हैं।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि - प्रथम अक्षरांश के पश्चात् उसमें वायु की उत्पत्ति हुई। उस वायु में अग्नि (प्रकाश) उत्पन्न हुई, अग्नि से पानी बना और पानी

से पृथ्वी उत्पन्न हुई । इस प्रकार पंचभूतों का निर्माण हुआ । अंडवादी कहते हैं :- नारायण भगवान परम अव्यक्त हैं, उनमें से व्यक्त अंडा उत्पन्न हुआ । उस अंडे में सात द्वीपवाली पृथ्वी फिर पानी, समुद्र, जरायु, मनुष्यादि तथा पर्यंत बने। इनके बाद सात-सात कुल १४ भुवनों का निर्माण हुआ । भगवान उस अंडे में एक वर्ष पर्यन्त रहे और उन्होंने अपने ध्यान से अंडे को दो भागों में विभाजित किया। उस अंडे के ऊर्ध्व भाग से आकाश और अधो भाग से पृथ्वी का निर्माण किया। यह बात अंडवादियों ने अपने अधोलिखित श्लोक में स्पष्ट की है :-

नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसंभवम् ।

अण्डस्यान्तस्त्वामी भेदाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥

अहेतुवादिओं का भी अपना एक पक्ष है । उनका कथन है कि प्रति समय होने वाले विचित्र भाव बिना किसी कारण ही अर्थात् अहेतु से उत्पन्न होते हैं । आकाशकुसुमवत् भावरहित द्रव्य असंभव है ।

परिणामवादिओं का भी अपना एक पक्ष है । प्रति समय वस्तु में परिणमन होता है, परिणामों में परिवर्तन होता है । समय समय पर आत्मा के प्रति परिणाम होते हैं उसी प्रकार सभी भावों - पदार्थों में होता है । इच्छा से कुछ भी नहीं होता क्यों कि इच्छा तो क्रमवर्ती - क्रमभावि है और परिणाम तो सभी पदार्थों में एक साथ ही होते रहते हैं ।

नियतिवादी अपनी बात 'प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण - ।' इन शब्दों से प्रस्तुत करते हैं । नियति के आश्रय से जो वस्तुएँ प्राप्त करने योग्य हैं उनके अनुसार शुभ अथवा अशुभ अर्थ जीवों को अवश्य ही प्राप्त होता है । भावी अवश्यंभावी होता है, होनेवाला होकर ही रहता है । भावी कभी नहीं टलता । इसी प्रकार जो नियति में नहीं होता वह कभी भी नहीं होता और जो होने वाला है वह हुए बिना नहीं रहता । इसीलिये जगत में कुछ भी होता है और जो नहीं होता वह सब नियति के आधार पर ही होता है ।

भूतवादिओं का भी एक स्वतंत्र पक्ष है । भूतवादिओं के मतानुसार (१) पृथ्वी (२) पानी, (३) अग्नि और (४) वायु चार तत्त्व हैं । इन्हीं का समूहात्मक समुदाय शरीर है । उस शरीर की इन्द्रियाँ हैं, विषय संज्ञाएँ हैं । मदशक्ति की भाँति चैतन्य उत्पन्न होता है, पानी के बूलबूले की तरह जीव है । अचैतन्य विशिष्ट काया है और वही पुरुष है ।

आकस्मिकवादी :- प्रकृति के असंख्य नित्य परमाणु होते रहते हैं । भूतकाल में अरबों परमाणु संयुक्त हुए थे और भविष्य में भी जिन अरबों परमाणुओं के संयुक्त होने से संयोजन होता रहेगा। इस में से ही एक यह अपनी सृष्टि है । यह परमाणु - संयोजन किसी के प्रयत्न से नहीं, परन्तु आकस्मिक रूप से होता ही रहता है - ऐसा इनका कथन है ।

वैदिक सृष्टि - (वेदों में सृष्टि का वर्णन) :-

हिंदू धर्म में सुविख्यात एवं प्रचलित चार वेद मुख्य है - (१) ऋग्वेद (२) यजुर्वेद (३) अथर्ववेद (४) सामवेद । ये चारों वेद सर्वमान्य पूज्य महान ग्रन्थों के रूप में माने गए हैं । ईश्वर की अपेक्षा भी गुरुत्तर पद वेदों को प्रदत्त है क्यों कि ईश्वर वेदों की रचना नहीं करते हैं । वेद तो अपौरुषेय - अनादि - अनंत है। अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुष की रचना नहीं । ये किसी पुरुष विशेष से उत्पन्न नहीं हैं और इनकी उत्पत्ती का अंत भी न होने से ये अनादि - अनंत हैं, कभी भी ये नष्ट नहीं होते । यहाँ तक कि समस्त सृष्टि का महाप्रलय हो जाने पर भी ये चारों ही वेद सदैव के लिये यथावत् रहते हैं । ऐसे अपौरुषेय इन चारों वेदों में सृष्टि - विषयक भिन्न भिन्न मान्यताएँ है परस्पर विरोधी विचार धाराएँ भी है । इन्हीं वेदों के अर्थ सैंकड़ों लोगों ने किए हैं । प्रत्येक ने स्वमत्यानुसार अर्थ किए हैं । इस प्रकार सैंकड़ों शाखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी हैं और इसीलिये एक शाखा की बात दूसरी शाखा या संप्रदाय से सर्वथा भिन्न दिखाई पड़ती है । आगे लिखा हुआ होता है कि "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" अर्थात् सभी जीवों की हिंसा न करें, किसी भी जीव को न मारें और बाद में उल्लेख मिलता है कि 'स्वर्ग कामो अश्वमेघ यज्ञं कुर्यात्' स्वर्ग-प्राप्ती के इच्छुक व्यक्ति को अश्वमेयज्ञ - अर्थात् वह यज्ञ जिसमें अश्व की बलि चढाई जाती है - ऐसा यज्ञ करना चाहिये। ऐसे परस्पर विरोधी असंबद्ध संदिग्ध वाक्यों की वेदों में प्रचुरता है । इन वेदों में सृष्टि और उसकी उत्पत्ति परस्पर विरोधी मान्यताओं का बोलबाला है ।

ऋग्वेद में सृष्टि वर्णन :-

'नासदासीत् नो सदासीत् तदानी नासीत् रजोन्ते व्योमापरोपयेत् किमावाखः कुहु काश्यप शर्म नभः किमासीत् गगनं गंभीरम्' । ऋग्वेद के ८ वे अष्टक के ७

वे अध्याय के १७ वे मंडल के १२९ वे सूत्र में लिखते हैं कि प्रलय -स्थिती वाले जगत का मूल कारण असत् अथवा सत् न था । आकाश, ब्रह्मांड, आवरण, आवरणाधारस्थान, अथवा पानी का भी प्रभाव था । रात्रि - दिन का भी ज्ञान न था, माया सहित एक शुद्ध ब्रह्म था । उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् व्यक्त रूप में नहीं, परन्तु अव्यक्त रूप में था । प्रलय अवस्था में जगत कारणभूत माया से आच्छादित था । ईश्वर के मन में जीवों को उनके पूर्वकृत कर्मों के फलानुसार सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा हुई और उसने सर्व जगत का निर्माण कर डाला। अन्य कल्पों में जीवों के द्वारा कृत पुण्य - पाप के आधार पर विचार करके ब्रह्मा ने जगत की रचना की, जैसे सूर्योदय होने पर चारों ओर किरणें व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार एक साथ सृष्टि होती थी और उसमें कर्मकर्ता जीव बीजरूप में था । भोक्ता के रूप में जीव है और भोग्य आकाशादि है । यह सृष्टि रचना एक गूढ विज्ञान है, यह किसी को गम्य नहीं है - ग्राह्य नहीं है । देवतागण भी सृष्टि रचना के बाद हुए हैं अतः उन्हें भी इसका ज्ञान नहीं है । इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मणकाण्ड द्वितीय में भी ऐसा ही उल्लेख है ।

ऋग्वेद के ८ वे अध्ययन में सृष्टि विषयक चर्चा करते हुए लिखते हैं कि 'विराट पुरुष भूमि को चारों ओर से घेरकर दशांगुल देश का' अतिक्रमण कर व्यवस्थित है, जो जगत है, वह था और रहेगा वह सर्व पुरुष है । इस पुरुष के तीन पाद अमृत - अविनाशी हैं और चतुर्थ भाग में त्रिकाल के सभी प्राणी हैं, भगवान ने माया से विराट रूप बनाकर जीव रूप बनकर उसमें प्रवेश किया। फिर देव - मानवादि भूमि और जीवों के शरीर अनुक्रम से बनाए। तत्पश्चात् देवों ने वसन्त ऋतु को घी के रूप में, ग्रीष्म ऋतु को ईंधन के रूप में और शरद को पुरोडाश के रूप में विकल्पित करके मानस यज्ञ किया । प्रजापति सृष्टि साधन योग्य थे और उनके सहायक देव ऋषियों के रूप में थे । वे यज्ञ करते थे, प्रजापति जब पुरुष का संकल्प करके रचना करता था तब उसके ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय - भुजा, वैश्य उर और शूद्र चरणरूप में थे । वे सभी हुतयज्ञ से दही, घी, पशु, ऋग, यजु, साम, छंद, गायत्री, गधे, घोड़े, खच्चर, गाय, बकरी और भेड़ उत्पन्न हुए थे । (९-१०) प्रजापति के मन से चंद्र आँखों से सूर्य, मुख से इन्द्र, अग्नि प्राण से वायु, नाभी से आकाश, मस्तक से स्वर्ग पाँव से भूमि और कान से दिशाओं की उत्पत्ती हुई । (१३-१४) इस प्रकार पुरुषवाद है ।

वेदों में सृष्टि स्वरूप:-

“पश्य देवस्य काव्य यो न ममार न जीर्यति” - उस देव की रचना (सृष्टि) को देखो जो न तो नष्ट होती है और न जीर्ण होती है । को ददर्श प्रथमं जायमानम् । ऋ १/१६४/४ सर्व प्रथम उत्पन्न होती हुई इस सृष्टि को किसने देखा है ?

यजुर्वेद के सातवे अध्याय में श्रुतिओं में कहते हैं कि प्रलयकाल में विश्वकर्मा सर्व लोक का संहार करके अकेला रह गया था तब उसकी पुनः इच्छा जागृत होने से उसने जीव रूप में प्रवेश किया । (१७) उस अकेले ने ही प्रथम धर्माधर्म को निमित्त बनाकर पंचमहाभूत उत्पन्न किए और फिर सब को आँख, मुख, हाथ-पाँववाले बनाए। जिस प्रकार मकड़ी अपनी ही लार से जाल बुनती है, उसी प्रकार ईश्वर भी स्वयं से ही यह जगत बनाता है । अतः जगत का उपादान अथवा निमित्त दोनों कारण ईश्वर स्वयं ही है । यजुर्वेद के २३ वे अध्याय में ऐसा भी उल्लेख है कि स्वयंभु महान् जलसमुद्र में समय परिपक्व होने पर गर्भ तैरता था उस गर्भ में ब्रह्माजी उत्पन्न हुए थे ।

यजुर्वेद में ही एक अन्य स्थल पर ऐसा भी लेख है कि सर्व प्रथम यह जगत जलमय था और सृष्टिकर्ता ईश्वर हवा बनकर इसमें डोलता था । फिर इस ईश्वर ने पृथ्वी देखी और तुरन्त वराह का रूप धारण करके भूमि को पकड़ कर रखा, तत्पश्चात् विश्वकर्मा बनकर उसे सुधारा - पृथित अर्थात् वह पृथ्वी कहलाई। उस पर ध्यान करते हुए सृष्टिकर्ता ईश्वर ने देवता, वसु, और आदित्य (सूर्य) बनाए। फिर उन देवताओं ने ही सृष्टिकर्ता ईश्वर को पूछा कि हम सृष्टि - निर्माण कैसे करें? तब उस विराट पुरुष स्वरूप ईश्वर ने कहा कि जिस प्रकार उग्र तपस्या द्वारा मैंने तुम्हें बनाया है उसी प्रकार तुम भी बनाओ । इस प्रकार कहकर देवताओं को ईश्वर ने आकाशाग्नि दी और देवताओं ने तपश्चर्या करके १ वर्ष में सर्व प्रथम एक गाय बनायी - ऐसा और इसके अतिरिक्त भी वर्णन प्राप्त है (सतमत - २३)

ऐतरीय ब्राह्मण ५ कांड, ३२ में कहते हैं कि 'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय' - मैं अकेला हूँ अतः अनेक रूप में बनूँ और प्रजा की उत्पत्ति करूँ । ऐसी इच्छा होने पर ब्रह्माने तपस्या करके पृथ्वी, आकाश और स्वर्ग - ऐसे तीन लोक बनाए । फिर ब्रह्माने इन तीनों से तपश्चर्या करवाकर अग्नि, वायु और सूर्य - तीन ज्योति उत्पन्न करवाई । ज्योति को तप तपाकर अनुक्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद नामक तीनों वेदों की उत्पत्ति करवाई ।

शुक्ल यजुर्वेद बृहदारण्यक अध्याय ४ में तो अग्नि से अग्नि - कर्णों की भाँती आत्मा से प्राण, लोक देव और पंचभूत हुए हैं। गोपथ ब्राह्मण भाग में अक्षरवाद मत के आधार पर ब्रह्मा के ॐकार के उच्चारण और अनुभव से समस्त लोक का अवलोकन करने का उल्लेख है। शतपद ब्राह्मण में तो 'मनवे ह वै प्राप्तः' इस पाठ के आधार पर पृथ्वी मनु से बनने की बात बताई गई है और ७ वे अध्याय में 'स यत् कूमो नाम' - इस पाठ में तो कहा गया है कि काश्यप ने पृथ्वी बनाई थी।

तैत्तिरीय ब्राह्मण १ अष्टक १ अध्याय ३ में लिखा है कि सृष्टि की रचना करने हेतु तपस्या कर रहे थे। उन्होंने पानी के मध्य एक कमल देखा और उसके आधार को ढूँढने के लिये वराह रूप धारण करके कमल की पद्मपत्रनाल की शोध करने लगे - इतने में उन्हें पृथ्वी मिल गई। वहाँ से गीली मिट्टी लाकर कमल पर बिछाई जिससे पृथिता - पृथ्वी नाम रखा और आधार भूत होने से (अभूत) भूमि नाम पड़ा। इस भीगी हुई भूमि को शुष्क बनाने हेतु ४ दिशाएँ बनायीं - संकल्प से हवा बनायी, सुखती हुई भूमि को पत्थर से संजोया (पत्थर कहाँ से लाए होंगे १) - इत्यादि वर्णन है। कुछ भिन्न पाठ के साथ तैत्तिरीय संहिता कां. ७ में लिखा है कि - आपोवावा इदमप्रसलिलं आसीत्। तस्मिन् प्रजापति र्वायुर्भुत्वाऽचरत्। स इमाम पश्यत् तां वराहो भूत्वाऽहरत्। थोड़ासा अर्थ बदल जाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के आठवें अष्टक के तिसरे अध्याय में ऐसा उल्लेख है - 'प्रजापतिः सोप राजानमसृजत्' प्रजापति ने प्रथम सोम राजा को उत्पन्न किया फिर तीन वेद बनाएँ। उन तीनों को सोम राजा लेता था। ऋग्वेद संहिता में - 'ऋतं च सत्यं च इत्यादि' तप से सत्य हुआ, फिर क्रमशः रात्रि अहोरात्रि और संवत्सर उत्पन्न हुए। स्वयं ने यथापूर्व सूर्य - चन्द्र की कल्पना की तथा आकाश - पृथ्वी और अंतरिक्ष आदि त्रिलोक बनाने का वर्णन प्राप्त है।

अथर्ववेदिय प्रश्नोपनिषद में लिखा है - 'प्रजाकामौ वै प्रजापतिः, स तपोऽतप्यत। स तपस्वत्त वा स मिथुनमुत्पादयते रविं च प्राणं च। इत्येतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत इति' अर्थात् प्रजापति तपस्या करने के बाद सूर्य और प्राण का युगल उत्पन्न करके विचार करते हैं - कि यह सब प्रजा करेगी - प्राणाधीन है। प्राण से आकाश, वायु, ज्योति, पानी, पृथ्वी, लोक - आदि बनाए हैं। (प्रश्न १ सूत्र ४)

मुंडकोपनिषद में (मु. १, खंड १ में) ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्त कर्ता भुवनस्य गोप्ता १. देवों में प्रथम विश्वकर्मा तथा जगरक्षक ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। जैसे मकड़ी से जाल, पृथ्वी से वनस्पति और शरीर पर जैसे रोम उत्पन्न होते हैं, उस प्रकार से ईश्वर से सृष्टि उत्पन्न होती है। ईश्वर को ही सर्व विश्व का रूप देते

हुए कहते हैं कि-‘पुरुष एवेदं विश्वम्’-यह समस्त विश्व पुरुष (ईश्वर) रूप ही है ।



यजुर्वेद में तैत्तिरीयोपनिषद में दूसरे अध्याय में लिखा है कि - 'तस्माद् वा एतस्मादात्मनं आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः अग्नेशपः अद्भ्यः

पृथ्वी, पृथिव्यां औषधयः औषधिभ्योऽिन्नम् अन्नाद् रेतः रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः' आत्मा से क्रमशः उत्तरोत्तर रूप से आकाश, वायु, अग्नि, पानी, औषधि अन्न, वीर्य, और पुरुष उत्पन्न होता है । यह पुरुष अन्नरसमय है ।

ऐत्तरीयोपनिषद में - सर्व प्रथम मात्र आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है। फिर 'तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिधत - यथा ॐ । -' उसके सामने विचारपूर्वक देखने पर अंडे की भाँति उसका मुख खुल गया फिर उसमें से ॐ शब्द उत्पन्न हुआ और शब्द में से अग्नि प्रकट हुई, फिर नाक खुला जिसमें से श्वास आने जाने लगा जिससे आकाश बना, आँखें खुल गई और उनमें से प्रकाश, कान से शक्ति की उत्पत्ती हुई। तदुपरान्त चमड़ी बढ़ी उस पर बाल उगे । उससे घास - पत्ते - वृक्ष आदि उत्पन्न हुए। छाती से बुद्धि, बुद्धि से चंद्र, फिर नाभी से अपान और अपान से मृत्यु उत्पन्न हुई। लिंग के वीर्य से पानी उत्पन्न हुआ - आदि एक एक अंग उस ब्रह्मात्मा में खुलता गया और एक एक वस्तु बनती गई । इस प्रकार सृष्टि उत्पन्न होने के संबंध में बहुत ही लम्बी कहानी इस में है ।

इस प्रकार वेदों में कुछ कुछ मतभदों के साथ सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है और उपनिषद देखें तो बहुत है, इन में से अनेक में सृष्टि -विषयक वर्णन उपलब्ध होता है, परन्तु उन में भी परस्पर भिन्नता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। बृहदारण्यकोपनिषद में अलग प्रकार से बात कही गई हो तो तैत्तिरीय में उससे बिल्कुल ही भिन्न प्रकार की बात कही गई है । कई के तो पाठ भी बहुत लम्बे हैं। स्थान और पृष्ठोंकी संख्या के भय से यहाँ सब को उद्धृत करना शक्य नहीं है । यह तो हजारोंपृष्ठों के स्वतंत्र ग्रंथ का विषय है । हिंदू धर्म में सृष्टि की विचारणा इस प्रकार की गई है और षड्दर्शन में भी सृष्टि के संबंध में जो जो मान्यताएँ है वे भी हम देख चुके हैं । इनके अतिरिक्त इस्लाम और ईसाई मत भी सृष्टि के विषय में अपनी स्वतंत्र विचारधारा रखते हैं जिनका भी संक्षेप में यहाँ उल्लेख करना उपयुक्त रहेगा ।

ईसाई धर्मानुसारी बाईबल की मान्यता :-

ईसाई धर्म का पवित्र धर्मग्रंथ एक मात्र बाईबल है । बाईबल में सृष्टि - विषयक वर्णन मिलता है । ईसाई धर्म भी ईश्वर को जगत्कर्ता मानता है । ईश्वर ही सृष्टि उत्पन्न करता है, सृष्टि की रचना करता है ... आदि बातें बाईबल में पाई

जाती हैं। उसमें उल्लेख है कि 'आदि देव ने आकाश और पृथ्वी की रचना की। पृथ्वी अस्तव्यस्त थी। जलनिधि पर अंधकार था और उस आदि देव कि आत्मा पानी पर चलती थी अंधकार को दूर करने के लिये देव ने कहा'-

'प्रकाश हो' और तुरन्त प्रकाश हो गया। देव ने प्रकाश और अंधेरे को अलग अलग बाँट दिया। प्रकाश को दिन कहा और अंधकार को रात्रि का नाम दिया। कहते हैं कि सृष्टि निर्माण में देव को ६ दिन लगे। उन में प्रथम दिन देव ने इतना किया।

दूसरे दिन देव ने कहा - 'पानी के बीच आकाश बनो,' फिर अंतरिक्ष को ऊपर और नीचे के पानी से अलग अलग किया। इस प्रकार लोक की रचना कर डाली और दूसरा दिन पूर्ण हो गया।

तीसरे दिन कहा - 'आकाश के नीचे के पानी परस्पर मिल जाओ और भूमि दिखाओ' इस प्रकार कहने के साथ ही सब कुछ हो गया। इस प्रकार देव ने भूमि को पृथ्वी और एकत्रित बने हुए पानी को समुद्र कहा। आगे पुनः आदेश दिया - बीज, फल, फूल, वृक्ष, पत्ते आदि पृथ्वी पर हो जाओ। इतना कहने के साथ ही पृथ्वी ने इन सभी को पैदा किया। यह था तीसरे दिन का कार्य।

चौथा दिन हुआ। देव ने कहा - - 'आकाश में ज्योति प्रकट हो'। इतना कहने के साथ ही सूर्य, चंद्रादि, तारे आदि हो गए। फिर उससे रात-दिन ऋतु, माह, वर्ष हुए। देवने इन सब को स्थिर करके अपना चौथा दिन पूर्ण किया।

पाँचवे दिन पानी को आदेश दिया कि वह जीव-जन्तुओं को बहुत बड़ी संख्या में पैदा करे। यह भी कहा कि आकाश में पक्षी, पानी में बड़ी बड़ी मछलियाँ पृथ्वी पर पेट के बल चलनेवाले जंतु आदि हों और सभी अपनी अपनी जाति का बहुत बड़ी संख्या में विकास करें। इतना कहने के साथ ही सब कुछ हो गया। यह था पाँचवे दिन का कार्य।

छठे दिन देव ने पृथ्वी से ग्राम्य एवं वन्य पशुओं की उत्पत्ती करवाई। तत्पश्चात् देव में स्व - स्वरूप देखने के लिये मानव को उत्पन्न करने की इच्छा हुई और उसने इस बार बिना किसी को आदेश दिये स्वयं ही मानव का निर्माण किया। मानवों में स्त्री-पुरुष की अलग अलग व्यवस्था की और फिर आशीर्वाद दिया कि वे फूलें फलें, उनकी वृद्धि हो वे सफल हों और पृथ्वी को भरपूर कर दें। इसलिये जनसंख्या में वृद्धि होती ही गई। साथ ही यह भी आदेश दिया कि देव ने जो साग-सब्जी, बीज-फलादि उत्पन्न किये हैं उनका मनुष्य भोजन करे। अन्य जीव जंतुओं

के लिये हरी वनस्पति और घास - चारा चारों ओर उगाया है - ऐसा देव ने बताया। यह सब देव ने छठे दिन किया और देखा।

कहा जाता है कि यहोवाह देव ने भूमि की मिट्टी में से मानव की रचना करके उसके नथनें में जीवन-श्वास फूँका जिससे वह सजीव प्राणी हुआ। आगे यह भी कहा गया है कि - देव ने आदम (आदमी) को गहन निद्राधीन बनाकर उसकी पसलियों में से एक पसली निकाल कर उसके स्थान पर माँस भर दिया और उस पसली से एक नारी बनाकर उस मानव के पास ले आया। उन दोनों के संसर्ग से मनुष्य का वंश चला। आदम ६३० वर्ष और उसका पुत्र शेष ९०० वर्ष तक जीवित रहा। तत्पश्चात् जल प्रलय, अग्नि, वृष्टि, जल मग्नता आदि द्वारा कई बार जनसंहार किया था। दृष्टान्त वचन प्रकरण ग्रंथ में बहुत कुछ कहा गया है। यर्मोशाह प्रकरण भी इससे संबंधित विचारणा से भरा पड़ा है। इस प्रकार अनेक प्रकरण है जिन में सृष्टि विषयक विचारणा की गई है।

सातवे दिन देव ने अपना सृष्टि रचना का पृथ्वी आदि का कार्य पूर्ण किया और सभी कार्यों से स्वस्थ हुआ। देव ने सातवे साब्बाय दिन को आशिर्वाद प्रदान कर पवित्र घोषित किया, क्योंकि वह उस दिन सब प्रकार की वस्तुओं के निर्माण कार्य से निवृत्त हो चुका था अतः कहते हैं कि देव ने सातवे दिन को Holy Day Sunday के रूप में रखा। पवित्र दिन। ६ दिन तक सृष्टि निर्माण करने में देव को जितना पाप लगा, जो दोष लगे - उन्हें धोने के लिये उनका निवारण करने हेतु देव ने सातवे दिन पवित्र बनने के लिए प्रार्थना आदि की। वह सातवा दिन सूर्य का था अतः उसका नाम रखा। अर्थात् छुट्टी का दिन नहीं बल्कि पवित्रदिन होता है। स्कूलों - कॉलेजों में हम लोग अवकाश रखने लगे अतः से छुट्टी का दिन के अर्थ में प्रचलित हो गया। देव को भी ६ दि तक सृष्टि निर्माण करने में थकान हुई, पाप भी लगा अतः सातवे दिन वह देव अपनी थकान दूर करके स्वस्थ होता है और प्रार्थना करके सृष्टि रचना में लगे हुए पाप का प्रक्षालन कर पवित्र होता है। इस प्रकार ईसाई धर्म में आदि देव के सृष्टि उत्पन्न करने का उल्लेख है। मात्र आदेश द्वारा पलक मात्र में सृष्टि निर्माण करने का वर्णन है।

इस्लाम धर्म की सृष्टि विषयक मान्यता :-

इस्लाम धर्म के अनुयायी मुस्लिम अथवा मुसलमान के नाम से जाने जाते

है । मस्जिद उनका मंदिर कहों अथवा धर्मस्थल कहो बस यह एक ही है। इनका पवित्र धर्म ग्रंथ कुरआन शरीफ है । इस्लाम धर्म में भी २४ पैगंबर माने गए हैं और यह भी सृष्टि कर्ता ईश्वर को ही मानता है, यद्यपि अपनी मान्यता यह अपनी ही तरह से प्रस्तुत करता है । अतः यह धर्म भी जगत कर्तृत्ववादी धर्म है और भगवान को ही सृष्टि का कर्ता मानता है । इसकी सृष्टि विषयक मान्यता इस प्रकार है :-

कुराने मस्जिद सुरा -२ सुरतुलबकरा में वर्णन है कि तुम खुदा को क्यों नहीं मानते ? तुम जब निर्जीव थे तब उसने तुम्हें जीव दिया । फिर वही मृत्यु भी देगा - और फिर वही तुम्हें प्राणदानकर जीवित भी करेगा । इस पृथ्वी पर सब कुछ इन्सान के लिए पैदा किया है । फिर उसने आकाश पर अपनी सत्ता फैलायी । (यह वाक्य कुरान का गूढार्थ है । उसके अर्थ के विषय में पुछताछ करना निषिद्ध है ।) फिर उसने सात आसमान - आकाश बनाए ।

सृष्टि विषयक चर्चा करते हुए लिखते हैं कि - परवरदिगार ने फरिश्ते से कहा कि - मैं जमीन पर एक खलीफा पैदा करने वाला हूँ । यह अधिकार आदम के लिये है । इस आदम को उत्पन्न करने के लिये खुदाने इरादा करके अपने नूर में से उत्पादित अगणित फरिश्तों में से जो ४ बड़े फरिश्ते हैं उनमें से (१) जोबराईल (२) मिकाइल और (३) एसराफिल नामक तीन फरिश्तों को बुलाकर भाँति भाँति की मिट्टी की सात मुट्ठी भर कर लाने के लिए भेजा, परन्तु पृथ्वी ने खेद प्रकट किया, इसलिये वे तीनों लौट आए । तब खुदाने चौथे फरिश्ते एजराईल को भेजा और उसने अपने काम में सफलता प्राप्त कर ली । खुदा ने उसे मौत के फरिश्ते का पद सौंपा । वह देह को अलग करके मौत पैदा करता है । फिर उस मिट्टी में से खुदा ने नर की आकृती बनाई और उसे ४० वर्ष तक सूखने दी । खुदा ने उस शरीर में जीव डाला । उसे बुद्धिमान् आत्मा से पुरुस्कृत किया । उसे बेहस्त में भेजा। फिर उसकी बारीयों पसली से स्त्री का निर्माण किया । उसका नाम हाता रखकर उसे आदम के साथ भेजी जिनसे सृष्टि चलती रही ।

जिस ईश्वर को खुदा के नाम से संबोधित किया जाता है वह जगत का कर्ता है, सृष्टि का रचयिता है । जैसे कोई जादूगर शब्द बोलता उच्चार करता जाता है और एक के बाद एक इस प्रकार अनेक वस्तुएँ निकालकर जगत के लोगों को आश्चर्यचकित बनाया है उसी प्रकार खुदा जो सबका मालिक है वह कुंदादि शब्दों को उच्चारण करता जाता है और उसकी इच्छानुसार एक के बाद एक वस्तु उत्पन्न

होती जाती है। हवा, पानी, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि तत्त्व बनते जाते हैं। फिर जीव सृष्टि बनाता है। सब कुछ उसके नियंत्रण में रहता है, उसी की इच्छानुसार चलता है। खुदा की दया - कृपा पर ही जगत चलता है। मुस्लिम संप्रदाय के इस्लाम धर्म का जगत कर्ता और सृष्टि विषयक यह मत है।

पारसी मतानुसार सृष्टि :-

पारसी धर्म में भी सृष्टि संबंधी विचारणा की गई है, श्रीमती मेहेरजी सोहराबजी - 'अखंड दुनिया की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में लिखती है कि - आरंभ में कुछ भी न था। सर्व प्रथम प्रकाश का एक झरना उत्पन्न हुआ। उसके कोने में हीरे की तरह चमकता हुआ बीज हवा - पानी का वीर्य उत्पन्न हुआ जिसका मालिक देहेदादार है। वह बीज विकसित हुआ और उसमें से गुलाब की एक डाली निकली। उसके छोर पर मेहेरदावर गुलाब का पुष्प खिला। उसमें से वृक्ष उत्पन्न हुए। इस पुष्प के छिद्र में से हवा निकली। इस हवा से २४ घंटों का दिन हुआ। चल हवा के पंश्चात् डेढ़ घंटे में तारा बना। डेढ़ - डेढ़ घंटों की गणना की गई है। इन चतुर्घटिकाओं के नाम की हवा निकली और उसमें से बहुत कुछ बनता गया। फिर आदम भी हवा से उत्पन्न हुआ। २४ मिनट में आदम पारसी का धर्म उत्पन्न होने की मान्यता है।

दूसरी तरह से ४ हवा से तारी के रूप में कुदरत धर्म उत्पन्न हुआ। स्वर्ण महल में स्वर्णिम देहवाले आदम और कुदरत थे। आदम आठवे सितारे का जीव मानता है। इसी दुनिया में जो प्रथम जीव था उसका नाम मेहेआबाद था। वर्तमान सारी प्रजा उसी मेहेआबाद की सन्तति है। सब की उत्पत्ति का मूल हवा को ही माननेवाले पारसी कहते हैं कि - हवा के परिवर्तन से ही जगत में सुकाल - दुष्काल, युद्ध, चुर्हों की उत्पत्ति - वृद्धि, महामारी, धूल की वृष्टि आदि होते हैं।

जामांशहकीम और गुशाताद बादशाह के प्रश्नोत्तर ग्रंथ जामांसवी में कहते हैं कि आदम में नर-नारी और नान्यतर तीन जातियाँ थी। गुलाब के फूल के बीज की प्रथम हवा में से धरती उत्पन्न हुई। उसी हवा से वायु-पानी, प्रकाश का झरना हुआ। दूसरे अवतार रूप अहरमझद से पानी की उत्पत्ति हुई। शुक्र तारे से बिजली हुई। आदम ने नौ हवा की सहायता से आकाश और धरती का निर्माण किया। इस निर्माण कार्य में १११४ वर्ष लगे। इस आदम की उत्पत्ति ही जगत में प्रथम

उत्पत्ति है। पारसी मतानुसार सलजुगसतयुग और कलयुग-कलियुग भी एक प्रकार की हवा है। सतयुग की हवा शांती का साम्राज्य फैलानेवली है जब कि कलियुग की हवा नाश-प्रवर्तिनी है। इनके कथन के अनुसार यह संसार एक क्रिड़ा है, जीव मदारी है और संसार क्रिड़ांगण है।

सृष्टि विषयक समीक्षा :-

उपरोक्त मतों - दर्शनों के विचार देखने और जानने से सृष्टि का परिचय होगा। इस जगत् में भिन्न भिन्न सैकड़ों मत हैं अनेक धर्म हैं एक धर्म में भी अलग अलग भेद संप्रदाय हैं। उनके भी अपने अपने विभिन्न मत हैं। मुख्य रूप से जो छह दर्शन हैं जिन्हें हम षट्दर्शन के नाम से जानते हैं उन में भी आस्तिक दर्शन - नास्तिक दर्शन आदि अनेक हैं। दर्शनों में भी भेद-उपभेद दर्शन, मत, पक्ष, शाखाएँ आदि अनेक हैं। अनेक में नाना प्रकार की विभिन्न मान्यताएँ हैं। सभी दर्शन या धर्म अथवा मत मतांतर ईश्वरकृत सृष्टि नहीं मानते हैं। ईश्वर को जगत् का कर्ता भी नहीं मानते हैं। ईश्वर ने ही यह सृष्टि बनाई है ऐसा वे नहीं कहते हैं, फिर भी जैन दर्शन ईश्वर को भी मानता है और सृष्टि को भी मानता है, इसमें तो जरा भी शंका की बात नहीं है। अन्तर मात्र इतना ही है कि अन्य दर्शन सृष्टि और उसका रचयिता ईश्वर मानते हैं। उनकी मान्यतानुसार ईश्वर और कोई नहीं बल्कि सृष्टि का निर्माण करनेवाला, सृष्टि की रचना करनेवाला है - इस प्रकार अन्योन्याश्रयी - एक दूसरे पर आधार रखने वाला, एक दूसरे के आधार पर ही एक दूसरे का आधार मानते हैं अर्थात् ईश्वर हो तो ही सृष्टि होती है और सृष्टि होती है इसीलिये ईश्वर कहलाता है। ईश्वर के बिना सृष्टि नहीं और सृष्टि के बिना ईश्वर नहीं - ऐसी मान्यतावाले वैदिक आदि दर्शन जो कि मुख्यतः वेदाश्रयी दर्शन हैं उनकी यह मान्यता है।

जैन दर्शन इन में एक ऐसा दर्शन है जो पानी पर जिस प्रकार तेल अलग दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इन सब से भिन्न स्वतंत्र रूप रखता है। जैन दर्शन ने ईश्वर का आधार सृष्टि पर नहीं रखा है। जैन दर्शन ने यह कभी नहीं कहा है कि जो सृष्टि का निर्माण करता हो, जो सृष्टि की रचना करता हो वही ईश्वर कहलाता है। प्रतिपक्षी मतों की मान्यता है कि ईश्वर हो तो वह सृष्टि बनाता ही है - जैसे स्त्री हो वही भोजन बनाने का कार्य करती है - जैसे स्त्री पर भोजन बनाये

का उत्तरदायित्व है वैसे ही ईश्वर पर भी सृष्टि रचना का उत्तरदायित्व है। जैन दर्शन इस प्रकार की मान्यता से सहमत नहीं है। ईश्वर और सृष्टि के मध्य अपरिहार्य संबंध है - ऐसा भी नहीं है। जैन दर्शन का कथन है कि ईश्वर का अस्तित्व ही सृष्टि के आधार पर है और सृष्टि का अस्तित्व ईश्वर के आधार पर है - ऐसा नियम करने की कोई भी आवश्यकता नहीं है, जब कि वैदिक दर्शन तो उपरोक्तानुसार दोनों में अपरिहार्यत्व के साथ साथ एक दूसरे को परस्पर आधाराधेय और अन्योन्याश्रित मानता है परन्तु इस पक्ष में तो सैंकड़ों दोष आने वाले हैं। इस प्रकार मानते हुए भी वैदिक दर्शन ईश्वर को नित्य मानता है और सृष्टि को विनाशशील मानता है। प्रलय काल में सृष्टि का विनाश होनेवाला है। मात्र वेद-ईश्वर नित्य रहनेवाला है। इस प्रकार एक को नित्य और दूसरे को अनित्य मानने से कैसे चलेगा ? क्यों कि जब सृष्टि का ही प्रलय हो जाएगा तब सृष्टि रहित ईश्वर का अस्तित्व कैसे मानोगे ? वह कहाँ रहेगा ? और यदि सृष्टि-रचना ही उसका कार्य हो तो प्रलयकाल में वह ईश्वर कहाँ बैठेगा ? और क्या करेगा ? कारण यह है कि प्रलयकाल में जीवों का सर्वथा अभाव हो जाने पर किसे फल देने और किसे बनाने आदि का काम ईश्वर करेगा ?

इसके अलावा सृष्टि अनित्य और ईश्वर नित्य ऐसे परस्पर विरोधी दोनों धर्म - धर्मियों को एक दूसरे के आधार पर अन्योन्याश्रय में हम कैसे रख सकेंगे ? और फिर ईश्वर के बिना सृष्टि नहीं तथा सृष्टि के बिना ईश्वर नहीं - ऐसी मान्यता का क्या होगा ? वह कैसे टिक सकेगी ? क्या सृष्टि कर्ता है ? नहीं सृष्टि तो कार्य है और कर्ता ईश्वर है। सृष्टि-धर्म है या धर्म ? सृष्टि धर्म नहीं है, यह तो धर्म है। धर्म तो ईश्वर है, ईश्वर का धर्म सृष्टि की रचना करना है। धर्म और धर्म के मध्य परस्पर अभेदभाव होता है अथवा भेदभाव होता है ? अभेदभाव गुण-गुणी के मध्य होता ही है, गुणगुणी से अलग नहीं रहता - बल्कि साथ ही रहता है। जैसी गुण और गुणी की बात है वैसे ही बात धर्म और धर्म के संबंध में है; दोनों में कोई भेद नहीं है। धर्म सदैव धर्म के साथ ही रहता है। धर्म विहीन धर्म नहीं होता और यहाँ यदि सृष्टि को धर्म कहते हैं और ईश्वर को धर्म कहते हैं और धर्म ईश्वर का धर्म है सतत सृष्टि रचना करना तो फिर प्रश्न यह उठता है कि प्रलय काल में ईश्वर क्या करता है ? क्या तब भी सृष्टि करता है ? तो फिर जैसे प्रकाश के बिना सूर्य वैसे ही सृष्टि कार्य के बिना ईश्वर कैसे संभव होगा ? क्या कभी प्रकाश

की किरणों के बिना सूर्य रहा है ? क्या कभी किसी ने प्रकाश रहित सूर्य देखा है ? क्या कभी ऐसा हुआ है कि सूर्य उदित हुआ हो और उसका प्रकाश बिलकुल न हो । क्या आज तक प्रकाशविहीन सूर्य का कभी उदय हुआ है ? नहीं, ऐसा कभी नहीं हुआ तो फिर सृष्टि कार्य करने के धर्म रहित ईश्वर को कैसे माना जाए ? ईश्वर को नित्य कहना है तो उसके साथ सृष्टि रचना का संबंध बलात् जोड़ने की कहीं भी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि सृष्टि के कारण ईश्वर की नित्यता अवरोध हो जाती है, कदम कदम पर आपत्ति का सामना करना पड़ता है । इसीलिये जैन दर्शन कहता है कि ईश्वर और सृष्टि दोनों को अलग अलग स्वतंत्र पदार्थ कर दो । दोनों में कुछ भी संबंध न रखो, दोनों को एक दुसरे का आधार मानने में; परस्पर अन्योन्याश्रित मानने में कई दोष लगते हैं और दोनों का स्वरूप विकृत होता है । सृष्टि के कारण ईश्वर का स्वरूप बिगड़ता है । ईश्वर में सैंकड़ों दोष लगने का भय रहता है और इसी प्रकार ईश्वर को कर्ता और सृष्टि को ईश्वर निर्मित कहने में दोनों की नित्यता में दोष लगता है । 'करना' क्रिया है । सृष्टि-करना - बनाना यह किसी कर्ता से ही हो सकता है । कोई बनानेवाला ही सृष्टि बना सकता है, उसके बिना सृष्टि संभव नहीं है - ऐसा माननेवाले भी भूल करते हैं । कारण यह है कि करने की क्रिया नित्यता की परिचायिका नहीं है । 'ईश्वर ने सृष्टि रचना की" इस वाक्य में की - करने की क्रिया आई अतः सैंकड़ों प्रश्न उपस्थित होंगे, जैसे कब की ? कहाँ की ? कैसे की ? किस पदार्थ या वस्तु की सहायता से की ? अकेले ईश्वर ने ही की या उसके साथ अनेक ने मिलकर की ? किस में से की ? करने का प्रयोजन क्या था ? यदि की तो स्वेच्छा से की या अनिच्छा से ? किस स्थल पर की ? किसने की ? सुंदर की या कुरूप की ? करने में सहायक कौन थे ? पहले की या बाद में की ? पहले क्या क्या किया और बाद में क्या क्या किया ? की तो कहाँ तक की ? कितने काल तक करते रहे ? बनाने में कितने वर्ष लगे ? आदि क्रिया से संबंधित सैंकड़ों प्रश्न खड़े होंगे जिनका उत्तर देने वाला पक्ष ईश्वर के स्वरूप को ही विकृत कर डालेगा ?

यह करने की क्रिया न तो कृति की और न कर्ता की नित्यता का सूचन करती है, क्योंकि उसके लिये काल आदि का आधार देना पड़ता है । स्थान, क्षेत्र, वस्तु सहायक, समय, संख्या आदि अनेक बिन्दुओं का आधार देना पड़ेगा और ऐसा करने में या तो हाथ में से ईश्वर का स्वरूप लुप्त हो जाएगा या सृष्टि का अस्तित्व

ही मिट जाएगा। अथवा इसका स्वरूप 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्ट' जैसी स्थिती वाला हो जाएगा। इसीलिये ईश्वर और सृष्टि दोनों को अलग अलग स्वतंत्र पदार्थ मानने की सलाह जैन दर्शन देता है। वरना ईश्वर के भोग पर सृष्टि का स्वरूप सम्हालने जाओगे और सृष्टि के भोग पर ईश्वर के स्वरूप की रक्षा करने लगोगे तो रबर खींचने जैसी स्थिती हो जाएगी। ईश्वर के कारण सृष्टि का स्वरूप बिगड़ता है और दूसरी ओर सृष्टि के कारण ईश्वर का स्वरूप विकृत होता है, इसलिये जैन दर्शन ने ईश्वर और सृष्टि दोनों का अलग अलग अस्तित्व माना है। एक दूसरे का एक दूसरे के साथ आधार या संबंध ही नहीं रखा, बल्कि दोनों का स्वतंत्र स्वरूप - अस्तित्व माना है और यही इसकी तार्किक बुद्धि की विशेषता है, गरिमा है।

आस्तिक - नास्तिक का आधार :-

वैदिक दर्शनकारों ने ईश्वर और सृष्टि इन दो पदार्थों पर ही आस्तिकता और नास्तिकता का आधार रखा है पर ऐसा क्यों? स्वयं की किलेबंदी करने के लिये ईश्वर और सृष्टि के पदार्थों की वाग्जाल की बालू (रेत) की दीवार बनाकर किला बनानेवाले वैदिक दार्शनिकों को इस बात का पता नहीं है कि वे बालू के किले में बैठे हैं और इन दोनों ईश्वर और सृष्टि पदार्थ का ही स्वरूप सिद्ध नहीं होता तो फिर उनका बालू से निर्मित दीवारवाला किला कितना दृढ़, अभेद्य अथवा सुरक्षित रह पाएगा?

इन्होंने तो मुद्रालेख बना दिया कि ईश्वर को सृष्टि का कर्ता माने वही आस्तिक और न माने वह नास्तिक। ऐसी व्याख्या करके इन्होंने जैन दर्शन को आस्तिकता के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया परन्तु जैन दर्शन ने इनकी हजारों त्रुटियाँ बताकर इन्हें ही नास्तिक सिद्ध कर दिया है। समझ में नहीं आता वैदिक दर्शनकारों ने जैन दर्शन के साथ सौतेला व्यवहार क्यों किया? सृष्टि कर्ता ईश्वर को न माननेवाले तो जैनों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक दर्शन हैं। मीमांसक कहाँ मानते हैं इस बात को? वे ईश्वर को सृष्टि का रचयिता न मानते हुए भी आस्तिक कहलाते हैं जब कि मात्र जैनों को ही नास्तिक कहा गया है। यह बंदर बाँट जैसी अन्यायपूर्ण बात हुई।

वेद और ईश्वर - सृष्टि आदि मानने वाले ही आस्तिक है और इनके सिवाय नास्तिक हैं - ऐसा कहकर सर्वदर्शन संग्रहकार ने - छह दर्शनों को नास्तिक कहा

है। उनके नाम हैं चार्वाक, माध्यमिक, योगाचारवादी, सौत्रान्तिक, वैभाषिक और जैन। बौद्ध मत के अवान्तर भेद है। उन्हें पुराने गिने अतः ६ हुए अन्यथा मुख्यतः ४ को नास्तिक बताते हैं। लोकायत चार्वाक, आर्हत-जैन, सौगत-बौद्ध और कपिलमुनिवादी कापालिक - इन चार को ही नास्तिक बताया गया है। जरा बुद्धिपूर्वक सोचो कि चार्वाक और जैन में क्या कुछ भी अंतर नहीं है? क्या चार्वाक जैसा ही जैन दर्शन है? चार्वाक नास्तिक तो ईश्वर - आदि कुछ भी मानने वाला नहीं जब कि जैन दर्शन तो ईश्वर को मानता है। माना कि जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि - कर्ता के रूप में नहीं मानता परन्तु शुद्ध कर्म रहितात्मा परमात्मा को ही ईश्वर मानता है और ईश्वर ही नहीं बल्कि परमेश्वर - परमेश्ठी शब्द से ससम्मान संबोधित करता है और दूसरी ओर सृष्टि का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। जैन दर्शन ने ईश्वर या सृष्टि दोनों का निषेध नहीं किया है, परन्तु मानने की रीति भिन्न है। जैन दर्शन ने ईश्वर को शुद्ध परमात्मा के स्वरूप में माना है और सृष्टि को जड़ - चेतन के संयोग स्वरूप परिणाम स्वरूप में माना है। सृष्टि को ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं माना ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं माना - इतने मात्र से क्या जैन नास्तिक हो गए? क्या यह न्यायसंगत युक्ति है अथवा मुखोक्ति है?

आस्तिक - नास्तिक मानने का आधार :-

आस्तिक - नास्तिक की व्याख्याएँ भी अनेक ने अपनी अपनी प्रणाली से की हैं। सर्व दर्शन संग्रह के उपोद्घात में लिखा है कि 'श्रुतिप्रामाण्य - विरोधि नस्तार्किकविशेषाः नास्तिकाः' अर्थात् श्रुति - वेद को प्रमाण न मानने वाले वेद प्रमाण के विरोधी तार्किक नास्तिक कहलाते हैं। इनमें चार्वाक जैन बौद्धादि का समावेश होता है। 'श्रुति प्रामाण्याविरोधिनस्तार्किक विशेषा आस्तिकाः' अर्थात् श्रुति वेद के प्रमाण का विरोध न करने वाले, वेद को ही प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहलाते हैं। इस व्याख्या के अनुसार सांख्य, पातंजल, नैयायिक, वैशेषिक आदि आस्तिक दर्शन कहलाते हैं।

इस प्रकार अपनी मनगढ़ंत व्याख्या के आधार पर ही यदि किसी को आस्तिक कहना हो, तब तो मात्र वैदिकों को ही दूसरों को नास्तिक कहने का अधिकार क्यों? इस बात के आधार पर तो जैन भी दूसरों को नास्तिक कह सकते हैं। 'आर्हतागम प्रामाण्यविरोधिनस्तार्किक विशेषाः नास्तिकाः' आर्हतेतर सर्वे

एकान्तवादिनः दार्शनिका नास्तिकाः ” अरिहंत परमात्मा द्वारा उपदिष्ट आगम को ही प्रमाण रूप स्वीकार न करनेवाले आर्हद् आगम का विरोध करनेवाले सभी नास्तिक दर्शन कहलाएँ और इससे आर्हत् - जैन के सिवाय सभी दर्शन नास्तिक कहलाएँगे ।

यह व्याख्या वैदिक व्याख्या की भाँती स्वमत से बनाई हुई व्याख्या होगी। इस में कुछ भी नहीं परन्तु परस्पर अपना ध्वज उँचा रखकर अन्य को नास्तिक जैसा अपशब्द कहने जैसी बात है और ऐसा करने में कोई औचित्य नहीं है । अपने दर्शन की मान्यता अन्य के सिर पर बलात् मढ़ी नहीं जा सकती । यह आवश्यक नहीं है कि एक दर्शन किसी अन्य दर्शन की विचारधारा या मान्यता को निश्चित रूप से स्वीकार ही कर ले । वह माने तो ही व आस्तिक और न माने तो नास्तिक - ऐसा कहना भूर्खता पूर्ण होगा । इस प्रकार इस आधार पर तो सभी एक दूसरे को नास्तिक कहेंगे ।

पाणिनिकृत नास्तिकता की व्याख्या :-

व्याकरणकार महर्षि पाणिनि ने अपनी व्याकरण रचना में आस्तिक - नास्तिक की व्याख्या करते हुए सूत्र बनाया है कि 'अस्ति नास्ति दृष्टि मतिः । जिसकी अस्ति और नास्ति की बुद्धि नहीं वह' । टीकाकार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि - "अस्ति परलोकं इत्येवं मतिर्यस्य स आस्तिकः । तथा नास्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य स नास्तिकः" अर्थात् परलोक है ऐसी जिसकी बुद्धि है वह आस्तिक है और परलोक नहीं है ऐसी जिसकी बुद्धि है जो परलोक के अस्तित्व को नहीं मानता, वह नास्तिक है । पाणिनि जैसे अधिकृत व्याकरणकार की व्याख्यानुसार जैन नास्तिक कैसे कहे जा सकते हैं ? कर्म, धर्म, पुण्य, पाप, लोक - परलोक, आत्मा - परमात्मा और बंध - मोक्ष आदि सभी तत्त्वों को स्वीकार करने वाले जैनों को नास्तिक कहने में कहाँ का बुद्धि चातुर्य है ? आकाश में दिन में सूर्य जैसी स्पष्ट बात है कि जैन धर्म - दर्शन लोक-परलोक आदि का जैसा वर्णन करता है वैसा तो कदाचित् इस जगत में कोई भी दर्शनकार सचोट वर्णन का चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकेगा । फिर पाणिनि के आधार पर जैन दर्शन को नास्तिक कहने की उदंडतापूर्ण चेष्टा करने वाले कितने अज्ञान - बाल जीव होंगे ? आश्चर्य तो इस बात का होता है कि पूना के ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट के डॉ. पी. एल. वैद्य जिन्होंने 'वेद शास्त्रोत्तेजक सभा

पूना से प्रकाशित संस्था के महोत्सव विशेषांक में 'नास्तिक किंवा अवैदिक दर्शन'- नामक लेख में जैन दर्शन को नास्तिक बताया है और वह भी पाणिनी की व्याख्या के आधार पर तथा जैसी उनके मन में आयी वैसी स्वकल्पित कल्पना से निर्लज्ज चेष्टा करते हुए अपने होश हवाश गिरवी रखते हुए लिखा है कि — जैन धर्म में २४ तीर्थंकर भगवान हुए ही नहीं । पार्श्व नामक किसी संन्यासी बावे से यह धर्म चला है, और जैन धर्म में कोई पाँच ज्ञान नहीं है, केवलज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं है ! सर्वज्ञता का अभाव है और जैन धर्म में ४५ आगम जैसा कुछ भी नहीं है — ऐसी बातें लिखकर जैन दर्शन पर कुठाराघात किया है । इनके इस प्रकार के वर्णन को पढ़ने से तो लगता है कि इन्होंने कभी जैन धर्म का अध्ययन भी किया है या नहीं - यही शंका होती है । ४५ आगम आज भी - वर्तमान में भी उपलब्ध हैं, २४ तीर्थंकरों के नाम चरित्र आदि प्राचीन ग्रंथों में सविस्तार उपलब्ध हैं । पाँच ज्ञान आदि पर ही जैन धर्म का आधार स्तम्भ है । सभी बातें दीपक के प्रकाश जैसी स्पष्ट होते हुए भी जैन धर्म पर कीचड़ उछालने की ऐसी कुचेष्टा करके भी ये सज्जन विद्वानों कि श्रेणी में स्थान प्राप्त कर सकें तो कितनी हास्यास्पद स्थिती है । इस जगत का नियम है कि 'पुरुष विश्वासे वचन - विश्वासः' यदि पुरुष में पहले विश्वास आए तो ही बाद में उसके वचन में विश्वास पैदा होता है । यहाँ इस नियम के अनुसार चलें तो ऐसे पुरुष में विश्वास ही नहीं पैदा होता । तब उसकी बातों पर विश्वास करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता है ।

जैन धर्म और दर्शन लोक-परलोक में श्रद्धा रखता है मृत्यूपरान्त जीव स्वर्ग-नरकादि परलोक में जाता है - जन्म लेता है, पुनर्जन्म धारण करता है, जीव ने पूर्वजन्म भी अनंत किये स्वयं के द्वारा कृत कार्यों के अनुसार वह कर्म - फल भी पाता है पाप पुण्य जो और जैसे किये हो उनके आधार पर तदनुकूल सुख दुःख के फल भोगता है । जैन स्वयं स्व-पाप कर्मों का प्रक्षालन करने हेतु, उन्हें क्षीण करने हेतु ईश्वर - अरिहंत परमात्मा के सन्मुख दर्शन - पूजन, भक्तिभावमय उपासना प्रार्थनादि सब कुछ करता है, जैन हजारों वर्षों से ये क्रियाएँ करते आए हैं फिर ये नास्तिक कैसे ?

जैनों को नास्तिक कहने के लिए और कुछ भी आधार न मिला तो मनु के नाम पर शब्द बिठकर कहने लगे कि 'नास्तिको वेदनिन्दकः' अर्थात् जो वेद की निंदा करते हैं वे नास्तिक । यह तो ऐसी बात हुई कि ... शास्त्रीय व्याख्या अथवा

सिद्धान्त के आधार पर न्यायपूर्वक किसी को दोषी या अपराधी सिद्ध न कर सकने पर मेरी निंदा करता है, अतः अपराधी है ही, ऐसी ही बात यहाँ हुई है। जब जैनों को नास्तिक कहने का कोई न्यायसंगत सिद्धान्त हाथ न लगा तो छोटी सी ठंडी गाली दे दी कि तुम जैन लोग हमारे वेदों की निंदा करते हो अतः नास्तिक हो।

तो प्रश्न यह उठता है कि इस व्याख्या के अनुसार मात्र जैनों को ही नास्तिक क्यों कहा गया ? कपिल मुनि के मतानुयायी सांख्य कहाँ जाएँगे ? जैमिनी के मत को माननेवाले पूर्व मीमांसक फिर आस्तिक कैसे रहेंगे ? कणाद मतवाले वैशेषिक भी ईश्वर कर्तृत्ववाद कहाँ मानते हैं ? इसी प्रकार मीमांसक भी ईश्वर कर्तृत्ववाद या जगत कर्तृत्ववाद ईश्वर में नहीं मानते तो क्या ये सभी नास्तिक नहीं ? जब कि उन सभी को तो आस्तिक माना कैसा न्याय है ?

कपिल मुनि का प्रत्युत्तर :-

सत्यार्थ प्रकाश में प्रकाशित उल्लेख है कि महाभारत के शांति पर्व सं. २६८ में गाय और कपिल का संवाद है। यज्ञों में गाय का वध किया जाता था। गाय ने स्वरक्षा हेतु कपिल मुनि के पास प्रार्थना की। तब कपिल मुनि बड़े ही दुःखी और व्यथित हृदय से कहते हैं कि — वाह रे वेद ! तूने हिंसा को भी धर्म बना दिया ? फिर तो कपिल मुनि ने स्पष्ट घोषणा की कि हिंसा से युक्त धर्म कदापि धर्म नहीं हो सकता है चाहे वह वेद भी क्यों न हो ? इस वेद विहित हिंसा का विरोध किया - मात्र इसी कारण से ब्राह्मणों ने कपिल मुनि को नास्तिक घोषित कर दिया और आश्चर्य तो इस बात का है कि जो कपिलमुनि वेद की स्तुती करते हैं वे ही वेद के विरोधी हैं। वेद में एक ऋषि अन्य ऋषि की बात का विरोध करता है तो प्रश्न उठता है कि किसे आस्तिक माने और किसे नास्तिक कहें ? सांख्य दर्शन में भी प्राचीन सांख्य और अर्वाचीन सांख्य - इस प्रकार दोनों ही पक्ष हैं परन्तु प्राचीन सांख्यों की ख्याती लुप्त होती जा रही है।

पूर्वमीमांसक भी ईश्वर को जगतकर्ता नहीं मानते :-

जैमिनी मुनि प्रणीत पूर्व मीमांसा दर्शन भी जगत कर्ता के रूप में ईश्वर को कहाँ मानता है ? वेद को मानते हुए भी मीमांसक ईश्वर को नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि 'किमन्तर्गडुना इश्वरेण - ऐसे अन्तर्व्यापी अथवा अन्तर्गत इश्वर से क्या

प्रयोजन?' उसे मानने की कहाँ आवश्यकता है ? इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में मीमांसक ईश्वर का खंडन करते हैं । हरिभद्रसूरी महाराज "षड्दर्शन समुच्चय" में मीमांसको को निरीश्वरवादी बताते हुए लिखते हैं कि -

जैमिनीयाः पुनः प्राहुः सर्वज्ञादिविशेषणः ।

देवो न विद्यते कोऽपि यस्य मानं वचो भवत् ॥

जैमिनिय मत को माननेवाले मीमांसक स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सर्वज्ञ, विभु अथवा नित्यादि विशेषणयुक्त कोई देव - ईश्वर कर्तृत्ववाद का विरोध करनेवाले मीमांसक इस अर्थ में शुद्ध रूप से जैनों के समान ही हैं, तब फिर जैनों को नास्तिक और मीमांसको को आस्तिक कहना किस घर का न्याय है ?

'कर्मति मीमांसकाः' - मीमांसको के विषय में प्रसिद्धि है कि वे कर्मवादी हैं - कर्म को माननेवाले हैं ।

इसी प्रकार नैयायिक वैशेषिकों का मत भी विचारणीय है । कणाद मतावलम्बी वैशेषिकों की मान्यता भी भिन्न ही है, फिर भी ये सभी आस्तिक कहलाते हैं और जैनों को नास्तिक कहा जाता है - ऐसा क्यों ? या तो स्वयं नास्तिक दृष्टिवाले नास्तिक जैनों की आस्तिकता को समझने में विफल हो रहे हैं अथवा मात्र द्वेषवश जैनों को नास्तिक कहने की धृष्टता कर रहे हैं, परन्तु सोचें तो स्पष्ट हो जाता है कि जैन अनिश्चरवादी नहीं, सेश्वरवादी भी कहे गए हैं, अर्थात् जैन ईश्वर को तो मानते ही हैं, मात्र उसे जगत-कर्ता के अर्थ में नहीं मानते । जैनों के अनुसार ईश्वर सृष्टि-कर्ता नहीं है, वह तो सर्वज्ञ वीतराग परम शुद्ध परमात्मा है - कर्म रहित हैं। इसीलिये ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहंत परमात्मा को सृष्टि - रचना की, कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है, क्यों कि सृष्टि तो जड़-चेतन-जीव-अजीव के संयोग-वियोग से सदैव बनती और बदलती रहती है, फिर इसकी रचना का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? इस प्रकार जैन दर्शन ईश्वर को भी मानता है और सृष्टि को भी मानता है, दोनों का अस्तित्व स्वीकार करता है परन्तु अपने ही ढंग से शुद्ध-निर्दोष स्वरूप में स्वीकार करता है । अतः जैनों को नास्तिक कहने के लिये तिलमात्र भी आधार नहीं रहता। कोई तर्क-युक्ति अथवा बुद्धि जैनों को नास्तिक कहने के लिये नहीं मिलती, अतः अन्त में कह दें कि जैन हमारे वेदों को नहीं मानते, वेदों को गाली देते हैं, श्रुतिप्रमाण नहीं मानते हैं, अतः जैन नास्तिक हैं यह कैसा न्याय है ?

यह बात तो ऐसी हुई कि कोई दुकानदार ग्राहक को कहे कि मेरे वचन पर

विश्वास रखो कि यह सोना है, तू इसे खरीद ले । तब ग्राहक कहता है कि मैं तुम पर विश्वास क्यों रखूँ ? मैं तो इसे कसौटी पर कस कर देखूँगा । यदि कसौटी की परीक्षा में यह शुद्ध सिद्ध होगा तभी मैं इसे सोने के रूप में स्वीकार करूँगा । ग्राहक के ये शब्द सुनकर यदि व्यापारी ने सोने में मिलावट की होगी तो वह अपनी पोल खुल जाने के भय से क्रुद्ध होगा, और ग्राहक को मूर्ख होना कहेगा ।

इसी प्रकार जैन दर्शनवादी रूप ग्राहक जब वैदिक विद्यावादी विक्रेता को सत्य की कसौटी पर कसकर शुद्ध सिद्धान्त स्वीकार करने की बात करते हैं तब क्रुद्ध होकर द्वेषबुद्धि से वैदिक जैनों को नास्तिक कहने की उद्दंडता करते हैं - यह कहां तक उचित है ? क्या इसमें किसी प्रकार की बुद्धिमत्ता दिखती है ? बिल्कुल ही नहीं।

जैन दर्शन ईश्वर का स्वरूप कैसा मानता है ? किस अर्थ में भगवान को मानता है ? कैसे भगवान को ईश्वर मानता है ? इसका विस्तृत तर्कयुक्त बुद्धिगम्य विवेचन हम आगे विस्तार से करेंगे । इस में हम सृष्टिवाद और ईश्वरवाद की वास्तविकता की परीक्षा करेंगे । यहाँ स्थानाभाव से जैन दर्शन को अभिप्रेत सृष्टि क्या है ? कैसी है ? कितनी है ? इसका वर्णन करेंगे ।

जैन दर्शन मान्य सृष्टि स्वरूप:-

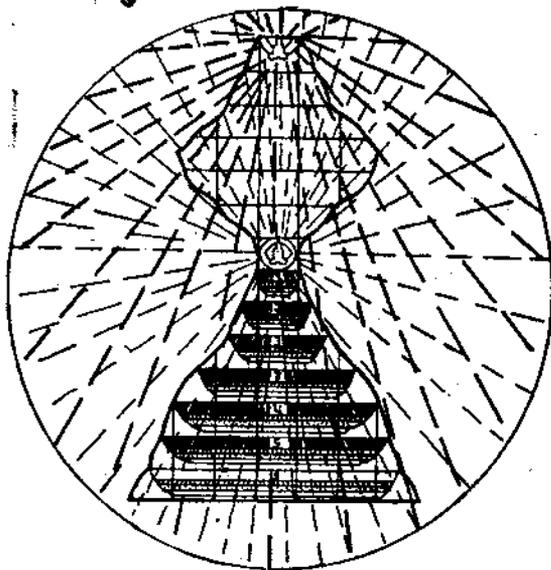
‘सृष्टि’ शब्द ब्रह्मांड, सम्पूर्ण जगत, सम्पूर्ण लोक, अथवा विश्व के लिये प्रयुक्त हुआ है । विश्व शब्द सृष्टि के अर्थ में बहुत ही छोटा पड़ता है । जैन दर्शन की प्रथम मान्यता तो स्पष्ट ही है कि भगवान ने सृष्टि बनाई नहीं है बल्कि बताई है ।

बनाना और बताना - बनाई और बताई :-

इन दोनों ही शब्दों में ‘न’ और ‘त’ का ही अन्तर है । जैन दर्शन बनाने की मान्यता नहीं रखता । जैनेतर अन्य दर्शनों में से अनेक ऐसे हैं जो सृष्टि की रचना करने वाले ईश्वर को भगवान मानते हैं, जब कि जैनों की मान्यता भिन्न है। जैन दर्शन तो कहता है कि भगवान, ईश्वर, सर्वज्ञ, परमेश्वर सृष्टि अथवा लोक का रचयिता नहीं है, वह तो मात्र निर्देशक बताने वाला ही है । God is not the Creator of the world not He is the destroyer of the world.

God is only a director of the world. भगवान सृष्टि का बनाने वाला नहीं है न व नाश करने वाला है, वह तो मात्र दृष्टा है - जगत कैसा है मात्र यह बताने वाला है। इस जगत में क्या है ? कहाँ क्या है ? कैसा है ? किस प्रकार है ? किस स्वरूप में है ? और इस जगत में क्या क्या परिवर्तन होते हैं ? किस प्रकार होते हैं ? कौन क्या करता है ? जड़ क्या है ? चेतन क्या है ? यह सृष्टि किस प्रकार बनती है ? इसमें परिवर्तन किस प्रकार होते हैं ? जीव-अजीव जड़ चेतन के संयोग वियोग किस प्रकार होते हैं ? कौन करता है ? और कौन बनाता है ? आदि की विचारणा जैन दर्शन ने बहुत ही स्पष्ट रूप से करके, एक वास्तविक सत्य को जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है। यह सब समझने के लिये सर्व प्रथम सम्पूर्ण सृष्टि समझाने वाले - बताने वाले परमात्मा का सर्वज्ञ के रूप में सच्चा स्वरूप समझना आवश्यक है। यद्यपि विस्तृत रूप से तो आगे समझाया जाएगा परन्तु यहां सामान्य रूप से संक्षेप में उपयोगी स्वरूप समझ लेते हैं क्योंकि भगवान में तो श्री कृष्ण अर्जुन को मुँह फाड़कर अपने मुँह में व्यापक विराट ब्रह्मांड का स्वरूप दिखाते हैं, जब कि सर्वज्ञ अरिहंत भगवान अपने अनंत ज्ञान से ब्रह्मांड का स्वरूप बताते हैं।

अनंत लोका-अलोकेश
शुधी केवल ज्ञानी भूओ छे.



केवलज्ञानी
सर्वज्ञ
परमात्मा :

ज्ञान आत्मा का प्रथम श्रेणी का श्रेष्ठ गुण है। ज्ञान आत्मा-जीव के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं रहता अतः आत्मा को पहचानने के लिये ज्ञान-दर्शनादि चेतना

शक्ति स्वरूप गुण सहायक हैं । गुण और गुणी का अविच्छिन्न संबंध होता है अतः ज्ञान और ज्ञानी का भी अविच्छिन्न संबंध होता है । ज्ञान जिसमें होता है वह ज्ञानी कहलाता है । ज्ञान के पाँच प्रकारों में केवलज्ञान पाँचवा प्रकार है । केवलज्ञान अर्थात् अनंत वस्तु विषयक अनंत ज्ञान के अपर नाम से भी विख्यात है । यह ज्ञान त्रिकालाबाधित होता है, अर्थात् त्रिकाल में भी इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती । एक ही समय में त्रिकाल का ज्ञान संपूर्ण रूप से होता है; इसीलिये केवलज्ञान को पूर्णज्ञान-संपूर्ण ज्ञान के नाम से भी सम्मानित किया जा सकता है जिसे भी केवलज्ञान होता है वह केवली व्यक्ति के स्वरूप में जाना जाता है । सर्वज्ञ अर्थात् जो सारे ही पदार्थ को जाने और प्रत्यक्ष रूप से देखे । केवलज्ञानी महात्मा समस्त लोक-ब्रह्मांड के सभी अनंत पदार्थों को जानते हैं और देखते हैं, उन्हें स्वयं उन पदार्थों तक जाना नहीं पड़ता, परन्तु उनका ज्ञान ही सर्व पदार्थों को इस प्रकार व्याप्त कर लेता है जैसे दर्पण में वे प्रतिबिंबित होते हैं । केवलज्ञान में अनंत पदार्थ स्वतः परिलक्षित हो जाते हैं । केवली मनुष्य यहाँ लोक में आसीन होते हैं और यहाँ बैठे बैठे ही अपने अनंत ज्ञान से अनंत लोकालोक के अनंत पदार्थों को एक साथ देखते और जानते हैं । ऐसे सर्वज्ञ प्रभु, केवली भगवंत, अनंतज्ञानी परमात्मा ने इस सम्पूर्ण ब्रह्मांड लोक अलोक तथा सृष्टि को जिस स्वरूप में देखा है - जैसी है, जिस स्वरूप में है उसी स्वरूप में उसे देखा है - जाना है उसी स्वरूप में उन्होंने इसका वर्णन किया है । केवली भगवंत ने अपने चार धन घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है, ४ घनघाती कर्मों में मोहनीय कर्म का भी क्षय करके वे वीतराग बने हैं और फिर वे केवली बने हैं । वीतराग हो जाने के कारण अब उनमें क्लेश-कषाय, राग-द्वेष अथवा क्रोध -मानादि किसी भी प्रकार के कषायों का अस्तित्व ही नहीं रहता और कषाय न होने से असत्य भाषण का कोई कारण ही नहीं रहता । वे अब क्यों असत्य बोलें ? क्यों विपरीत वर्णन करें ? अब कोई प्रयोजन ही नहीं रहा, अतः जो कुछ भी वे कहेंगे, वह सत्य स्वरूप में ही कहेंगे । पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही वे कहेंगे, वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ही वे वर्णन कहेंगे, उसमें तनिक भी परिवर्तन वे नहीं करेंगे ।

वीतराग - सर्वज्ञ प्रभु सृष्टि रचना नहीं करते :-

जैन दर्शन द्वारा अभिप्रेत यह सनातन सत्य का सिद्धान्त है कि वीतराग-

सर्वज्ञ भगवान् सृष्टि की रचना नहीं करते हैं । वे क्यों करने लगे ? जगत में अनंत जड़ पुद्गल पदार्थ हैं, उन्हीं के संयोग वियोग से सृष्टि का निर्माणादि कार्य होता ही रहता है, स्वतः चलता रहता है, फिर वीतराग को सृष्टि रचना करने की कहाँ आवश्यकता रहती है ? दूसरी ओर राग-द्वेष से सर्वथा अलिप्त वीतराग परमात्मा में किसी भी प्रकार की इच्छा अनिच्छा जैसा कुछ भी तो नहीं है, फिर सृष्टि बनाने की कोई संभावना ही नहीं रहती । यह सब कुछ तो जो रागी-द्वेषी होता है, उसे शोभा देता है । अब सोचो कि जिसका निर्माण किया नहीं जाता, जो स्वयं बनता है उसे भी रागी-द्वेषी ईश्वरों के सिर मढ़ दिया जाता हो अथवा वह ईश्वर कहता है कि मैं बनाता हूँ - मैं इसका निर्माण करता हूँ आदि, तो इसमें उस ईश्वर की राग-द्वेष की भावना स्पष्ट रूप से प्रकट होती है । इसमें कोई संदेह नहीं रहता कि ऐसा निर्माता ईश्वर रागी और द्वेषी है, क्यों कि स्वतः बनने वाली सृष्टि निर्माण का श्रेय वह लेता है जबकि ऐसा करने की तनिक भी आवश्यकता रहती ही नहीं है ।

जैन धर्म स्पष्ट और साफ शब्दों में कहता है कि सृष्टि की रचना करने वाला कोई नहीं, इसकी रचना करने के लिये किसी को कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है । जगत में अनंत जीव हैं । वे अनंत पुद्गल पदार्थों के साथ स्व-स्व कर्मानुसार संयोग-वियोग करते रहते हैं - उनका संयोग-वियोग होता रहता है और इसी का नाम है सृष्टि । सृष्टि में और कुछ नहीं बल्कि यही होता रहता है । सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक अनेक प्रकार के अनंत जीव हैं । जीव में ही कर्तृत्व-शक्ति है, अतः कर्ता जीव ही है । जीव कुछ भी करता है, उसका फल वह स्वयं ही भुगतता है । इस प्रकार भोक्ता भी वह स्वयं ही है । उसके द्वारा कृत कर्मों का उसे फल देने वाली किसी अन्य एजेन्सी की आवश्यकता नहीं रहती । स्वकृत कर्मों का फल समय आने पर जीव स्वयं प्राप्त करता है और उसे भोगता है, अतः कर्तापन और भोक्तापन जीव में ही माना जाता है । इसी प्रकार ज्ञान योग से जानना और दर्शनयोग से देखना - ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ भी जीव की स्वयं की ही हैं । ज्ञान और दर्शन जीवात्मा के गुण हैं, अतः उसके योग से आत्मा ज्ञाता और दृष्टा दोनों ही हैं । इसीलिये वह जानता है और देखता है । यही कारण है कि जीवात्मा भाव से ज्ञाता - दृष्टा और कर्ता भोक्ता स्वयं ही है । केवलज्ञानी सर्वज्ञ-वीतरागता इस जीवात्मा की ही उत्तम अवस्था है - कक्षा है । इस अवस्था में रहे हुए जीव को ही परमात्मा कहा जाता है । इसे ही परमेश्वर, परम पिता, भगवान्, जिन-जिनेश्वर, सर्वज्ञ, वीतरागी,

तीर्थकर, अरिहंत भगवान, आदि नामों से सादर संबोधित किया जाता है। इसीलिये भगवान ज्ञाता दृष्टा है। जैसा जगत है, जैसा संसार उन्होंने अनंत ज्ञान-दर्शन के योग से देखा है और जाना है उसे उसी और वैसे ही स्वरूप में वीतराग भाव से जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है।

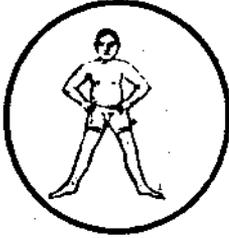
बनाया ? या बताया ?

किसी व्यक्ति के बूट राजप्रासाद में खो गए। संध्या समय ढूँढते ढूँढते अँधेरा छा गया। बाह्य अपरिचित इस व्यक्ति के राजप्रासाद में प्रकाश की व्यवस्था संबंधी स्थल का कुछ भी ज्ञान नहीं था, अतः वह परेशान होकर सोचने लगा कि क्या किया जाय ? इतने में राजप्रासाद से परिचित कोई सज्जन आते हैं और पूछते हैं - “भाई! क्या हो गया ? उस व्यक्ति ने वस्तुस्थिति का वर्णन किया। आगन्तुक राजप्रासाद से परिचित व्यक्ति उस नवागन्तुक को नीचे की ओर ले गया और बटन दबाकर तत्काल प्रकाश किया और उसके बूट उसे दिखाई दिए और कहा - देखो! रहे तुम्हारे बूट-पहन लो। यह कोई कहानी नहीं है।”

परन्तु इस पर इतना विचार करो कि इसमें राजप्रासाद से परिचित उस व्यक्ति ने क्या किया ? बूट बनाए या बताए ? प्रकाश, नीचे का स्थल आदि बनाए या बताए ? इसमें बनाने की तो बात ही कहाँ पैदा होती है ? जो था और जहाँ था वह बता दिया, अतः जैन स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस जगत में जो कुछ भी है वह सब जीव-अजीव के संयोग वियोग की सृष्टि है। इसमें परमेश्वर या ईश्वर या अन्य किसीको कुछ भी बनाना नहीं पड़ता है। ईश्वर तो मात्र ज्ञानयोग से जगत का परिचय करवा देते हैं, वह मात्र दिखाने वाला है - ज्ञाता - दृष्टा भाव से है। ऐसे अनंतज्ञानी सर्वज्ञ भगवंत ने इस ब्रह्मांड में - लोकालोकरूप समस्त जगत में क्या क्या है ? कहाँ क्या है और कहाँ क्या नहीं है ? कहाँ वस्तु किस स्वरूप में है ? उसका कैसा स्वभाव है ? जीव किस किस पर्याय में हैं ? अजीव पदार्थ कैसे स्वरूप में है और इस समस्त लोकाकाश में परिणमन और परिवर्तन किस प्रकार होते हैं ? जीव-अजीव पदार्थों के स्वभाव कैसे हैं ? उनका संयोग-वियोग आदि किस प्रकार, कब और कैसे होता है ? अवस्थाओं पर्यायों में परिवर्तन किस किस प्रकार से होते हैं ? आदि अनेक बातें अपने अनंतज्ञान-दर्शन के योग से जानी और देखी हैं उनका वैसे ही वर्णन अपने वीतराग भाव से कर दिखाया है। इसका कुछ संक्षिप्त

स्वरूप यहाँ प्रसंगवशात् सोचें -

अनंत अलोक - (Jain Cosmological thoughts)



चौदह राजलोक में व्याप्त लोक क्षेत्र के बाहर चारों ओर अनंत अलोक है। लोक अर्थात् वह क्षेत्र जिसमें बस्ती हो। जीव एवं पदार्थों का आश्रय क्षेत्र लोक कहलाता है। इसके बाहर चारों तरफ अलोक है। जैसे एक वृत्त खींचा हो और मध्य में उसका केन्द्र मात्र दिखता हो और केन्द्र से परिधि तक जाने में अनंत काल लगता है वैसे अनंत यह अलोक है। इस अलोक में मात्र आकाश ही है जिसे शून्याकाश

कहते हैं। जीव या लोक अथवा अजीवादि अन्य पदार्थों में से वहाँ एक भी नहीं हैं। अलोक का कोई छोर नहीं, कोई परिधि नहीं है। उसका अंत नहीं है अतः अनंत कहलाता है। चारों अथवा दशों ही दिशाओं में सर्वत्र जिसका अंत नहीं है - छोर नहीं है ऐसा अनंत अलोक है। वहाँ और कुछ भी नहीं है। मात्र आकाश है। उसका अलोक शब्द के साथ संयोजन करने से वह अलोकाकाश कहलाता है।

उस अनंत अलोक के मध्य जो केन्द्र है उसे यदि कुछ बृहत् कर देखें तो वह पुरुषाकार दृष्टिगोचर होता है। इसे लोकपुरुष कहते हैं। इसकी आकृति पुरुष के समान दिखाई देती है, अतः यह लोकपुरुष के नाम से जाना जाता है। जैसा कि चित्र में दर्शित है। एक मनुष्य अपने दोनों पाँव चौड़े करके संतुलन बनाए रखने के लिये दोनों हाथ कटि-स्थल पर व्यवस्थित कर स्थिर खड़ा हो - वैसे यह लोक है। इसे लोकप्रकाश ग्रंथ में वैशाखविष्कम्भ आकार कहते हैं। जितना पुरुषाकार क्षेत्र है उतना ही लोक क्षेत्र है। अनंत अलोक के मध्य तो मात्र १४ राजलोक परिमित क्षेत्र ही है। जीव-अजीव की सृष्टि का तो मात्र इस लोकक्षेत्र में ही अस्तित्व है। उससे परे अलोक में कुछ भी नहीं है।

अलोक में क्या है ? और क्या नहीं है ? यह भी किसने कहा है ? इसका

सीधा सा उत्तर है कि यह सब सर्वज्ञ वीतराग भगवंत ने ही कहा है । उनके सिवाय अन्य कौन है जो ये तथ्य बता सके ? इसका कारण यह है कि “है”-यह कहने के लिये भी देखना और जानना पड़ता है और ‘नहीं है’ यह कहने के लिये भी देखना और जानना पड़ता है । बिना देखें या बिना जाने कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। नीचे भूमिगृह में से एक गिलास लाने के लिए माँ ने अपने पुत्र को कहा । पुत्र एक मिनिट में बाहर जाकर तुरन्त लौटकर माँ से कहता है -‘मम्मी ! गिलास तो नहीं है । माँ सोच में पड़ गई क्यों कि उसे तो पता है कि स्टिल का नया गिलास वहाँ पड़ा है, फिर भी यह मना क्यों करता है ? पुनः पूछा - ‘क्या तू देखने के बाद मना कर रहा है ? या तू बिना देखे ही मना कर रहा है ?’ पुत्र ने उत्तर दिया - ‘मम्मी! नीचे तो अंधेरा है, अँधेरे में जाने से मुझे भय लगता है अतः मैंने तो बिना देखे ही गिलास न होने की बात कही है । माँ कब संतुष्ट होने वाली थी ? अपने पुत्र को वह भूमिगृह में ले गई, लाईट करके उसे गिलास दिखाया और बाहर ले आई। बात स्पष्ट है कि बिना देखे ही मना नहीं करनी चाहिये ।

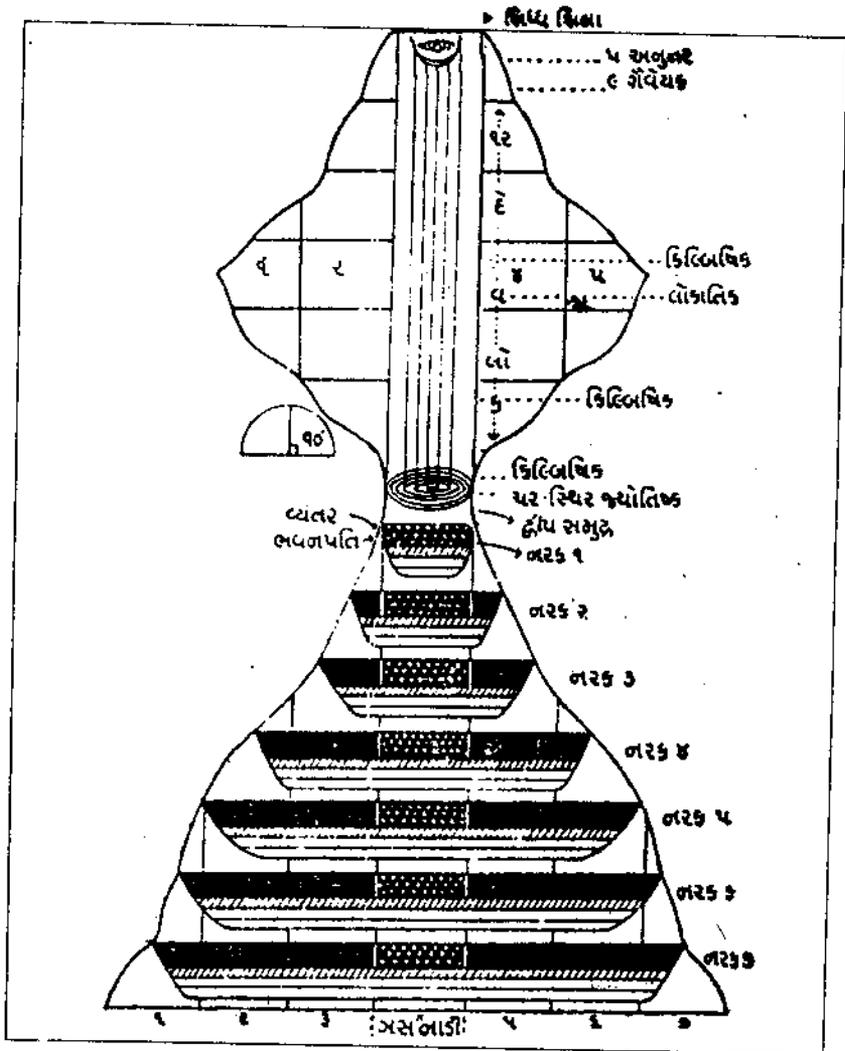
इसी प्रकार विचार करो कि अलोक में क्या है और क्या नहीं है ? मात्र आकाश है, इसके सिवाय जीव, जड़ आदि कुछ भी नहीं है - यह किसने कहा है? उत्तर स्पष्ट है कि सर्वज्ञ, अनंतज्ञानी प्रभु ने अपने अनंत ज्ञान-दर्शन से देखा और जाना और फिर वीतराग भाव से जैसा देखा और जैसा जाना वैसा ही जगत के समक्ष प्रस्तुत किया है, जगत को बताया है । उन्होंने देखा कि अनंत अलोक में मात्र आकाश है । उन्होंने ही ज्ञान से जाना कि वहाँ आकाश के सिवाय जीव या जड़ आदि कुछ भी नहीं है । परन्तु यह सब देखने व जानने के लिये भगवान को वहाँ जाना नहीं पड़ा था । उन्होंने यह सब स्व ज्ञान से देखा और जाना है । यह देह से व्यापक नहीं बल्कि ज्ञान से व्यापक है ।

चौदह राजलोक :-

मानो कोई स्त्री पानी भरने के लिए कुएँ अथवा तालाब पर गई हो और पानी का मटका सिर पर रखकर संतुलन बनाए रखने के लिये दोनों हाथ कमर पर रखकर खड़ी है वैसा यह लोक है । हिन्दू ग्रंथों की सृष्टि संबंधी मान्यता की तरह सोने का अंडा फूटा और उसके दो भाग करके ऊर्ध्वलोक- अधोलोक बनाए - ऐसी बात जैन दर्शन में नहीं है । यह लोक स्वरूप संसार - जगत अथवा ब्रह्मांड इसी

स्थिति - आकृति में अनादिकाल से अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं। अतः इसके इसी स्वरूप का वर्णन ज्ञानीजनों ने किया है जिसके तीन विभाग हैं :-

- (१) ऊर्ध्व लोक- स्वर्ग अथवा देवलोक ।
- (२) तिच्छालोक - मनुष्य क्षेत्र अथवा तिर्यग् लोक ।



(३) अधोलोक-नरक क्षेत्र या पाताल ।

इस प्रकार तीनों नाम निम्न लिखित गाथाओंमें दोनों प्रकार से बताए गये

(१) जं किंचि नाम तित्थं - सग्गे-पायालि माणुसे लोए ।

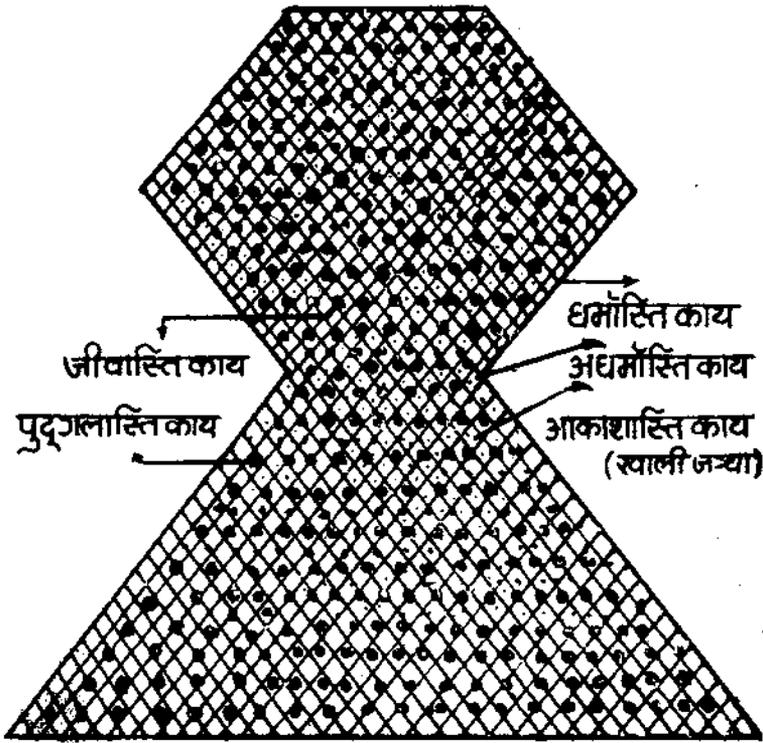
(२) जावंति चेईआई उड्डे अ अहे अ तिरिय लोए अ ॥

लोक के तीन टुकड़े या तीन भाग नहीं हैं परन्तु तीन नाम हैं । यह तीन लोक का स्वरूप है, चौदह राजलोक - १४ राज परिमाण में हैं ।

रज्जु अर्थात् रस्सी ! रस्सी जैसे वस्तु की लंबाई-चौड़ाई ऊँचाई नापने के काम में आती है वैसे ही अनंत लोकाकाश के मध्य रहे हुए लोकक्षेत्र को ऊपर से नीचे तक रस्सी से नापने पर १४ रज्जु जितना होता है अतः यह १४ राज परिमित लोकक्षेत्र कहलाता है । १ रज्जु का एक राज, इस प्रकार १४ राज जितना लोक बस्ती का क्षेत्र है ।

एक राज से दूसरे राज तक नाप बताते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि १,८१,१७,९०० मूण तपाया हुआ लोहे का गोला कोई शक्तिशाली देव अपनी पूर्ण शक्ति से फेंके और वह लुढ़कते लुढ़कते छ माह, छ दिन, छ प्रहर, छ घटिका, और छ समय तक गिरता ही जाए उतने काल में जितना क्षेत्र काटे उसे एक राजलोक कहते हैं, अर्थात् असंख्य योजन लम्बे विस्तारवाला १ राजलोक कहलाता है ऐसे १४ राजलोक हैं अर्थात् १४ राजलोक क्षेत्र का यह सम्पूर्ण जगत-संसार है । श्री भगवती सूत्र में लोक को असंख्य कोटा-कोटि योजन जितना क्षेत्र कहा गया है । समस्त लोक को चोकोर खंड बनाकर खंडों के विभाग बाँटा गया है ।

पंचास्तिकाय युक्त समस्त लोक

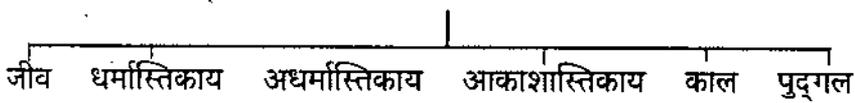


द्रव्य अर्थात् पदार्थ-वस्तु । द्रव्य की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार महर्षि उमास्वातिजी तत्त्वार्थ सूत्र में लिखते हैं कि 'गुण पर्यायवद् द्रव्यम्'- गुण और पर्याय वाला जो होता है वह द्रव्य कहलाता है । गुण द्रव्य में ही रहता है । जैसे सूर्य में प्रकाश रहता है । यहाँ सूर्य द्रव्य है तो प्रकाश उसका गुण है । गुण और गुणी दोनों साथ ही रहते हैं । गुणों का समूहात्मक स्वरूप द्रव्य है । ऐसे द्रव्य की पर्याय बदलती रहती हैं, उसकी आकृतिओं में अनेक परिवर्तन होते रहते हैं । एक द्रव्य की अनंत पर्याय होती रहती हैं । इस प्रकार द्रव्य-गुण और पर्याय - ये तीन अवस्थाएँ हैं ।

(1) Substance (2) Attributes and (3) Modes - इन तीनों

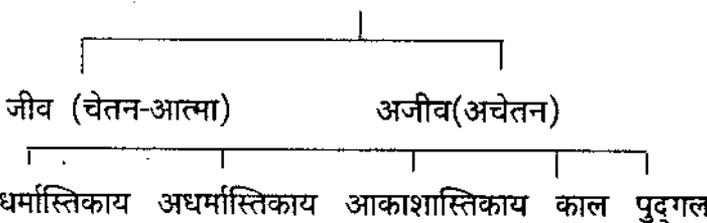
में 'उत्पाद - व्यय - ध्रुव्य युक्तं सत्' के नियमानुसार उत्पन्न होना, नष्ट होना और नित्य रहना - ये तीन अवस्थाएँ विद्यमान हैं । मूलभूत द्रव्य अपने द्रव्य स्वभाव के कारण सदाकाल नित्य (ध्रुव) रहने वाला है, जब कि पर्याय अवस्था उत्पन्न - नष्टशील है । आकृतियाँ बदलती रहती हैं । आकृतियाँ बनती है और बदलती रहती हैं । उदाहरणार्थ - सोना मूल द्रव्य है, सोने के रूप में यह नित्य रहने वाला है, जब कि आभूषण के रूप में यह परिवर्तनशील है । पर्याय-आकृतियाँ बदलती रहती हैं, बदलती रहेगी । आज जो कंगन के रूप में है, कल वही पसंद न आने पर तोड़ा जा सकता है और उसमें से अंगूठी आदि अन्य आभूषण बनाए जा सकते हैं । इस प्रकार कंगन के आकार-पर्याय में वह उत्पन्न हुआ और उसी का व्यय नाश होने पर अंगूठी आदि अन्य आभूषण के आकार में उसकी उत्पत्ति हुई इस प्रकार उत्पाद व्यय पर्यायकार में बदलते ही रहते हैं, जब कि द्रव्य सदैव नित्य स्वरूप में ही रहता है ।

छ द्रव्य



इन छह द्रव्यों को जीव-अजीव नामक दो भागों में बाँट सकते हैं ।

मूलभूत दो द्रव्य



एक जीव-चेतन स्वरूप द्रव्य है । चेतनाशक्तियुक्त पदार्थ को आत्मा कहते हैं । जीव-चेतन-आत्मा मात्र पर्यायवाची शब्द हैं, पर बात एक ही है । इस एक चेतन - आत्मा के सिवाय सभी अजीव हैं - अचेतन हैं - जड़ हैं ।

पंचास्तिकाय स्वरूप -

पंचास्तिकाय

जीवास्तिकाय धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलस्तिकाय
अस्ति + काय = अस्तिकाय । अस्तिकाय का अर्थ प्रदेश समूहात्मक द्रव्य होता है। जैसे एक वस्त्र है, पर वास्तव में वह वस्त्र रेशों का समूह है । एक ताना खड़ा और दूसरा आड़ा बुनने पर वस्त्र संज्ञा बन गई । इसी प्रकार एक धर्मास्तिकाय अथवा अधर्मास्तिकाय जो पदार्थ है वे क्या है ?

धर्मास्तिकाय



इस शब्द में भी धर्म + अस्तिकाय शब्द है अर्थात् चौदह राजलोक में व्याप्त अजीव द्रव्य जो स्वयं प्रदेश समूहात्मक रूप में अपना अस्तित्व रखता है, वह अरुपी-अदृश्य है, परन्तु सभी जीवों और पुद्गलों की गति में सहायक द्रव्य है । जैसे मछली पानी की सहायता से गति कर सकती है, उसी प्रकार चौदह राजलोक रूप ब्रह्मांड में किसी की भी गति धर्मास्तिकाय की सहायता से होती है । धर्मास्तिकाय को **Medium of Motion** या **motivating Entity** कहते हैं । यदि यह पदार्थ न हो तो जगत में कोई भी गति नहीं कर पाए । यह प्रदेश समूहात्मक चौदह राजलोक व्यापी एक अखंड अविभाज्य द्रव्य है । यह मात्र लोक में ही है । अलोक में इसका सर्वथा अभाव है ।



अधर्मास्तिकाय :

ठीक धर्मास्तिकाय से विपरीत पदार्थ अधर्मास्तिकाय है । यह प्रदेश समूहात्मक एक अरुपी द्रव्य है जो चौदह राजलोक में

व्याप्त है और यह भी अखंड द्रव्य है। वह जीव और पुद्गल पदार्थों की स्थिति में सहायक बनता है। यदि गति करने वाले पदार्थ गति ही करते रहें और सकें ही नहीं तो कैसी स्थिति हो जाए? जैसे एक गाड़ी यदि गति ही करती जाय - चलती ही रहे और कहीं भी रुके ही नहीं तो परिणाम क्या आएगा? अतः समस्त लोक व्याप्त यह द्रव्य पदार्थों को स्थिर होने में - रुकने में उपयोगी बनता है। यह भी अरुपी अदृश्य है। इसे **Medium of rest** या **Fulerum of rest** कहते हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दोनों ही पदार्थ स्वयं न तो चलते हैं न स्वयं रुकते हैं, परन्तु ये गति करने वाले को गति करने में और रुकनेवाले को रुकने - स्थिर होने में मात्र सहायक बनते हैं। जिस प्रकार मछली में स्वयं चलने की योग्यता है फिर भी वह पानी की सहायता के बिना चल नहीं सकती उसे पानी की सहायता लेनी ही पड़ती है उसी प्रकारसे गतिशील पदार्थों को गति और स्थिति में इन दोनों ही पदार्थों की सहायता लेनी ही पड़ती है। गति-स्थिति सहायकता इन दोनों ही पदार्थों का गुण है स्वभाव है।

आकाशास्तिकाय -



“अवगाहो आगासं” अवकाश की जगह जो दे सके उसे आकाश कहते हैं। इसीलिये स्पष्ट रूप से कहा जाता है कि ‘**A space is a space which gives us place**’ आकाश उसे ही कहते हैं जो हमें जगह दे, प्रवेश दे। यदि आकाश न हो तो हमें कहीं भी प्रवेश ही न मिले। किसी मकान में हमने प्रवेश किया, परन्तु वहाँ स्थान था तो प्रवेश संभव हो गया। इसी प्रकार समग्र लोक-परलोक रुपी अनंत ब्रह्मांड में अनंत आकाश है। आकाश को अलोक की अपेक्षा से अनंत कहा

गया है, क्योंकि उसका कभी भी - कहीं भी अंत ही नहीं है। जबकि लोकाकाश कहते हैं और लोक बाह्य आकाश तो अलोक में ही हैं। बाह्य अलोक में मात्र आकाश के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है। इसीलिये उसे शून्याकाश ० एक शून्य की भाँति रिक्त स्थान कह सकते हैं वहाँ धर्मास्तिकाय -अधर्मास्तिकाय जैसे पदार्थों का सर्वथा अभाव है अतः कोई भी जीव अथवा जड़ गति आदि करके वहाँ नहीं जा सकता। बाकी लोकाकाश और अलोकाकाश दोनों ही समान द्रव्य हैं क्योंकि दोनों मिलकर

अनंत आकाश-एक अखंड द्रव्य हैं । आकाशास्तिकाय प्रदेश समूहात्मक अस्तिकायवान् द्रव्य है और इसका स्वभाव है स्थान देना । यह अव्याबाध गुणयुक्त अदृश्य-अरूपी पदार्थ है । बाहर ऊपर की ओर देखें तो बादलों के रंग वाला जो पदार्थ छाया हुआ दिखता है वह किसी प्रकार का आवरण या पर्दा नहीं है, बल्कि अंतविहीन अनंत आकाश है । यह स्थान प्रदान करनेवाला माध्यम A Medium of space है जिसे आकाश नामक संज्ञा दी गई है ।

विचार करें ! क्या यह आकाश किसी के द्वारा बनाया गया है ? क्या किसी ईश्वर द्वारा यह बनाया गया हो-ऐसी संभावना लगती है ? परन्तु स्पष्ट उल्लेख है कि जब ईश्वर की उत्पत्ति हुई थी तब भी आकाश का अस्तित्व तो था ही तब फिर क्या बनाना पड़ा ? ईश्वर की उत्पत्ति होने के कारण अनित्य विनाशशील है, जब कि आकाश आदि ये तीनों पदार्थों में उत्पन्न होने का स्वभाव नहीं है । कोई इनका जन्मदाता नहीं है । ये अनादिकाल से सदैव रहने वाले स्थायी अमूर्त नित्य एवं अविनाशी पदार्थ हैं, तब सृष्टि या प्रलय का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है ? जो अनित्य है वही बनता है, उत्पन्न होता है । जो त्रिकाल नित्य है वह अनुत्पन्न है, नित्य है अविनाशी है ।

पुद्गलास्तिकाय -



समग्र ब्रह्मांड में प्रसरित अनंत पुद्गल भी अपना महत्वपूर्णस्थान रखते हैं । जड़ पदार्थों को पुद्गल संज्ञा दी गई है । पुरण-गलन स्वभाव वाले पदार्थों को पुद्गल कहते हैं । इस जगत में मात्र दो ही पदार्थ हैं । एक है चेतन-आत्मा और इसके सिवाय अन्य जो भी पदार्थ अस्तित्व में है वह है अजीव ! अजीव के भेदों में पुद्गल का समावेश होता है । जितनी भी बाह्य भौतिक पौद्गलिक वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं वे सभी पुद्गल से निर्मित हैं ।

जैन दर्शनकारों ने एक पुद्गल की शोध बृहत् रूप में की है और इनमें से ही संख्या बढ़ाकर एक-एक पदार्थों का वर्गीकरण करके विज्ञान जिसे अलग से matter कहता है, उन elements की संख्या ११३ से ऊपर बताई है । वर्षों से जैसे जैसे शोध करते गए वैसे वैसे पदार्थों की संख्या में वैज्ञानिक वृद्धि

करते गए परन्तु जैन दर्शन को अब किसी प्रकार की शोध करने की रहती ही नहीं हैं, क्यों कि अनंत केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवंतो ने सभी प्रकार की शोध करके जगत के समक्ष रख दी हैं। अब कोई नवीन शोध करना शेष ही नहीं रहा है।

‘वण-गंध-रसा फासा-पुग्गलाणं तु लक्खणं।’ वर्ण-गंध-रस और स्पर्शात्मक जो भी है वह पुद्गल है। जिन जिन पदार्थों में रूप-रस-गंध और स्पर्शादि हो वे सभी पुद्गल हैं। रूप-रंग वाले ही रूपी पदार्थ कहलाते हैं। उनमें रंग होने से वे दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु आत्मा, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय आदि में रूप-रंग कुछ भी नहीं होता है। अतः ये सभी अरूपी-अदृश्य, मूर्त हैं अतः हम इन्हें कैसे देख सकेंगे ? अर्थात् इनका दिखाई देना असंभव है - अशक्य हैं।

तो क्या जो दिखाई न दे उसे न मानें ? नहीं - इस संबंध में नियम क्या है ? वस्तु को किस प्रकार और किस कारण से मानने की है ? वस्तु है अतः मानी जाए अथवा वस्तु दिखाई देती है अतः मानें ? वस्तु दिखाई पड़े तभी हम उसे माने - ऐसा नियम नहीं चल सकता। परमाणु अथवा हवा अथवा ध्वनि आदि अनेक पदार्थ होने पर भी दिखाई नहीं देते, तो क्या इन्हें हम न मानें ? क्या इनका अस्तित्व हम स्वीकार न करें। वास्तव में ये दिखाई न देने पर भी अस्तित्व में हैं अतः हमें इन्हें मानना ही है। इस नियम पर चलना उचित है। दिखाई देना - यह वस्तुका गुण धर्म नहीं है। वस्तु अपने गुणों के कारण अपना अस्तित्व रखती है और व्यवहार में गम्य-ग्राह्य बनती है। धर्मास्तिकायादि पदार्थों को उनके गुणाधार पर माना जाता है।

चलण सहावो धम्मो, थिर संठाणो अहम्मो य ॥

अवगाहो आगासं, पुग्गल जीवाण.. ॥

गति सहायक स्वभाववाला धर्मास्तिकाय, स्थिति सहायक गुणवाला अधर्मास्तिकाय और पुद्गल तथा जीवों को अवकाश देने वाला आकाशास्तिकाय ये सभी पदार्थ हैं। इस प्रकार सभी गुणों से युक्त स्वतंत्र द्रव्य अपना अस्तित्व रखते हैं। ये अपने अपने गुणों के आधारपर ही ग्राह्य बनते हैं। ये दृष्टिगोचर नहीं होते क्यों कि ये दृष्टि आदि से ग्राह्य नहीं हैं। इन्द्रियों से ग्राह्य पदार्थ तो पुद्गलों से निर्मित पौद्गलिक पदार्थ होते हैं जिनके गुण-रूप-रस-गंध-स्पर्शादि होते हैं। लाल-हरे, पीले, काले, सुगंधित, दुर्गंधमय, शीत, ऊष्ण, हल्के-भारी, शब्द, ध्वनि आदि गुण वाले पौद्गलिक पदार्थ ही इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं, क्यों कि इन्द्रियों में इन्हें ग्रहण

करने का सामर्थ्य होता है ।

	५ इन्द्रियाँ	शरीर के अंग	विषय	संख्या
१.	स्पर्शन्द्रिय	चमड़ी	स्पर्श	८
२.	रसनेन्द्रिय	जिह्वा	रस	५
३.	घ्राणेन्द्रिय	नासिका	गंध	२
४.	चक्षुरिन्द्रिय	नेत्र	रूप (वर्ण)	५
५.	कर्णेन्द्रिय(श्रवणेन्द्रिय)	कान	ध्वनि	३
				२३

इस प्रकार ५ इन्द्रियाँ २३ विषय ग्रहण करती हैं । जो पदार्थ इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाते हैं वे पुद्गलों से निर्मित होते हैं - पौद्गलिक हैं, और जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होते हैं वे अपौद्गलिक हैं, पुद्गल से भिन्न हैं । वे धर्मास्तिकायादि हैं । उनमें रूप-रंग-रस-स्पर्शादि गुण न होने से वे अरूपी हैं - रूप-रंग-रहित हैं अतः आत्मा आदि पदार्थ आँखों द्वारा कैसे देखे जा सकते हैं ? पाँचों में से कोई भी इन्द्रिय प्रायः कैसे बन सकती है ? उनमें तदनुकूल गुण ही नहीं हैं।

वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि :-

गुण गुणाश्रयी होते हैं । बिना गुणी के गुण स्वतंत्र रूप से नहीं रहते । वर्ण-गंध-रूप-स्पर्शादि गुण बताने के लिये उनके आश्रयी पदार्थों को इस चित्र में दर्शाया गया है । उनकी संख्या तथा नामादि का निर्देश भी स्पष्ट किया है । उसे देखने से बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगी ।





पुद्गल पदार्थ :-

संदन्धयार उज्जोअ, पभाछायाऽतवे हि य ।
बण्ण-गंध-रसा फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं
॥११॥

ये चित्र पुद्गल पदार्थों के हैं, इन्हें देखने से पुद्गल जन्य पौद्गलिक पदार्थों का स्पष्ट ख्याल आ जाएगा । जो भी शब्द हम बोलते हैं वे सब पुद्गल हैं । ये ध्वनि के रूप में प्रसरित होते हैं तथा कर्णन्द्रिय द्वारा ग्राह्य बनते हैं । रेडियों-टेलीफोन आदि यंत्रों के माध्यम से ये ग्रहण किये जाते हैं ।



उद्योत - सूर्य का प्रकाश है । प्रकाश स्वतंत्र द्रव्य है । अंधकार का अभाव नहीं है । प्रकाश भी पौद्गलिक है । टी.वी. के लिये इसी का माध्यम लिया गया है । यह यंत्र प्रकाश की किरणों को ग्रहण करके चित्र प्रस्तुत करता है ।

छाया- यह भी पद्गल है । Photo चित्रों को छाया चित्र कहते हैं ।

अंधकार - अँधकार स्वतंत्र पुद्गल द्रव्य है । इसका स्वयं का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह श्याम वर्ण का है ।

आतप - सूर्यकान्त मणि, सूर्य आदि का ऊष्ण प्रकाश । धूप को भी आतप कहते हैं ।

प्रभा - Reflection के रूप में आने वाले प्रकाश को प्रभा कहते हैं। सामने दीवार पर धूप आने के बाद सामने उसका प्रकाश गिरता है - इसे प्रभा कहते हैं।

ये सभी पुद्गल पदार्थ हैं। विज्ञान जड़ विज्ञान के रूप में जाना जाता है अतः उसने मात्र भौतिक पदार्थों को ही स्वीकारा है और इसीलिये उसकी शोध भौतिक पदार्थों तक ही सीमित रही है। पौद्गलिक पदार्थ ही यंत्र या साधन ग्राह्य बनते हैं और वे ही इन्द्रिय ग्राह्य भी बनते हैं।

अजीव पदार्थ के १४ भेद

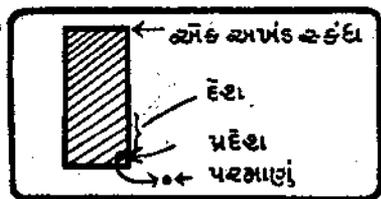
अजीव के भेद

धर्मास्तिकाय	अधर्मास्तिकाय	आकाशास्तिकाय	काल	पुद्गलस्तिकाय
३	३	३	१	४ = १४
स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	परमाणु

धम्माधम्मागासा, तिय तिय भेया तहेव अद्धा य।

खंधा देस पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ॥

जैसा कि चित्र में दर्शित है एक अखंड द्रव्य स्वतंत्र स्कंध कहलाता है।



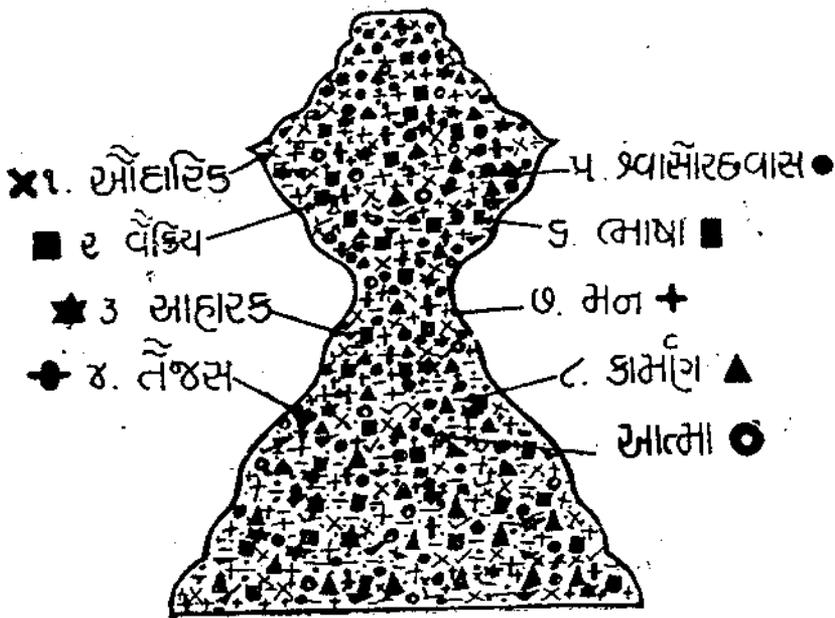
उसका एक छोटा सा भाग देश कहलाता है और सबसे छोटा अविभाज्य अंश जहाँ तक स्कंध के साथ जुड़ा रहेगा तब तक वह प्रदेश कहलाएगा और वही प्रदेश स्कंध से अलग हो जाने पर परमाणु कहलाता है। यही बात दूसरे दृष्टांत से भी समझ सकेंगे। उदाहरणार्थ

एक अखंड लड्डू स्कंध कहलाएगा और उसका आंशिक भाग देश कहलाएगा। उसी का एक अविभाज्य भाग जो स्कंध के साथ जुड़ा हुआ होगा वह प्रदेश कहलाएगा और अंत में उस स्कंध से स्वतंत्र बना हुआ अलग पड़ा हुआ प्रदेश अविभाज्य पुद्गल का अंश परमाणु कहलाएगा। अणु और परमाणु दोनों एक ही अर्थ में प्रयुक्त शब्द हैं। वर्तमान विज्ञान एक अणु के साथ इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन और नए संदर्भ में प्रोजेक्टॉन भी मानता है और परमाणु विभाजीत हो सकता है ऐसी

मान्यता है। अतःस्थूल विज्ञान की अनेक मान्यताएँ संदिग्ध हैं।

धर्मास्तिकाय आदि के परमाणु नहीं होते हैं, क्योंकि वह एक अखंड वस्तु होने से विभाजित नहीं होती, अतः उसका प्रदेश अलग नहीं होता है। इसीलिये उन तीनों के ३-३ भेद सिद्ध होते हैं जब कि पुद्गल स्कंध में से प्रदेश अलग हो सकता है अतः उसे परमाणु कहते हैं।

पुद्गल की अष्ट महावर्गणाएँ :



पुद्गलास्तिकाय एक जाति है। परमाणु से रचित महास्कंध तक पुद्गल की ही जातियाँ हैं। ये सभी परमाणुओं का पिंड जत्था-समूह जो चौदह राजलोक में ढूस ढूस कर भरा हुआ है। वैसे तो १६ वर्गणाएँ हैं परन्तु मूलभूत ८ ही हैं अतएव अष्ट वर्गणाएँ कहलाती हैं। जैसा कि उपरोक्त चित्र में बताया गया है इन आठ महावर्गणा के नाम इस प्रकार हैं :- (१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस (५) श्वासोच्छ्वास, (६) भाषा (७) मन और (८) कार्मण। जीव इन वर्गणाओं को ग्रहण करके अपने ही ढंग से इनका परिणमन करता है। इनमें से शरीरादि का

निर्माण करता है। औदारिक वर्गणा ग्रहण करके जीव अपना शरीर बनाता है। आहारक लब्धिधारी मुनि आहारक वर्गणा ग्रहण करके आहारक शरीर बनाते हैं। तैजस् वर्गणा से तैजस् शरीर बनाता है। श्वास लेने योग्य श्वासोच्छ्वास वर्गणा है। बोलने के लिये भाषा वर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं को खींचकर बोला जाता है और विचार करने के लिये जीव मनोवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं का समूह आकर्षित कर उसका पिंड बनाकर विचार करता है जिसे मन कहते हैं और अंत में जीव वातावरण में से कर्मण वर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं को राग-द्वेषादि भावपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करता है और परमाणुओं का वह पिंड कर्म कहलाता है। कर्म भी जड़ है - मन भी जड़ है। चैतन्य आत्मा चेतनाशक्तिशाली जीव हैं। यह जीव ही स्वयं कर्ता है, कर्तृशक्ति जीव में ही है अतः आठों ही प्रकार की वर्गणाओं को आकर्षित करना, उनका परिणमन करना सब जीव का कार्य है। चेतन जीव के बिना यह कार्य कोई नहीं कर सकता।

पुद्गल पदार्थ हैं जिन्हें लेकर जीव शरीरादि का निर्माण करता है। इसमें ईश्वर को बीच में घसीट लाने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है? जीव माता के गर्भ में रहता है। माता के आहार में से औदारिक पुद्गल की वर्गणा को जीव सतत ग्रहण करते करते छह पर्याप्तियाँ आदि बनाता है। यह कार्य जीव स्वयं ही करता है अतः ऐसा करने में उसे साढ़े नौ माह का समय लग जाता है। यदि ईश्वर इस देह की रचना करता होता तो उसे साढ़े नौ माह क्यों लगते? ईश्वर तो जादूगर की भाँति चुटकी बजाने जितने समय में सब कुछ बना देता है तो इतने लम्बे समय का प्रश्न ही क्यों? और यदि ईश्वर एक शरीर बनाने लग जाए और इस कार्य में उसे साढ़े नौ महिने लग जाएँ, तब तो उसके सिर पर हजारों काम हैं, असंख्य कार्य हैं, उसे अनंत पदार्थ बनाने हैं तो फिर इन सभी पदार्थों को बनाने में उसे कितना अधिक समय लग जाएगा? कितने वर्ष! कितने युग वह ले लेगा? अभी तक काम तो नित्य चलते ही रहते हैं तो क्या यह समझ लें कि ईश्वर को नित्य काम रहते हैं अतः वह शांतिसे नींद भी कर पाता है अथवा नहीं। और यदि इस प्रकार नित्य ही निर्माण करने का उत्तरदायित्व उस पर रहता है। तब तो क्या ईश्वर सदा काल के लिये निर्माण कार्य में ही व्यस्त रहता है? नित्य प्रतिदिन कितने गर्भ ठहरते हैं? नित्य कितने जीव धरा पर जन्म लेते हैं? आदि संख्या देखें तो लाखों की होती है.... तो ईश्वर को एक एक जीव के पीछे कितने रुप करने पड़ते होंगे? और कितने

रूपों में कितने हाथों से काम करना पड़ता होगा ? नित्य कितने गर्भ रखना ? कितने शरीर बनाने ? कितने गर्भपात करने आदि ? इतना ही नहीं बल्कि नवजात को बड़ा करना और अन्त में मृत्यु का कौर बनाकर पुनः : दूसरी गति में दूसरे जन्म में उस जीव को भेजना, ले जाना वहाँ पुनः जन्म देनेवाला, वहाँ गर्भ में रखना या अंडे में रखना अथवा पोतज अंडज आदि के जन्मों में रखना आदि की रामायण शुरु करना और पुनः गर्भ में अथवा अंडे में उस जीव के अंगोपांगों से युक्त सम्पूर्ण शरीर बनाना और फिर जन्म मरण तक की सारी प्रक्रिया करना यह सब करते ही रहना पड़े - ईश्वर के सिर पर यह सारा ही उत्तरदायित्व रहेगा - क्यों कि वह कर्ता हैं ।

ईश्वर के यह कार्य तो अविरतरूप से सतत करते ही रहना पड़े । जिन जीवों के ईश्वर ने बनाया उनकी सेवा करने का काम ईश्वर का ही, क्यों कि ईश्वर ही कर्ता है, जीव तो कुछ भी है ही नहीं । जीव की इच्छा तो चलती ही नहीं है । एक मात्र ईश्वर की ही इच्छा चलती हैं, अतः किसी भी अन्य जीव को तो कुछ भी करना नहीं होता । जो कुछ भी करना हो वह सब ईश्वर के सिर पर ही रहेगा ?

दूसरी बात यह हैं कि जीवों की संख्या कितनी ? अनंत... कितने जन्म लेते हैं ? और कितने मरते हैं... तो कहते हैं अनंत ! अतः फिर या तो एक ही ईश्वर को अनंत रूप धारण करते पड़े या अनंत स्वतंत्र ईश्वरों की व्यवस्था करनी पड़े । क्यों कि एक-एक जीव के पीछे एक एक ईश्वर तो लगाना पड़ेगा ? फिर वह एक ईश्वर स्वयं स्वतंत्र ईश्वर है या एक ही ईश्वर के अनंत रूपों की ही प्रतिकृति हैं ? कुछ भी हो पर होना चाहिये - यह बात तो स्पष्ट हो ही गई और वह भी एक-एक जीव के पीछे एक-एक ईश्वर अनंतकाल तक निर्धारित कर रखना पड़े, क्यों कि एक जीव कितनी बार जन्म लेगा और कितनी बार मरेगा ? इसकी कोई गणना ही नहीं है। जहाँ तक जीव मोक्ष में नहीं जाएगा अथवा जहाँ तक जीव स्वयं शिव नहीं बनेगा वहाँ तक तो यह जीव ८४ लाख जीव-योनियों में जन्म-मरण धारण करता ही रहेगा... एक ही जन्म में तो वह अनंत काल तक रहने वाला है नहीं, उसे दूसरी गति-जाति में जाना ही पड़ेगा और उसमें भी उसकी स्वयं की इच्छा तो काम आएगी ही नहीं । वहाँ तो एक मात्र ईश्वरेखा ही काम आएगी । इसका कारण यह है कि जीव तो मात्र कठपुतली है, उसमें स्वयं का तो कुछ भी नहीं है । वह तो प्रतिबिंब मात्र है । एक मात्र ईश्वर ही ब्रह्म स्वरूप है । जीव जिसका प्रतिबिंब है उस में क्रिया तो ईश्वर के द्वारा ही संभव है । व्यक्ति जिस प्रकार नाचेगा - कुदेगा-चलेगा -फिरेगा

वैसा ही प्रतिबिंब दर्पण में पड़ेगा उसी प्रकार ईश्वर में जो जो क्रियाएँ होगी उन्हीं प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक कठपुतली रूप जीव के पीछे कितने ईश्वरों को अथवा कितने रूप में ईश्वर को सतत उपस्थित रहना पड़ेगा ? यदि ईश्वर जीवों के पीछे ही सतत रुका रहेगा तो सृष्टि की अन्य व्यवस्था कैसे सम्हाल पाएगा ? पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आदि के सहस्रो कार्य करने का उत्तरदायित्व तो ईश्वर का ही रहेगा न ?

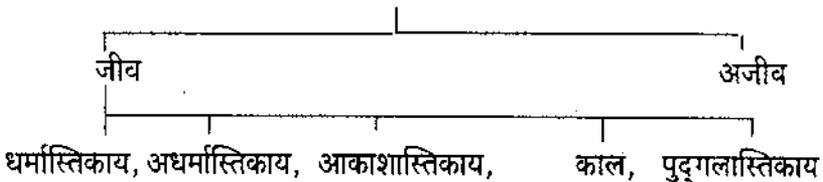
तब प्रश्न यह उठता है कि यह सब कुछ ईश्वर क्यों करता है ? निरर्थक द्रविड प्राणायाम करने का अर्थ क्या ? जैसे मकड़ी स्वयं ही जाल बुनती है और स्वयं उसमें फँस जाती है, उसी तरह ईश्वर को भी ऐसा ही कुछ हो गया हो - ऐसा लगता है । ईश्वर स्वयं सृष्टि बनाता है और स्वयं ही इस सृष्टि में, सृष्टि की व्यवस्था में, सृष्टि के कार्यों में ही पुनः फँस जाता है, उलझ जाता है । तो क्या ईश्वर की इच्छा दुःखदायी नहीं है ? ऐसा मिथ्याभूत जगत ईश्वर क्यों बनाता है ?

ये सभी प्रकार के विचार करके ईश्वर के स्वरूप को विकृत बनाने की अपेक्षा तो सीधा और सरल उपाय एक ही है कि जीव को ही अपने शरीर संसारादि का कर्ता क्यों न मान लें ? जन्म लेना-मरना एक गति से दूसरी गति में आना, जन्म धारण करना आदि अनंत काल तक भी जीव जो कुछ भी करता है वह सब जीव स्वयं ही करता है । जीव स्वयं ही स्वयं के शुभाशुभ कर्मानुसार करता है, स्वयं को ही करना है और फल भी स्वयं को ही भोगना है तो फिर ईश्वर को बीच में लाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? ऐसा जैन दर्शन का कथन है । अतः यह सत्य वस्तु स्थिति स्वीकार कर लेने से निरर्थक ईश्वर के सिर होने वाले दोषारोपण से बच जाएँगे।

कर्मा के कारण जीव सृष्टि :

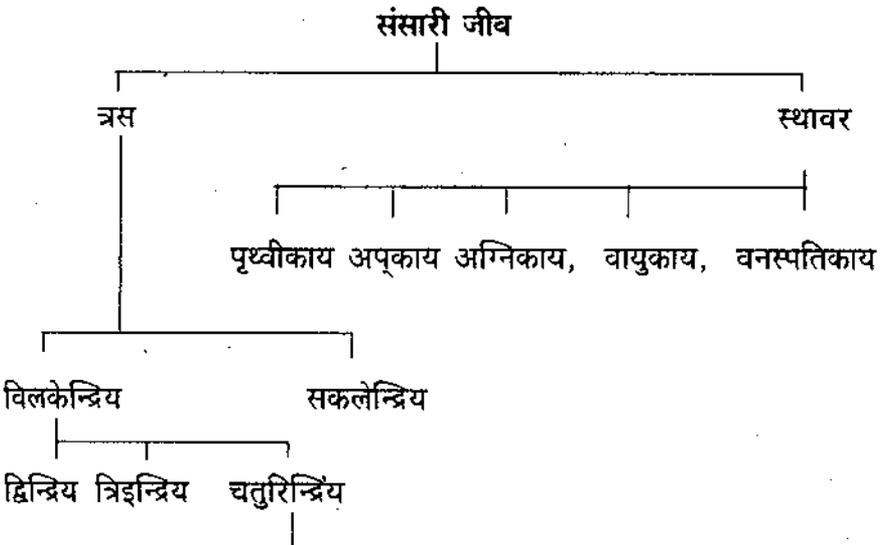
जैन दर्शन समस्त लोक-ब्रह्मांड की समग्र सृष्टि को कर्मसंयोग का फल मानता है । समग्र लोक में मूलतः दो ही द्रव्यों का अस्तित्व है ।

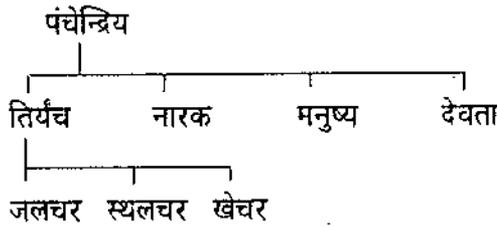
मूल द्रव्य - २



इस प्रकार सभी द्रव्यों का विभाजन एक मात्र जड़ और चेतन इन दो भागों में होता है और फिर इन दोनों ही जड़ व चेतन पदार्थों के संयोग वियोग होते रहते हैं। जीव जब जड़ पदार्थ का स्वेच्छा से स्व प्रवृत्ति से संयोग करेगा तभी स्वयं ही अपने ही तरीके से स्वेच्छिक सब कुछ बनाएगा और इस प्रक्रिया में जड़ पुद्गल पदार्थ के परमाणुओं अथवा स्कंधो आदि का सहयोग लेकर बनाएगा और मृत्यु हो जाने पर उसी के द्वारा निर्मित पदार्थों का वियोग हो जाएगा - वे पदार्थ यहीं पड़े रहेंगे और दूसरे जीव उसका उपयोग करेंगे, वह भी जड़ पौद्गलिक रूप में। इस प्रकार अनंत जीव हैं। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु से लगाकर मनुष्य और देवता तक सभी में जीव मान लें तो फिर ईश्वर को कर्ता के रूप में घसीट लाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

जैसा कि मनुस्मृति में लिखा है वैसे ईश्वर को जीवों की यह सृष्टि बनाने की और प्रत्येक योनि के जीवों को ईश्वर के बनाने की आवश्यकता ही नहीं है। जैन दर्शन कहता है कि जीव स्वयं ही स्वोपार्जित कर्मानुसार गति, जाति, योनि आदि धारण करता है। इस में ईश्वर को कारण नहीं मानना। जीव स्वयं ही अपना कारण है। इस प्रकार सभी जीवों की सृष्टि इस प्रकार है। (जीव विचार में निर्देशित जीवों का वर्गीकरण-





इसी प्रकार संक्षेप से संसारी जीवों का विभाजन किया गया है। इस प्रकार जीव एक के बाद दूसरी योनि में उत्पन्न होते जाते हैं, जन्म-मरण होते रहते हैं। चतुर्गतियों और पाँचों जातियों में जीव अविरतपने से परिभ्रमण करते ही रहते हैं - और इसी का नाम है संसार। यह जैविक सृष्टि है। जीव द्वारा स्वरचित स्वयं के शरीरों के अनुसार उनके पर्यायों से उसकी पहचान होती है। फिर ईश्वर को बलात् बीच में लाने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है। ईश्वर के रचना करने की कौनसी इकाई शेष रह जाती है? जीव स्वयं ही सब कुछ अपने लिये बना लेता है तो फिर ईश्वर के जिम्मे क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं रहता।

जीव ही यदि कर्ता है तब तो जीव को ही ईश्वर मानना पड़ेगा? ईश्वर को निष्प्रयोजन-निरर्थक मानना होगा, क्योंकि एकेन्द्रिय से लगाकर पंचेन्द्रिय तक सर्वत्र जीव हैं, सूक्ष्म से लगाकर स्थूल तक सर्वत्र जीवों का अस्तित्व है। पृथ्वी - पानी से जीव सृष्टि आगे बढ़ती है जो अन्ततः मनुष्यों और स्वर्ग के देवताओं तक है। फिर तो जीव की स्वनिर्मित सृष्टि ही बड़ी विशाल सृष्टि हो गई। ईश्वर के जिम्मे फिर रचना करने हेतु क्या बचा? और जब ईश्वर के लिये सचना करने का कुछ भी शेष न रहा तो फिर ईश्वर के नाम पर सृष्टि को तिराना अर्थात् पत्थर पर व्यक्ति को तैराने जैसी हास्यास्पद बात होगी। ईश्वर का तो फिर कोई कार्य ही नहीं रहा। यह बात निर्विवाद है कि समग्र जगत में जो कुछ भी है वह जीव की सृष्टि है, जीव ने स्वकर्मयोग से पुद्गल अजीव पदार्थ के साथ संयोग-वियोग करके अपनी सृष्टि बनाई है, स्व संसार की रचना की है। इस प्रकार प्रत्येक जीव को व्यक्तिगत रूप से स्वतंत्र गिनें और फिर सभी जीवों का पिंड भाव गिनें तो उसमें समस्त ब्रह्मांड का समावेश हो जाता है। बस, यही सत्य है, यही वास्तविक स्थिति है। अतः इस सृष्टि को ईश्वर द्वारा रचित मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

सृष्टि की शाश्वत व्यवस्था :

प्राचीन सांख्य, पूर्वमीमांसक, जैमिनि संप्रदाय, भट्ट प्रभाकर, बौद्ध और जैन दर्शनावादी इस सृष्टि को अनादि सिद्ध मानते हैं, जब कि नव्य वेदान्त, न्याय वैशेषिक, प्रातंजल, नवीन सांख्य, कुरानवादी मुसलमान, उपनिषद् पुराणवादी और बाईबिलवादी ईसाई, पारसी आदि सृष्टि को जगतकर्ता ईश्वर की कृति मानते हैं। इस प्रकार जगत में सृष्टि के विषय में दो स्वतंत्र विचार श्रेणियाँ प्रवर्तित हैं।

जैन दृष्टि से अनादि अनंत शाश्वत इस जड़ चेतन की समग्र सृष्टि में चौदह राजलोक में सभी जीव अपने अपने निश्चित स्थान में ही उत्पन्न होते हैं। कर्मविज्ञान जीवात्मा संबंधित गति में जाता है, वहाँ जन्म धारण करता है। गतियोग्य वैक्रिय औदारिक आदि शरीर बना लेता है। अपनी देह रचना स्वयं जीव खुद ही करता है, भले ही वह फिर माता के गर्भ में जाय अथवा स्वर्ग नरक में जाए अथवा तिर्यच गति में पशु-पक्षी बने परन्तु सर्वत्र स्वदेहोचित औदारिक - वैक्रिय आदि कार्मण वर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं को ग्रहण करता है, उनका शरीर के रूप में परिणमन करता है और फिर उस शरीर में आयुष्य कर्मानुसार निश्चित निर्धारित काल तक जीवन यापन करता है। स्वर्गीय देवताओं के लिये देवलोक-स्वर्ग है। उस ऊर्ध्वलोक का क्षेत्र ही उनके लिये उपयुक्त है। भुवनपति, व्यंतर ज्योतिष्क और वैमानिक - ये चार जातियाँ देवताओं की हैं। भुवनपति के परमाधामी ३ नरक पृथ्वियों में निवास करते हैं। व्यंतर तिर्छालोक में भी रहते हैं। वैमानिक के कल्पोपपन्न देवतागण १२ देवलोक में उत्पन्न होते हैं और कल्पातीत देवतागण उसके ऊपर ९ प्रैवेयक और ५ अनुत्तर इस प्रकार १४ रूप में उत्पन्न होते हैं। सर्वोपरि चौदह राज लोक के ऊपर के सिरे पर ४५ लाख योजन की सिद्धशिला आई हुई है, जहाँ १५ प्रकार से सिद्ध बने हुए परमात्मा निवास करते हैं।

तिर्छालोक में मनुष्य और तिर्यच पशु-पक्षी निवास करते हैं। इस लोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं जिनमें से ढाई द्वीप समुद्रों में मानव बस्ती है, फिर क्रमशः आए हुए एक द्वीप एक समुद्र इस प्रकार असंख्यद्वीप समुद्रों में जलचर, स्थलचर और खेचर स्वरूप तिर्यच गति के पशु-पक्षियों की बस्ती है। ढाई द्वीपान्तर्गत जंबूद्वीप, लवणसमुद्र, घातकीखंड, कालोदधिसमुद्र और अंत में पुष्करार्ध द्वीप इस प्रकार ३ द्वीप और २ समुद्र आए हुए है। उनमें तीसरे पुष्करार्धद्वीप के अर्ध भाग में अर्थात् १६ में से ८ योजन परिमित मानुषोत्तर पर्वत के पूर्व के क्षेत्र में मनुष्य बस्ती होने

से दो और आधा इस प्रकार ढाई द्वीप क्षेत्र ही मानव के लिये गिना जाता है। यह ढाई द्वीप ४५ लाख योजन परिमित क्षेत्र है जिसमें वर्तमान समग्र संसार समा जाता है। इस ढाई द्वीप में ५ भरत क्षेत्र, ५ ऐरावत क्षेत्र, और ५ महाविदेह क्षेत्र है। इस तरह कुल मिलाकर १५ कर्मभूमियां हैं। तथा ३० अकर्मभूमियां और ५६ अंतर्द्वीप आदि कुल मिलाकर १०१ मनुष्यों को जन्म लेने के क्षेत्र हैं।

नीचे के अर्थात् अधोलोक के ७ राजलोक नरक गति के नारकी जीवों के रहने के लिए नरक पृथ्वियां हैं। इन ७ नरक पृथ्वियों में नारकी जीव उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। अपने अपने कृत कर्मानुसार जीव चारों गतियों में जाते हैं।

स्वकर्मानुसार गति - आगति - "ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्" की बात को जैन दर्शन नहीं स्वीकारता है। जीव स्वयं जैसे शुभ-अशुभ कर्म उपार्जन करता है, वे कर्म अदृष्ट रूप से निर्माण होता है और सभी जीव अपने-अपने किये हुए कर्मानुसार गति को प्राप्त करता है। जिस प्रकार के शुभ पुण्य कर्म जीवने उपार्जन किये हो तदनुसार उसके विपाक के रूप में सुख भी जीव स्वयं ही प्राप्त करता है। तथा जिस जीव ने जिस प्रकार की पाप प्रवृत्तियां करके अशुभ पाप कर्म उपार्जन किये हो उसके विपाक (फल) के रूप में दुःख भी जीव स्वयं प्राप्त करता है। इसमें अन्य दर्शनों की तरह फल दाता के रूप में ईश्वर को जैन दर्शन बीच में नहीं लाता है। सचमुच जरूर ही नहीं है। इस संसार में जीव भी कर्माधीन स्थिति में काल तत्त्व के साथ जुड़ा हुआ है। कर्म कालिक है। इसीलिए कर्म नीयत काल में बंधते हैं। नीयत काल तक जीव के साथ बंध स्थिति में बंधे रहते हैं। तथा निश्चित समय पर ही उदय में आते हैं। कर्मों के उदय में आने पर जीव स्वयं सुख-दुःख प्राप्त करता रहता है। अतः ईश्वर के हाथों को जीव को सुख-दुःख देने के रूप में रंगने की आवश्यकता ही क्या है ?

इस तरह जैन धर्म के अनुसार समस्त सृष्टि लोक-अलोक प्रमाण है। अनन्त अलोक में १४ राजलोक परिमित लोक क्षेत्र है। बस, इसी में जीव-अजीव दोनों द्रव्यों का अस्तित्व है। कर्म प्रवृत्त जीव अजीव के साथ संयोग में आता है और फिर शुभ-अशुभ का चक्र शुरु होता है। कालान्तर में एक-एक कर्म अपनी कालावधि समाप्त होने पर वियोग भी पाता है। यदि समस्त कर्मों का सर्वथा वियोग हो जाय तो मोक्ष हो जाता है। जीव निर्मित यह संसार जीव के अपने कर्मानुसार ही चलता है। इसमें ईश्वर के कर्तृत्व की कोई आवश्यकता जैन धर्म नहीं स्वीकारता है। जैन धर्म-दर्शन में कर्मवाद की अद्भूत सचोट व्यवस्था है। इसी कारण जैन धर्मने ईश्वर कर्तृत्ववाद नहीं स्वीकारा है। अतः स्पष्ट सत्य है कि यह संसार ईश्वर निर्मित नहीं है। ईश्वरकृत मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। यह संसार जीव-अजीव का संयोग-वियोगात्मक स्वरूप है। अतः संसार भी अनादि - अनन्त कालीन शाश्वत है। अतः न तो संसार की उत्पत्ति है और न ही महाप्रलय संभव है। जगत् की त्रैकालिक सत्ता है। जब उत्पत्ति - नाश होता तो सादि-सान्त होता। लेकिन समग्र लोक-अलोक तथा उसके घटक भूत द्रव्य जीव-अजीव आदि अनुत्पन्न-अविनाशी अनादि-अनन्त है। इस तरह यहां सब पक्षों की स्पष्ट मान्यता प्रस्तुत की है। बस, इस से स्पष्ट सत्य को स्वीकार करके सम्यग् दृष्टि बनीए.... यही अन्तर की अभिलाषा है। (ईश्वर के स्वरूप की समीक्षा आगे करेंगे)



जगत्कर्ता ईश्वर की समीक्षा



सर्वज्ञस्वरूप वीतराग - जिन - जिनेश्वर - परम पिता.. परमेश्वर - ज्ञानव्यापी -
जगतदृष्टा - अरिहंत - परमात्मा के चरणों में अनंतानंत भावनमस्कारपूर्वक

कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।

इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासनकस्त्वम् ॥

इस जगत का कोई कर्ता ईश्वर है, (१) वह एक ही है, (२) वह सर्वव्यापी है, (३) वह स्वतंत्र है, (४) और यह नित्य है (५) हे नाथ ! ये जिनके अनुशासक आप नहीं है ऐसे दुराग्रहवादी इस प्रकार की विडंबना के शिकार बनते हैं ।

नमो अरिहंताणं :

नमस्कार महामंत्र में सर्व प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' हैं । सर्व प्रथम अरिहंत परमात्मा को नमस्कार किया गया है । इसमें कहा गया है कि नमस्कार हो अरिहंत भगवंतों को । जिन अरिहंत प्रभु को हम भावपूर्वक नमस्कार करते हैं वह हमारा नमस्कार निरर्थक - निष्फल न चला जाय इस बात का हमें ध्यान रखना है । हमारे नमस्कार के व्यर्थ - निरर्थक सिद्ध होने में दोनों ओर से कारण की संभावना है । संभव है कि हमारी ओर से अर्थात् आराधक - साधक पक्ष की ओर से नमस्कार के भावों में त्रुटि रह जाए, हमारी ओर से भाव का तथा नमस्कार की क्रिया या भली प्रकार से औचित्य पालन न हो सके, प्रभु का मान-सम्मान हम विधिवत् न कर पाएँ अथवा उसमें हमारी ओर से अनादर भाव आ जाए तो हमारे द्वारा किये गए नमस्कार निष्प्रयोजक सिद्ध हो जाते हैं ।

दूसरे प्रकार से जिस भगवान को हम नमस्कार करते हैं वे भगवान ही कदाचित् सच्चे अर्थ में भगवान ही न हों और फिर भी हम उन्हें सच्चे मानकर नमस्कार करते हो तब भी हमारे द्वारा कृत नमस्कार निरर्थक हो सकते हैं । संभव है कि ऐसे नमस्कार हमें तिराने के बजाय डुबाने में भी कारण बन जाएँ । भूतकाल में बीते हुए असंख्य भवों में जब भगवान की पहचान ही हुई थी तब चाहे जिसे भगवान मानकर हमने नमस्कार किये और उन नमस्कार से आज तक हम

भवसागर से पार नहीं उतर सके । यह भव उसका स्पष्ट प्रमाण हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसे तो कितने ही भवों में अनेक भगवानों को हमने नमन किया, उन्हें माना, उनकी पूजा - आराधना - उपासना की, परन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ । इस भव में पुनः कदाचित् ऐसी ही भूल न हो जाए इसके लिये हमें पूर्णतः सतर्क रहना होगा । हमारी सतर्कता का तात्पर्य यही है कि अब हम चाहे जिसे और जहाँ तहाँ भगवान मानकर अपना सिर न झुका दें, क्यों कि अपना मस्तक कोई दो - पाँच रूपों के मूल्य का फोड़ने योग्य नारियल नहीं हैं कि हम कहीं भी और किसी के सम्मुख झुका दें ।

पूर्णतः परीक्षा करके ही नमन करें :-

नमन करना है यह बात सच्ची है । एक बार नहीं, सौ बार, नहीं - हजार बार - असंख्य - अनंत बार नमन करना हैं, इसमें जरा भी शंका नहीं है, परन्तु जिसे नमस्कार करने से हमारी भववृद्धि होती हो, जिसके नमन, पूजन, मनन, वन्दन से हमारे भव भ्रमणों की संख्या में अभिवृद्धि होती हो, हमारे नमन करने पर भी कोई कल्याणकारी परिणाम न आता हो, तो फिर ऐसे को नमन करने का क्या प्रयोजन ? ऐसे को वन्दन करना सर्वथा अर्थविहीन है ।

हमारी ओर से किये जाने वाले नमस्कार में जरा सी भी क्षति रह जाए तो उसको हम तत्काल सुधार कर सकते हैं । यह छोटी सी भूल है, जो एक - दो दिन में सुधर सकती है । इस प्रकार नहीं - बल्कि इस प्रकार नमस्कार किया जाता है। 'खमासमणा इस प्रकार दो' - आदि क्रियात्मक भूलें तो बहुत ही जल्दी सुधर जाएँगी, परन्तु मनोगत मान्यता की भूलों को सुधारने में तो निश्चित रूप से अधिक समय लगेगा । ऐसी भूल बड़ी भयंकर होती है, परन्तु यदि भगवान की ओर से ही भूल होगी तो वह कैसे सुधरेगी ? भगवान की ओर से भूल का तात्पर्य है कि या तो वे भगवान सच्चे अर्थ में भगवान ही न हो, फिर भी भगवान की तरह मान्य हैं, पूजित हैं और उन्हें मानने का व्यवहार प्रचलित है तो फिर वह भूल कैसे सुधर सकती है ? अथवा हम तो भगवान समझ कर उन्हें मानते ही जा रहे हैं। और वास्तव में वे भगवान ही न हो, अथवा हम जिन्हें मानते - पूजते चले आ रहे हैं उन भगवान का स्वरूप विकृत हो तो क्या किया जाए ? ऐसी भगवान विषयक भूल हम कैसे सुधार पाएँगे ? यह कार्य तो अत्यन्त कठिन है ।

मान्यता सच्ची होनी चाहिये :-

जगत् सुधरे या न सुधरे, भगवान की भूल अथवा भगवान सुधरे या न सुधरे, भगवान का स्वरूप सुधरे या न भी सुधरे परन्तु हमें अपनी भूल शीघ्रतिशीघ्र सुधार लेनी चाहिये, क्योंकि अपनी भूल के कारण हमें ही हानि है, हमारा ही कार्य बिगड़ता है । अपनी मान्यता को सुधारने के लिये ही आज का विषय है । आज हमें यही देखना है कि भगवान किसे माना जाय । सच्चे अर्थ में भगवान किसे माने? ईश्वर का वास्तविक सच्चा स्वरूप क्या है ? फिल्टर पेपर से पानी छानने से जिस प्रकार कचरा निकल जाता है और शुद्ध पानी पीने को मिलता है उसी प्रकार सच्ची मान्यता से, सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान से किसी भी विषय संबंधी मिथ्या मान्यता दूर हो सकती है और सच्ची मान्यता प्रवर्तित हो जाती है। सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन से मिथ्या ज्ञान को निवारण होने के साथ साथ सच्ची पहचान भी संभव है ।

हीरे का परीक्षक जौहरी परीक्षा करके हीरा ले तो ही वह उपयोगी है, अन्यथा हानि उस जौहरी को ही है । इसी प्रकार भक्त भी भगवान की पहचान प्राप्त करके - उनकी परीक्षा करके ही उन्हें माने, नमन करे, तो लाभदायक है, अन्यथा हानि भी भक्त को ही है । अतः हमें जिसे ईश्वर मानना है, पहले उसकी सच्ची पहचान करनी चाहिये, तत्पश्चात् ही उसे मानने की बात आती है ।

परीक्षा करके स्वीकारो :-

किसी भी वस्तु का स्वीकार करने से पूर्व हम उस वस्तु के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करते हैं, खरीदने से पूर्व हम उसकी जाँच-परीक्षा करते हैं । साग-सब्जी की भी खरीदी करने से पूर्व हम भली प्रकार उसे देख लेते हैं । जौहरी हीरे का क्रय करने से पूर्व उसकी परीक्षा करना नहीं भूलता है । सोना खरीदने वाला भी कसौटी पर सोने को कस कर देखेगा और शुद्ध सोना होगा तो ही उसे खरीदेगा । यह तो जगत् का सर्व सामान्य व्यवहार है । यदि यह वृत्ति सर्वत्र रखी जाती हो तो यहाँ क्यों नहीं ? हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज स्पष्ट शब्दों में सूचना देते हैं कि — 'सूक्ष्म बुद्ध्या सदा ज्ञेयो धर्मो धर्माधिभिर्नरैः अर्थात् धर्म प्राप्त करने की इच्छुक व्यक्ति को धर्म की परीक्षा करने के पश्चात् ही धर्म प्राप्त करना चाहिये। इसी प्रकार जिसे हमें ईश्वर मानना है, जिस ईश्वर की हमें आराधना पूजा करनी है, जिसके नाम का सदैव जाप करना है उसकी भी पूर्व परीक्षा करके ही

उसे स्वीकार करना होगा । आजीवन - ८०-१०० वर्षों तक पूजने, मानने, आराधना करने के पश्चात् यदि पता चले, कि ये तो सच्चे भगवान ही नहीं है, यह तो मिथ्या स्वरूप है, मुझे तो पता ही नहीं चला था और अज्ञानतावश मैंने इन्हें ईश्वर के रूप में मान लिया, इनकी पूजा कर ली... तो अब क्या हो ? यह तो सोना समझकर पीतल खरीद लाने जैसी बात हुई । २०-२५ वर्ष तक सोना समझ कर रखा, उस पर बड़ी बड़ी आशाओं के हवाई किले बाँधे, आशा रखी कि कष्ट के समय यह सोना आग पर पानी की तरह उपयोगी होगा, पर वास्तव में हुआ यह कि ५० वर्ष तक इस सोने को प्राणवत् सम्हाल कर रखने के पश्चात् अचानक जब आर्थिक स्थिति बिगड़ी तब उसी आपत्ति के समय उस सोने को बेचने गए । बड़ी आशा थी कि यह दो किलो सोना बेचने से इतनी धन राशि प्राप्त होगी कि हम पुनः धनवान हो जाएँगे, परन्तु बाजी उल्टी पड़ी । सोना बेचने गए तभी सामने वाले ने कहा 'देखो - कसौटी पर कस कर देख लो - यह सोना ही कहाँ है ? यह तो पीतल है पीतल। पीतल पर सोने का पानी चढ़ा रखा है जो २-४ दिन में ही उतर जाएगा और इधर तुम हो जो पीतल को सोने के भाव से बेचना चाहते हो कहीं हमें ठगने का तो तुम्हारा कुविचार नहीं है ? लगता है तुम लुटेरे हो - छल कपट करने वाले हो। इतना कहने के साथ ही सामने वाले ने पुलिस को दूरभाष द्वारा सूचना देकर बुला लिया और उस दम्पति को पकड़वा दिया । बेचारे निरर्थक कारावास में गए । उनकी आशाओं पर पानी फिर गया । सिर पर हाथ रखकर रोने के सिवाय कोई विकल्प ही न रहा । ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए तब क्या समझा जाए ?

कदाचित् इस दंपति ने तो सोने से ही हाथ धोये, पर हमारे विषय में भी कभी ऐसा ही होता है । सच्चे भगवान समझकर सम्पूर्ण जीवनभर उनकी आराधना उपासना की । ये ही ईश्वर सच्चे हैं, जगत को बनाने वाले भगवान् ही सच्चे ईश्वर हैं, इस सृष्टि की रचना करने वाले, दुनिया को बनाने वाले भगवान हैं, जगत् को सुख - दुःख देने वाले भगवान ही सच्चे भगवान हैं । ईश्वर है, ईश्वर जो करता है वही होता है... आदि स्वरूप में भगवान को मानकर चलते रहे... ऐसी मान्यता - श्रद्धा रखी ।

इस प्रकार जब जीवन के ५०-६० वर्ष बीत गए और फिर पता चला कि सृष्टि का रचयिता, जगत् का निर्माता तो कोई है ही नहीं... जिसका अस्तित्व ही नहीं है ऐसे को मैंने ५०-६० वर्षों तक माना पूजा उनकी आराधना की... ऐसा

ज्ञान होने पर जब हमें होश आएगा - हमें वास्तविकता का पता चलेगा तब तक तो काफी विलम्ब हो चुका होगा... कदाचित् सिर पीट पीट कर रुदन करने की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी और रह रहकर प्रश्न उठेगा कि मैंने यह क्या कर दिया? मेरे ५० वर्ष पानी में गए अब हाथ मसलने के सिवाय क्या रहा ? अब तो मृत्यु भी सन्निकट है । वह दंपति जिस प्रकार कारागृह की अतिथि बने उसी प्रकार हमारी भी दुर्गति निश्चित है । हम अपना भव हार गए । अतः ज्ञानी कहते हैं कि ऐसी पश्चाताप करने की परिस्थिति आने ही न पाए इसके लिये मानने या आराधना करने से पूर्व ही समझपूर्वक परीक्षा करके ही ईश्वर का स्वीकार करें तो कितना अच्छा होगा ?

प्रभु की परीक्षा करने वाले हम कौन ?

मन में एक ऐसा भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रभु की परीक्षा करने वाले हम कौन होते हैं ? हम भगवान की परीक्षा कैसे करेंगे ? क्या हम से ईश्वर की परीक्षा संभव है ? नहीं - नहीं - ऐसी उद्वेगता हम कैसे कर सकते हैं ? ऐसी भी मान्यता मुग्ध जीवों में होती है । कुछ अपेक्षा से ऐसे मुग्ध स्वभाव वाले जीवों की बात में भी सत्यता है । ऐसा वे नहीं कर सकते क्योंकि परीक्षा करने की रीति से ही वे अनभिज्ञ हैं ।

ईश्वर की परीक्षा करने का अर्थ यह नहीं है कि यह ईश्वर का अनादर - अपमान है । नहीं, ऐसी बात नहीं है । इस जगत में ईश्वर विषयक अनेक भिन्न भिन्न प्रकार की मान्यताएँ प्रवर्तित हैं, अनेक भगवान हैं, तो फिर किस भगवान को सच्चे भगवान मानें ? किस ईश्वर का स्वीकार करें ? अनेक और नाना प्रकार के भगवानों में से एक ही भगवान को स्वीकार करना हो - मानना हो तब क्या किया जाए ? ऐसी स्थिति में ईश्वर की परीक्षा करना नितान्त आवश्यक हो जाता है ।

‘श्रीमान् ! सभी भगवान एक हैं’, - ऐसे उत्तर देने वालों का भी तो अभाव नहीं है । तब क्या किया जाए ? सभी भगवान एक ही है न ? नाम, रूप आदि भिन्न भिन्न हैं बाकी बात तो एक ही है न ? चाहे जिस भगवान को मानो पर अन्ततः तो एक ही मान्यता है न ? क्यों जी । स्पष्ट ही कहा गया है न कि -

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरे ।

सर्वदेवनमस्कारो केशवं प्रति गच्छति ॥

जिस प्रकार आकाश में से वर्षा के रूप में गिरा हुआ पानी अंत में तो समुद्र में ही जाता है, उसी प्रकार सभी देवों (भगवानों) को किया हुआ नमस्कार केशव अर्थात् श्री कृष्ण को ही नमस्कार है। ऐसी मान्यता प्रत्येक ने अपनी अपनी बिठा रखी हो तब तो फिर अपने अपने ईश्वर के विषय में खींचातानी होगी और तब तो इस प्रकार अन्य भी कह सकेंगे कि -

आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरे ।

सर्वदेवनमस्कारो, जिनेन्द्रं प्रति गच्छति॥

आकाश में से वर्षा के रूप में बरसा हुआ पानी जैसे अंत में समुद्र में जाता है उसी प्रकार सभी देवताओं को किया हुआ नमस्कार वीतराग जिनेन्द्र भगवान को ही होता है। हम जैन इस प्रकार इनका ही पक्ष लेकर बोलेंगे तो चलेगा ? क्या इन लोगों को बुरा लगेगा। हमारी इस बात पर वे क्रुद्ध होंगे, और हमारी बात स्वीकार नहीं करेंगे। जब सभी भगवानों को एक ही मानने की बड़ी बड़ी बातें करते हैं तो फिर यह पक्षपात क्यों ?

यह तो सब रहेगा ही, ऐसा तो चलता ही रहेगा। वे लोग अपनी सहमति भी प्रकट कर दें तब भी हमें उनकी बात या उनका पक्ष मानना आवश्यक नहीं है। किसी का भी अंधानुकरण करने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है स्व बुद्धि का उपयोग करने की। अतः ईश्वर तो बहुत हैं, उन में से परीक्षा करके ही - कसौटी पर जो सही उतरें, उन्हें ही मानना है।

ईश्वर की परीक्षा कैसे - किस प्रकार करें ?

जैसे सोने की परीक्षा कष, छेद, भेद, तापादि से होती है तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह सोना है। जगत में सैंकड़ों पदार्थों की परीक्षा अनेक प्रकार से होती है, तब ईश्वर की परीक्षा करने से क्या ईश्वर का मूल्य घट जाएगा? क्या ईश्वर का अपमान हो जाएगा ? ऐसा भय पूर्व से ही मन में क्यों रखें ? अन्य अनेक ईश्वरों में से एक ईश्वर सच्चा सिद्ध होगा तब उस एक का मूल्य हजार गुना बढ़ जाएगा और उतना ही हजार गुना हमारा उसके प्रति पूज्य भाव और आनंद भी बढ़ जाएगा, क्यों कि तब सच्चे ईश्वर का स्वरूप हमारे हस्तगत होगा। तब हम आजीवन निश्चिन्त हो जाएँगे। हमारे में आत्म विश्वास जागृत हो जाएगा कि अब हम सच्ची दिशा में हैं। हम कहीं गलत नहीं फँसे हैं। जिस प्रकार एक कन्या किसी सच्चे - योग्य व्यक्ति को अपना जीवन साथी बनाकर जीवनभर की

निश्चिन्तता का अनुभव करते हैं, ऐसा ही अनुभव यहाँ भक्त को भगवान के विषय में होगा। अतः ईश्वर - परीक्षा उस ईश्वर के निर्णय हेतु है, अनेक में से एक का चयन करने के लिये है। इसमें न तो हमें डरना है न इसमें किसी प्रकार की अवज्ञा है।

इस प्रक्रिया में व्यक्ति दूसरी तरह से भी परेशान रहता है। उसका कहना यह भी है कि भगवन् ! हमारी ऐसी योग्यता कहाँ है कि हम ईश्वर की परीक्षा करें? हमारी तो शक्ति - बुद्धि किसी का भी ठिकाना नहीं है। हमारे में ही पूरी योग्यता - पात्रता न हो तो फिर हम ईश्वर की परीक्षा करने के अधिकारी कौन? क्या यह अपधिकार चेष्टा न होगी? इसके उत्तर में कहा है कि - जैसे सोने की परीक्षा कसौटी पर करते समय हमने कितनी बुद्धि चलाई थी। हमारी बुद्धि पर कहाँ आधार था? आधार तो कसौटी के पाषाण पर था। अतः कसौटी ने जो निर्णय दिया उसे ही हमने मान्य रखा है। इसी प्रकार आपकी बात में सत्यता है कि हम ईश्वर की परीक्षा किस प्रकार करें? हमारे में तो अपेक्षित बुद्धि - शक्ति - सामर्थ्य - पात्रता कुछ भी नहीं है। भले ही ये न हों - पर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। आगम शास्त्रों ने हमें सिद्धान्तों का मिश्रणवाला कसौटी का एक ही ऐसा पाषाण दे रखा है जिसके आधार पर हमें ईश्वर की परीक्षा करनी है, फिर परीक्षा करने में पीछेहठ क्यों?

ईश्वर - सिद्धि करने हेतु शास्त्रों ने हमें तीन - चार प्रकार के दिशा - निर्देशक सूत्र दिये हैं। वे सूत्र इस श्लोक में प्रदर्शित हैं :-

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भूभृताम् ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥

(१) जो मोक्ष मार्ग पर ले जाने वाले हों, मोक्ष-मार्ग प्रदर्शक हों, अपना साध्य - गंतव्य ईष्ट जो मोक्ष है उसकी प्राप्ति का उपाय - मार्ग दिखाने वाला हो वे,

(२) जिन्होंने स्वयं ही अपने कर्मरूपी पर्वतों को भेद डाला हो, कर्मों का क्षय करके जो तीर्थकर बने हों और

(३) जो स्वयं सकल विश्व के समस्त पदार्थों - तत्त्वों के ज्ञाता हो - ऐसे तीर्थकरों को स्मृति - पटल पर लाकर स्मरण करता हूँ - दर्शन करता हूँ।

यहाँ इस श्लोक में ईश्वर के लिये तीन - चार सिद्धान्त बताए गए हैं। हमें किसी को भी ईश्वर मानना - स्वीकार करना हो तब इतना देख लें कि उस ईश्वर

में इतनी बातें हैं अथवा नहीं ? इतना देख लेने से ईश्वर की परीक्षा हो जाती है, फिर आँखें मूँद कर आजीवन हम उसे ईश्वर मान सकते हैं । हाँ - उस में इतनी बातें अवश्य होनी चाहियें । उपरोक्त श्लोक में सारभूत तीन बातें विशेष रूप से कही गई हैं । (१) मोक्षमार्ग के प्ररूपक कहने से उनकी वीतरागता सिद्ध होती है। रागी-द्वेषी हो तो वह संसार या स्वर्गादि की प्राप्ति की बात करे । ईश्वर स्वयं अकेला ही मोक्षगमन करे और जीव को यही संसार चक्र में परिभ्रमण करवाता रहे, भले ही स्वर्ग में ले जाए, परन्तु वह स्वर्ग भी अन्ततः तो संसार चक्र में ही गिना जाता है । स्वर्ग में से भी आखिरकार तो मरकर पुनः भ्रमण ही करना है फिर प्रश्न ही कहाँ रहा ? इसी लिये मोक्ष का अनुसरण करने वाले, मोक्ष की ओर जाने वाले मार्ग पर हमें ले जानेवाले नेता जो हों वे ईश्वर ही सच्चे भगवान कहलाएँगे (२) दूसरे विशेषण में “भेत्तारं कर्म भ्रमृताम्” भगवान की सर्व दोषरहितता बताई गई है । अर्थात् जिस ईश्वर ने अपने काम - क्रोध - मान - माया - लोभादि विषय - कषायादि सभी दोष सर्वथा दूर कर दिये हैं, निवारण कर दिया है, वही सच्चा ईश्वर है । कर्म ही आत्मा पर लगा हुआ सबसे बड़ा दोष है, यही बाधक है। अतः सर्व प्रथम कर्म के दोषों का ही निवारण करना चाहिये । इन में भी जिन्होंने कर्मों की विराट पर्वत श्रेणियों, उत्तंग गिरिमालाओं को भेद डाला हो वे ईश्वर ही सच्चे भगवान हैं । पर्वत शब्द का प्रयोग करके यह बताया है कि सच्चे ईश्वर ने कर्म की कितनी विपुल राशि का क्षय किया है । उसने एक - दो कर्मों का ही नहीं, बल्कि कर्मों के जो बड़े बड़े ऊँचे ऊँचे पर्वत थे उन्हें भेद डाले हैं, अर्थात् आत्मा में से कर्मों को हटाकर जो स्वयं शुद्ध परमात्मा के रूप में प्रकट हुए हैं - उन भगवान को मानने की बात कही है ।

इसी प्रकार तीसरे विशेषण में ‘ज्ञातारं विश्व तत्त्वानां’ कहकर समग्र विश्व के समस्त पदार्थों - तत्त्वों के ज्ञाता कहकर प्रभु की सर्वज्ञता सिद्ध की है । अर्थात् समस्त जगत के सर्व तत्त्वों को जानने वाले सर्वज्ञ प्रभु ही ईश्वर के रूप में शोभायमान होते हैं - ऐसा कहा गया है । अंत में ‘तीर्थेशं’ शब्द कहकर तीर्थों के भी ईश तीर्थेश - तीर्थकर, तीर्थपति कहा गया है, अर्थात् जिन्होंने पूर्व के तीसरे भव में तीर्थकर नाम कर्मोपार्जन किया हो और इस भव में तीर्थकरत्व प्राप्त किया हो - ऐसे तीर्थपति - तीर्थकर या तीर्थेश कहलाते हैं । और ऐसे तीर्थेश हों, जिन्होंने तीर्थकर नाम कर्म बाँध रखा हो वे ही ईश्वर या भगवान कहलाने के अधिकारी हैं - अन्य नहीं ।

इस प्रकार सामूहिक रूप से विशेषणों का सिद्धान्त वाला कसोटी का जो पत्थर बना कर हमें शास्त्रकार महर्षियों ने दिया है अथवा जो चार सूत्र हमें दिये हैं उनके आधार पर ईश्वर की परीक्षा करनी चाहिये । ये चार सूत्र संक्षेप में इस प्रकार हैं (१) मोक्ष मार्गोपदेशक मोक्ष मार्ग अर्थात् धर्म के उपदेशक - प्ररूपक (२) कर्ममलदोषरहित, अर्थात् राग - द्वेष रहित वीतराग, (३) सर्वज्ञ - अनंतज्ञानी (४) तीर्थंकर - तीर्थेश जो हो - इन चार विशेषणों से जो अलंकृत हो वही ईश्वर / भगवान कहलाने की अर्हता रखता है ।

Jainism is the most logical religion इस प्रकार देखने से जैन धर्म हमें कितना स्पष्ट तर्कयुक्त और बुद्धिगम्य लगता है - इसका हमें ख्याल आता है । ईश्वर जैसी हस्ती की परीक्षा करने का साहस जैन धर्म ने हमें दिया है, इस से मात्र अंध श्रद्धा पर नहीं ले गए, बल्कि तर्क युक्ति गम्य, जैन धर्म बताया गया है । मात्र भगवान की ही नहीं, बल्कि धर्म, गुरु आदि अर्थात् देव-गुरु तथा धर्म और जीवादि सभी तत्त्वों - वर्गों के विषय में ये ही तर्क युक्त एवं बुद्धि गम्य सूत्र प्रस्तुत किये गए हैं । अतः जैन धर्म गुणानुरागी धर्म हैं, यह व्यक्तिवादी धर्म नहीं है । प्रत्येक विषय - सिद्धान्त का तार्किक युक्तिसंगत उत्तर दाता जैन धर्म हैं । 'बाबा वाक्य प्रमाण' की बात यहाँ नहीं कही गई है । लोक प्रवाह पर चलने अथवा बाप के कुएँ में कूद गिरने की बात यहाँ नहीं कही गई है - जैन धर्म की यही विशिष्टता है । जैन धर्म ने परीक्षा के द्वार बन्द न करके खुले रखे हैं । इसीलिये जैन धर्म के सिद्धान्त सदैव नवीन और ताजे लगते हैं । वे बाबा वाक्य नहीं लगते । उन्होंने अंध श्रद्धा और मिश्र श्रद्धा को भी तिलांजलि दे दी है और शुद्ध सत्य स्वरूप ही प्रहण किया है । 'सम्यग्' शब्द सूचित करता है कि जैन धर्म - ने सदैव सत्य के द्वार खुले रखे हैं ।

'नमो अरिहंताणं' पद से परीक्षा

इस बात का प्रमाण हमें नवकार जैसे महामंत्र के प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' से ही प्राप्त हो जाएगा । यहाँ अरिहंत शब्द भी ईश्वर की परीक्षा तथा स्वरूप निर्णय में विशेष रूप से सहायक होने से रखा गया है । यह सिद्ध करता है कि अरि + हंत = अरिहंत । 'अरि' अर्थात् शत्रु और 'हंत' अर्थात् उसका हनन करने वाले । यहाँ अरि = शत्रु शब्द कर्म रूपी शत्रुओं के लिये है । कर्म रूपी आंतर शत्रुओं का जिन्होंने हनन किया है - पराजित किया है उन अरिहंत को ही

भगवान या ईश्वर कहना है। ऐसे अरिहंत भगवंत को ही नमस्कार किया गया है। गत श्लोक में कही हुई बातें यहाँ बराबर बैठती हैं। आत्म शत्रु रूपी कर्म जिन में राग - द्वेषादि की महत्ता समाहित है उन सब का नाश करने वाले अरिहंतों को यहाँ नमस्कार किया गया है। कहने का तात्पर्य है कि राग - द्वेषादि कर्मों का नाश करने वाले और राग द्वेषादि कर्मों का नाश करने से प्राप्त वीतरागता वाले वीतरागी भगवान को ही अरिहंत के रूप में मानना है। ऐसे वीतरागी ही संसार से हमें मुक्त कर मोक्ष मार्ग की ओर ले जाने वाले हमारे नायक बने हैं।

इस प्रकार महामंत्र में प्रयुक्त अरिहंत पद उभयार्थ में वाच्य बना हैं। परीक्षा भी इसी से हो गई। इसी व्याख्या को हम सूत्र - सिद्धान्त अथवा formula बनाकर सभी भगवानों - ईश्वरों की परीक्षा करके देखें कि यदि वे भगवान अरिहंत के अर्थ में सच्चे सिद्ध होते हैं या नहीं? होते हो तो उन्हें हम भगवान माने। यदि अरिहंत के अर्थ में वे सच्चे न उतरें तो उन्हें भगवान मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

क्या अन्य में अरिहंतपन है ?

जगत के अनेक धर्म हैं और उन अनेक धर्मों में अनेक प्रकार के ईश्वरों की सत्ता मानी गई है। कोई धर्म ईश्वर को मात्र लीला करने वाला मानता है, कोई सर्वज्ञ मात्र को ईश्वर कहता है, कोई ईश्वर को सृष्टि का रचयिता मानता है, कोई ईश्वर के तीन रूप मानकर सृष्टि की रचना, व्यवस्था और प्रलय करने वाला मानता है। जगत् के अधिकांश धर्म - दर्शन ईश्वर को सृष्टि का निर्माता मानते हैं। उनकी मान्यतानुसार ईश्वर सृष्टि का बनाने वाला है, जो सृष्टि का निर्माता हो, बसाने वाला हो उसे ही ईश्वर मानते हैं। कोई दर्शन कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ होना आवश्यक है, तो कोई अन्य दर्शन कहता है कि ईश्वर का सर्वज्ञ होना आवश्यक नहीं है। सर्वज्ञ न हो तब भी हम उसे ईश्वर मानने के लिये तैयार हैं। कोई जगत्कर्ता को ईश्वर मानते हैं तो कोई जगत् कर्ता न हो तब भी उसे ईश्वर मानते हैं। कोई ईश्वर को सुख दुःख का दाता मानते हैं, तो कोई ईश्वर को पुण्य - पाप का फलदाता मानते हैं। ईश्वर को कई नियंता मानते हैं। ऐसी ईश्वर संबंधी विभिन्न मान्यताएँ हैं। इन सभी मान्यताओं के अतिरिक्त अन्य धर्म तथा पाश्चात्य दर्शनादि भी अपनी अपनी भिन्न भिन्न मान्यताएँ रखते हैं। कोई ईश्वर को जादूगर की भाँति इस जगत का रचयिता मानते हैं, तो कोई ईश्वर को सर्वोपरि सर्वशक्तिमान् A Supreme Power मानते हैं। God is the father of all भगवान सबके पिता

हैं - ऐसा भी मानने वाले हैं । इस प्रकार ईश्वर के संबंध में प्रवर्तित सैकड़ों भिन्न भिन्न मान्यताओं में से हमें ईश्वर का सच्चा - शुद्ध स्वरूप समझकर फिर आराधना करनी है । स्वरूप निर्णय के बिना हमारी आराधना भी शुद्ध होने वाली नहीं है, क्यों कि जैसी मान्यता वैसी ही उपासना - इस नियम के अनुसार पहले मान्यता को सुधारना होगा, फिर उपासना तो स्वतः सुधर जाएगी । उपासना क्रियात्मक है, मान्यता सम्यक्त्व स्वरूप अर्थात् श्रद्धास्वरूप तथा ज्ञान स्वरूप है, ज्ञानात्मक स्वरूप भी होनी ही चाहिये । ईश्वर मात्र उपास्य ही हो इतना ही नहीं, बल्कि ज्ञान गम्य, बुद्धि गम्य तथा तर्क गम्य भी होने चाहियें । ऐसी बुद्धि - शक्ति हमें प्राप्त हुई हो तो फिर हमारे मुख से 'सब ईश्वर एक हैं, सब का मालिक एक है, सब भगवान एक ही है, नाम भिन्न भिन्न हैं ।' ऐसी बुद्धि विहीन, तर्करहित अंध श्रद्धा की बातें नहीं निकलती । अतः यहाँ ईश्वर के विषय में बुद्धि गम्य विचारणा प्रस्तुत करनी है ।

ईश्वर की स्तुति या मजाक :

चूडामणि - कृत - विधुर्वलयीकृत - वासुकिः ।

भवो भवतु भव्याय लीलाताण्डवपण्डितः ॥१॥

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकुलचौराय ।

तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥२॥

अक्षपाद - नैयायिक दर्शन के मूल ग्रंथ - सिद्धान्त मुक्तावली के आरंभ में मंगलाचरण करते हुए भगवान की उपरोक्त स्तुति के इन श्लोको में स्तुति करते हुए लिखते हैं कि - सिर पर शिखा-जटा में चंद्र को धारण करने वाले और सर्प को मोड़कर गले में आभूषण की तरह वलयाकार धारण करने वाले और तांडव लीला करने में निपुण पंडित ऐसे 'भव' अर्थात् शंकर भगवान 'भव्याय भवतु' सबके कल्याण हेतु हो ॥१॥

दूसरी स्तुति में श्री कृष्ण भगवान को नमस्कार करते हुए ग्रंथकर्ता विश्वनाथ भट्ट लिखते हैं कि - वर्षा के समय आकाश में आए हुए श्यामवर्ण के मेघवत् श्याम और गोपवधूटी अर्थात् ग्वालों की वधुओं के वस्त्र चुराने वाले और संसार रूपी वृक्ष के बीज - कारणरूप श्री कृष्ण भगवान को नमस्कार हो ॥२॥

न्याय विशारद पंडित विश्वनाथ भट्ट की स्व मान्यता रूप भक्तिभाव से कृत ये दोनों स्तुतियाँ आप बड़े ही ध्यान पूर्वक देखें, अर्थ का विचार करें - क्या इन

में भगवान की हँसी नहीं उड़ाई गई है ? ऐसे भाव से भगवान को नमस्कार किया गया कहलाता-है या भगवान को चोर कहकर उन्हें अपमानित किया गया है । प्रारंभ में किसी को चोर कह कर फिर उसे नमस्कार करें तो क्या उचित लगेगा ? क्या हमें स्वयं को भी ऐसा व्यवहार प्रिय लगेगा ? कदापि नहीं । किसी को भी प्रिय नहीं लगेगा तब ईश्वर को कैसे प्रिय लग सकता है ? इस स्तुति के बहाने न्याय दर्शनकार ने अपनी मान्यता और अपने धर्म की मान्यता प्रकट की है, क्यों कि इनके धर्म में ईश्वर को ऐसे अर्थ में ही माना जाता है - इसी स्वरूप में स्वीकार किया है, इसीलिये ऐसी स्तुति की है । ऐसी स्तुति करते समय भगवान को चोर कहने में इन्हें जरा भी संकोच नहीं हुआ - यह एक आश्चर्य है ।

यहाँ ईश्वर का स्वरूप मानने के लिये इन्हें विशेषण देकर स्पष्टता की है कि 'लीला तांडव पंडित' - अर्थात् प्रलय काल की विनाशकारी तांडव लीला करने में निपुण पंडित जैसे शंकर भगवान और 'संसार महीरुहस्य बीजाय' अर्थात् संसार रूपीवृक्ष के लिये बीज - कारण रूप जो भगवान हैं उन्हें नमस्कार हो । ईश्वर कैसे होते हैं ? ईश्वर किसे कहा जाए ? इन अर्थों को स्पष्ट करते हुए इन विशेषणों से - सृष्टि के कारण रूप और प्रलय करने वाले ईश्वर को नमस्कार किया है । अर्थात् न्याय दर्शनवाले नैयायिक ईश्वर को सृष्टि का बीज - कारण मानते हैं । जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष का होना असंभव है, उसी प्रकार ईश्वर के बिना संसार - सृष्टि की रचना संभव ही नहीं है, और रचना की है अतः नष्ट भी करना ही पड़ेगा । अतः तांडव लीला द्वारा प्रलय करने वाला भी ईश्वर को ही बताया गया है । सृष्टि कर्ता और प्रलय संहार कर्ता दोनों एक ही ईश्वर है, दोनों ही प्रकार से स्वरूप एक ही है - भिन्न भिन्न नहीं है, नाम भेद है पर स्वरूप भेद नहीं है । नैयायिक एकेश्वरवादी हैं । ईश्वर को एक स्वरूप में ही मानते हैं । इनके मतानुसार एक ही ईश्वर भिन्न भिन्न रूपों में पुनः पुनः अवतार लेता है और संसार में लीला करने के लिये बार बार आता रहता है । सृष्टि रचना भी एक लीला है और संहार प्रलय करके सृष्टि को समाप्त करना भी एक लीला है ।

इस प्रकार एक ही ईश्वर है । वही पुनः पुनः अवतार लेता है ... वही पुनः पुनः सृष्टि का निर्माण व संहार करता है - ऐसे भगवान को जिन विशेषणों से सम्मानित किया है - नमस्कार किया है वह क्या मजाक रूप नहीं लगता ? श्री कृष्ण की स्तुति करते हुए कहते हैं कि - सरोवर में स्नान करने के लिये उतरी हुई गोपिकाओं - जिन स्त्रियों ने स्नान हेतु अपने सभी वस्त्र उतारकर वृक्ष पर लटका

दिये हैं और निर्जन स्थान में जो स्नान कर रही हो ऐसी निर्वस्त्र - नग्नावस्था में स्नान करती हुई गोपिकाओं को छोड़कर उनके वस्त्र चुरा ले जाने वाले श्री कृष्ण भगवान को नमस्कार हो । स्पष्ट रूप से यहाँ 'चौराय' चोर शब्द का प्रयोग किया है और फिर नमस्कार किया है । जिसे करबद्ध नमस्कार करना है, जिस नमस्कार में पूज्य भाव प्रकट करना है उन्हें चोर कहने से क्या पूज्य भाव प्रकट हो सकेगा ? और वह भी नग्नावस्था में स्नानार्थ उतरी हुई स्त्रियों के वस्त्र हरण करने वाले - ऐसे अश्लील बिभत्स निन्दनीय कार्य में फँसे हुए के प्रति पूज्य भाव किस प्रकार जागृत होगा ? ऐसों को नमस्कार करने का भाव कैसे पैदा होगा ? क्या भगवान को पहले चोर कहना और फिर नमस्कार करना उचित है । बस, इसके उत्तर में उनके पास एक ही उत्तर है कि भगवान लीला करते हैं । यह तो उनकी क्रीडा मात्र है, लीला है, विनोद है, लीला में सभी प्रकार की लीलाएँ हो सकती हैं... ।

ईश्वर की लीला का अनुकरण :

ईश्वर ने जो कुछ भी किया वह अच्छा हो या खराब उसे मात्र लीला मान ली जाए ? लीला करना ईश्वर की इच्छा है, परन्तु यदि जो और जैसी लीला ईश्वर ने की है उस का अनुकरण आधुनिक लोग करें तो ! फिर तो वे वास्तविक रूप से करें अथवा नाटक के स्वरूप में करें तो चलेगा या नहीं ? यहाँ 'नहीं' उत्तर तैयार ही रखा है । कहते हैं कि ईश्वर करे वही लीला । लीला करने का अधिकार ईश्वर को ही प्राप्त है - मनुष्य को नहीं, अतः सामान्य जन लीला नहीं कर सकता और यदि करता है तो वह पापमय प्रवृत्ति कहलाती है । ईश्वर को पाप लगता ही नहीं है, अतः वह कैसी भी लीला कर सकता है । आज यदि कोई सामान्य जन ऐसी वस्त्रापहरण की लीला करे और कहे कि मैं भी ईश्वर हूँ मैंने ऐसी ही लीला की है तो क्या कोई उसकी बात स्वीकार करेगा ? नहीं... ! वहाँ तो हम अपनी अस्वीकृति प्रकट करेंगे, परन्तु जब श्री कृष्ण ने यह लीला की थी तब कोई अस्वीकृति प्रकट करने वाला नहीं मिला था क्या ? आज उस लीला का मात्र अनुकरण करें तो वह पाप कहलाता है जैसे विष विष ही है, फिर भले ही कोई भी उसे पीए । विष का प्रभाव सब पर समान ही होता है । विष के लिये व्यक्ति के प्रति भेदभाव नहीं होता । ऐसी ही बात पाप के विषय में भी है । पाप भी व्यक्ति में भेदभाव नहीं रखता है । जो व्यक्ति पाप करता है वही उसका फल भी भोगता है, चाहे वह छोटा व्यक्ति हो या महान व्यक्ति हो, सामान्य हो या विशेष हो - पाप

का फल सबके लिये समान होता है ।

तब प्रश्न यह उठता है कि एक ही प्रवृत्ति, एक ही प्रकार की प्रवृत्ति होने पर भी एक को लीला और एक को पाप - इस प्रकार भिन्न भिन्न संज्ञाएँ क्यों दी गई? क्या व्यक्ति भेद से पाप में भेद हो जाता है ? कदापि नहीं ।

जो भगवान स्वयं करे वही यदि कोई अन्य व्यक्ति करे तो भगवान को यह कैसा अधिकार कि वह उसे मना कर सके । भगवान जैसी प्रवृत्ति करे वैसी ही यदि कोई सामान्य व्यक्ति कर बैठे तो क्या भगवान को उसकी निंदा करने का अधिकार है ? पिता का अनुकरण पुत्र करता है, गुरु का अनुकरण शिष्य करता है, पति का अनुकरण पत्नी करती है - यह तो व्यवहार है - प्रचलित प्रणालिका है । इसी प्रकार व्यवहार चलता रहता है । इसी प्रकार भगवान का अनुकरण यदि भक्त करता है तो क्यों नहीं चल सकता ? परन्तु यहाँ तो आश्चर्य इस बात का है कि भगवान जब भी जो कुछ भी करता है उसे लीला के नाम से सम्मानित किया जाता है, भगवान की उस लीला को उत्तम कार्य बताकर जगत् उसकी पुनः पुनः स्तुति करता है परन्तु यदि कोई जन सामान्य ऐसे ही कार्य का अनुकरण कर महान् बनने के लिये प्रेरित होता है, तो उसे रोका जाता है, उसे ऐसा करने की अनुमति नहीं दी जाती और कहा जाता है कि यह तो लीला है - प्रभु की लीला है - ऐसी लीला करने का अधिकार तो मात्र ईश्वर को ही है, मनुष्यों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है । मानव यदि इस प्रकार अनुवर्तन करता है तो वह उसका घोर पाप कहलाता है ।

सचमुच विचार करें तो स्पष्ट लगता है कि भगवान के जीवन का एक भी कार्य ऐसा न होना चाहिये जो भक्त के लिये अनुकरणीय अथवा अनुसरणीय न हो। भगवान के कार्य का अनुकरण यदि भक्त करे तो उसे शुभ कार्य करने का आत्म संतोष होना चाहिये; महान कार्य करने का उसमें आत्मभाव प्रकट होना चाहिये । कर्मसत्ता के नियम भगवान और भक्त दोनों के लिये समान ही होते हैं। भगवान के लिये अलग और भक्त के लिये अलग नियम कर्म सत्ता में नहीं होते हैं । लीला भी यदि बुरी है, निंदनीय है, पाप की व्याख्या के अन्तर्गत आती है तो वह लीला भी पाप ही है, दृष्कृत्य ही है, पाप के रूप में ही मान्य होनी चाहिये और पाप अनाचरणीय ही होता है, चाहे वह छोटे - बड़े किसी भी स्तर के व्यक्ति द्वारा कृत हो ।

क्या भगवान भूल करता है ? क्या भूल करे वह भगवान कहलाता है ?

भूल को अपराध कहें अथवा पाप कहें अथवा दुष्कृत कहें - बात एक ही है । सामान्य तर्क भी कहता है - क्या भगवान हो तो वह भूल करे ? अथवा जो भूल करे वह भगवान कहलाए ? इस वाक्य में दो पक्ष हैं । तो क्या प्रथम पक्ष सच्चा है नहीं, भगवान होकर भूल करे - वह कैसे संभव हो सकता है ? यह बात तो ऐसी हुई कि सूर्य में अंधकार होता है, परन्तु हमारा तो दैनिक अनुभव है कि सूर्य में अंधकार संभव ही नहीं है । सूर्य और अंधकार दोनों ही विरोधी धर्म हैं । एक ही क्षण में दोनों का सहअस्तित्व कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार भगवान और भूल दोनों ही विरोधी धर्म हैं । एक ही क्षण में दोनों का सहअस्तित्व कैसे हो सकता है ? भगवान तो ज्ञानी - सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होते है - होने ही चाहिये । भूल - अपराध तो अज्ञानी का कार्य है । यदि भूल अथवा अपराध भगवान के हाथों हो तो उनमें भगवान का गुण नहीं - सर्वज्ञता - सर्वदर्शिता सत्ता में नहीं, मात्र हमने श्रद्धाभाव से अथवा अंध श्रद्धा से मान लिया हो तो भिन्न बात हैं । अतः भूल और भगवान दोनों ही परस्पर विपरीत - विरोधी धर्म हैं । दोनों एक साथ संभव नहीं । अतएव क्या भगवान हो वह भूल करे ? अथवा अन्य प्रकार से यही प्रश्न घुमाकर - शब्द वाक्य का परिवर्तन करके भी पूछें कि क्या भूल करे उसे भगवान कहें ? तो इसके उत्तर में एक अशिक्षित ग्रामीण भी दोनो ही प्रश्नों के उत्तर में स्पष्ट 'नहीं' कहेगा !

यदि भूल करने वाला भगवान कहलाता हो, तब तो इस जगत में हम सभी भूल करने वाले हैं । नित्य सैकड़ों प्रकार की भूलें हम करते हैं तो क्या हम सब भगवान कहलाने के योग्य सिद्ध होंगे ? नहीं - कदापि नहीं । भूल करने वाला मार्गच्युत है - भगवान इस प्रकार नहीं बना जाता, भगवान बनने का मार्ग इतना सरल नहीं है । यह कहना बेहतर होगा कि सर्वथा भूल न करे वही भगवान । जिसके हाथों जीवनभर भूल की संभावना ही नहीं, उसे हमारा भगवान कहना तर्क संगत है, उचित है । सर्वथा अंशमात्र भी भूल न करे, और जिनके जीवन में परमाणु जितनी भी भूल न दिखाई दे, उन्हें ही भगवान कहना चाहिये ।

लीला में क्या भूल अथवा अपराध की गंध नहीं आती है ? और यदि उसमें अपराध की गंध हो तो उसे हम भगवान कैसे कहें ? यदि लीला में कुछ भी असंगत - अयुक्त नहीं हो तब अन्य व्यक्ति को ऐसी लीला करने से क्यों रोका

जाए? उसे ऐसे करने का निषेध क्यों ? अन्य व्यक्ति जब भगवान की लीला का अनुकरण करने लगता है तब 'पाप' के नाम की मुहर लगाकर उसे रोका जाता है - ऐसा पाप करेगा तो तू नरक में जाएगा, तेरा बहुत ही बुरा हाल होगा । ऐसा क्यों कहा जाता है ? सामान्य व्यक्ति भी यदि अपने बचाव में तर्क करे तो हमारे पास उसका उत्तर क्या है ? स्नान के लिये तत्पर बनी हुई गोपिकाओं (स्त्रियों) का वस्त्रापहरण सामान्य व्यक्ति को भी करने दो... उसे भी ऐसी ही लीला करने का आनंद लूटने दो । लीला यदि अच्छी वस्तु हो और भगवान जो करे उसे बुरा या गलत हम कह ही न सकें तब उस वस्तु - अथवा क्रिया पर प्रतिबंध कैसे लगा सकते हैं ? एक ही क्रिया को भगवान की लीला और सामान्य व्यक्ति का पाप कहने का अधिकार कैसे मान्य हो सकता है ? लीला करने का अधिकार मात्र भगवान को ही क्यों दिया गया है ? यह अधिकार स्वतंत्र रूप से मात्र भगवान के लिये ही आरक्षित क्यों ? यदि भक्त भी करे तो उसे कैसे दिया जाए । उसके लिये भगवान की वह लीला निषिद्ध - प्रतिबंधित क्यों ? और यदि भक्त को निषेध करना ही पड़ता हो, क्यों कि अच्छा नहीं लगता, बुरा लगता है, तब फिर भगवान के साथ ऐसी लीलाएँ जोड़कर भगवान का महत्त्व बढ़ाने में हमें शर्म क्यों नहीं आती ? ऐसी वस्त्रापहरण जैसी लीलाओं से भगवान का महत्त्व बढ़ेगा या घटेगा? ऐसा करने में तो भगवान की महत्ता में न्यूनता ही निश्चित है ।

दूसरी ओर मनोमान्य भगवान के जीवन में से लीलाओं का अंश निकालने का साहस करने जाएँ तो नमकरहित भोजन और शक्कर विहीन चाय जैसा भगवान का जीवन भी लीलारहित सर्वथा फीका लगेगा, क्यों कि भगवान के जीवन में इतनी अधिक लीलाएँ भर दी है कि लगता है लीला के सिवाय अन्य सब गौण हो गया है । सृष्टि का निर्माण करना और वहाँ से लगाकर सृष्टि के संहार - प्रलय करने तक सब लीला रूप ही है - ऐसा वेद - वेदांत - स्मृति - पुराणादि शास्त्रों में वर्णन हैं । लीला की प्रधानता भगवान के जीवन में अधिक है । सृष्टि की रचना भी लीला, 'मैया मोरी मैं नहीं माखण खायो' - यह भी लीला, 'मख्खन खाने के लिये चोरी करनी पड़ी और जब पूछा गया तो झूठ बोलना पड़ा - यह भी लीला में गिना जाता है, नहाने के लिये पानी में उतरी हुई नग्नावस्था वाली गोपिकाओं के वस्त्रों का अपहरण करना भी लीला, अर्जुन को विराट ब्रह्मांड का रूप दिखाकर महाभारत का युद्ध करवाना और करोड़ों का नर संहार करवा कर खून की नदियाँ प्रवाहित करना भी लीला है और अंत में सृष्टि का संहार

महाप्रलय करना यह भी लीला । ऐसी तो सैंकड़ो लीलाओं से भगवान का जीवन - चरित्र अलंकृत किया गया हैं । आभूषण रहित नारी जैसी स्थिति लीलारहित भगवान की हो जाए अतः लीला को तो आभूषण की तरह शोभा गिना है, और इसे दूर न करके अधिक से अधिक बढ़ाई गई है। अधिक महत्त्व देते हुए मुक्त रूप से कथा वांचन के समय लोगों के समक्ष प्रस्तुतिकरण होता है, अतः सामान्य मानव के समक्ष तो लीला और भगवान मानो एक दूसरे के पर्यायवाची नाम ही हो गए हैं - ऐसा लगता है । भगवान के बिना लीला नहीं अथवा लीला के बिना भगवान नहीं - इन दोनों पक्षों में सत्य क्या लगता है ? कई लोग उत्तर देते हैं - 'हाँ, यही ठीक हैं, यही उचित है । भगवान के बिना लीला कोई कर ही नहीं सकता और लीलारहित भगवान भी कोई नहीं हो सकता । जो भी भगवान बने उसे लीला करनी ही पड़ती है, क्योंकि लीला करना भगवान का धर्म है, अधिकार है ।'

परन्तु भगवान लीला क्यों करता है ?

दृष्टादृष्ट का विचार हो अर्थात् पुण्य - पाप अथवा अच्छे - बुरे का विचार यदि दृष्टि सम्मुख हो तो मानव सोच - समझ पूर्वक कार्य करेगा । बिना समझे वह कार्य नहीं करेगा । भगवान ऐसी लीला करता है और फिर इस लीला का भी अदृष्ट जो निर्माण होता है उसका क्या ? क्या उसका उपभोग करने के लिये भगवान को भी कोई अन्य जन्म लेने पड़ते होंगे ? कैसे कैसे फल भुगतने पड़ते होंगे ? अच्छे या बुरे ? और यदि भगवान को फल भोगने पड़ते हो तो वह किस प्रकार भोगता होगा ? अथवा उन्हें उनके अदृष्ट के फल कौन देता होगा ? जैसे भगवान अन्य जीवों को उनके द्वारा कृत अच्छे - बुरे कार्यों का फल देता हैं, फल देने वाला होने से नियंता है, उसी प्रकार भगवान अपनी लीला द्वारा जो अदृष्ट उपार्जित करता है उसका फल उसे देने वाला कौन होता है ? ईश्वर द्वारा कृत लीला के लिये उसे उसका फलदाता कौन ? किसे मारें ? फिर अशुभ अदृष्ट के आधार पर उन्हें नरक या दुर्गति में भी जाना पड़ता होगा ? और शुभ अदृष्ट के आधार पर उन्हें स्वर्ग में भी जाना पड़ता होगा ? तो क्या नरक के परमाधामी ऐसे ईश्वर को उनके कर्मों का फल देते होंगे ? तब तो फिर ईश्वर में और सामान्य मानव के जीवन में क्या अन्तर हुआ ? फिर तो दोनों को समकक्ष एक ही स्तर का जीवन यापन करने वाले मानने चाहियें । गोपिकाओं के वस्त्रापहरण की लीला

क्या अच्छी कहलायगी ? नहीं - ऐसी क्रिया तो बुरी - अशुभ ही मानी जाती है। पाँच व्यक्तियों के बीच भी ऐसी लीला की बात की जाए तो वे भी लज्जित हो जाते हैं, लज्जा के मारे उनका सिर झुक जाता है। अच्छी गौरव लेने जैसी बात होती तब तो बात और ही होती परन्तु यह कौनसी लीला गर्व करने योग्य और उत्तम है ? इस लीला की बात अभी छोड़ देते हैं और तांडव लीला का विचार करें ?

तांडवलीला में जब ईश्वर महादेव - शंकर भगवान नटराज का रूप धारण करके, उलटे घड़े पर, एक पांव पर खड़े होकर हाथ में डमरु बजाते हुए सृष्टि का प्रलय करते हैं जिसे तांडव लीला कहते हैं, तब चारों ओर तांडव मचा देते हैं। समस्त सृष्टि का प्रलय करके सृष्टि को वे समाप्त कर डालते हैं। क्या ऐसी लीला करने से भी कोई अदृष्ट निर्माण होता है या नहीं ? यदि न होता हो तो किसी भी जीव के लिये नहीं होना चाहिये। तब तो यहाँ मना करते हैं। कहते हैं नहीं, अन्य जीवों के लिये अदृष्ट निर्माण होता ही है, मात्र ईश्वर के लिये ही नहीं। तो प्रश्न उठता है कि ऐसा पक्षपात क्यों ? सभी बातों में ईश्वर और अन्य सभी जीवों की प्रक्रिया में अन्तर क्यों रखा गया है ? हाँ, जीवों में अन्तर भले ही हो, परन्तु अदृष्ट या इच्छा - या लीला आदि की प्रक्रिया में भेदभाव क्यों रखा गया है ? अदृष्ट पुण्य - पाप की प्रक्रिया सब के लिये समान है तो उसका फल भी सब के लिये समान ही होना चाहिये अन्यथा कर्म - धर्म की व्यवस्था ही बिगाड़ जाएगी। इसमें तो साम्यता ही अपेक्षित है।

जैन मान्यता में एक वाक्यता :-

जैन दार्शनिकों ने कर्म - धर्म की तरह ही अदृष्ट - पुण्य - पाप के फलादि के विषय में साम्यता रखी है, सर्वत्र एकवाक्यता रखी है। पाप चाहे भगवान करे अथवा कोई सामान्य जीव करे - पाप पाप ही हैं। समान पाप हो - समान पाप - प्रवृत्ति हो और उसे करने वाले मनुष्य, राजा, देव - देवी या इन्द्र हो, पशु-पक्षी हो अथवा भगवान स्वयं हो - जो भी पाप करता है वह अपनी रीति से स्वयं अशुभ दुःखात्मक फल भुगतता है - इसमें जरा भी शंका की बात नहीं है। ईश्वर कृतपाप पुण्य रूप में गिना जाए और सामान्य मनुष्यकृत पाप - पाप रूप में गिना जाए - यह बात जैन दर्शन नहीं मानता। कर्म - धर्म की व्यवस्था जैन दर्शन में एक समान है। अतः धर्म और धर्मापदेशक भी सर्वत्र एक समान हैं। इसे पाप कहते हैं, यह पाप कोई न करे ऐसी संपूर्ण एक वाक्यता का पालन होता है।

भगवान महावीर स्वामी के जीवन चरित्र का अवलोकन करो अथवा किसी भी अन्य तीर्थंकर भगवंत के जीवन चरित्र को देखें । उन्होंने भी अपनी भव परम्परा के जन्मों में जब जब जैसे जैसे पाप किये हैं तब तब उन्हें भी पाप के कटु फल भोगने ही पड़े हैं । महावीर स्वामी ने अपने स्वयं के पूर्व भव में किसी के कान में तपाया हुए गर्म सीसा डलवाने पाप कर्म किया था तो उस पापकर्म के फलित होने पर उनके कान में खीले ठोंके गए थे । 'कृतं कर्म अवश्यमेव भोक्तव्यम्' अर्थात् किये हुए कर्म अवश्य भोगने ही पड़ते हैं - यह सिद्धान्त मात्र सामान्य जीवों के लिये ही नहीं, बल्कि भगवान के लियं भी इतना ही लागू होता है । महावीर को तो भूतकाल के भवों के पापों के फल भोगने पड़े थे । तीसरे मरिचि के भव के नीच गोत्र कर्म के विपाक में उन्हें ८२ दिन तक देवानंदा ब्राह्मणी की कुक्षि में रहना पड़ा था । १८ वे भव में रानी के साथ वैमनस्य में हुई भूलों के भोग बनने से उन्हें अपने २७ वे भव में कटपूतना व्यंतरी की ओर से शीत उपसर्ग सहन करना पड़ा था । इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वयं द्वारा किये गए पाप कर्मों के फल स्वयं को ही भोगने पड़े थे ।

इसी प्रकार सभी तीर्थंकर भगवंतों के जीवन में ऐसा ही वर्णन है । सभी तीर्थंकर भगवंतों के भूतकाल के भव माने गए हैं । उनमें किए हुए पापों के फल उन्होंने भोगे और वे भी किस प्रकार भोगे यह सब बताया गया है ।

Holyday अर्थात् पवित्र होने का दिन :-

ईसाई मत की मान्यता है कि जगत-पिता ईश्वर (God Father)ने ६ दिनों में सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की जो भी पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, वनस्पति तथा जीवादि की सृष्टि बनाई और उसे बनाने में ईश्वर को जितने भी अशुभपापकर्म लगे, और इस प्रकार करने से वे जितने अशुद्ध हुए - उतने ही शुद्ध होने के लिये उन्होंने सातवे दिन प्रार्थना की - क्षमायाचना की और पवित्र हुए । इसीलिये सप्ताह के छह दिन सृष्टि रचना के और अंतिम सातवाँ दिन Holyday माना जाता है । हम लोग उस Holyday को Holiday अर्थात् Day of rest from work छुट्टी - अवकाश का दिन गिनते हैं जब कि यह मात्र छुट्टी का दिन नहीं है। अपने लिये ठीक है कि बच्चे स्कूल जाते हैं तो भले ही वे इसे छुट्टी का दिन गिनें परन्तु उस युग में यह दिन Holyday अर्थात् पवित्र-शुद्ध होने का दिन माना गया था । शब्दकोष में भी Holy का अर्थ पवित्र बताया गया है ।

इस प्रकार ईसाई मानते हैं कि उनके ईश्वर भी सृष्टि की रचना करते हैं । वे भी जगत् कर्तृत्ववादी हैं । ईश्वर को संसार बनाने वाले के रूप में मानते हैं तब प्रश्न ही कहाँ रहा ? वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस सृष्टि की रचना करने में ईश्वर को भी पाप लगा - दोष लगा, इसके लिये HolyDay की व्यवस्था कर रखी है । यदि उस ईश्वर को सृष्टि की रचना करने में पाप-दोष लगता है तो फिर अन्य ईश्वरों को क्यों नहीं ? हिन्दू धर्म में यह मान्यता नहीं मानी गई है । किसी अन्य मतने भी सृष्टि के निर्माण कार्य में ईश्वर को पाप-दोष लगता है - ऐसी बात ही नहीं मानी । किसी अदृष्ट ईश्वर के विषय में वे मानते ही नहीं है तो उसके फल की तो बात ही कहाँ रही ?

अवतारवाद में भव-परम्परा का अभाव :

हिन्दू धर्म अवतारवादी हैं । हिन्दू लोग ईश्वर के जन्म को अवतार मानते हैं । ईश्वर सर्वोपरि एक ही सत्तामात्र हैं । वह पुनः पुनः अवतार लेता है । अवतरित होना अर्थात् उतरना, ऊपर से आकर जन्म लेना । एकेश्वरवादी मूलभूत एक ही ईश्वर की सत्ता अंगीकार करते हैं । वे कहते हैं कि एक ही ईश्वर पुनः पुनः आकर जन्म लेता है जिसे वे अवतार कहते हैं । प्रश्न उठता है कि ईश्वर पुनः पुनः क्यों आता है, पुनः पुनः क्यों जन्म लेता है ? जन्म लेने का प्रयोजन भगवद्गीता में इस प्रकार बताया गया है :-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥४/७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥४/८॥

भगवद् गीता में चतुर्थ अध्याय के इन श्लोकों में भगवान के आदिर्भाव का काल और प्रयोजन बताते हुए श्री कृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'हे अर्जुन' जब जब धर्म की ग्लानि-हानि होती है, हास होता है और अधर्म का अभ्युत्थान - उदय होता है, तब तब मैं अपनी आत्मा का सृजन करता हूँ, पुनः जन्म धारण करता हूँ और सन्मार्ग पर चलने वाले साधु-सन्तों की रक्षा हेतु तथा दुष्टों दुर्जनों का विनाश करने हेतु व साथ ही साथ धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में - प्रत्येक युग में जन्म धारण करता हूँ । इस प्रकार विपर्यय काल में मुझे जन्म लेना पड़ता है और तभी सारी व्यवस्था भली प्रकार चल सकती है।

इस प्रकार अवतारवाद में एक ही सर्वोपरि सत्तावाला ईश्वर पुनः पुनः आकर जन्म लेता है । हिन्दुओं में ऐसे २४ अवतार माने हैं, मुसलमानों ने २४ पैगंबर माने हैं और जैनों ने २४ तीर्थंकर माने हैं, परन्तु २४ की संख्या की सादृश्यता से सब कुछ एक ही स्वरूप में मानने की भूल न कर बैठें । सभी एक ही हैं - ऐसा कहीं न मान लें । जैन धर्म में २४ तीर्थंकर भिन्न भिन्न और स्वतंत्र हैं । एक ही परमात्मा ने पुनः पुनः जन्म नहीं लिया है अतः सभी अलग अलग हैं, स्वतंत्र हैं । आत्मा, शरीर, काल, देश, क्षेत्र, नाम आदि सभी प्रकार से वे स्वतंत्र हैं, जब कि हिन्दू धर्म में एक ही ब्रह्मा सर्वोपरि ईश्वर हैं । वही बार बार जन्म लेता है, फिर भी चौबीसों अवतारों को एक के ही भव-जन्म अथवा भव-परम्परा के रूप में माना नहीं गया है ।

जैन दर्शनकारों ने २४ तीर्थंकरों को स्वतन्त्र माना है । अर्थात् चौबीसों की भव परम्परा, जीवदल आदि भिन्न भिन्न माने हैं । आदिनाथ भ. के तेरह भव, पार्श्वनाथ भ. के दस भव, शातिनाथ भ. के १२ भव, नेमिनाथ भ. के ९ भव, महावीर स्वामी भ. के २७ भव माने हैं । अन्य अनेक भगवानों के ३-३ भव हुए हैं । यह एक-एक जीव की इतनी भव की संख्या है । इतने भवों में अंतिम भव में वे तीर्थंकर बनकर मोक्ष में गए । हिन्दू धर्म में ऐसा नहीं कहा गया है कि राम का अवतार तीसरा जन्म है और चौथा भव श्री कृष्ण का है तथा पाँचवा भव वराह का है और उन्हीं का छठा भव मत्स्यावतार है - आदि आदि । इस प्रकार अवतारवाद को भव संख्या में नहीं गिनाया या समाविष्ट नहीं किया गया है ।

जैन अवतारवाद को क्यों नहीं मानते ?

आईये ! हम इस प्रश्न का भी विचार कर लें कि जैन दर्शनकार अवतारवाद की प्रक्रिया क्यों नहीं मानते है ? क्यों मानें ? उत्तर स्पष्ट है कि एक बार जो परमात्मा सभी प्रकार के कर्मों का क्षय करके सर्वथा कर्मबंधन से मुक्त होकर मोक्ष में चले जाएँ और भवोपग्राही कर्मों का क्षय होने के पश्चात् सर्वथा अजर अमर निरंजन-निराकार बन गए हों, सर्वथा राग-द्वेष रहित वीतराग - सर्वज्ञ बन गए हो और परम मुक्तिधाम में सदैव के लिये स्थिर हो गए हो, उन्हें पुनः इस संसार में लौटने का प्रयोजन ही क्या रहता है ? वे फिर वापस क्यों आने लगे ? जैन दर्शन कर्मवादी है । अतः सर्व कर्मक्षय होने के पश्चात् सर्वकर्ममुक्त परमात्मा को बिना कर्म के संसार में लौटने का रहता ही नहीं, जन्म लेना ही नहीं इसी का नाम मोक्ष

हैं, मुक्ति है। मुक्ति अर्थात् संसार से मुक्ति, कर्म से मुक्ति, भवपरंपरा से मुक्ति, जन्म-मरण से मुक्ति। जैन धर्म में ईश्वर सृष्टि का कर्ता अथवा रचयिता ही नहीं, तब फिर वह सृष्टि की चिंता भला क्यों करें ? उसे सृष्टि की सम्हाल लेने के लिये लौटने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है अर्थात् बिल्कुल नहीं रहती है। नमुत्पुण सूत्र में - 'अपुनरावृत्ति' शब्द से निषेध किया है।

दूसरी ओर जगत कर्तृत्ववादी सृष्टि को ईश्वर द्वारा रचित मानते हैं। उनकी मान्यता है कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया है। जिस प्रकार माता बालक को जन्म देती है फिर उस बच्चे की देख-रेख, लालन-पालन आदि करने का सारा दायित्व माता-पिता का होता है, अतः माता-पिता उस बच्चे के सुख-दुख में अपना उत्तरदायित्व भली प्रकार निभाते हैं, उसका पालन-पोषण करते हैं, इसी प्रकार इस सृष्टि का निर्माता जो ऊपर वाला ईश्वर है, उसकी यह जीव-सृष्टि पुत्रवत् प्रजा हुई और ईश्वर प्रजापति - प्रजापिता हुए। जब ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया है तो सृष्टि का पालन करना, ध्यान रखना, सुख-दुःख में सम्हाल रखना आदि माता-पिता की भाँति ईश्वर की ही संपूर्ण जिम्मेदारी होती है। इसीलिये भगवद् गीता के उपर्युक्त श्लोक में कहा गया है कि जब जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का उदय होता है, दुर्जनों की वृद्धि होती है और सज्जन - साधु - संतो को पीड़ा पहुँचाई जाती है, तब तब ईश्वर अवतार लेते हैं, पुनः पुनः युग-युग में उनका पुनरागमन होता है और वे सृष्टि की व्यवस्था यथावत् कर जाते हैं। यह ईश्वर का कार्य है, यह उसका उत्तरदायित्व है।

एक बार बच्चे को जन्म देने के पश्चात् आजीवन उसकी देख-रेख रखना माता का कर्तव्य है इसी प्रकार प्रजा के पिता के रूप में ईश्वर का उत्तरदायित्व सृष्टि की देखरेख रखना हो जाता है। एक बार सृष्टि बनाई, उसका निर्माण किया कि स्थायी रूप से ईश्वर का उत्तरदायित्व हो जाता है, उसके सिर पर चिंता बनी रहती है अतः वह पुनः पुनः जन्म लेता है।

सृष्टि में अव्यवस्था होती ही क्यों है ?

श्रीमद् भगवद् गीता के उपर्युक्त श्लोक की समीक्षा करने पर इसमें से अनेक प्रश्न उत्पन्न होते हैं। जो ईश्वर सृष्टि बनाता है, जिसकी इच्छानुसार यह सृष्टि का रचयिता ईश्वर नियंता - नियामक बन बैठा है। उस सृष्टि में अव्यवस्था कैसे ? क्या ऐसी अव्यवस्था से ईश्वर अनभिज्ञ रहता है अथवा क्या उसके जानते

हुए भी ऐसी अव्यवस्था हो जाती है ? और यदि होती है तो क्या ऐसी अव्यवस्था ईश्वर की इच्छा से होती है अथवा बिना उसकी इच्छा के ही हो जाती है । यदि ईश्वर की इच्छा के विपरीत होती हो तब तो उसकी इच्छा के विरुद्ध बहुत कुछ होता है - यह पक्ष स्वीकार करना होगा और यदि स्वीकार न करते हैं तो फिर ईश्वर की उपस्थिति में ही उसके द्वारा निर्मित सृष्टि में अव्यवस्था क्यों हुई ? ऐसी अव्यवस्था की संभावना कैसे हो सकती है ?

सृष्टि के पीछे तीन की व्यवस्था है । ब्रह्मा रचयिता है, विष्णु पालनकर्ता है और शंकर-महेश संहारक है । तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा ने जिस सृष्टि की रचना की, क्या विष्णु ने उसका भली प्रकार पालन नहीं किया ? क्या उसका ध्यान न रखा जिसके कारण अव्यवस्था हो गई ? और जब अधर्म का उदय हुआ तथा धर्म की हानि हुई तब ईश्वर कहाँ था ? तब क्या ईश्वर किसी अन्य कार्य में व्यस्त था ? यदि आप इस बात से सहमत हैं कि ईश्वर किसी अन्य कार्य में व्यस्त था अतः दूसरी ओर अव्यवस्था हो गई, तो इस बात से सिद्ध होगा कि ईश्वर में एक साथ अनेक कार्य करने की सामर्थ्यता का अभाव है । तब फिर सर्व शक्तिमान सामर्थ्य के बिना ईश्वरत्व कैसे संभव हो सकता है ? और यदि एक साथ अनेक कार्य करने का सामर्थ्य ईश्वर में हो तो ऐसी अव्यवस्था कैसे हो जाती है ? अथवा हुई ? क्या तब ईश्वर निद्राधीन था । यदि निद्रा आदि की बात बीच में लाएंगे तो सामान्य मानव-पशु पक्षी के ये तो लक्षण हुए । ईश्वर जब जब निद्रावश होता होगा, तब तब अव्यवस्था का उद्भव होता होगा, उससे तो बहतर यही है कि ईश्वर निद्राधीन ही क्यों बने ? न वह निद्राधीन होगा न अव्यवस्था होगी और न उस अव्यवस्था के निवारण हेतु उसे बार बार जन्म लेना पड़ेगा । ईश्वर ऐसा होने ही क्यों देता है ? जब ईश्वर सतत इस सृष्टि का संचालन करता है, उसकी इच्छानुसार ही वृक्ष का पत्ता भी हिलता है, वायु-प्रवाह होता है, पानी को गति मिलती है आदि बहुत सी व्यवस्था ईश्वर के हाथ में है, वह चलाता है तब व्यवस्था में सजग रहे हुए ईश्वर की उपस्थिति में ही अव्यवस्था क्यों ? सर्वथा विपरीत स्थिति क्यों पैदा हो जाती है ? क्या समझा जाए ?

ईश्वर किस लिये अवतार लेता है ?

श्रीमद् भागवद्गीता के श्लोकों में दो प्रकार की ध्वनि निकलती हैं। धर्म की हानि और अधर्म का उदय आदि सृष्टि में जो अव्यवस्था होती है उसके

निवारण हेतु ईश्वर जन्म लेता है अथवा मूलरूप से सृष्टि के निर्माणार्थ ईश्वर जन्म लेता है ? इन दोनों में से क्या समझा जाए ? इन श्लोकों के शब्द तो स्पष्ट ही कहते हैं कि - 'संभवामि युगे युगे..' युग् - युग् में अर्थात् प्रत्येक युग में मैं होता हूँ । ईश्वर सभी युगों में अवतार लेता है तो प्रश्न होता है कि अब तक कितने युग बीत गए ? काल की अनादिता की दृष्टि से तो अनंत युग बीत गए और तब तो अनंत अवतार भी हुए ही होंगे न ? या फिर अवतार २४ ही हुए हैं ? अथवा इन २४ अवतारों को ही सभी युगों का नियंता कहा गया है ? इस हिसाब से दो प्रकार के ईश्वर अलग अलग मानने पड़ेंगे । एक ईश्वर तो मूल सृष्टि के निर्माता और दूसरे युग-युग में उत्पन्न अव्यवस्था का निवारण करने वाले ।

इस प्रकार तो अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार की अव्यवस्थादि है तो इन सब के लिये कितने प्रकार के ईश्वरों को हमें स्वीकार करने पड़ेंगे ? इस प्रकार से तो अनवस्था हो जाएगी और अनवस्था तो सिद्धान्त में दोष है । फिर तो ईश्वरों की संख्या सीमित ही नहीं रहेगी ? हमें अनंत ईश्वरों की बात स्वीकार करनी पड़ेगी । चारों ओर से दोषों की भरमार आएगी और तब तो निर्माता ईश्वर की असमर्थता प्रकट होगी और व्यवस्था बिठाने वाले ईश्वर का सामर्थ्य प्रकट हो जाएगा । तो क्या हमें एक ईश्वर का सामर्थ्य और दूसरे ईश्वर की असमर्थता स्वीकार करनी होगी ? सृष्टि के निर्माता असमर्थ कहलाएँगे कि जिसके कारण सृष्टि में विकृति - विकार आदि दोष आए और अव्यवस्था फैली ? जबकि ईश्वर तो नित्य है तब फिर उस नित्य ईश्वर की उपस्थिति में ऐसी अव्यवस्था क्यों हुई ?

यदि उसकी असमर्थता के कारण अव्यवस्था हुई तब तो फिर भले ही दूसरे ईश्वर अवतार ले ले, क्या उसमें सामर्थ्य थोड़े ही आ जाएगा ? यब बात सर्वथा असंभव है । यदि साथ ही असामर्थ्य का पक्ष स्वीकार करते हो तब तो सामर्थ्यविहीन ईश्वरत्व ही कैसा ? फिर तो सामान्य मानव में भी असामर्थ्यता तो है ही फिर उसे भी ईश्वर मानना पड़े और ऐसा करते हैं तो अतिव्याप्ति दोष आ जाता है । ऐसी स्थिति में क्या किया जाए ?

‘इच्छा’ क्या है ? इसकी विचारणा :

‘इच्छा’ शब्द के अन्य अनेक पर्यायवाची नाम हैं, उन्हें पहले देखते हैं । ‘अभिधान चिंतामणी कोषकार श्री हेमचंद्राचार्य महाराज ‘इच्छा’ के पर्यायवाची शब्द इस प्रकार बताते हैं - लोभस्तृष्णालिप्सा वशः स्पृहा ! कांक्षाऽऽशंसा

गर्धवांछाऽऽशेच्छेहातृड् मनोरथा : ॥ कामोऽभिलाषो.. ” । लोभ, तृष्णा, लिप्सा, वशः स्पुहा कांक्षा (आकांक्षा), गृद्धि, वांछा, आशा, ईहा, तृषा, मनोरथ, काम और अभिलाषा, (रुचि और ईप्सा, कामना) आदि शब्द इच्छावाची - इच्छा के पर्यायवाची के रूप में संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते हैं और मूल संस्कृत भाषा के अनेक शब्द गुजराती - मराठी, हिन्दी आदि भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं । उपरोक्त इन सभी शब्दों को देखने से हमारे ध्यान में आ जाएगा कि 'इच्छा' कितने अर्थों में हैं ? अब ईश्वर को होने वाली इच्छा का विचार करें । ईश्वर में सृष्टि उत्पन्न करने की अथवा विनाश करने की जो इच्छाएँ जागृत होती है - वे इच्छाएँ कैसी हैं ? शास्त्र सिद्धान्त में इस सूत्र के द्वारा स्पष्ट करते हैं कि - 'एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय' अर्थात् ब्रह्माजी को इच्छा हुई कि "मैं अकेला हूँ, अतः बहुरूप में बनूँ" अनेक रूपों में बनूँ और प्रजोत्पत्ति करूँ, प्रजा का निर्माण करूँ और इसी इच्छा से ब्रह्माजी ने सृष्टि की रचना की ।

क्या इच्छा में राग की गंध नहीं आती ?

यहाँ प्रश्न होगा कि ब्रह्माजी आराम से निश्चिन्त होकर सोए हुए थे अथवा बैठे थे.... और अचानक उन्हें ऐसी इच्छा क्यों हो गई ? ऐसी इच्छा उत्पन्न होने के पीछे क्या कोई कारण था ? मानो कि इच्छा उत्पन्न हो गई, परन्तु क्या ब्रह्माजी अपनी उस इच्छा पर नियंत्रण नहीं रख सकते थे ? इच्छा उत्पन्न होने से पूर्व भी रोक सकते थे, और पूर्व में ऐसा नहीं कर सके तो इच्छा उत्पन्न होने के पश्चात् भी तदनुसार कार्य करने से- वे बच सकते थे । क्योंकि योगीजनों, तपस्वियों, साधकों की साधना शक्ति इतनी प्रबल होती है कि वे अपनी इच्छाओं का निरोध कर सकते हैं । इच्छा उत्पन्न होने से पूर्व तथा पश्चात् दोनों प्रकार से नियंत्रित किया जा सकता है । इसे ही योगियों का सामर्थ्य कहते हैं ।

इच्छा का उत्पन्न होना तो सामान्य बात है । सामान्य जन अथवा क्षुद्र जीव को भी इच्छा उत्पन्न हो सकती है । इच्छा की उत्पत्ति का मूल घर मन है । मन के बिना इच्छा उत्पन्न नहीं होती। मन भी माध्यम या साधन मात्र है, परन्तु वास्तव में तो आत्मा में रहा हुआ मोहनीय कर्म, तद्जन्य राग-द्वेषादि भाव और इस प्रकार मन में से इच्छा जागृत होती है, परन्तु जिस प्रकार आकाश में दिखाई पड़ने वाले धुएँ का मूल तो लगी हुई अग्नि तक होता है, उसी प्रकार मन में उत्पन्न होकर बाहर प्रकट होती इच्छा का मूल तो आत्मा पर लगे हुए मोहनीय कर्मजन्य राग

द्वेष के भाव ही है। इसीलिये इच्छा रागप्रधान भी होती है तथा द्वेषप्रधान भी होती है। राग से भरी हुई इच्छा में राग-लोभ आकांक्षा, मोहादि ममत्वभावों की गंध होगी और इससे विपरीत द्वेष प्रधान इच्छा में विपरीत भाव रहेंगे। राग से विपरीत भाव द्वेष में रहता है। इसीलिये इच्छा को राग के घर में गिनाते हुए पूज्य वाचकमुख्य उमास्वाति महाराज प्रशमरति प्रकरण ग्रंथ में स्पष्ट रूप से निर्देश करते हुए फरमाते हैं कि

इच्छा, मूर्छा कामः स्नेहो, गार्घ्यं ममत्वमभिनन्दः ।

अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥

इच्छा, मूर्छा, काम स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द और अभिलाषा आदि अनेक राग के पर्यायवाची शब्द हैं, राग के ही रूपांतरित अन्य पर्याय हैं अर्थात् रागवाची भाव हैं - शब्द हैं। इतने अनेक शब्दों से राग भावना प्रकट होती है। इससे स्पष्ट होता है कि इच्छा में राग की तीव्र गंध है। रागादि भावविहीन इच्छा संभव नहीं है।

इच्छाविहीन राग और रागविहीन इच्छाओं की पल भर कल्पना तो करके देखो। बड़ी ही सूक्ष्मतापूर्वक देखेंगे तो पता चलेगा कि क्या राग-द्वेषादि भावविहीन इच्छा का स्वरूप हो सकता है? क्या कोई ऐसी भी इच्छा संभव है जिसमें राग द्वेष का नाम मात्र न हो? यहाँ ब्रह्माजी को सृष्टि निर्माण करने की इच्छा हुई है, तो क्या इस इच्छा में सृष्टि के प्रति राग या ममत्व भाव नहीं दिखता है मेरी सृष्टि है मेरे द्वारा निर्मित सृष्टि - ये भाव "मदीया इयं सृष्टि" वाक्य से प्रकट होता है। सृष्टि के प्रति ममत्व - राग भाव स्पष्ट रूप से झलकता है। ममत्व मोह के बिना संभव नहीं। ममत्व सदैव मोहजनित होता है। मोह आत्मा पर आवरण है कर्म बंध स्वरूप में है। जिस प्रकार गाड़ी के पहिये होते हैं उसी प्रकार मोहनीय कर्म के इच्छा, ममत्व - राग - द्वेष रूपी पहिये होते हैं, जिस पर मोहनीय कर्म की गाड़ी चलती है। यदि सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने ही किया हो तो प्रश्न उठता है कि सर्व प्रथम ईश्वर को सृष्टि - निर्माण करने की ही इच्छा क्यों हुई? अन्य कोई इच्छा क्यों न हुई। इच्छा हुई ही क्यों? मोहनीय कर्मावरण से जो रहित हो, मुक्त हो, उसमें इच्छा की संभव ही नहीं है।

इच्छा से स्वरूप विकृति :

व्यक्ति स्वयं निरर्थक इच्छा का पोषण करता है और उसके मोहनीय कर्म के

आधार पर राग-द्वेषयुक्त इच्छाओं का पहाड खड़ा हो जाता है । व्यक्ति उन इच्छाओं की तृप्ति हेतु पुनः राग-द्वेष करता है, जिससे पुनः इच्छा होती है, पुनः राग-द्वेष का जन्म ! इस प्रकार राग-द्वेष और इच्छा की अंडे और मुर्गी की तरह परम्परा चलती ही रहती है और फिर तो इस परम्परा का अंत ही नहीं आता है। इसीलिये ज्ञानी महापुरुषों ने हमें इच्छा - निरोध करने की सलाह दी है । इच्छा का निरोध करने में सामर्थ्य आवश्यक हैं । क्या ब्रह्माजी में इतना भी सामर्थ्य न था कि वे स्वेच्छाधीन हो गए ? क्या समझा जाए ? ईश्वर के आधीन इच्छा या इच्छा के आधीन ईश्वर ? कौन किसके आधीन है । जो इच्छा के आधीन होता है वह उसका दास कहलाता है, वह परतंत्र - पराधीन कहलाता है । जो इच्छा से मुक्त होता है वही सच्चे अर्थ में स्वतंत्र कहलाता है । क्या ईश्वर को इच्छा के आधीन माना जाए ? क्योंकि सभी बातों में जहाँ कोई भी कारण न मिले तब ईश्वरेच्छा को ही अंतिम कारण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण क्यों किया ? तो कहते हैं बस, ईश्वर की इच्छा । ईश्वर सृष्टि का महाप्रलय क्यों करता है ? बस, ईश्वरेच्छा, जगत में जीवों को सुखी - दुःखी क्यों करता है ? बस, ईश्वर की इच्छा । यह समुद्र, ऐसी पृथ्वी, ऐसे पर्वत - यह सब बनाने का कारण ? बस, ईश्वर की इच्छा और ये कीड़े - मकोड़े आदि क्यों बनाए ? आदि ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर में ईश्वर की इच्छा के सिवाय कोई अन्य उत्तर नहीं है ।

इच्छा वैपरीत्य :

ईश्वर में इच्छा की विपरीतता भी दिखाई पड़ती है । जो ईश्वर सृष्टि का निर्माण करता है - अर्थात् बनाने और पालन पोषण करने के पीछे रागेच्छा का हाथ होता है, परन्तु वही ईश्वर जब सृष्टि का प्रलय-संहार करता है तब क्या समझा जाय ? प्रलय-संहार द्वेष बुद्धि के बिना संभव नहीं है । क्या स्वनिर्मित सृष्टि स्वयं को ही पसंद नहीं ? अथवा क्या रचना में कोई त्रुटि रह गई ? अथवा क्या यह रचना ईश्वर की इच्छानुसार नहीं हुई ? क्या जैसा सोचा था- जैसी इच्छा थी उससे विपरीत हो गया ? क्या कारण हुआ कि यही निर्माता ईश्वर सृष्टि का संहार - महाप्रलयभी करने लगा ?

एक माता बालक को जन्म देती है । बच्चे के जन्म से पूर्व माता की संतान प्राप्ति की इच्छा प्रबल होती है । संतान-प्राप्ति की इच्छा क्यों ? किस लिये ? तो इसका उत्तर स्पष्ट है कि राग से परिपूर्ण इस संसार में संतान का मोह, संतान

ममत्व प्रबल हैं । अतः इस तीव्र राग को माताराल नहीं सकती, और माता बनने की उसकी इच्छा तीव्रतर होती जाती हैं । यह इच्छा इतनी प्रबल होती हैं कि स्त्री संतान के लिये व्यग्र बन जाती है - उसे चैन नहीं पड़ती । उसका मन व्यथित रहता है । सतत यह संतान के ही स्वप्नगगन में विहार करती रहती है । वह जानती है कि प्रसव पीड़ा मृत्यु तुल्य पीड़ा होती है, फिर भी क्षणिक दुःख की अपेक्षा वह जीवनभर के संतान-सुख को अधिक प्रधानता देती है और माता बनने का स्वप्न साकार होने पर ही संतुष्ट होती है ।

क्या ईश्वर के संबंध में भी ऐसा ही समझें ? क्या सृष्टि निर्माण करने की इच्छा के पीछे सृष्टि के प्रति राग-जीव-सृष्टि के प्रति असीम राग है, मोह है या ममत्व है, जिसके वशीभूत होकर ईश्वर अपनी इच्छा का निर्माण करता है ? यदि यह बात मान लेते हैं तब तो ईश्वर को रागी मानना पड़ेगा । फिर जब यही ईश्वर सृष्टि का प्रलय करता है तब उसे द्वेषी भी मानना होगा, क्यों कि द्वेषवृत्ति के बिना प्रलय संहार अथवा सर्वनाश संभव ही नहीं हो सकता । इस प्रकार मानने लगे तब तो ईश्वर का स्वरूप ही राग-द्वेष युक्त लगेगा और जिस प्रकार कीचड़ में लिप्त शुद्ध स्वर्ण के आभूषण भी शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार शुद्ध ईश्वर की शोभा होती है जो वीतरागी - वीतद्वेषी अर्थात् राग-द्वेष रहित हो । यदि राग-द्वेष युक्त को भी ईश्वर मानने की तैयारी हो तब तो इस जगत में लाखों-करोड़ों बल्कि लगभग सभी मनुष्य राग-द्वेषयुक्त ही हैं, फिर उन्हें ईश्वर क्यों नहीं मानते हैं ?

यदि इच्छा विहीन ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकते हो तो इच्छा की उत्पत्ति भी राग-द्वेष के बिना संभव नहीं है । अतः ईश्वर में यदि इच्छा को मानना ही पड़े तब तो रागद्वेषयुक्त इच्छा को ही मानना पड़ेगा और ऐसा करेंगे तो ईश्वर रागी और द्वेषी स्वतः सिद्ध हो जाएगा ।

क्या एक माता जो इतने प्रबल मोह-ममत्व से संतान को जन्म देती है, मोह-ममत्व से ही संतान का पालन-पोषण करती है और उसके हृदय में अपनी संतान के प्रति इतना प्रगाढ़ वात्सल्य - स्नेहभाव होता है कि उसके स्तन में दूध बन जाता है, स्तन से दूध प्रवाहित होता है, जिसका पान करके वह बच्चा बड़ा होता है, यही स्थिति पशु-पक्षियों की भी है, क्या वे अपनी संतान के प्राण ले लेते हैं, क्या स्वजन्य सन्तान को नष्ट कर डालते हैं ? नहीं, बिल्कुल नहीं ! तो क्या ईश्वर जो इतनी प्रबल इच्छा से सृष्टि का निर्माण करता है वही उस सृष्टि का प्रलय करेगा - संहार करेगा ? क्या ऐसा करना उसे शोभा देता है ? क्या यह संभव भी

है । सृष्टि के सभी जीव प्रलय के समय एकत्रित होकर अनुनय-विनय करे कि हे भगवन् ! आप तो हमारे जन्मदाता हैं, आपने ही हमें बनाया है तो अब हमें सुखपूर्वक जीने दो । हमें मारकर क्यों प्रलय मचा रहे हो ? इस प्रकार गिड़गिड़ाकर विनम्र निवेदन करे, क्योंकि एक बात तो स्पष्ट दीपकवत् है कि 'सर्वे जीवावी इच्छन्त' जीविउं न मरिज्जिउं । सभी प्राणी जीना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता, क्यों कि जीने में सुख है, जब कि मरने में दुःख है । प्राणीमात्र का यह सहज स्वभाव है कि सुख की इच्छा करना, दुःख की इच्छा कोई नहीं करता है । जीने में सुख है अतः सभी जीना चाहते हैं । एक छोटी सी चींटी अथवा छोटे से छोटा कीटाणु भी मरने की इच्छा नहीं रखता है तो अन्य की तो बात ही कहाँ ?

अब जहाँ एक ओर सृष्टि के सभी जीव जीवित रहने के इच्छुक हैं वहाँ दूसरी ओर एक मात्र ईश्वर ही प्रलयकाल में सब को मारने का इच्छुक है - ऐसा क्यों ? क्या यही मातृवत् भाव रखने वाला - मातृतुल्य ईश्वर ही जीवों का प्रलय करेगा ? और यदि वह ऐसा करता है तो क्या उसे हम ईश्वर कहें ? क्या माता ही स्वजनित बालक की हत्या करेगी ? उसे खा जाएगी ? क्या यह संभव है ? और यदि खाती है तो क्या वह माता कहलाने की अधिकारिणी है ? अथवा उसे नरपिशाचिनी नरभक्षी राक्षसी कहेंगे ? क्या समझा जाए ? संहार लीला में सृष्टि का प्रलय करने वाले ईश्वर को मातृवत् समझे कि नरभक्षी राक्षस कहें ? उसे किस नाम से जानें इसका आप स्वयं निर्णय करें ।

निर्मित वस्तु को बिगाड़कर पुनः निर्माण करना क्या मूर्खता भरा कार्य नहीं है ?

पर्वत का चूर्ण बनाकर पुनः पर्वत बनाना, कुआँ बन्द करके पुनः कुआँ बनाना, बनाई हुई सृष्टि को नष्ट करके पुनः उसकी रचना करने में कौन सी समझदारी है ? यह सृष्टि जो बनाई है उसका महाप्रलय के समय संहार करके पुनः दूसरे युग में नवीन सृष्टि की रचना करने का निरर्थक परिश्रम क्यों ?

भले ही नव निर्माण करो परन्तु कब ? पुराने में भूल हो, कोई न्यूनता हो, गलत अथवा विपरीत हो गया हो तब तो अवश्य नव-रचना करो, यह उचित भी कहलाएगा । परन्तु जब नई सृष्टि बनाते हैं तो पुनः जैसी पुरानी सृष्टि थी वैसी ही बनाते हैं । वेद में देख देखकर जैसा वेद में उल्लेख है वैसी ही बनाते हैं, जैसी भूतकाल में थी वैसी ही बनाते हैं तो इस में कोई औचित्य नहीं लगता । यह बात

वेद में स्पष्ट रूप से लिखी हुई है कि - धाता यथा पूर्वमकल्पयत्' अर्थात् विधाता - ब्रह्मा पूर्व में जैसी सृष्टि थी वैसी ही बनाता है । नवीन सुधार - वृद्धि जैसा कुछ भी नहीं करता है - तब जो पूर्व में सृष्टि थी उसमें क्या बुराई थी कि महा प्रलय करना पड़ा ? पुनः नवीन सृष्टि का सर्जन करने की इच्छा से महाप्रलय किया ? इसका उत्तर क्या है ? इसके उत्तर में मात्र 'ईश्वर की इच्छा' ऐसे शब्द कहकर बुद्धि के द्वार ही बंदकर दिये गए हैं । यह उत्तर तो सर्वत्र प्रयुक्त होने वाला अंतिम ब्रह्मास्त्र तुल्य है । बस 'ईश्वर की इच्छा' इस उत्तर के आगे किसी का कुछ भी बस नहीं चलता । बार बार सृष्टि बनाना और बार बार महाप्रलय नष्ट करना उसका संहार करना - ऐसी उल्टी गंगा प्रवाहित करने का प्रयत्न करने की अपेक्षा तो सम्पूर्ण सृष्टि को जैनों की तरह अनादि - अनंत ही मान लेने में अधिक बुद्धिमत्ता हैं । ऐसा करने से ईश्वर पर लगने वाले मिथ्यारोपों का भी निवारण हो जाएगा और ईश्वर का स्वरूप भी स्वच्छ, स्पष्ट और शुद्ध हो जाएगा । चारों ओर से एक नहीं बल्कि अनेक लाभ हैं । तब फिर ईश्वरेच्छा को हम क्यों कारण मानें ? परन्तु यह तर्क स्वीकार करें तो ईश्वर का कर्तव्य सृष्टि कर्तव्यपन मिट जाता है - इसका क्या किया जाए ? गधा भले ही लात मारता रहे परन्तु गधे की पूँछ जो पकड़ रखी है, उसे छोड़ने की बात न करना, कहाँ तक न्यायसंगत है ? कितने दोषों से भरी हुई यह नीति है ?

इच्छा का धर : मन या शरीर ?

इच्छा की उत्पत्ति कहाँ से होती है । मन में से या शरीर में से ? सम्पूर्ण जगत स्पष्टरूप से जानता है कि इच्छा की उत्पत्ति मन में से होती है - शरीर में से नहीं । शरीर और मन दोनों भिन्न भिन्न तत्त्व हैं । मन में से उत्पन्न होने वाली इच्छा विचारात्मक है या नहीं ? क्यों कि मन में तो विचार -तरंगों की उत्पत्ति होती है, अतः मन विचारों का केन्द्र है । अब जब मन की सत्ता सिद्ध हो जाती है तो इस मन का स्वरूप कैसा है ? मन स्थूल है या सूक्ष्म ? ग्राह्य है अथवा अग्राह्य ? दृश्य है अथवा अदृश्य ? स्पष्ट है अथवा अस्पष्ट ? और सूक्ष्म मन इच्छा का जनक है तो वह मन शरीर में रहता है कि बिना शरीर से भी ? यदि बिना शरीर का मन रहता हो तो अशरीरी अवस्था तो मुक्तावस्था कहलाती है । अशरीरी आत्मा को ही मुक्त कहते हैं । अब वह आत्मा कहाँ से मन रखेगी ? रख नहीं सकती । अतः मन तो संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणिओं को ही प्राप्त होता है । उसी

मनवाले समनस्क कहलाते हैं । जीवात्मा विचार करने के लिये मनोवर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का समूह ग्रहण करके उसे मनरूप में परिणत कर फिर विचार करता है और उन विचारों में इच्छा तत्त्व रहा हुआ है । वे इच्छा राग या द्वेष से युक्त होती हैं । मन से इच्छा या इच्छा से मन ? क्या मन के बिना इच्छा होती है या इच्छा के बिना मन रह पाता है ? मन के लिये इच्छा की आवश्यकता रहती है अथवा इच्छा के लिये मन की आवश्यकता रहती है । उत्तर कुछ भी हो पर एक बात तो स्पष्ट ही है कि इच्छा का घर मन है । मन जनक है । तब फिर मन खराब? या इच्छा खराब ? मन अच्छा या इच्छा अच्छी? नहीं अच्छे बुरे का अर्थ भी अन्योन्याश्रित है ।

मन तो जड़ तत्त्व है । तलवार अच्छी या बुरी ? नहीं, तलवार के रूप में वस्तु न अच्छी है न बुरी है । परन्तु उसका उपयोग अच्छा है या बुरा ? क्यों कि वस्तु जड़ है, हम उसका उपयोग कैसा करते हैं - अच्छा या बुरा ? उसी पर अच्छे - बुरे का आधार है ।

इसी प्रकार मन भी जड़ है अतः मन अच्छा या बुरा ? नहीं, मन न अच्छा है न बुरा, परन्तु हम अपने मन का उपयोग कैसा करते हैं उस पर आधार रहता है। यदि मन का उपयोग अच्छे विचारों, उत्तम इच्छाओं में करते हैं तो मन श्रेष्ठ है और यदि उसी मन का उपयोग कुविचारों, बुरी इच्छाओं के लिये करते हैं तो वह निकृष्टतम है । विचारो पर हम नियंत्रण कर नहीं पाते और दोष मन को देते हैं तो बुरी बात है ।

पाप किसमें ? इच्छा करने में अथवा इच्छापूर्ण करने के प्रयत्न में ?

यह प्रश्न भी विचित्र हैं । पाप या दोष किसमें लगता है ? इच्छा करने में या कृतइच्छा की पूर्ति हेतु श्रम में ? इच्छा होनेमें तो देर नहीं लगती । एक सेकंड समय में मानवअगणित इच्छाएं कर बैठता है । मैं सम्पूर्ण विश्व का प्रमुख बन जाऊँ, यह इच्छा तो हो गई । इसमें कितनी सेकंड लगी ? मन त्वरित गति वाला है, अतः आँख के पलक झपकने मात्र में वह इच्छा तो कर डालता है, परन्तु उस इच्छा को पूर्ण करने में कितना समय लगेगा ? सम्पूर्ण विश्व का राष्ट्रपति बनने में तो सम्भवतः सारा जीवन ही बीत जाएगा इसमें समय का कोई हिसाब नहीं, क्यों कि जितना विशाल कार्यक्षेत्र उतना ही अधिक समय लगेगा ।

कारण यह है कि मन तो इच्छा करता है, मन कार्य नहीं करता । कार्य

करना तो शरीर का धर्म है । यह विभाजन निश्चित ही है । इसमें परिवर्तन संभव नहीं है । शरीर स्थूल है अतः वह सूक्ष्म मन की गति से कार्य नहीं कर सकता । अतः काल तो बहुत लम्बा लगेगा । अब इतने लंबे काल तक इच्छा को पूर्ण करने का प्रयत्न होगा तो उसमें कितने दोष लगेंगे ? क्योंकि कार्यक्षेत्र में कितने जीवों की हिंसा होगी ? कितनों को दुःखी किया जाएगा । कितने झूठ-चोरी के पाप होंगे? क्या इसमें पाप का हिसाब रह पाएगा । नहीं; इच्छा करने में तो एक प्रतिशत पाप लगेगा, परन्तु इच्छा की पूर्ति में हजार प्रतिशत पाप-दोष लगेंगे, अतः दोनों में से पहले किसे नियंत्रित किया जाए ? क्या इच्छा करना हम बंद कर सकेंगे? मन पर इतना नियंत्रण हम कहाँ ला पाए हैं कि इच्छा पर नियंत्रण कर सकें । इच्छा करनी ही नहीं, परन्तु अपनी बात तो कहां करनी ? ब्रह्माजी भी अपनी सृष्टि निर्माण करने की इच्छा को न रोक सके तो जनसामान्य की क्या बिसात ? अतः इच्छाएँ तो होती ही रहेगी । मात्र हमें यह दृढ निश्चय करना है कि उत्पन्न इच्छा के अनुसार कार्य करने की आवश्यकता नहीं है । इच्छा भले ही हो जाए परन्तु उसे पूर्ण करने के लिये जूझने की आवश्यकता नहीं है । इच्छा का पाप तो मन में ही रहेगा । उसे मात्र इच्छा करने वाला स्वयं ही जानेगा, जब कि इच्छा की पूर्ति हेतु - इच्छानुसार कार्य करने के लिये परिश्रम करने वाले का पाप तो सम्पूर्ण विश्व जानेगा । काया द्वारा कृत पाप जगत देख सकता है, जान सकता है, परन्तु मन से इच्छाओं के रूप में किया जाने वाला पाप, विचारों के रूप में बद्ध पाप तो मात्र महाज्ञानीजनों के सिवाय कौन जान सकता है ? ऐसे महाज्ञानी तो मनः पर्यवज्ञानी या केवलज्ञानी ही होते हैं । अतः ऐसे महाज्ञानियों ने ही धर्मोपदेश देते समय बताया है कि.... इच्छानुसार तुरन्त आचरण करने की आवश्यकता नहीं है; इच्छानुसार तुरन्त ही प्रवृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है । पहले इच्छा का निर्णय करो । वह योग्य, उचित और अच्छी है अथवा अयोग्य, अनुचित और बुरी है, संभव है या असंभव है ? तत्पश्चात् प्रवृत्ति करो - अन्यथा जगत कहेगा कि कार्य बिना विचारे किया गया है, नासमझपूर्वक किया गया है ।

क्या इच्छा मात्र से कार्य हो जाता है ?

जगत का नियम या व्यवहार क्या है ? क्या कोई भी कार्य इच्छा करने मात्र से हो जाता है ? या कार्य करने से कार्य होता है । उदाहरणार्थ - कुम्हार मन में घड़े बनाने की इच्छा करे तो क्या इच्छा मात्र से घड़ा हो जाता है ? या कुम्हार को

मिट्टी, पानी, दंड, चक्र आदि उपकरण लेने पड़ते हैं ? मिट्टी को छानना पड़ता है, फिर पानी में भिगोकर पिंड बनाना पड़ता है और फिर उस पिंड को चाक (चक्र) पर घुमाते घुमाते आकार देना पड़ता है, फिर पुनः पुनः पानी का उपयोग करना पड़ता है और चक्र को घुमाने के लिये बार बार दंड का उपयोग भी करना पड़ता है । तदुपरान्त उस कच्ची मिट्टी के घड़े को धूप में सुखाना पड़ता है और अंत में अग्नि के संयोग से उसे तपाकर परिपक्व करना पड़ता है, तब कहीं घड़े का निर्माण होता है । यह प्रक्रिया तो सारा विश्व जानता है परन्तु मन में इच्छा करने मात्र से पलभर में निर्माण कैसे हो जाता है ? क्या कोई जादू है, कोई चमत्कार है या दैवि शक्ति है ?

इच्छा मन में होती है, परन्तु तदनुरूप शरीर से कार्य तो करना पड़े या नहीं? कुम्हार के मन में घड़ा बनाने की इच्छा तो हुई, इच्छा करने मात्र से घड़ा बन जाता हो तो चक्र, दंड, मिट्टी, पानी आदि पदार्थ लेकर शरीर से उसकी रचना करने बैठने की आवश्यकता ही न रहे ! परन्तु इच्छा के विषयों को क्रियान्वित करने के लिये शरीर से पुद्गल पदार्थों को लेकर मिट्टी के घड़े की तरह पदार्थ बनाने पर शरीर बनता है ।

ईश्वर की सृष्टि रचना के विषय में वेद-वेदांत पुराणादि ग्रंथों में इच्छा के विषय में लिखते हुए बताते हैं कि 'संकल्पमात्रमिदं जगत्' संकल्प मात्रेण संजाता इमा सृष्टि । यह सारी सृष्टि ईश्वर की संकल्प शक्ति से उत्पन्न हुई है । ईश्वर ने मात्र इच्छा रूप संकल्प किया और क्षण भर में सारी सृष्टि बनती गई । इस्लाम धर्म में कुरानादि में भी ऐसा ही कहा गया है कि जिस प्रकार जादूगर पल भर में अथवा शब्दोच्चार काल मात्र में वस्तुओं का निर्माण कर डालता है और प्रदर्शन करता है, उसी प्रकार अल्लाह ने यह सारा विश्व जादूगर की भाँति एक शब्दोच्चार करके पल भर में बना दिया है ।

यद्यपि यह बात गले नहीं उतरती फिर भी क्षण भर के लिये मान लें तो अपने मन में दूसरे प्रश्न उपस्थित होंगे । क्या जादूगर जो कुछ भी करता है वह वास्तविक ही होता है ? अथवा वास्तव में करता है या पूर्व में जो बनाया हुआ है वही बताता है ? अथवा बनाता है या मात्र हाथ चालाकी या नजर कैद की तरह दिखाता है । जादूगर की लीला को सत्य मानने के लिये जगत के चतुर लोग भी सहमत नहीं होते हैं और बात भी सही है - स्वयं जादूगर ही कहते हैं कि हम तो मात्र हाथ की चालाकी करते रहते हैं, अर्धदृष्टि बचाकर ध्यान विकेंद्रित कर

नजर कैद की स्थिति उत्पन्न करके अपनी क्रीडा दिखाते हैं । वास्तव में हम कुछ भी बनाते नहीं है । यदि बनाना आता होता तब तो हम कागज के नोट अथवा सिक्के तो क्या बल्कि नित्य स्वर्ण-मुद्राएँ और हीरे, मोती, रत्न ही न बनाते । फिर हम अपने जादू से भोजन भी बना लेते । फिर तो हमें अपनी उदरपूर्ति हेतु ये खेल या यह धंदा करने की भी आवश्यकता न रहती । अतः यह तो एक प्रकार का लोक रंजन - मनोरंजन है । इसमें वास्तविकता नहीं होती । वास्तविकता इतनी ही है कि हम कुछ भी बनाते नहीं है ।

इस निर्णय पर ईश्वर को भी क्या जादूगर कहें । क्या जादूगर की भाँति ही ईश्वर भी सृष्टि रचना करता है यदि हाँ में उत्तर स्वीकार करते हैं तो क्या यह सम्पूर्ण जगत सत् रूप में है या असत् रूप में है ? भ्रम रूप हैं अथवा कल्पना मात्र है ? संशयात्मक संदेहास्पद है या स्वप्नवत् है या फिर वह वास्तविक है या कुछ भी नहीं है ? जिस प्रकार जादूगर कुछ भी नहीं बनाता, मात्र बनी हुई वस्तुओं को ही दिखाने में हाथ की चालाकी करता है, उसी प्रकार क्या ईश्वर भी स्वयं कुछ भी नहीं बनाता, मात्र जगत के जीवों को संसार का स्वरूप दिखाने के लिये क्या मात्र हाथ की चालाकी ही करता है ? क्या यह पक्ष स्वीकार करें ? पल भर के लिये मान भी लें तो फिर सृष्टि के आरंभ काल में जब मानव का अस्तित्व ही न था तब ईश्वर ने सर्व प्रथम पंचमहाभूत की भौतिक सृष्टि की रचना की, तब सामने देखने वाला कौन था ? जिसे दिखाने के लिये अथवा मनोरंजन करने के लिये ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है । ईश्वर को किसका मनोरंजन करवाना था ? सामने जब कोई था ही नहीं तो फिर नजरकैद किसे करना था ?

सृष्टि सत् में से या असत् में से ? किस में से बनी हैं ?

चलो, कोई भी देखने वाला न था फिर भी मान लो कि ईश्वर ने स्वमनोरंजन हेतु सृष्टि की रचना की है... तो फिर ईश्वर ने क्या क्या बनाया और किसमें से बनाया ? क्या असत् में से सत् बनाया ? या सत् में से असत् बनाया ? कैसे बनाया ? इस प्रकार चार भेद होते हैं । इन चारों में से ईश्वर द्वारा निर्मित सृष्टि किस में से बनाई है ? जैसे एक कुम्हार मिट्टी पानी लेकर घड़ा बनाता है, भले ही उस कुम्हार की चाहे जितनी इच्छा अथवा चाहे जितना ज्ञान हो पर यदि मिट्टी, पानी, चक्र, दंड आदि पदार्थ न हो तो कारण होते हुए भी कुम्हार घड़ा कैसे बना सकता है ? ऐसा करना उसके लिये संभव ही नहीं है । निमित्त भी

कारण होता है और उत्पाद कारण भी होता हैं । यदि मान लें कि कारणभूत-उपयोगी-सहयोगी वस्तुएँ ही न हों, मूलभूत वस्तु ही न हो तो उसके बिना संकल्पित अथवा इच्छित वस्तु कोई भी कैसे बना सकता है ? यदि ऐसा संभव होता, तो कुम्हार सोने - चाँदी का घड़ा भी बना सकता, हीरे-मोती का घड़ा भी बना सका होता, परन्तु ऐसा तो कभी भी देखा नहीं । कुम्हार मिट्टी के घड़े ही क्यों बनाता है ? क्यों वि. मिट्टी - पदार्थ ही मूल में उपलब्ध है, अतः वह मिट्टी का ही घड़ा बना सकता है अन्य का नहीं ।

इसी प्रकार सृष्टि बनाने के लिये ईश्वर के पास क्या क्या उपलब्ध था ? उसने किन किन पदार्थों की सहायता लेकर यह सृष्टि बनाई ? किस में से क्या बनाया ? किस में से पानी बनाया, वायु, अग्नि, पृथ्वी, आकाशादि किस में से बनाए ? आकाश किस पदार्थ में से बनाया ? क्या आकाश का निर्माण शक्य हैं?... अथवा क्या आकाश को पदार्थों के संयोग से बनाया हैं ? आकाश के संबंध में जैसे यह प्रश्न उठता है उसी प्रकार जगत के लाखों करोड़ों पदार्थ-वस्तुओं के विषय में भी ऐसा ही प्रश्न उठता है । मूलभूत कारण के रूप में रहने वाले पदार्थ कौन से और उन में से बनते हैं, अथवा उनके संयोगात्मक स्वरूप में निर्मित होते पदार्थ कौन से ? किसके संयोग से पृथ्वी-पर्वत बनाए ? किस में से बनाए ? अथवा किसके संयोग से - किसके योग-संयोग अथवा मिश्रण में से बनाए ? किस प्रकार अनन्त वस्तुएँ बनाई ?

भौतिक जड़ सृष्टि किस में से बनाई और चेतन जीव सृष्टि किस में से बनाई ? मानव का यह शरीर, पशु - पक्षी आदि सब किसमें से बनाए ? क्या इन्हें सत् में से बनाया या असत्में से बनाया ? जिस प्रकार दो गेंसे - हाइड्रोजन और ओक्सीजन मिलाने से तीसरा पदार्थ पानी बनता है । वर्तमान विज्ञान की यह शोध हैं । इसका सूत्र formula है $H_2O = \text{water}$ । यहाँ दोनों गेंसे पहले से मूल रूप से सत् पदार्थ रूप में है और उनमें से जो पानी बना वह भी सत् रूप ही है, असत् रूप में कुछ भी नहीं है । जादूगर भी बनाता है तो विद्यमान पदार्थों की सहायता लेकर ही काम करता है । दियासलाई - माचिस - कागज लेकर एक डिब्बे में रखता है, फिर नीचे का दूसरा डिब्बा खोलकर दो कबूतर उड़ाता है । वास्तव में कागज जलाने से और उसे डिब्बे में रखने से कबूतर नहीं बने, परन्तु नीचे के दूसरे डिब्बे में पहले से कबूतर भर रखे थे , जिसे खोलकर कबूतर उड़ाकर दिखा दिये । बस, यह तो मात्र हाथ-चालाकी है । यह हाथ चालाकी और कार्य की तीव्र

गति बच्चों को प्रसन्न कर देती है और अंत में जादूगर लोगों के पास जैसे एकत्रित करके चला जाता है ।

क्या ईश्वर भी ऐसा ही करता है या फिर कुम्हार की तरह करता है ? पानी - मिट्टी आदि सत् पदार्थ हैं । उन में से कुम्हार घटादि सत् पदार्थ ही बनाता है और यदि ईश्वर भी सत् में से सत् पदार्थ बनाता तब फिर जिसमें से यह बनाता है वे मूलतः सत् पदार्थ कौन से हैं जिनमें से उसने अन्य पदार्थ बनाए ? आकाश किस में से बनाया । पृथ्वी-पानी-अग्नि वायु-आकाशादि पदार्थ किस में से तथा किसकी सहायता से बनाए ? इसका कुछ भी पता नहीं, और मानो कि हो, उन पदार्थों को मान भी लें, तब भी किसे मानना ? वेद को मानें क्या ? वेदादि में भी कहीं नहीं लिखा कि इनके संयोजन से अथवा सहायता से ईश्वर ने आकाश बनाया । कहीं भी इस संबंध में उल्लेख नहीं मिलता ।

अथवा तो फिर क्या असत् में से सत् का निर्माण किया ? क्या शून्य में से सृष्टि का सर्जन किया ? कुछ भी न था और उसमें से क्या यह सारी सृष्टि बनाई है ? तो यह बात कैसे मानें ? तब तो कुम्हार भी सोने-चाँदी, हीरे, रत्नादि के घड़ों का सृजन कर सकेगा ?

सर्जन शक्ति से अथवा इच्छा मात्र से ?

ईश्वर को सर्व शक्तिमान बताया है तो वह सर्व शक्तिमान ईश्वर अपनी शक्ति का उपयोग करके सृष्टि की रचना करता है अथवा इच्छा मात्र से ? इच्छा और शक्ति दोनों में बड़ा अन्तर है । इच्छा से तो सृष्टि रचना असंभव लगती है, परन्तु शक्ति से सृष्टि-रचना शक्य-संभव लगती है । बात समझ में आने जैसी हैं, परन्तु प्रश्न यह होता है कि कौन सी शक्ति, कैसी शक्ति ईश्वर किस प्रकार उपयोग में लेता है और किस प्रकार सृष्टि बनाता है ? मानसिक शक्ति, संकल्प शक्ति शारीरिक शक्ति या जादुई शक्ति, यांत्रिक शक्ति, तांत्रिक शक्ति या मांत्रिकशक्ति या फिर सहायक देव शक्ति आदि नाना प्रकार की शक्तियाँ है - इनमें से ईश्वर किस शक्ति से सृष्टि की रचना करता है ? क्या सृष्टि की रचना में यांत्रिक, तांत्रिक या मांत्रिक शक्ति का उपयोग होता है ? नहीं, - उस समय जब कुछ भी न था, तब यंत्र - तंत्र भी कहाँ थे ? यंत्र-तंत्र हो तो यांत्रिक या तांत्रिक शक्तियाँ होगी-अन्यथा कहाँ से होगी ? इसी प्रकार सहायक देव और मानव सृष्टि के आरंभ काल में एक भी नहीं थे क्यों कि जब तक स्वयं ईश्वर ने उनकी रचना ही नहीं की थी तब तक

वे देवता मनुष्य आदि थे ही नहीं तब उनकी सहायक शक्ति का उपयोग करने का तो प्रश्न ही कहाँ रहा ?

मात्रिक शक्ति का विचार करे तो ख्याल आएगा कि मंत्र भी संबंधित देव की शक्ति से अधिष्ठित होते हैं । मंत्रों के देवता होते हैं । मंत्र स्मरण के आधार पर वे अधिष्ठित देव ही इच्छित कार्य सम्पादित करते हैं, परन्तु जब देवताओं को अभी तक ईश्वर ने बनाया ही नहीं था, देव-सृष्टि का निर्माण ही नहीं किया था तो देववाची मंत्र कहाँ थे ? और यदि कहें कि मंत्र वेद में थे तो वे मंत्र देवाधिष्ठित न थे, क्यों कि जब तक देवताओं को ही ईश्वर ने बनाया न था तो देवता मंत्र स्मरणपूर्वक कहाँ से कार्य करने लगे ?

जो ईश्वर समर्थ है, वही जब देवताओं को बनाता है तब उसे देवताओं की सहायता लेने की आवश्यकता ही कहाँ पड़ी ? देवताओं की सहायता लेकर फिर दूसरी सृष्टि बनाता है - ऐसा यदि मानें तो ईश्वर की क्षमता में - उसकी सामर्थ्यता में न्यूनता आएगी । क्या ईश्वर की शक्ति कम थी जो उसे दैविक शक्ति की सहायता लेनी पड़ी ?

रामायण में वर्णन है कि राम-रावण युद्ध में रावण जैसे को मारने के लिये भगवान जैसे राम को देवताओं की सहायता लेनी पड़ी थी । कई देवतागण राम की सहायतार्थ आए थे । भले ही वानर रूप लिया हो, वानर के रूप में भी साथ रहकर राम की ओर से लड़े हों परन्तु इतने अधिक देवताओं ने एकत्रित होकर रावण को पराजित किया था - यह बात दीपक के समान स्पष्ट है । मानो कदाचित् देवतागण राम की सहायता करने न आए होते तो भगवान जैसे भगवान राम का क्या होता ? और फिर यदि भगवान पराजित हुए होते तो रावण की शक्ति अधिक मानी जाती - जगत वर्षों तक क्या कहता ?

दूसरी ओर ये भी प्रश्न खड़े होते हैं कि भगवान ईश्वर की ही यह सब लीला है - ईश्वर की इच्छा से ही यह सब होता है, ईश्वर की इच्छा के विपरीत कुछ भी नहीं हो सकता, ईश्वर की इच्छा न हो तो एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, तो क्या सीतापहरण की घटना भी ईश्वरेच्छापूर्वक ही हुई थी या ईश्वरेच्छा के विरुद्ध थी ? दूसरी ओर जगत् कर्तृत्ववादी धर्मों में एक ही ईश्वर - ब्रह्मा को ही आत्मा माना गया है । उनके मतानुसार एक ही आत्मा है । इसीलिये वे एकात्मवादी हैं । उनके अनुसार अन्य सभी प्राणिओं में कोई आत्मा नहीं है । अन्य सभी प्राणिओं में उसी ब्रह्माजी का प्रतिबिम्ब पडता है ? जैसे हजारों थालियाँ अथवा दर्पण नीचे रखे हों

और एक सूर्य का हजारों में समान प्रतिबिम्ब पड़ता है और हजारों सूर्य दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार एक ही ईश्वर एक ही ब्रह्मा की एक ही आत्मा का प्रतिबिम्ब जगत् के सभी जीवों में पड़ता है। बस, इसीलिये सम्पूर्ण जगत् में मात्र एक ही आत्मा हैं, दूसरी कोई नहीं।

“जीवो ममैवांशो नाऽपर” : जीव मेरा ही अंशमात्र है, भिन्न नहीं - इस प्रकार जीव को ईश्वर का ही अंश माना है, उसे भिन्न इकाई नहीं माना। अर्थात् सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह हजारों लाखों प्राणिओं में ईश्वर का प्रतिबिम्ब पड़ता है, कोई भिन्न भिन्न आत्माएँ नहीं है, मात्र आभास होता है।

यदि ऐसा सिद्धान्त है तब फिर राम-रावण के भेद का प्रश्न ही कहां उपस्थित होता है ? अद्वैतवादिओं की मान्यतानुसार तो यह सब कुछ होना ही न चाहिये, परन्तु भगवान राम रावण के साथ युद्ध करने गए, लड़े और जीते, रावण को मारा - ये सभी बातें जग विख्यात हैं। इनका शास्त्र सूत्र - सिद्धान्त के साथ मेल कैसे बिठया जाए ? तो फिर भगवान राम ने किसका संहार किया ? दूसरी ओर इस सीतापहरण की घटना को भी ईश्वरेच्छा का सुंदर कार्य ही मानें या ईश्वरेच्छा से परे काम मानें ? “इतो व्याघ्रः ततो तटी” एक ओर सिंह और दूसरी ओर नदी जैसी हमारी स्थिति हो जाती है। क्या करें किधर जाएँ ? इधर जाते हैं तो सिंह खा जाता है और उधर जाते हैं तो नदीमें डूब जाने की स्थिति है। कठिनाई दोनों ओर है। ईश्वरेच्छानुसार ही सीतापहरण का कार्य मानें तो ऐसा काम कैसे मानें ? भगवान राम जो स्वयं ईश्वर हैं, उन्हीं की पत्नि सीता का अपहरण भगवान-ईश्वर राम की ही इच्छानुसार हुआ-क्या हमें यही मानना पड़ेगा ? और फिर राम-रावण के मध्य जो युद्ध हुआ क्या वह भी ईश्वरेच्छा के अनुकूल ही माना जाए ? इतना ही नहीं बल्कि रावण मरा अर्थात् ईश्वर का स्वयं का ही अंश-जीव मर गया क्या ऐसा मानें ? हजारों प्रश्न खड़े होते हैं तब क्या मानें ? किसे सत्य समझें ? क्या इसे भी ईश्वर की लीला का ऐश्वर्य प्रदान कर ढाल के नीचे ढक दें ?

यदि जीव इस ईश्वर का ही अंश है, भिन्न स्वतंत्र इकाई नहीं है तो क्या ईश्वर स्वयं ही अपने अंश को समाप्त करता है ? और अभिन्न रूप से रहने वाले इस अंश को समाप्त करता है ? और अभिन्न रूप से रहने वाले इस अंश को मारने पर क्या मूल ईश्वर भी जीवित रहता है या मर जाता है ? भगवान राम देह छोड़कर चले गए तो जगत् के अन्य सभी जीव कैसे जीवित रहे ? वे भी सभी मर

जाने चाहिये थे । यदि सूर्य में कंपन होता है तो हजारों थालियों में पड़े हुए प्रतिबिंबों में भी एक साथ कम्पन प्रतिबिम्बित होता है, उसी तरह ईश्वर में जो कुछ भी होता है, तदनुसार जगत के सभी जीवों में भी होना चाहिये ।

एक जीव मानें तो कैसे चलेगा ?...

इस अखिल ब्रह्मांड में मात्र एक ही जीव-ईश्वर को माना जाए और अन्य सभी में जीवत्व ही नहीं, अन्य कोई जीव ही नहीं, उपाधि-भेद-प्रतिबिंब मात्र रूप में भासमान होता है - ऐसा माने तो जगत के सभी जीवों में एक समय एक साथ समान क्रिया ही होनी चाहिए । ईश्वर में जो कुछ भी हो, उसी समय सभी जीवों में भी समान रूप से एक साथ होना चाहिये । यदि ईश्वर नींद करता है तो सभी को एक साथ निद्राधीन होना चाहिये, और ईश्वर जागे तब सभी को एक साथ जागना चाहिये । फिर कोई जागे और कोई नींद करे - ऐसा कैसे होता है ? किसी को सुख तो किसी को दुःख-ऐसा करे-ऐसा कैसे होता है ? किसी को सुख तो किसी को दुःख - ऐसा भिन्न भिन्न प्रकार से क्यों ? नरक में सभी दुःख वेदना और पीड़ा सहन करते हैं और स्वर्ग में सभी सुख का आनंद लें - ऐसा क्यों होता है ? यहां एक जीव की अंगुली कटने पर सभी जीवों की अंगुलिया कटनी चाहिये पर ऐसा कुछ भी नहीं होता ।

अनंत आत्माएँ हैं - इस पक्ष को मान लो :-

अतः यदि अनन्तात्माएँ हैं - इस पक्ष को मान लो तो ऐसी कोई समस्या ही खड़ी नहीं होगी । सत्य स्वरूप यह है कि जगत में अनन्त आत्माएँ हैं । आत्मा कहो या जीव कहो - बात एक ही है । जीव-आत्मा-चेतन ये सभी पर्यायवाची नाम हैं । संसार में एक मात्र ईश्वर को ही मूल आत्मा मानकर सब में उसका प्रतिबिंब मानना और अन्य सभी जीवों को ईश्वर का अंश रूप मानने की अपेक्षा तो अधिक सरल सत्य यह है कि अन्य सभी अनन्त जीव स्वतंत्र हैं । सबकी अपनी-अपनी आत्मा स्वतंत्र है । प्रत्येक शरीर में जीव हैं । प्राणधारी जीव स्वयं स्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों के परिपक्व होने पर तदनुसार सुख-दुख भोगता है नरक के जीव भी अपने ही अशुभ पाप कर्मों के फलस्वरूप दुःख की दारुण वेदना भुगतते हैं और शुभ पुण्यकर्म के योग से जो जीव स्वर्ग की गति प्राप्त कर सके हैं वे सभी क्षेत्र के योग्य सुख भोगते हैं । ये अनन्त जीव ८४ लाख जीव योनियों में जन्म धारण

करते हैं, जीवन यापन करते हैं और स्व-स्व कर्मानुसार सुख-दुःख भुगतते हैं । इतना सरल सीधा सत्य स्वीकार कर लिया जाय तो कहीं भी आपत्ति नहीं आती और ईश्वर का अंश, ईश्वर की इच्छा, अथवा एक ही जीवात्मा आदि दोषयुक्त विचारधाराओं को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

एक ही समय में एक साथ ईश्वर की कितनी इच्छाएँ ?

जगत में जीवसृष्टि अनंतानंत है । अनंत जीव प्रति समय सुख दुःख भुगतते हैं । अब यदि सभी को एक मात्र ईश्वर की इच्छा के साथ जोड़ देंगे और ईश्वरेच्छा के बिना कोई भी सुख-दुःख आदि कुछ भी पा ही न सके; जगत् में इश्वरेच्छा के बिना कुछ भी होना असंभव है... ऐसी बातें करें तो एक प्रश्न यह भी होता है कि ईश्वर की इच्छाएँ क्रमिक होती हैं या एक साथ ही सभी हो जाती हैं ? कौन सा पक्ष सत्य समझें । क्योंकि जगत में अनंत जीव हैं । अनंतों की प्रवृत्तियाँ अनंत प्रकार की हैं । अनंत जीवों के कार्य भिन्न हैं, विचार भिन्न भिन्न हैं। एक समान स्थिति एक ही सादृश्यता तो इस दृश्य जगत में है नहीं, तो फिर जगत् के आधार पर तो ईश्वर की इच्छा एक ही समय एक साथ अनंत माननी पड़ेगी, क्यों कि ईश्वर की इच्छा के बिना तो कुछ भी होता ही नहीं, कोई भी कुछ भी कर ही नहीं सकता - तो क्या समझा जाए ?

क्या ईश्वर को मात्र इच्छा करने वाली मशीन जैसा मान लें ? और हाँ, मान भी लें तो प्रश्न उठता है कि ईश्वर जो अनंत इच्छाएँ करता है वे सभी एक समय - एक ही दिशा में - एक ही विषयवाली समान इच्छाएँ करता है या विपरीत भाववाली भी इच्छाएँ एक साथ करता है ? जिस समय ईश्वर सुख की इच्छा करता है क्या उसी समय वह दुःख की भी इच्छा करता है अथवा समयांतर से करता है ? यदि समयांतर से करता हो और क्रमशः एक के बाद दूसरी इच्छा करता हो तो इस जगत में एक ही समय अनंत जीवों में कोई सुख - तो कोई दुःख दोनों भाव भुगतते हैं, तो क्या समझा जाए ? इस प्रकार जीवों के अनंत विचित्र, विषय और विपरीत भावों के अनुरूप ईश्वर की इच्छा का सामञ्जस्य कैसे बिठाया जाए ? अन्य भी प्रश्न खड़े होंगे - जैसे ईश्वर की इच्छानुसार जगत में घटनाएँ घटती हैं अथवा जगत में जो घटनाएँ घटती हैं तदनुसार ईश्वर की इच्छाएँ होती हैं ?

इन दोनों में से कौन सा पक्ष सही लगता है । यदि जैसा जगत में होता है, तदनुसार ईश्वर की इच्छा होती हो तो पहले जगत में कार्य होना और फिर ईश्वर

की इच्छा होना? तो बाद में होने में ईश्वर का ईश्वरत्व कहाँ रहा ? इसमें तो ईश्वर के सामर्थ्य का हनन हो जाता है और ईश्वर इच्छा प्रथम कारण के रूप में सिद्ध नहीं होगी । यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तो ईश्वर में पहले इच्छाएँ जन्म लेती हैं और फिर तदनुसार जगत में कार्य होता है । तो यह बात भी ठीक नहीं उतरती, क्यों कि ईश्वर में एक साथ और एक ही समय परस्पर विपरीत ऐसी अनंत इच्छाएँ कैसे संभव हो सकती हैं ? कैसे उत्पन्न होती हैं ? क्या एक ही समय में ज्ञान के भी दो-चार सौ - हजार - लाख अथवा अनंत उपयोग संभव हो सकते हैं ? नहीं। एक समय एक ही उपयोग होता है । एक समय में एक साथ दो उपयोग संभव ही नहीं, होते भी नहीं, तो फिर एक ही समय एक साथ अनंत और वे भी परस्पर विपरीत इच्छाओं की बात को कैसे मानें ? यह बात संभव ही नहीं है । अतः ईश्वर में ऐसी असंभावनाएँ बलात् क्यों बिठाई जाएँ ?

कर्माधीन जगत स्वीकार करो :

ईश्वर में ये सभी अनंत इच्छाएँ एक साथ है या नहीं ? होती है या नहीं ? परन्तु जगत में अनंत जीवों की सुख दुःख की प्रवृत्तियाँ देखकर हम अनुमान से मान लेते हैं कि ईश्वर में इस विषय की इतनी इच्छाएँ हुई । तो पुनः जगत के कार्य देखकर हम अनुमान से मान लेते हैं कि ईश्वर में इस विषय की इतनी इच्छाएँ हुई। तो पुनः जगत के कार्य देखकर ईश्वर में इच्छा की सत्ता माननी पड़े । यह पक्ष स्वीकार करते हैं तो ईश्वरेच्छानुसार ही सब होता है - यह मत उड़ जाता है ।

इस प्रकार द्रविड प्राणायाम करने पर भी यदि दोष रह जाते हैं तो फिर ऐसे दोषयुक्त ईश्वरेच्छा के पक्ष को मानने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? इसके स्थान पर तो कर्म सत्ता को ही स्वीकार कर लें तो कितना सरल और सीधा पड़े? कर्म सत्ता को स्वीकार न करें तो ईश्वर को एक मात्र इच्छा करने वाला खिलौना या मशीन ही मानना पड़े ? बस, ईश्वर अर्थात् इच्छा और इच्छा अर्थात् ईश्वर, ऐसे दोनों पर्यायवाची नाम देकर एक ही मानना पड़ेगा और इस प्रकार यदि दोनों को एक ही स्वरूप में, अथवा एक दूसरे के पूरक मान लेंगे तो अन्य सभी जीवों में ईश्वर की आपत्ति आएगी, क्यों कि जहाँ जहाँ ईश्वर वहाँ वहाँ इच्छा स्वीकार करें या जहाँ जहाँ इच्छा वहाँ वहाँ ईश्वर । दोनों में से किसे स्वीकार करें ? जहाँ जहाँ इच्छा वहाँ वहाँ ईश्वर - इस पक्ष को स्वीकार करते हैं तो अन्य जो अनंत जीव हैं और उन सभी में इच्छा हैं तब तो उन सभी जीवों को ईश्वर ही मानना पड़ेगा ।

इच्छा होने से ईश्वर की भाँति सभी जीव ईश्वर है - ऐसा अनुमान का आकार होगा।

क्या यह मान्य है ? यहां पुनः ईश्वर को जगत कर्ता माननेवाले अपनी असहमति प्रकट करेंगे, क्यों कि इच्छा की लगाम तो ईश्वर के हाथ में से छूटनी नहीं चाहिये, ईश्वर के हाथ में से इच्छा की लगाम छूटकर जीव के हाथ में तो जानी ही नहीं चाहिये। फिर तो कल कोई भी जीव ईश्वर को कठपुतली बनाकर नचाने लगेगा। इसीलिये ईश्वर को जगतकर्ता मानने वालों ने इच्छा की लगाम तो ईश्वर के हाथ में ही रख छोड़ी है, अधिकार भाव से रखी है। बस, इच्छा का अधिकार इस जगत में एक मात्र ईश्वर को ही होता है, अन्य जीव तो कठपुतली की तरह खिलौने मात्र हैं। ईश्वर की इच्छानुसार उन पुतले - पुतलियों को क्रीडा करनी होती है, जीव कुछ भी नहीं करते, और कुछ कर सकने का उनमें सामर्थ्य भी नहीं है, वे तो ईश्वर की इच्छा का ही अनुपालन करते हैं। मानो, ईश्वर की इच्छा उनके लिये एक प्रकार की प्राण शक्ति है। घोड़ा या बैल स्वेच्छा से नहीं चलता - मालिक की लगाम से बँधा हुआ है। स्वामी की इच्छानुसार उन्हें चलना पड़ता है। यह दृष्टान्त देकर ईश्वर को जगतकर्ता मानने वाले बड़े ही हर्ष और उल्लास के साथ यह पक्ष स्वीकार करते हैं।

सब बात सही - परन्तु घोड़ा या बैल भी जब स्वेच्छानुसार भाग जाता है, गाड़ी या बैलगाड़ी भी जब खींच ले जाता है, अथवा हठपूर्वक बैठ जाता है और अनेक बार कोड़े का प्रहार करने पर भी नहीं चलता है, तब मालिक की इच्छा और कोड़े आदि का क्या हुआ ? उस समय हम क्या समझें ? क्या... उस समय मालिक की इच्छा ऐसी ही रही होगी ? नहीं, नहीं, मालिक तो उसे चलाने के लिये बड़ा ही संघर्ष कर रहा था, कई कोड़े भी मारे फिर भी वह नहीं चला तब क्या समझा जाए ? इसी प्रकार ईश्वर की इच्छा तो न ही फिर भी जब सीता का अपहरण हुआ - तब क्या समझें ? अथवा तो कह दो कि सीता के अपहरण की इच्छा भी ईश्वर की ही थी। उस कार्य पर भी ईश्वरेच्छा की मुद्रा लगाकर उसे भी ईश्वर की इच्छानुसार हुए कार्य के रूप में स्वीकार कर लो। ईश्वर ने ही रावण के मन में ऐसी इच्छा पैदा की होगी और फिर उसी ईश्वर ने युद्ध करवा कर रावण को मार डाला और अब अपहरण की इच्छा की बदल गई और सीता को वापस लाने की इच्छा हो गई अतः रावण को मारकर सीता को वापस ले आए। उस सीता को कुछ दिन राजमहल में रखकर धोबी के शब्दों पर श्रीराम ने वन में भेज

दिया । यहाँ क्या समझें । इसे श्रीराम-ईश्वर की इच्छा समझे या धोबी की इच्छा समझे ?

इस प्रकार इच्छा का तांडव कितना भयंकर हो गया है कि ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले एक मिनिट भी ईश्वर को इच्छारहित मानने के लिये तैयार ही नहीं । बस, इच्छा क्या गई, मानो प्राण चले गए । जैसे प्राण के बिना कोई जी नहीं सकता, उसी प्रकार इच्छाविहीन ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं रह सकता । अतः ईश्वर का अस्तित्व टिकाए रखने के लिये चाहे जैसी भी इच्छा को ठूस देनी पड़ती है । अतः इच्छा को मान लिया । नहीं, नहीं, धोबी की इच्छा नहीं । तो क्या धोबी के पास ईश्वर ने ही ऐसी इच्छा करवाई होगी ऐसा स्वीकार करोगे ? अन्तिम उत्तर है ईश्वर की लीला ।

तब तो इस जगत में पाप करने वाले, कुकर्म करने वाले सभी जीव यही कहेंगे कि हम तो कुछ भी करते ही नहीं है । यह सब ईश्वर की इच्छा के अनुसार ही होता है, ईश्वर हमारे पास करवाता है, प्रारंभ में ईश्वर की ऐसी इच्छा होती है, और फिर वह उसकी इच्छानुसार हमसे पापकर्म-कुकर्म करवाता है । यदि जगत के जीव ऐसा उत्तर देंगे तो ईश्वरवादी क्या कहेंगे । यदि वे इसे नकारेंगे और कहेंगे कि ऐसा पापमयकार्य ईश्वर की इच्छा के अनुसार नहीं होते, पाप करने में ईश्वर की कोई रुचि नहीं, पाप तो जीव स्वयं ही स्वेच्छा से करते हैं, मात्र शुभ कार्य-पुण्य कर्म करवाने में ही ईश्वर का हाथ होता है उसकी इच्छा होती है तो सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर की इच्छा के बिना भी कार्य होते हैं ।

अच्छा, तो अब यह देखना है कि संसार में पाप-कर्म अशुभ कार्य अधिक होते हैं अथवा पुण्यकर्म - शुभ कार्य अधिक होते हैं । क्या कहते हैं ? और यदि इच्छा मात्र से होते हैं - ऐसा स्वीकार करते हो तो कार्य होने की शक्ति इच्छा में हैं । कार्य का कारण इच्छा में है - ऐसा मानना पड़े और यदि इच्छा के कारण कार्य की सिद्धि होती हो, तो यह कारण तो जनसामान्य में भी विद्यमान है, सामान्य जीवों में भी इच्छा तो है ही, तब फिर भू भूधरादि कार्य क्यों नहीं होते हैं ?

परन्तु यदि जगत्कर्तृत्ववादी यहां स्वीकार करें तो अन्य जीवों को भी ईश्वर कहना पड़े और तब तो ईश्वर की सत्ता और इच्छा करने का अधिकार छिन जाए। अतः इच्छा की सत्ता ईश्वर में ही माननी पड़े, परन्तु यह पक्ष भी कहाँ रहा ? ईश्वर में भी इच्छा है, सामान्य मनुष्यों में भी इच्छा है, तब फिर इच्छा में अन्तर कहाँ हुआ ? अतः सृष्टिवादियों ने भेद किया कि ईश्वर की इच्छा सकर्मी इच्छा है और

सामान्य जीवों की इच्छा अकर्मी इच्छा है अर्थात् ईश्वर इच्छा करे तो कार्य होता है, और सामान्य जीव इच्छा करे तो तदनुकूल कार्य न भी हो। इस प्रकार भेद कर दिया।

जीव तो इसे भी स्वीकार करने के लिये तैयार हैं, क्योंकि बुरे अशुभ पापों की इच्छा का उत्तरदायित्व भी ईश्वर ने ही स्वीकार कर रखा है अर्थात् अशुभ बुरे मिथ्या पाप करवाने वाला, ईच्छा करने वाला भी ईश्वर ही है। जीव तो निर्दोष हैं। अच्छा हुआ जीव तो निर्दोष छूटे और ईश्वर के सिर दोष का बौज चढ़ा। अतः सामान्य जीवों के लिये तो प्रसन्न होने की बात हैं। जीव तो प्रसन्न होकर कह सकेंगे कि हमारे सिर कुछ नहीं। किसी खूनी को पूछोगे कि भाई ! तूने खून क्यों किया ? तो सीधा उत्तर देगा नहीं, नहीं, मैंने कुछ नहीं किया ? जो कुछ भी हुआ ईश्वरेच्छा से हुआ। ईश्वर ने मेरे पास यह कृत्य तो करवाया है। मैं क्या करूँ ? यदि मैं ईश्वर की इच्छानुसार अनुसरण नहीं करता हूँ तो ईश्वर की इच्छा का क्या होगा ? फिर उसकी इच्छा का पालन कौन करेगा ? अर्थात् सामान्य जीवों को ईश्वर पर दया आती है। ईश्वर की इच्छा भले ही अशुभ-पाप की क्यों न हो - तब भी जीव तो वह पाप करने की तत्परता दिखाते हैं।

यह तो उल्टी गंगा बहने लगी। ईश्वर जीवों पर दया करे इसके बजाय जीव ही ईश्वर पर दया सोचने लगे कि यदि हम ही अशुभ-पाप न करेंगे तो ईश्वरेच्छा का क्या होगा ? ईश्वर की इच्छा निरर्थक सिद्ध नहो अतः हमारे लिये पाप करना आवश्यक हो गया।

ईश्वर इच्छा ही कर सकता है, परंतु उस इच्छानुसार कार्य नहीं, अतः सामान्य जीवों के पास वह अपनी इच्छानुसार सब कुछ करवाता है, यह बात सिद्ध हो जाती है।

स्पष्ट दीपक जैसी बात है कि इस संसार में लाखों-करोड़ों वर्षों पहले और आज भी अशुभ पाप-कर्म ८० से ९० प्रतिशत अधिक होते आए हैं, तो क्या ये सभी काम ईश्वरेच्छा के बिना होते हैं ? फिर तो ईश्वर की इच्छानुसार क्या क्या होता है और कितना होता है ? क्या पृथ्वी, समुद्र, पर्वत, नदी आदि इतने ही कार्य ईश्वर की इच्छानुसार बनाये हुए माने। नहीं, नहीं, तब तो पुनः ईश्वर के हाथ में से लगाम छुट जाएगी - यह भी स्वीकार्य नहीं है। अतः पुनः सब कुछ ईश्वर की इच्छानुसार ही होता है इसी पक्ष को सच्चा मानते हैं। इच्छा तत्त्व रहने से ही ईश्वर का गौरव रहता है, महत्त्व है। ईश्वर की इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता - यह

बात एक बार स्वीकार कर ली गई है अतः अब इसे कैसे छोड़े ? भले ही गधे की पूँछ हाथ में आ जाने के बाद लात खाने पर भी नहीं छोड़ना मतलब नहीं है छोड़ना - ऐसी ही स्थिति हुई न ? पाप अथवा अशुभ कार्य करवाने की इच्छा भी ईश्वर में मानने के लिये ईश्वर को जगत्कर्ता मानने वाले ईश्वरवादी तैयार हैं परन्तु ईश्वर में से इच्छा तत्त्व निकालने हेतु तैयार नहीं हैं । कौन जाने क्यों इच्छा को रखने से ही ईश्वर का गौरव बढ़ता है ?

इच्छा पक्ष या शक्ति सामर्थ्य पक्ष ?

इच्छा तत्त्व मानने के पीछे कितने प्रश्न खड़े हो जाते हैं ? सैकड़ों प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर न होने पर भी इच्छा तत्त्व मानना ही है, चलो ठीक हैं - भले ही इच्छा तत्त्व को ईश्वर में मानो परन्तु इतना तो कहो कि ईश्वर संपूर्ण विश्व की उत्पत्ति इच्छा मात्र से करता है । क्या इच्छा करने मात्र से कार्य हो जाता है ? क्या इच्छा कार्य करवाने वाली शक्ति है या कार्य का विचार करवाना ही इसका काम है। यदि इच्छासे ही कार्य हो जाते हो, तब तो फिर सामान्य मनुष्य के भी इच्छानुसार कार्य हो जाने चाहिये । इच्छा महत्त्व की है । व्यक्ति भले ही सामान्य हो या ईश्वर हो, इच्छा में कहाँ अन्तर आता है । आपको तो इच्छा से ही प्रयोजन है न ? बस, तो फिर जैसी इच्छा ईश्वर करता है वैसे ही इच्छा अन्य सामान्य जीव करें तो कार्य होने चाहिये या नहीं ? इच्छा के स्वरूप में एक अक्षर का भी अन्तर न पड़ता हो तब तो काम होना चाहिये कि नहीं ? अथवा तो कह दो कि इच्छा करने मात्र से काम नहीं होता है । इच्छानुसार शक्ति का भी उपयोग करना पड़ता है । तो प्रश्न होता है कि ईश्वर ने इच्छा करने के बाद कौन सी शक्ति का उपयोग किया ? कितनी शक्ति काम में ली ? तब फिर ऐसा क्यों कहते हो कि संकल्प - - इच्छा मात्र से सृष्टि उत्पन्न होती है । तब यह भी कैसे मान लें कि ईश्वर ने इच्छा की और तदनुसार उसने स्वयं ही सृष्टि का निर्माण किया ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि ईश्वर भी स्वार्थी बनकर पक्षपात करता हो ? क्या समझा जाए ? ईश्वर अच्छा सुंदर कार्य तो वह स्वयं करता है, सृष्टि आदि निर्माण करने का कार्य - जिसमें यश की प्राप्ति होती है वह ईश्वर स्वयं करता है और जिस कार्य में अपयश प्राप्त होता है ऐसे कार्य अर्थात् बुरे पाप कार्य जीवों के पास करवाता है । ऐसी स्वार्थवृत्ति से तो ईश्वर का ईश्वरत्व कैसे टिक पाएगा ?

दूसरी ओर मानो कि आपका उपरोक्त उभय पक्ष मान भी लें तो ईश्वर में

सामर्थ्य दोनों ही धर्मों की सत्ता सिद्ध हो जाएगी । सृष्टि निर्माणादि शुभ कार्य करने का सामर्थ्य ईश्वर में है पर अशुभ पापादि कार्य करने का सामर्थ्य ईश्वरमें नहीं है क्यों कि ऐसे कार्य ईश्वर अन्य सामान्य जीवों के पास करवाता हैं । इस प्रकार असामर्थ्य धर्म भी ईश्वर में ही सिद्ध होगा । इस प्रकार ईश्वर परस्पर विरुद्ध उभय धर्मवान् धर्मी बना और जगत् में अशुभ-पापादि प्रवृत्ति अधिक चलती है उसके कर्ता सामान्य जीव हुए - क्यों ? पर तब तो जीवों में ही कर्तृत्वशक्ति आ जाएगी . ईश्वर काल विशेष के लिये अकर्ता सिद्ध हो जाएगा, क्यों कि सृष्टि का निर्माण कार्य तो निश्चित काल में ही हो जाता है ।

इच्छा और काल :

निर्माण का कुल काल कितना है ? कितने वर्षों या महिनों या दिनों का है? यह तो हमें पता नहीं है और वेदों में भी नहीं लिखा है कि ईश्वर को सृष्टि रचना में इतने वर्ष लग गए या इतने महीने या इतने दिन लग गए । ऐसा उल्लेख किसी भी वेद-वेदांत, स्मृति-पुराणादि में कहीं भी नहीं मिलता है । कहाँ से मिले ? ईश्वर ने शरीर धारण करके किन्हीं पदार्थों के योग-संयोग से सृष्टि बनाई हो तो काल लगे न ? परन्तु ईश्वर ने तो इच्छा मात्र में ही सृष्टि बनाई है । एक संकल्प किया और सृष्टि बन गई, फिर काल कहाँ लगा ? फिर भी काल सूक्ष्म है अतः कुछ काल तो लगा ही होगा न ? सृष्टि होने में कितना काल लगा - इसके उत्तर में कहते हैं कि जितना काल ईश्वर के इच्छा करने में लगा-संकल्प करने में कितना समय? मात्र एक सेकंड का ही तो काल लगता है। कदाचित् ईश्वर जैसे सामर्थ्यवान् को तो एक सेकंड भी पूरी न लगे, क्यों कि वह तो सर्व शक्ति सम्पन्न समर्थ है, फिर तो प्रश्न ही कहाँ रहा ? और वह भी ठीक ही है ..'एकोऽहं बहुस्यां प्रजायेय' मैं एक हूँ और बहुरूप में होऊँ प्रजा की उत्पत्ति करूँ - इतना एक वाक्य शब्दोच्चारपूर्वक बोलना हो तो २ सेकण्ड का समय भी लगे, परन्तु इच्छा में तो बोलने का होता ही कहाँ है ? इसमें तो मनोगत संकल्प मात्र ही तो करता है, तब फिर क्या इतनी इच्छा करने में जितना समय लगा उतने ही समय में क्या सृष्टि हो गई ? इच्छा तो एक वाक्य तक ही सीमित है ३-४ शब्दों तक परिमित हैं, परन्तु सृष्टि पृथ्वी, पर्वत, समुद्र, नदी, अनंत आकाश, हवा, पानी आदि - अनंत पदार्थों की है, अनंत पदार्थों से भरी पड़ी है, अत्यन्त विशाल अंतविहीन यह सृष्टि है, तो क्या इतना विशाल सृष्टि ईश्वर की इच्छा मात्र में एक सेकंड में निर्मित हो

गई ? क्या यह संभव है ? अब तो बुद्धि के द्वार बंद करके अंधश्रद्धापूर्वक हाँ में हाँ मिलाकर क्या इसे स्वीकार ही करे लें ?

कोई भी व्यक्ति इच्छा करे और फिर कार्य करे इन दोनों में कालांतर तो होता ही है - समय लगता ही है, काल की अपेक्षा के बिना कालके अभाव में कोई भी कार्य होता ही नहीं, तब ईश्वर के लिये यह शाश्वत नियम लागू क्यों नहीं पड़ता? ईश्वर के लिये यह नियम ताक पर क्यों चढ़ाया गया ? इस प्रकार इच्छा और कार्य एक समयावच्छेद करके मानने में अन्य प्रमाण कौनसे हैं ? आधारभूत कोई भी प्रमाण अभी तक नहीं मिला ।

ईश्वर की सादृश्यता :

जो इच्छा ईश्वर करता है वही इच्छा जीव करता है तो कार्य सिद्धि क्यों नहीं होती ? यदि सामान्य जीवों में भी इच्छानुसार कार्य सिद्धि और इच्छा के साथ ही कार्य - निष्पत्ति पाई जाती, इसे बार बार देखकर भूयोदर्शन करके प्रत्यक्ष किया होता तो ईश्वर में अनुमान भी कर सकते थे । जैसे रसोईघर में धूम्र और अग्नि में जन्म - जनक भाव और सहअस्तित्व-भूयोदर्शनरूपमें सैंकड़ों बार देखने में आता है, बाद में ही पर्वतादि पर धूँआ देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि अनुमान के लियें भूयोदर्शन के प्रत्यक्ष अनिवार्यता टाली नहीं जा सकती ।

इसी प्रकार ईश्वर में इच्छा मात्र में कार्य सिद्धि का अनुमान करने से पूर्व सामान्य जीवों में उसका भूयोदर्शन करना अनिवार्य है । यदि सामान्य जीवों में इच्छा करने मात्र से और इच्छा करने जितने समय मात्र में ही कार्य की निष्पत्ति दृष्टिगोचर हो, तो इस अनुमान के आधार पर हम ईश्वर में भी इच्छा मात्र से कार्य की सिद्धि मान सकते थे, परन्तु ऐसा भूयोदर्शन ईश्वरेतर किसी भी जीव में कहीं भी दिखाई नहीं पड़ता, सर्वत्र अभाव ही दिखाई देता है । इसलिये, लिंग - लिंगी ज्ञान भली प्रकार न हो, तो अनुमान कैसे हो ? अतः ईश्वर में इच्छा मात्र से अथवा इच्छा करने मात्र के समय में ही कार्य सिद्धि हो जाती है - यह बात निराधार सिद्ध होती है । यदि इच्छा में ऐसी शक्ति हो कि जिससे कार्य सिद्धि होती हो तब तो

नियम बनाया जा सकता था कि यंत्र यंत्र इच्छा शक्ति : तत्र तत्र कार्यसिद्धि ! जहाँ जहाँ इच्छा शक्ति होती है, वहाँ वहाँ कार्य सिद्धि होती है । यदि यह सिद्धान्त स्वीकार्य हो तब तो सामान्य जीवों में भी इच्छा शक्ति तो है ही, फिर उसी की कार्य सिद्धि क्यों नहीं दीखती ? ईश्वर जो इच्छा करता है वें ही शब्द वेद में लिखे हुए है उन्हीं शब्दों को पढ़कर आज हम भी इच्छा करें तो क्या इच्छा करने मात्र से ही सृष्टि का निर्माण कार्य हो जाएगा ? भले ही हमारी इच्छा से कार्य सिद्धि होने में अधिक समय लगे, काल का विलंब हो तब भी चलेगा । कालांतर में कार्य-सिद्धि होगी ही - ऐसा भी हमें कोई कहता हो तब भी सुंदर । परन्तु लाखों करोड़ों जीव असंख्य प्रकार की इच्छाएँ नित्य करते रहते हैं, परन्तु किसी भी एक भी इच्छाफलित नहीं होती । इच्छानुसार कार्य होते नहीं तो क्या समझा जाए होते हों तो ? तब तो इच्छा फलित होने वाले सभी ईश्वर हो जाएंगे ? क्या ईश्वर होना सरल है कि इच्छा करना आने के साथ ही ईश्वर होना संभव हो जाए ? नहीं कदापि नहीं यदि यह संभव होता तब तो लाखों करोड़ों ही नहीं बल्कि असंख्य जीव ईश्वर ही हो जाते और तब कितनी प्रकार की सृष्टि रचना होती ? क्यों कि सब की इच्छाएँ भिन्न भिन्न होने से सृष्टि भी भिन्न भिन्न होती पर ऐसा न हुआ है, न होगा ।

क्या इच्छा तपोबल से फलित होती है ?

इच्छा स्वयं ही फलित होती है अथवा तपोबल आदि से फलित होती है ? यदि इच्छा स्वयं ही फलित होती है यह पक्ष स्वीकार करते हो तो जगत में लाखों करोड़ों जीव असंख्य प्रकार की इच्छा करते हैं, जो सभी फलित हो जाती क्यों कि सबकी इच्छाएँ तो हैं ही । दूसरे पक्ष का विचार करें तो ईश्वर की इच्छा भी उनकी किसी विशिष्ट तप साधनाके आधार पर फलित होती है । ईश्वर का तपोबल बहुत ऊँचा है - ऐसा यदि उत्तर दिया जाए तो ईश्वर ने तप कब किया ? किस जन्म में उसने तप किया ? क्या सृष्टि की रचना करने के लिये जन्म लेने से पूर्व भव में उसने तप किया था ? तो फिर सृष्टि की रचना ही हुई न थी, जब कुछ भी न था, तब क्या ईश्वर ने जन्म लिया था और तप किया था यह कैसे संभव हो सकता है। तब तो तप करने के लिये ईश्वर ने किसी शरीर की रचना तो की ही होगी न ? या बिना शरीर के ही काम चला लिया ? यदि कहते हो कि शरीर धारण करके

किया था तो वह शरीर कैसा था। हमारे शरीर जैसा था या देवताओं के शरीर जैसा था, दैविक था या पंचभौतिक या पौद्गलिक आदि किस प्रकार का था ? यदि कहते हो कि हमारे शरीर जैसा ही ईश्वर का शरीर था तो ईश्वर को खान-पान कैसे संभव हो सकता है ? फिर उस ईश्वर ने कौन सा तप किया था ? कैसी साधना की थी ? कितने वर्षों तक की थी और किसकी साधना की थी ? और यदि ईश्वर भी दूसरे ईश्वर की साधना करे तो कितने ईश्वर मानें ? पुनः अनवस्था दोष लगेगा । तो क्या यह तपश्चर्या या साधना करने से कोई विशेष अदृष्ट निर्माण हुआ होगा ? जिसके फलस्वरूप दूसरे जन्म में ईश्वर इच्छा मात्र से सृष्टि की लीला कर सकता है ? अर्थात् यदि कहते हो कि अदृष्ट के आधार पर इच्छा फलित होती है तो अन्य जीव भी ऋषि-मुनि भी ऐसी तपश्चर्या या साधना करें तो उसका अदृष्ट निर्माण होना चाहिये या नहीं ? तब तो अन्य ऋषी-मुनि भी सृष्टि की रचना कर सकें या नहीं ?

इसके उत्तर में तो ईश्वरवादी दार्शनिक नकारात्मक बात ही कहेंगे क्यों कि इससे तो ईश्वर का अधिकार छिन जाता है । ईश्वर के बिना सृष्टि रचना का अधिकार किसी अन्य को है ही नहीं । यह सर्वाधिकार सुरक्षितता समाप्त हो जाती है । इस प्रकार कठिनाई दोनों ओर से हैं ।

यदि तपोबल या साधना ही फलवान हो और उसका अदृश्य फलता है, तब तो ईश्वर को इच्छा भी करने की आवश्यकता कहाँ थी । इच्छा न भी की होती, तब भी सृष्टि तो अदृष्ट के आधार पर निर्मित हो ही जाती, परन्तु इसे भी स्वीकार करने के लिये ये तैयार नहीं हैं । इस प्रकार इच्छा तत्त्व को स्वीकार करने जाएँ तो अनेक प्रश्नों के नीचे दार्शनिकों का दफन हो जाता है ? फिर से सिर उठाने का साहस भी नहीं रहता । इतना ही नहीं, बल्कि इच्छा को स्वीकार कर ईश्वर का स्वरूप ही विकृत कर डाला है । ईश्वर को इच्छाधीन - इच्छा का दास बना दिया है । ईश्वर गौण पर इच्छा प्रधान हो गई है । इस प्रकार तो ईश्वर की अपेक्षा इच्छा का महत्व बढ़ा दिया गया है । अंत में ईश्वरेच्छा बलीयसी कहकर पराक्षेप कर दिया जाता है।

ईश्वर सशरीरी या अशरीरी ?

सृष्टि निर्माण करने का इतना बड़ा कार्य ईश्वर करता है तो क्या वह सशरीरी बन कर करता है या असरीरी बन कर ? कार्य करने के लिये तो शरीरधारी बनना आवश्यक है इच्छा को भी फलवती करना हो तो भी शरीर धारी बनकर ही कार्य करने से इच्छा के अनुरूप कार्य होता है । कुम्हार घड़ा बनाना चाहे, पर उसका स्वयं का शरीर ही न हों तो वह कार्य कैसे कर सकता है ? वह ऐसी स्थिति में घड़ा बनाने में निष्फल ही रहेगा । अतः ईश्वर को भी यदि सशरीरी मानना चाहिये तो पुनः सैंकड़ों प्रश्न उत्पन्न होते हैं कि यह शरीर कैसा था ? किसके जैसा था ? हमारे शरीर जैसा मानव देह था या दैविक शरीर था ? क्या दृष्ट शरीर था या अदृष्ट शरीर था ?

यदि आप कहते हैं कि अदृष्ट शरीर था तो अदृष्ट शरीर का भी पहीले अस्तित्व तो स्वीकार कर ही लेते हो न ? अब दूसरा प्रश्न यह है कि यदि अदृष्ट शरीर था तो किसके जैसा था ? वायु का शरीर भी अदृष्ट है । तो क्या वायु जैसे अदृष्टरूप वाले ईश्वर थे ? यदि कहते हो कि वायु जैसे अदृष्ट शरीर वाले थे तो हमारा अगला प्रश्न है कि उस वायुवत् अदृष्ट शरीर का काय प्रमाण, माप, वजन, अवगाहना आदि कितनी थी ? वेद-वेदान्त में कहीं लिखा भी है या नहीं ? वेद में नहीं लिखा अतः नहीं मानना - क्या यह तर्क है ? तो फिर शरीर किस प्रकार मानते हो ? और यदि शरीर हो तो शरीर तो पौद्गलिक है, पंचमहाभूतजन्य है । वायु के शरीर की भाँति इसका कोई माप-वजनादि नहीं है तो ईश्वर का शरीर कैसा मानें ?

दूसरे अदृष्ट शरीर भूत-प्रेत-व्यंतरो के होते हैं । क्या ईश्वर का शरीर भूत-प्रेतादिजैसा मानें ? ऐसा ही अदृश्य ? तब भी पुनः प्रश्न उपस्थित होंगे कि ईश्वर इतने समर्थ और शक्तिमान हैं तो आश्चर्य है कि उन्हें भूत-प्रेतादि व्यंतर जैसा शरीर बनाना पड़े ? जो ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टि को सुंदर बना सकता है, उसे अपना शरीर बनाने में क्यों कष्ट हो जाता है । इसने पुष्प - पतंगे आदि का कितना सुंदर शरीर बनाया है । जो ईश्वर दूसरो का शरीर इतना सुंदर बना सकता हो वह अपना कितना सुंदर बना सकता होगा - इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती फिर भी यह सब कुछ छोड़कर ईश्वर को भूत-प्रेत व्यंतर त्रिकाय का शरीर बनाना पड़े तो क्या ईश्वर को भूत-प्रेतादि की योनि में उत्पन्न हुआ माने ? अरे, यह

योनि तो कितनी भयंकर है ? शरीर डरावना होता है। नाम सुनते ही स्त्रियाँ और बच्चे सिहर उठते हैं और यदि ईश्वर का शरीरभी ऐसा भूत-प्रेत-व्यंतरादि जैसा माना जाए तब तो लोग, उसका स्मरण-भजन करना तो दूर रहा, उससे भयभीत होंगे। भगवान् के दर्शनादि तो अभयदाता होते हैं, न कि भयदाता तब ईश्वर की कैसा शरीर मानें ?

तो क्या ईश्वर का शरीर स्वर्ग या वैकुण्ठवासी इन्द्रादि देवताओं के शरीर जैसा माने ? इन्द्रादि देवता तो स्वर्ग में ही बसते हैं, वहीं जन्म लेते हैं और वही मरते हैं। अप्सराओं आदि से परिवृत होकर सुख-भोग भोगने में आसक्त बन जाते हैं। तो क्या ईश्वर को भी ऐसा ही मानें ? यदि आपका उत्तर सकारात्मक है तो वहाँ कितने वर्षों का ईश्वर का आयुष्य मानें ? क्यों कि शरीर आया अतः इन्द्रियाँ, आयुष्य, प्राण, क्षेत्र, योनि उत्पत्ति आदि सभी वस्तुएँ माननी ही पड़ेंगी। फिर ईश्वर ने स्वर्ग में बैठकर ही पृथ्वी-पर्वतादि सब सृष्टि बनाई या क्या ? परन्तु ईश्वर का आयुष्यकाल आदि वेद-वेदांत स्मृति पुराण आदि किसी में नहीं लिखा गया है।

तब तो फिर अंत में मात्र मानव शरीर ही शेष रहता है। तो क्या ईश्वर को भी हमारी ही तरह हाथ-पाँव युक्त मनुष्य शरीर धारी पुरुष मानें ? यदि मानते हैं तो पुनः उन्हीं प्रश्नों की श्रृंखला शुरु हो जाती है कि ये ईश्वर किन से जन्में ? इनके माता-पिता कौन थे ? इस प्रकार अनेक पीढ़ियों स्वीकार करनी पड़ेगी। तब फिर सृष्टि निर्माण से पूर्व स्वर्ग-वैकुण्ठ इन्द्रादि देव-देवियाँ और इस पृथ्वी आदि का अस्तित्व ही कहाँ से आया ? यदि यह स्वीकार करते हो तब फिर ईश्वर के जन्म लेने का प्रयोजन ही क्या रहा ? क्योंकि इस प्रकार तो ईश्वर के जन्म लेने से पूर्व ही सृष्टि का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है, फिर प्रश्न ही कहाँ रहा ? और यदि अपने जैसा पौद्गलिक शरीर माने तो भी माप-वजन-आकार आकृति रूप सदर्य आदि अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

इतना ही नहीं बल्कि यदि अपने जैसा ही ईश्वर का शरीर मानते हैं तब तो अदृश्यता कैसे रहेगी ? यदि अदृश्यशरीर न मानकर दृश्य शरीर मानते हैं। तो किसके जैसा दृश्य ? किसने देखा है ? यदि आज तक ईश्वर का सशरीरी स्वरूप

किसीने देखा हो तो रूप, रंग, स्वरूप का वर्णन तो करता ? शास्त्रों में लिखा तो होता । परन्तु कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता - अतः क्या समझाजाए ?

सर्व व्यापकता कैसे संभव हो सकती है ?

दूसरी ओर ईश्वर को ऐसा दृश्य अथवा अदृश्य शरीरधारी अशरीरी मानने पर ईश्वर की सर्वव्यापकता टिक सकेगी या नहीं टिक सकेगी ? क्यों कि कोई भी शरीरधारी सर्वव्यापी नहीं बन सकता। शरीर सीमित-परिमित मान-उन्मादादि परिमाण वाला होता है, अतः चाहे जिस गतिया जाति का शरीर स्वीकार करो उसे सीमित-परिमित ही मानना पड़ेगा । अतः शरीरधारी ईश्वर शरीर से तो सर्वविश्वव्यापी बन ही नहीं सकता ।

तब फिर ईश्वर का शरीर कैसा मानें ? सूक्ष्म या स्थूल ? कार्मण शरीर या तेजस शरीर ? पौद्गलिक या अपौद्गलिक ? दैविक या मानवीय ? दृश्य या अदृश्य ? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होंगे ? न्याय वैशेषिक वादी क्या उत्तर दे सकेंगे ? यदि सूक्ष्म शरीर कहते हो तो वह इतने विशाल अनंत संसार की उत्पत्ति कैसे कर सकता है ? अतः स्थूल शरीर मानना पड़े ? स्थूल मानते हैं तो कितना स्थूल मानें ? माप-परिमाण कहीं भी उपलब्ध नहीं, फिर स्थूल शरीर अदृश्य कैसे हो सकता है । यह तो दृश्य ही होता है . तो क्या ईश्वर के दृश्य - स्थूल शरीर का दर्शन आज तक किसी ने किया है ? यदि भूतकाल में किसी ने भी किया होता, तब तो वह उसका वर्णन अवश्य करता ? रूप - रंगादि का वर्णन करता, परन्तु ऐसा वर्णन मिलने के कारण - यह दृश्य स्थूल शरीर था - इस बात को मानने का कोई आधार ही नहीं मिलता ।

तब ईश्वर का दर्शन क्यों नहीं होता ? वह क्यों नहीं दीखता ? इसमें कारण ईश्वर का अशरीरी होना है जिससे हमें ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं होता । तो क्या हमारी इन्द्रियों की शक्तिक्षीण है । दूसरी ओर यदि ईश्वर को अशरीरी ही मान लेते हैं तो मुक्तात्माएँ, सिद्धात्माएँ ही जगत में एक मात्र अशरीरी हैं और वे अशरीरी होने के कारण कोई भी सृष्टि निर्माण का कार्य आदि नहीं करते । अतः ऐसा नियम ही नहीं बन सकता कि जो जो अशरीरी हैं वे सभी कर्ता हैं - नहीं यह

संभव ही हैं . हाँ, जो जो सशरीरी हैं वे अवश्य कर्ता हैं क्योंकि कार्य करते हैं । ईश्वर सशरीरी होने ही चाहियं क्यों कि वे सृष्टि निर्माणादि कार्य करते हैं ।

इस प्रकार ईश्वरवादी दोनों ओर से फँसते हैं, क्योंकि अशरीरी मानते हैं, तो सृष्टि कार्य-कर्ता सिद्ध नहीं हो सकते, और सशरीरी मानते हैं तो यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कैसा शरीर ईश्वर का है ? साथ ही सशरीरी मानलें हैं तो सर्वव्यापकता भी हाथ में से निकल जाती है, अब क्या करें, फँस गए न ? तब क्या ईश्वर वंधापुत्र की तरह असत् कल्पना रूप सिद्ध होंगे या क्या ? शरीर पक्ष का ही निर्णय न हो तो फिर ईश्वर का ही निर्णय निराधार लटकती हुई तलवार जैसा रह जाएगा और ईश्वर की ही सिद्धि न होतो सृष्टि की सिद्धि, और सृष्टि कर्ता की सिद्धि आदि कैसे संभव हो सकेगी ? एक ओर बाघ और दूसरी ओर खाई जैसी इनकी स्थिति हो गई है और अंतमें आकाशादि की भाँति ईश्वर की अशरीरी अवस्था सिद्ध होगी तो सृष्टि निर्माण कार्य हेतु सिद्ध नहीं होगा और यदि शरीर सिद्ध नहीं होगा तो इच्छा की सिद्धि कैसे हो पाएगी ? और इच्छा - या शरीर के बिना ईश्वर अखिल विश्व का कर्ता भी कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् जगत्कर्ता के रूप में इसका अस्तित्व ही उड़ जाएगा, टिक नहीं सकेगा ?

ईश्वर के शरीर कर्ता स्वयं ईश्वर को ही मानें या किसी अन्य को मानें ? क्यों किसी अन्य ने बताया ? तो वह बनाने वाला अन्य कौन था ? दूसरे का अस्तित्व कहाँ से आया ? उसे किसने बनाया ? किसी तीसरे ने ? तो उस तीसरे को किसने बनया ? क्या किसी चौथे ने ? इसी प्रकार तो अंत ही नहीं आएगा और अनवस्था दोष रह जाएगा - तो यह तर्क भी नहीं टिकता ।

हेम चंद्राचार्य का कथन -

कलिकाल सर्वज्ञ पूजनीय हेमचन्द्राचार्य महाराजा अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका के छठे श्लोक में ईश्वरवाद की समीक्षा करते हैं और पूज्य टीकाकार मल्लिषेणसूरि महाराज विवरणमें लिखते हैं कि

कर्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।

इमा कुहेवाक विडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥६॥

इस जगत का कोई कर्ता-सृष्टा रचयिता है और वह एक ही है, वही सर्वव्यापी है, वही स्ववश है, और वह नित्य है ऐसा कहने वाले जो अन्य तार्कीक हो. उन्हे ही वे विडम्बनाएँ है, जिनके प्रभु पूज्य नहीं, अनुशासक नहीं । इस श्लोक में मुख्य पाँच विशेषण देकर अन्य कुतीर्थियों के द्वारा मान्य ईश्वरवादी की समीक्षा की गई है ।

समान्यतः ईश्वरवादी जो कि जगतकर्तृत्ववादी के नाम से पहिचाने जाते हैं उनकी मान्यता ऐसी है कि यह जगत जिसके द्वारा बनाया गया है वही ईश्वर है, वह ईश्वर एक ही होता है दो चार नहीं, और वह सर्वव्यापक होता है . उसका स्वरूप व्यापक है । वह सस्ववश है और सदैव-नित्य रहने वाला है । ईश्वर के स्वरूप का वे ऐसा वर्णन करते हैं । उनका कथन है कि उवीर्यवततर्वा दिंक सर्व बुद्धिमत्कर्तृक कार्यत्वाद . अथवा (क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृक कार्यत्वात् घटवत्) यद् यत्कार्यं तत्तत्सर्वं बुद्धिमत्कर्तृक यथा घट तथेदं तस्मात् तथा ! यच्च बुद्धिमांस्तकर्ता समलानीश्वर एवेति । अर्थात् पृथ्वी, पर्वत् वृक्ष-पत्ते आदि सब कार्य स्वरूप होने से किसी न किसी बुद्धिमान् - निपुण कर्ता के द्वारा कृत हैं अथवा पृथ्वी बीज, अंकुर आदि सब घड़े की भाँति कर्तायुक्त सकर्तृक है । जैसे घड़ा एक कार्यस्वरूप है उसी प्रकार पृथ्वी-पर्वतादि सब कार्य स्वरूप हैं और कार्य का कारण तो अवश्य होना ही चाहिये इस न्याय से इस पृथ्वी पर्वतादि के कार्य का कारण ईश्वर है । जिस प्रकार घड़े का कर्ता कुम्हार है, कुम्हार के बिना घड़ा नहीं बनता उसी प्रकार ईश्वर के बिना इतनी विशाल पृथ्वी - पर्वतमाला आदि बनते ही नहीं । अतः कार्य के पीछे कारण तो मानना अनिवार्य हो जाता है । इस न्याय से भी पृथ्वी - पर्वतादि कार्य स्वरूप दिखाई देते हैं, और उनका कोई दृश्यमान कर्ता - रचयिता दृष्टिगोचर होता नहीं, अतः ईश्वर की ही कल्पना की गई है । जो जो कार्य होता है वह सब बुद्धिशाली कर्ता के द्वारा ही घड़े के की तरह कृत होता है । उसी प्रकार से इस पृथ्वी-पर्वतादि को भी कार्य मान लेना चाहिये और उसका निर्माण करने वाला कोई बुद्धिमान् निर्माता कर्ता है - बस वही भगवान है, वही ईश्वर है ।

कर्तापन कितना न्यौयसंगत है ?

न्याय वैशेषिक जैसे तार्किक बुद्धिशालियों को ईश्वर की सिद्धि करने के लिये, अथवा ईश्वर की पहिचान करने के लिये सृष्टि रचना करने का कारण मिला ? क्या ईश्वर की सिद्धि के लिये इसके सिवाय अन्य कोई हेतु न मिले ? जैनों ने तो स्पष्ट अकाट्य हेतु, दिये ही हैं कि जो वीतराग है, सर्वज्ञ केवलज्ञानी हो, तीर्थकर हो, राग-द्वेष के विजेता हों, अरिहंत हों भोक्षमार्ग के उपदेशक हों, घातिकर्म रहित हों, वे ही भगवान ईश्वर कहलाते हैं । ईश्वर ही नहीं बल्कि परमेश्वर परम + ईश्वर कहलाते हैं । जैनों ने तो ईश्वर की सिद्धि या पहिचान करने के लिये सृष्टि रचना आदि जैसी बातें नहीं की हैं । सृष्टि का जो कर्ता हो वही ईश्वर कहलाए - ऐसा कहने वाले न्याय-वैशेषिक दर्शनिकों का यह हेतु कितना सुसंगत और उचित कहा जा सकता है ? पृथ्वी-पर्वत-वृक्ष पत्ते आदि के साथ ईश्वर का क्या संबंध है ? ये पदार्थ तो जडपार्थिवादि पदार्थ हैं - इनके कारण ईश्वर की सिद्धि ? इन दोनों में क्या संबन्ध है ? क्या मानव की सिद्धि आकाश के आधार पर हो ? अथवा क्या मिट्टी के घड़े के आधार पर मानव की सिद्धि की जाए ? परन्तु मिट्टी और मानव का क्या लेना-देना ? और यदि मिट्टी के घड़े के आधार पर मानव की सिद्धि करना मूर्खता कहलाती हो तो क्या पृथ्वी-पर्वत-वृक्ष-पान-फूल आदि के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करना बुद्धिमत्ता का कार्य कहलाएगा ? नहीं - यह तो बड़ी मूर्खता कहलाएगी । कहाँ ईश्वर और कहाँ पृथ्वी परवतादि इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? इस प्रकार पृथ्वी - पर्वतादि के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करना अर्थात् ईश्वर की खिल्ली उड़ाना है । इस प्रकार सिद्धि होगी या ईश्वर का अवमूल्यन होगा ?

अतः सोच-समझकर बोलो । ईश्वर जगत का कर्ता है, ऊपर वाला ईश्वर ही इस सृष्टि का रचयिता है, इसी ने दुनिया बनाई है, यही निर्माता है, इसके बिना संसार कौन बना सकता है ? - ऐसी सभी बातें समझे सोचे बिना की गई अज्ञानतापूर्ण बातें हैं । ऐसी बातें करने से हमारी मूर्खता का प्रदर्शन होता है । अतः सोच-समझ पूर्वक बोलने में ही बुद्धिमत्ता है । बुद्धिपूर्वक ही बोलने में समझदारी है - औचित्य है ।

कुम्हार की भाँति इस संसार के पृथ्वी-पानी-वृक्षपदि पदार्थ बनाए अथवा न बनाए - इससे ईश्वरता में कहां कमी आने वाली है ? और यदि वह बनाता है भी

वह ईश्वर कहलाएगा और उसकी महत्ता बढ़ेगी - यदि नहीं बनाता है तो उसमें ईश्वरत्व नहीं आ पाएगा क्यों ? कैसी बुद्धिविहीन बात है । ईश्वरत्व और पृथ्वी - पर्वतादि में परस्पर कोई संबंध नहीं है। किसी प्रकार से कोई भी एक-दूसरे का मान बढ़ाने वाला नहीं है । कोई एक-दूसरे का जनक-जनेता-जन्य, कार्य- कारण भाव भी नहीं है । जैसे पुत्र ने जन्म लेकर पिता को पितृपन की उपाधि से विभूषित किया, एक स्त्री को माता का पद दिया और इसमें जैसे माता पुत्र के द्वारा पूजी जाती है, और गौरव प्राप्त करती है - यह कहाँ तक उचित कहलाता है ? ठीक है, यहाँ पिता-पुत्र में तो फिर भी संभव है, क्यों कि जन्य-जनक का संबन्ध है, पर पृथ्वी-पर्वतादि का निर्माता ही ईश्वर क्यों कहलाता है ? यह सब रचना करे तो ही वह ईश्वर कहलाए ऐसा क्यों ? ऐसा इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है । ईश्वर कामूल्यांकन पृथ्वी-पर्वतादि के आधार पर क्यों किया जाता है ? अथवा तो पृथ्वी - पर्वत या वृक्ष -फल-पत्ते आदि के जितना ही मूल्य-महत्त्व ईश्वर का है ? ऐसा क्यों ? यह तो ईश्वर की क्रूर मज़ाक है । यह बात न्याय नहीं बल्कि अन्याय पूर्ण तर्क बुद्धि रहित लगती है ।

ईश्वर की ईश्वरता का आधार तो ईश्वरीयगुण हैं । वे हैं - वीतरागता, सर्वज्ञता, सर्वदाशिता, अरिहंतता, तीर्थकरता । इन गुणों - लक्षणों के आधार पर ईश्वर का ईश्वरत्व सिद्ध करें तो इसमें ईश्वर का गौरव भी आरक्षित रहेगा और महत्ता भी बढ़ेगी । इसमें क्रूर मज़ाक नहीं होगी । ऐसे गुणों से मुक्त को भगवान्, ईश्वर-परमेश्वर, परमेष्ठि मानने में आत्म संतोष और आनंदानुभूति भी होती है - यही मार्ग प्रशस्य मार्ग है ।

तब सृष्टि कौन बनाए ?

यहाँ प्रश्न यह होता है कि यदि हम ईश्वर को पृथ्वी पर्वत-वृक्ष-पानादि का कर्ता न भी मानें और उपरोक्त ईश्वरीय गुणों लक्षणों से संयुक्त को ही ईश्वर मानलें तो पृथ्वी - पर्वतादि सृष्टि कौन बनाए ? इतने विशाल जगत की रचना कौन करता है ? यह संसार किसके द्वारा बनाया हुआ मानें ?

हां, आपकी बातें भी सही है। पहले ईश्वर को इस पृथ्वी पर्वतादि सृष्टि से अलग करो। ईश्वर का अपमान करना बंद करो - फिर पृथ्वी पर्वतादि सृष्टि का रचयिता ढूंढना कोई कठिन कार्य नहीं है। यह तो बिल्कुल स्पष्ट दीपक जैसी बात है कि जगत के अनंत जीव स्वयं स्वतः अपनी आवश्यकता खड़ी करते हैं, सहयोगी निमित्त कारण मिलने पर जीव स्वतः ही अपना विकास साधते हैं, शरीरादि की रचना करते हैं। बीज पड़ा हो और उसे हवा-पानी, प्रकाश और अनुकूल भूमि प्राप्त हो जाए, तो वह बीज ही फलीभूत होकर वृक्ष के रूप में विकसित हो जाता है। एक दिन वह विशाल वृक्ष बन जाता है, और उस पर पुनः अन्य फल, फूल, पत्ते आदि लगते हैं, उस फल में से अन्य अनेक बीज प्राप्त होते हैं और उनमें से पुनः अन्य सैंकड़ों वृक्ष उत्पन्न हो सकते हैं।

इस प्रकार अनंत जीव स्वयं अपने शरीरादि के कर्ता हैं, स्वयं अपनी रचना करते हैं। माता - पिता के संसर्ग से एक जीवात्मा माता के गर्भ में उत्पन्न होता है, आहार के योग्य पुद्गल ग्रहण करता है और उस रज-वीर्य के संयोग से पिंड को जीवात्मा ग्रहण करके शरीर के रूप में परिणत करता है और साढ़े नौ माह के काल में अपना विकास कर के अपनी देह रचना करता है। माता के पोषक आहार में से अपने संपूर्ण अंगोपांग विकसित करके समय परिपक्व होने पर वह इस धरा पर अवतरित होता है और विकास करते करते विशाल मानव बनता है। यहाँ गर्भ काल से ही ईश्वर बीच में कहाँ आ जाता है ? ईश्वर को बीच में लाने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? जीव स्वदेह का कर्ता स्वयं ही है।

वर्तमान विश्व में मानव जन संख्या कुल छह अरब हैं। सभी लोगों के चहरे समान नहीं होते, एक की मुखाकृति दूसरे की मुखाकृति से भिन्न होती है। इसी एक वालिशत के चहरे में दो ही आंखे, दो ही कान, नाक, ओष्ठ, दाँत, मुँह जो है वही सभी हैं, इस में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु एक की मुखाकृति दूसरे की मुखाकृति से नहीं मिलती है। अब आप ही बताइये कि ईश्वर इतने अधिक भिन्न भिन्न चहरे बनाने कब बैठे होंगे ? कितने साँचे बना बना कर भाँति भाँति की आकृतियाँ बना पाए होंगे ? संभव ही नहीं है, फिर ईश्वर को बीच में क्यों घसीटा जाए ? स्वयं जीव स्वतः ही स्व कर्मानुसार सब रचना करता है। इसके जन्म-जन्मान्तर के जैसे जैसे शुभ अशुभ कर्म रहे हैं। उन्हीं के आधार पर वह स्वयं रचना करता है। जीव कर्मानुसार रचना करता है, अतः विचित्रता दिखती है। यदि एक ही ईश्वर स्वच्छा से सब करता हो तो इतनी विचित्रता विषमता अथवा

विविधता कभी भी दिखाई न दे क्यों कि ईश्वर तो दयालु है करुणावान, दया का सागर, करुणानिधि है । ईसाईयोंने भी कहा है Oh God ! Thou name is Mercy. Thou art Mercifull अर्थात् आपका ही नाम दया है, आप ही दयामय करुणानिधान हो । ईश्वर दयालु हो और स्वेच्छा से ही कार्य करता हो तो फिर रचना करने में पक्षपात या भेदभाव करे भला ? क्यों करने लगा ? और यदि करता है तो समझ लो कि ईश्वर भी राग-द्वेषाधीन है और राग-द्वेष मोहादि, कर्मजन्य है अर्थात् ईश्वर कर्मयुक्त सिद्ध होगा और यदि कर्मयुक्त रागी-द्वेषी को ही ईश्वर मानना हो, तब तो मनुष्य भी राग-द्वेष मोहादियुक्त हैं, वह भी पक्षपात-भेदभाव करता है, तब उसे ही ईश्वर मानने में क्या बुराई है ? क्यों फिर ईश्वर तक लंबा चलें ? परन्तु नहीं हमें तो ईश्वर का अस्तित्व बनाए रखना है न ?

ठीक है, ईश्वर का अस्तित्व नकारा नहीं है, नकारते हैं तो नास्तिक सिद्ध हो जाते हैं, अतः किसी भी रूपमें ईश्वर को तो मानना ही है न ? न देखा - न अनुभव किया और न सिद्धांतादि - शास्त्र ग्रंथाधार पर स्पष्ट चित्र उपस्थित होता, फिर भी मन को तो मनाना ही पड़ेगा अतः चाहे जैसे भी मान लें और मानने के साथ ही सृष्टि रचना का कार्य हाथ लग गया । अतः इसे ही मानने बैठ गए, ईश्वर को मानने में अन्य कुछ भी हाथ में नहीं आया, तो मात्र सृष्टि रचना का कार्य ईश्वर के गले में पाश की तरह लटका दिया गया है । ईश्वर तो सृष्टि की रचना करता है या नहीं, यह बात तो दूर रही परन्तु दार्शनिकों - तर्कशास्त्रियों ने अपनी तर्क बुद्धि लड़ाकर ईश्वर को जगत का कर्ता ठसा दिया है - ऐसा लगता है । इनमें से कोई भी देखने नहीं गया है कि ईश्वर सृष्टि बनाता है। किसी ने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किये हैं । किसी ने प्रत्यक्ष नहीं देखा है कि ईश्वर इस प्रकार सृष्टि की रचना करता है और देखने के बाद सृष्टि रचना का स्वीकार किया हो ऐसा भी नहीं है, परन्तु दार्शनिकों ने अपने मस्तिष्क की ही उत्पत्ति निकाल कर जगत को दी हो - ऐसा लगता है । पर प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष से संतोष मानने के स्वभाव वाले दार्शनिकों ने बिना प्रत्यक्ष के भी अनुमानादि प्रमाणों से संतोष कैसे मान लिया ?

कौन अदृश्य ? ईश्वरेच्छा या सृष्टिरचना ?

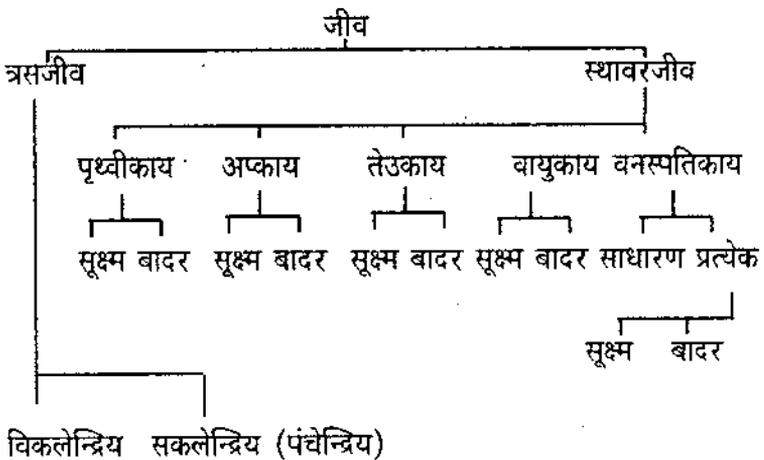
दृश्यादृश्य का विचार करने पर प्रश्न यह खड़ा होता है कि अदृश्य कौन ? ईश्वर ! उत्तर में ईश्वर को अदृश्य मान सकते हैं, और इच्छा तो मनोगत क्रिया है,

अतः मनःपर्यवज्ञानी ही ईश्वर की इच्छा को जान सकते हैं और प्रत्यक्षानुभूति कर सकते हैं अब रही बात सृष्टिरचनाकरकी । ईश्वर न दिखाई देने पर भी किस प्रकार कार्य करता है । जिसमें उसका स्वरूप देखने में न आता हो, परन्तु वह जिस कार्य की रचना करता है, वह तो अदृश्य नहीं हो सकता । वह तो दृश्य ही हो सकता है न ? इच्छा मात्र से जादूगर की भाँति स्वीकार करने की यदि बात हो, तो जिस प्रकार जादूगर एक जादू करके दिखाता है, उसमें प्रयोग अदृश्य दिखाई पड़ता है और अंत में कार्य दृश्य हो जाता है, तो क्या ईश्वर भी इसी प्रकार से काम करता है ? जादूगर किसी लड़की को काट कर ६-७ टुकड़े करके दिखाता है, परन्तु काटने की क्रिया का रहस्य दृष्टिगोचर नहीं होता, कटे हुए अंग जरूर दिखाई देते हैं । इस हाथ की चालाकी का रहस्य भल-भलों के दिमाग में नहीं आ सकता है । तो क्या यहाँ सृष्टि रचनाके क्षेत्र में भी ईश्वर के विषय में ऐसा ही समझें ? किया जाता हुआ काम दिखाई दे या हो जाने के बाद का कार्य दिखाई दे ? न्याय वैशेषिक दार्शनिकों ने तो जो कार्य हो चुका हो उसे देखकर कारण के अनुमान रूप में इस कार्य का कर्ता ईश्वर होगा ऐसा मान लिया है । कार्य के पीछे कारण का होना आवश्यक है । 'कार्य नियतपूर्ववृत्तित्वं कारणम्' कार्य की ठीक पृष्ठभूमि में जो रहे वह कारण-इस नियम के अनुसार भी पृथ्वी-पर्वत वृक्ष, पत्रादि सृष्टि रूप कार्य के पीछे ईश्वर को ही कारण मानने की जरूरत कहाँ पड़ी ? क्या ईश्वर नियतपूर्ववृत्ति है ? या वृक्ष-पत्रादि का अपना जीव प्रथम दृष्टि से पूर्व नियतपूर्ववृत्ति है ? ईश्वर और जीव-इन दोनों में से कार्य के अधिक निकट कौन हैं ? न्याय-वैशेषिकादि जगत्कर्तृत्ववादी दार्शनिकों की इस विषयमें गंभीर भूल यह हुई है कि उन्होंने उन उन वृक्ष-पान पृथ्वी आदि के अपने स्वरूप के जीवों को स्वीकार ही नहीं किया । उनमें भी जीवत्व है, वे भी जीवधारी हैं - और उनका प्रत्येक का जीव ही स्वयं हवा-पानी आदि लेकर विकसीत होता है - बढ़ता है, विशाल स्वरूप धारण करता है, उसकी जितनी अवगाहना संभव होती है, उतना ही वह बढ़ता है - यह बात उन्होंने स्वीकार ही नहीं की है ।

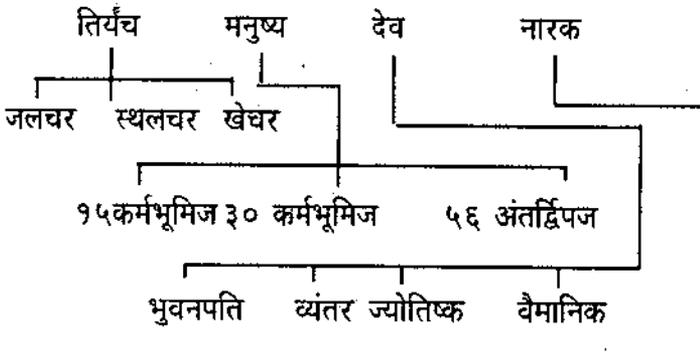
पृथ्वी में भी पृथ्वीकायिक जीव है, वे पार्थिव जीव अपने शरीर की रचना पत्थर - मिट्टी आदि के रूप में करते हैं । पानी को अपकायिक जीव कहते हैं । अपकायिक जीवों का शारीरिक स्वरूप पानी है । वह जीव सूक्ष्म स्वरूप में आकर उसी में जन्म लेता है । अग्निकायिक जीव अग्नि में जन्म लेते हैं । हवा भी वायुकायिक जीवों का समूहात्मक पिंड है । उसमें भी वायुकायिक सूक्ष्म जीव हैं।

वनस्पतिकायिक जीव वृक्ष पत्ते आदि के रूप में अपना शरीर बनाते हैं । वे भी हवा-पानी-आदि जीवनोपयोगी वस्तुएँ प्राप्त करते हैं, शरीर की रचना करते हैं, अवगाहना के अनुसार देह का विस्तार करते हैं । आयुष्य परिमित काल के अनुसार जीवित रहते हैं और एक दिन आयुष्य पूर्ण होने पर अपनी जीवन लीला समाप्त करके वृक्ष पत्रादि का अपना शरीर छोड़ कर चले जाते हैं । जिस प्रकार हम मनुष्य जीव कहलाते हैं, उसी प्रकार ये भी वनस्पतिकाय - पृथ्वीकाय आदि के जीव कहलाते हैं और हम जिस प्रकार आयुष्य काल समाप्त होने पर यह देह छोड़कर चले जाते हैं, उसी प्रकार इन जीवों का भी आयुष्यकाल होता है । एक शरीर में निश्चित काल तक जीव के रहने काल आयुष्यकाल कहलाता है और यह आयुष्य पूर्व जन्म में बद्ध कर्मानुसार होता है कर्म बाँधने वाला जीव स्वयं है । जीव के सिवाय अन्य कोई कर्म बाँध नहीं सकता । लोहचुम्बक जिस प्रकार स्वयं लोहे के रजकणों को आकर्षित कर ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा स्वयं अपने राग-द्वेष के आधार पर वायु वातावरण में से कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को खींचकर उन्हें पिंड रूप में बनाता है और कालान्तर में उन कर्मों के विपाकोदय पर तदनुसार व्यवहार करता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव स्वयं ही कर्ता है । कर्तापन में संसारावस्था में कर्म ही उसका मुख्य कारण है ।

सूक्ष्म से लगाकर स्थूल कक्षा के, छोटी से बड़ी कक्षा के अनेक प्रकार के जीव संसार में है । संक्षिप्त कोष्टक को देखने से बात समझ में आ जाएगी ।



२ इन्द्रियवाले ३ इन्द्रिय वाले ४ इन्द्रियवाले
कृमि-केंचुए चींटी मकोड़े मक्खी-मच्छर



७ नरक के नारकीय जीव

इस प्रकार संक्षिप्त तालिका देखने पर पता चलेगा कि समस्त ब्रह्मांड में बसी हुई जीव सृष्टि इतनी ही है - इतने प्रकार की है . सूक्ष्म और स्थूल शरीरादि वाले तथा पर्याप्त और अपर्याप्त आदि सभी मिलाकर कुल ५६३ प्रकार के जीव समस्त ब्रह्मांड में हैं । न इन से अधिक हैं न न्यून हैं . चार गतियों में विभाजन करने पर इनकी संख्या इस प्रकार है - $३०३ + १९८ + ४८ + १४ = ५६३$ प्रकार के जीव इस संपूर्ण जगत में हैं । इनके सिवाय अन्य कोई भी जीवसृष्टि नहीं हैं । इतने जीवों में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के सभी सूक्ष्म और स्थूल जीवों को समावेश हो जाता है । इन सभी में जीवत्व है, प्राण है उनकी स्वयं की आयु है और वह आयुष्य संबंधित कर्म जीव अपने पूर्व-पूर्व जन्म से उपार्जित करके आते हैं और इस जन्म में उतने काल तक जीवित रहते हैं । अपने अपने शरीर की रचना करते हैं । पृथ्वी पानी अग्नि वायु वनस्पति के रूप में विख्यात ये जीव जगत के उपयोग में आते हैं । मानव इनका उपयोग करता है । जब यह जीवसृष्टि आयुष्यकाल समाप्त करके देह त्याग कर चली जाती है तब अवशिष्ट रहे हुए उनकी काया के पुद्गल परमाणु जो जड़ होते हैं उन्हें हम पंच महाभूत के रूप में मानते हैं । पृथ्वी -पानी-अग्नि-वायु आकाश इन पाँचों को पंच महाभूत की संज्ञा दी गई है । इन में से वनस्पति को अलग रखा है । ये पाँचो ही महाभूत जड़ है, परन्तु यह जड़ कब कहलाए ? जब ये जीव अपने अपने देह का परित्याग करके चले गए और उनके कलेवर के रूप में निर्जीव काया मात्र रह गई, जब

उनमें जीव का अस्तित्व ही न रहा, तब हमने जड़ के रूप में काम में लिया ।

कर्ता जीव या ईश्वर ?

इस प्रकार जीव कर्ता के रूप में सिद्ध होता है न कि ईश्वर । संसारी जीव कर्माधीन हैं । वे स्व - स्व कर्मानुसार अपने - अपने ढंग से जन्म-जीवन-मरण धारण करते हैं और एक गति से दूसरी गति में आवागमन करते हैं । देह को पुद्गल के स्वरूप में यहाँ छोड़ देते हैं, और उन्हीं पुद्गल स्वरूप परमाणुओं को अन्य जीव आकर पुनः ग्रहण-धारण करते हैं और इस प्रकार पुनः अन्य जीव के रूप में उनका व्यवहार चलता है । जीव जन्म लेता है, जीवनयापन करता है और मरता है, आता है और जाता है । गत्यन्तर कालान्तर आदि सब कुछ होता है । यह सब कुछ जीव स्वयं स्व-स्व कर्मानुसार ही करता है । तब यहाँ बीच में ईश्वर को घसीट लाने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? संसारी जीव को ही स्वकर्म का कर्ता भोक्ता आदि स्पष्ट रूप से कहा गया है ।

यः कर्ता कर्म भेदानां, भोक्ता कर्मफभस्य च ।

संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः ॥

पूजनीय हरिमद्रसूरि महात्मा षड्दर्शन समुच्चय में स्पष्ट रूप से बताते हैं कि जो स्वकर्म का कर्ता है उसके फल को भोक्ता भी स्वयं ही है, चारों ही गतिओं में आवागमन करने वाला, जन्म-मरण को धारण करने वाला है, वही आत्मा है । उसके सिवाय अन्य कोई जड़ादि आत्मा नहीं है । इससे जीव स्वयं ही कर्म का कर्ता और फल का भोक्ता सिद्ध होता है ।

यह निर्दोष पक्ष मानने में ही सत्यता है वास्तविकता है, फिर ईश्वर को अथवा ईश्वर की इच्छा को बीच में लाने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? स्पष्ट प्रत्यक्ष कारण को अपनी दृष्टि सम्मुख देखने पर भी उसे स्वीकार न करके अनुमानादि से ईश्वर को सृष्टि कर्ता सिद्ध करने की ब्रह्मिड प्राणायाम की विपरीत यात्रा करने की जरूरत ही कहाँ रही ? ईश्वर का महत्त्व घट जाता है, दूसरी ओर ईश्वर का स्वरूप ही विकृत हो जाता है, तीसरी ओर ईश्वर के सिर पर दोषों का अंवार मढ़ा जाता है और फिर भी ईश्वर निर्दोष कर्ता के रूप में कसौटि पर से पार उतर सकता ही नहीं, किसी भी प्रकार से, किसी भी प्रमाण से कर्ता सिद्ध हो ही नहीं सकता । मात्र जीव ही स्वयं कर्ता के रूप में सिद्ध होता है, और वह स्वकर्मानुसार करता है, तदनुसार ही होता है । इसमें ईश्वर को बीच में लाने में

कीसी प्रकार की समझदारी नहीं है ।

अतः न्याय - वैशेषिकों ने कहना या मानना और अनुमान का जो स्वरूप ईश्वर को सिद्ध करने हेतु दिये हैं वह हेतुविहीन सिद्ध हो जाता है । श्लित्यंकुरादिक सर्व कर्तृजन्य, कार्यत्वात् घटवत् - इस अनुमान के पृथ्वी-पर्वत-नदी-नाल-वृक्ष-पत्ते पानी- अग्नि आदि संबंधित कक्षा के सभी पदार्थ उस उस काया के जीव उसमें रहकर स्व कर्मानुसार बनाते हैं - निर्माण करते हैं, फिर अदृश्य कारणरूप ईश्वर को बीच में लाकर उसके हाथ किचड़ में मैले करने के बजाय तो दृष्ट स्पष्ट प्रत्यक्ष जीव को ही कर्ता मानने में कहाँ कठिनाई आती है ? वृक्ष पत्ते वनस्पतिके जीवों की सिद्धि तो आज जड़ विज्ञान भी मानने लग गया है । वैज्ञानिक भी अब तो मानने लगे हैं । कि वनस्पति में भी जीव है - The plant have a life - ऐसा वे कहने लगे हैं । एक बीज में वनस्पति का जीव है, उसे हवा-पानी-आकाशादि का संयोग मिलने पर वह भी जीवित रहता है, जमीन में पानी-खाद का आहार ग्रहण करके वह अंकुर के रूप प्रस्फुटित होता है और उसकी वृद्धि होती है । बढ़ते बढ़ते उसमें तना साखा प्रशाखा, पत्ते, फल-फूल आदि अंग तैयार होते हैं । उसका इतना विकास कहाँ से हुआ ? जड़ पड़ा पड़ा बढ़ता है या जीव ? जड़ में बढ़ने का क्या है ? हजारों वर्षों तक रहने पर भी ईंट, - चूना, पत्थर मकानादि एक भी नहीं बढ़ते, क्यों कि वे जड़ पुद्गल पदार्थ हैं जब कि जीव में वृद्धि हानि विकास इत्यादि सब कुछ वृद्धि व क्षय के परिवर्तन होते रहते हैं ।

मकराने की संगमरमर की खान को देखो । वहाँ से निकलने वाला संगमरमर समाप्त हो जाने पर उस खान को मिट्टी से भर दी जाती है । वर्षा होने पर पुनः पानी भर जाता है । पृथ्वीकाय के पार्थिव जीव पुनः उसी उत्पत्ति स्थान स्वरूप स्व. योनि में आकर जन्म लेते हैं, स्व शरीर की रचना करके उसे विशाल बनाते हैं । इस प्रकार सो-दो सो वर्षों में वह पुनः भर जाती है और पुनः खोदने पर उसमें से संगमरमर निकलता है । इस प्रकार यह क्रम चलता ही रहता है तो बताओ यहां बीच में ईश्वर कहाँ से आया ? जीव स्वयं ही स्वकर्मानुसार जाता है - बनता है और जिन्दा रहता है - इतनी स्पष्ट दीपक समान प्रत्यक्ष बात होने पर भी उसे छोड़कर पृथ्वी-पर्वतादि को बनाने वाले ईश्वर को अलग रूप से मानने में कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? इसके स्थान पर तो संबंधित जीव को ही स्वः स्वः कर्म-धर्म जन्म-मरण जीवन आदि का कर्ता मान लें तो कोई दोष नहीं रहता । पृथ्वी पर्वतादि तो पार्थिव पदार्थ ही है और पार्थिव-पृथ्वी पर्वतादि को बनाने वाले पृथ्वी

कायिक जीव स्वयं ही है । इस प्रकार पानी-अग्नि-वायु-वनस्पति आदि सभी को जीव जन्य ही मानने में बद्धिमत्ता है । ईश्वरजन्य मानते हैं तो ईश्वर का ही स्वरूप नष्ट हो जाता है ।

सिद्धान्त का परस्पर विरोध -

न्याय-वैशेषिकमतादि जगत् कर्तृत्ववादी दर्शन और ऐसी ही मान्यता रखने वाले लोगों के परस्पर विरोधी वाक्य सिद्धान्तों की प्ररूपणा के समय होते हैं । एक ओर ईश्वर को उत्पन्न होने वाला बताया । स्वर्ण के अंडे में से विराट स्वरूप को उत्पन्न होने वाला बताया और फिर उसे ही नित्य भी बताया । क्या जो उत्पन्न होता है वह नित्य रहता है ? या अनित्य रहता है ? शाश्वत सिद्धान्त के अनुसार तो जो उत्पन्नशील है वह विनाशशील ही है - अनित्य है ? जो अनुत्पन्नशील है वह सदैव नित्य है - शाश्वत है - अविनाशी है । जो उत्पन्न होता वही नष्ट होता है और जो कभी भी उत्पन्न ही नहीं होता वह सदाकाल नित्य शाश्वत रहता है । वह कभी भी नष्ट नहीं होता है ।

संसार में दोनों स्वरूप के द्रव्य हैं । आत्मा अनुत्पन्न द्रव्य है । आत्मा को ईश्वर ने नहीं बनाया है, अतः आत्मा उत्पन्न द्रव्य नहीं है और इसीलिये यह नष्ट होने वाली नहीं है, बल्कि सदैव शाश्वत अजर अमर रहने वाली है । मात्र संबंधित जन्म में जाने के लिये संबंधित शरीर में आत्मा को उत्पन्न होना पड़ता है । वह देहोत्पत्ति है अर्थात् देह में उत्पन्न होने की बात है, परन्तु आत्मा की उत्पत्ति नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्मांड-चौदह राजलोक, तथा धर्मास्तिकाय - अधर्मास्तिकाय, आकाश, परमाणु आदि पदार्थ सदैव नित्य हैं - शाश्वत हैं, अतः उत्पन्न शील द्रव्य नहीं हैं । ये अनुत्पन्न अविनाशी द्रव्य हैं । ईश्वर को उत्पन्न होने वाला मानें तो फिर उसके नित्य होने की बात कैसे सिद्ध होगी ? यदि ईश्वर को नित्य न मानते हैं तो उसे विनाशी - नष्ट होने वाला तत्त्व मानना पड़ता है । यदि ऐसा करते हैं तो इसमें दोष लगता है और ईश्वर की ईश्वरता नष्ट हो जाती है, उसका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है । इस प्रकार यदि ईश्वर ही नष्ट हो जाय तब फिर सृष्टि का निर्माता कौन ? अतः ईश्वर जब नित्य मान लिया तो उत्पन्न होने वाला क्यों माना ?

यदि उत्पन्न होने वाला और नित्य - ऐसा दो प्रकार के ईश्वर मानना हो तो ईश्वर के उत्पन्न - नित्य दोनों धर्म दोनों स्वरूप मानने पड़ेगे । एक ईश्वर तो नित्य स्वरूप में ब्रह्माजी है और दूसरे उनके द्वारा उत्पादित विराट पुरुष जो सृष्टि की

रचना करते हैं वे ईश्वर । इस प्रकार तो पुनः दो ईश्वरों की सत्ता टकराएगी । तब इन में से किस ईश्वर को हम सर्वज्ञ - शाश्वत गिनें ? उत्पादित विराट पुरुष स्वरूप ईश्वर सर्वज्ञ है अथवा अनुत्पन्न मूल ईश्वर ब्रह्माजी सर्वज्ञ हैं ? यदि ब्रह्माजी को सर्वज्ञ मानें और विराट पुरुष को सर्वज्ञ न मानें तो सर्वज्ञता के अभाव में वे सृष्टि की रचना कैसे करेंगे ? और सर्वज्ञ नहीं - बल्कि अल्पज्ञ है ऐसा ईश्वर यदि सृष्टि की रचना करेगा तो सृष्टि में कितने दोष रह जाएँगे ? अल्पज्ञ को सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने का उत्तरदायित्व, सौंप कर सर्वज्ञ ईश्वर हाथ पर हाथ धरकर यों ही बैठे रहें तो क्या अल्पज्ञ ईश्वर उन्हें बार बार पूछने जाएँगे ? क्या बार बार पूछ पूछकर सृष्टि बनाएंगे ? यहां क्या करूँ ? अब कैसे करूँ ? आदि पूछते रहेंगे तब तो बड़ी ही हास्यास्पद स्थिति हो जाएगी ।

नित्य पक्ष मानने में दोष :-

जगत कर्तृत्ववादी ईश्वर को नित्य मानते हैं, आईये ! इस पक्ष पर भी अपना ध्यान दें दें । मानो कि ईश्वर नित्य है तो क्या वह सृष्टि-रचना काल में ही सृष्टि बनाता है या निरन्तर सृष्टि रचना करता ही रहता है ? यदि निरन्तर - सदाकाल वह सृष्टि रचना करता ही रहता हो तो अनंतकाल व्यतीत हो जाने के बाद भी अभी तक सृष्टि रचना का कार्य पूर्ण नहीं हुआ ? अभी तक अधूरी ही हैं - ऐसा ही कहना पड़े न ? क्या माना जाय ? सदाकाल ईश्वर सृष्टि रचना करता ही रहता हो तो सदाकाल उसके मन में इच्छाएँ भी चलती ही रहती होगी न ? अर्थात् इच्छाएँ न्यून या अधिक हैं या सृष्टि रचना के पदार्थ-कार्य अधिक है ? यदि मानते हैं कि सदाकाल रचना कार्य करते ही रहते हैं तो ईश्वरेच्छा और संकल्प मात्र से एक ही समय में सृष्टि की रचना की गई-यह बात कैसे मानी जाएगी ? और यदि न मानते हैं तो ईश्वरेच्छा बलीयसी - यह पक्ष नष्ट हो जाता है । तब फिर संकल्प अथवा इच्छा करने मात्र से क्या निर्माण हुआ ? संपूर्ण सृष्टि या अर्ध-सृष्टि ? संपूर्ण क्यों नहीं - अपूर्ण ही क्यों ? क्या ईश्वर की इच्छा ही अपूर्ण-आधी थी जिसके कारण अर्ध - अपूर्ण सृष्टि का निर्माण हो पाया ? और यदि कहते हो कि ईश्वरेच्छा ही अधूरी थी अतः संपूर्ण या अधूरी सृष्टि का ही निर्माण हो पाया तो ईश्वर को नित्य रहने की क्या आवश्यकता है ? क्यों कि अब नित्य - प्रतिदिन सृष्टि कहाँ बनानी है ? और यदि नित्य-प्रतिदिन बनाता ही जाता है तो प्रथम बार इच्छा मात्र से संपूर्ण सृष्टि बन गई - ऐसा तो कह ही नहीं सकते

और यदि न हुई तो क्यों न हुई ? क्या ईश्वरेच्छा अधूरी थी ? तब तो ईश्वर की सर्वज्ञता पर भी प्रश्न चिन्ह लग जाता है । सर्वज्ञ हो तो अधूरी इच्छा क्यों करे ? सर्वज्ञ वही कहलाता है जो सभी पदार्थों के द्रव्य, गुण, पर्यायों को जानसकता हो तो सर्वज्ञ ईश्वर को एक साथ सभी पदार्थों को उत्पन्न करने की सभी इच्छाएँ एक साथ क्यों न हुई ?

क्या ईश्वर के इच्छा करने पर भी सृष्टि के सभी कार्य तत्काल सम्पन्न नहीं होते ? इससे तो क्या समझा जाए ? या तो ईश्वर की इच्छा अधूरी अथवा ईश्वर के सामर्थ्य में न्यूनता थी । सामर्थ्य में न्यूनता का क्या कारण हो सकता है ? सामर्थ्य क्या तप या साधना करने से प्राप्त हुआ था । सामर्थ्य किससे प्राप्त होता है । सामर्थ्य यदि तप या साधना से प्राप्त हुआ था, तो ईश्वर ने किसकी साधना की थी जिससे वह सृष्टि निर्माण करने में सफल हो सका ? यदि अब सामर्थ्य में न्यूनता आई तो ईश्वर क्या करेगा ? क्या वह पुनः तप या साधना करने जाएगा ? सृष्टि रचना कैसे करेगा ? यदि रचना करेगा भी तो अपूर्ण सामर्थ्य से अपूर्ण सृष्टि ही बना पाएगा और अधूरा सामर्थ्य होगा और बनाएगा नित्य प्रतिदिन बनाएगा तब भी अधूरी सृष्टि ही बन पाएगी । अधूरी बनने में दोनों प्रकार से अधूरी कहलाएगी । कार्य या तो बिगड़ जाए अथवा पूर्ण न हो इन दोनों ही कारणों से कार्य की अपूर्णता मानी जाती है । अब इन में से कौन सा पक्ष स्वीकार करें ? क्या यह मानें कि ईश्वर के हाथों से सृष्टि - रचना के अनेक कार्य बिगड़ गए ? कार्य जैसे होने चाहिए थे, वैसे न हो पाए । अतः सृष्टि-कार्य में विकृति आ गई। यदि यह पक्ष स्वीकार करते हैं, तो ईश्वर की सर्वज्ञता का पक्ष हाथ में से खिसक जाता है । तो क्या सर्वज्ञ के हाथों से भी कार्य बिगड़ जाते हैं ? यह कैसे संभव हो सकता है ? यदि कार्य बिगड़ जाता है तो अज्ञानता सिद्ध होती है और अज्ञानता अल्पज्ञता की परिचायिका है ? कि सर्वज्ञता की ? और ऐसा अकुशल अल्पज्ञ यदि सृष्टि बनाता है तो नित्य प्रतिदिन बनाते रहने पर भी उसकी क्रियाकुशलता को हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? तब तो नित्य प्रतिदिन कार्य बिगड़ते जाते होंगे ? तब इस विषय में ईश्वर के पास शिकायत लेकर कैसे जाए ? शिकायत करें भी तो क्या और किसे करें ?

यदि अल्पज्ञ की ही सृष्टि माननी हो तब तो हम सभी जीव अल्पज्ञ ही हैं। तब फिर हमारे द्वारा ही निर्मित-रचित सृष्टि मान लें तो इस में क्या आपत्ति है ? अल्पज्ञ की सृष्टि मान लें तब तो हम सभी मनुष्य अल्पज्ञों की गणना में ही आने

वाले होने से ईश्वर ही सिद्ध हो जाते हैं, अतः यह पक्ष भी मान्य नहीं है ।

ठीक है तो फिर हमारा अगला प्रश्न यह है कि यदि आप कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है - नित्य है तो वह किस स्वरूप में नित्य है ? ईश्वर सशरीरी स्वरूप में नित्य है या अशरीरी स्वरूप में नित्य है ? इच्छायुक्त ईश्वर नित्य है या अनिच्छायुक्त ईश्वर नित्य है ? सृष्टि कार्य स्वरूप में नित्य है अथवा सृष्टि कार्य के बिना भी नित्य है ।

इस प्रकार अनेक प्रश्न उपस्थित होंगे, परन्तु देखना यह है कि कितने प्रश्न सुसंगत उतरते हैं ? यदि ईश्वर सशरीरी ही न हो तो सृष्टि की रचना वह कैसे कर सकता है ? इस संबंध में चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं । अशरीरी अर्थात् मुक्त के तो हाथपाँव आदि अंगोपांग शरीर के अभाव में होते ही नहीं, तब वह सृष्टि का निर्माण कैसे कर सकता है ? यदि सशरीरी मानते हैं तो उसका नित्यत्व समाप्त हो जाता है । यह तो मेंढक - क्रीडा जैसा हुआ । एक मेंढक को पकड़कर रखा और दूसरे को पकड़ने गए कि पहला बच निकला और उसे पकड़ने के प्रयत्न में दूसरी छलांग मार जाता है । परिणाम यह होता है कि घंटों तक अथक प्रयत्न करने वाला भी आखिरकार उबता जाता है ।

ऐसा ही तमाशा यहाँ भी है । ईश्वर के संबंध में भी तीन जोड़ने के प्रयास में तेरह टूटने जैसी स्थिति है । ऐसी कठिनाइयों से पूर्ण ईश्वरकर्तृत्ववाद का यह सिद्धान्त है, फिर भी मानना मतलब मानना - ऐसा हठाग्रह है - कदाग्रह है, परन्तु कदाग्रह से सत्यता या वास्तविकता सिद्ध नहीं होती है ।

अब सृष्टि कार्य साधने के लिये यदि सशरीरी पक्ष को पकड़े रखते हैं तो नित्यता का पक्ष चला जाता है । बात स्पष्ट है कि सशरीरी सदा काल तो नित्य कैसे रहेगा? शरीर जड़ पौद्गलिक है । आत्मा नित्य है । आत्मा शरीर-परिवर्तन करती ही रहती है । इस शरीर परिवर्तन की प्रक्रिया को ही जन्म-मरण कहते हैं । एक शरीर को धारण करना जन्म कहलाता है, धारित शरीर में निश्चित काल तक रहने का नाम जीवन है और अवधिपूर्ण होने पर उस शरीर के परित्याग का नाम मरण-मृत्यु है । तब तो क्या समझा जाए ? क्या ईश्वर भी इस प्रक्रिया से गुजरता है ? क्या वह भी जन्म-जीवन और मृत्यु धारण करता है ? तब तो उसमें और हमारे में अन्तर ही क्या रहा ? फिर तो नित्यता का पक्ष टिकता ही नहीं और अनित्यता का पक्ष तो हमारे जैसा ही है । अनित्यता पक्ष तो हमें लागू होता है और वही अनित्यता का पक्ष यदि ईश्वर को भी लागू हो तब तो अनित्यता की

दृष्टि से तो हम और ईश्वर सदृश ही रहे, फिर तो हमारे जैसे सामान्य व्यक्तिओं को भी ईश्वर क्यों न माना जाए ? और इस प्रकार मानते हैं तो एकेश्वर पक्ष का मेंढक कूद पड़ता है । कितनों को ईश्वर मानें । फिर तो सभी को ईश्वर मानना पड़े । अतः इस भय से बचने के लिये नित्यता का पक्ष पकड़े रहते हैं, परन्तु यदि नित्यता का पक्ष पकड़े रखते हैं तो सृष्टि रचना के लिये सशरीरी होना आवश्यक है या नहीं ? यदि अशरीरी रहकर सृष्टि रचना करता है - ऐसा मानें तो मुक्तात्मा, सिद्धात्मा जो सदा अशरीरी हैं, उन में अतिव्याप्ति हो जाती है । तब तो उन्हें भी सृष्टि की रचना करने वाले मानना पड़ेगा । दूसरी ओर यदि अशरीरी ईश्वर इच्छा मात्र से सृष्टि की रचना करता है यह पक्ष मानने लगे तो प्रश्न होता है कि इच्छा से कार्य निष्पत्ति होती है अथवा शरीर से होती है ? इच्छा विचारों की जनेता है परन्तु कार्यात्पत्ति करने का मुख्य कारण नहीं । सम्पूर्ण जगत में हम नित्य देखते हैं कि किसी की भी इच्छा होने के साथ ही, इच्छा मात्र से कार्य न हुए हैं न होते हैं । तो ईश्वर की इच्छा मात्र से सृष्टि कैसे हो गई ? इस प्रकार चारों ओर से घिर जाने वाले जगत् कर्तृत्ववादीगण निरुत्तर हो जाते हैं ।

नित्यता पक्ष मानने में दोष :-

दूसरी ओर ईश्वर को यदि नित्य माना जाए तो उसे किस स्वरूप में नित्य मानें ? शरीर सहित नित्य मानें या इच्छा के योग से नित्य मानें या अशरीरी रूप में नित्य मानें अथवा सृष्टि कर्ता के रूप में नित्य मानें ? इन में से किस अर्थ में ईश्वर को नित्य मानें ? प्रबल पक्ष कौन सा ? चलो, सशरीरी या अशरीरी पक्ष को एक ओर रख देते हैं, पर इच्छा और सृष्टिकर्ता पक्ष तो ईश्वरवादीओं को भी मान्य है और इस दृष्टि से भी विचार करें तो प्रश्न होगा कि क्या ईश्वर नित्य है ? या ईश्वर की इच्छा ? ईश्वर यदि नित्य हो तो इच्छा को नित्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्या ? या फिर ईश्वर इच्छा के साथ नित्य है क्या ? अथवा क्या ईश्वर की इच्छा भी नित्य है ? वस्तु स्थिति क्या है ? यदि इच्छा अनित्य है, ईश्वर इच्छा के कारण क्या नित्य नहीं है ? इसका अर्थ यह हुआ कि कभी ईश्वर इच्छा रहित भी होता है । तो इच्छा रहित ईश्वर क्या करता होगा ? और यदि इच्छा तत्त्व ईश्वर में से चला जाय तो फिर सृष्टिरचना कैसे होती होगी ? क्यों कि इच्छा के बिना सृष्टि होती नहीं, इच्छा से ही सृष्टि होती है; तब ऐसी स्थिति में क्या समझा जाए ? ईश्वर से सृष्टिरचना होती है या इच्छा मात्र से ? इन दोनों में से कौन सा पक्ष सही

है ? यदि इच्छा मात्र से सृष्टिरचना होती है तो ईश्वर की कीर्ति कुछ भी नहीं रहती है । इस प्रकार तो इच्छा का महत्व बहुत बढ़ जाता है । परन्तु यह इच्छा क्या है ? जड़ है या चेतन ? द्रव्य है या गुण वास्तव में जड़ और चेतन - ये दो द्रव्य ही जगत के मूलभूत द्रव्य हैं । इन में इच्छा द्रव्य भी नहीं है कर्ता शक्ति भी नहीं है । जो द्रव्य होता है उसी में कर्तृत्व शक्ति होती है, इसलिये द्रव्य को ही सक्रिय कहा गया है । न तो इच्छा को चेतन कह सकते हैं न चेतन को जड़ कह सकते हैं । क्यों कि दोनों द्रव्य रूप से इच्छा नहीं और द्रव्य नहीं है तो गुण स्वयं कर्ता नहीं होते हैं तो ईश्वर की इच्छा मात्र से सृष्टिरचना कैसे हो गई ?

अथवा ऐसा कहो कि ईश्वर कर्ता है, इच्छा तो मात्र निमित्त है, तो इच्छा के निमित्त योग से किसी में भी कर्तृत्वपन आ जाता है - ऐसा मानते हो तो सामान्य मनुष्यादि जो जीव है, उन में भी आपत्ति आएगी, क्यों कि सामान्य मानव में भी इच्छा हो सकती है और इस इच्छा के कारण मानव में भी सृष्टिरचना संबंधी कर्तृत्व शक्ति आ जाएगी ? तब तो सभी जीव इच्छा का निमित्त कारण लेकर सृष्टि की रचना करने लग जाएँगे । फिर तो सभी जीवों को ईश्वर कहने का समय आ जाएगा । यह तो और भी कठिनाई बढ़ जाएगी । अब क्या हो ईश्वरवादी तो ठीक शिकंजे में आ गए हैं ।

दूसरी ओर इच्छा के कारण ईश्वर नित्य है और सृष्टि रचना करने की नित्य इच्छा के कारण ही ईश्वर इच्छानुसार सृष्टि की रचना कर सकता है - ऐसा भी यदि आप कहते हैं तो आपत्ति यह आएगी कि ऐसी सृष्टिरचना करने की नित्य इच्छा ईश्वर में है अतः ईश्वर सृष्टि की रचना करता है । ऐसा मानते हैं तो नित्य ईश्वर नित्य काल अर्थात् हर समय सदा काल सृष्टि की रचना करता ही रहे। सृष्टि रचना प्रतिपल न करे और निवृत्त होकर बैठा रहे तो उसकी नित्यता चली जाए और नित्य ईश्वर यदि सृष्टिरचना करता ही रहे तो आज भी सृष्टि अधूरी-अपूर्ण ही माननी पड़े ? नित्यता काल के साथ संबंध रखती है, अतः नित्य का काल सापेक्षित अर्थ यह होता है कि जो अनादि अनंत हो वह नित्य जिसकी न आदि हो, न अंत हो वह नित्य कहलाता है, अर्थात् ईश्वर अनादि अनंत नित्य कहलाता है ।

चलो, घड़ीभर मान लेते हैं, पर इस नित्यता के आधार पर भूतकाल में कितना काल बिता ? कितने वर्ष बीते ? अनादि अर्थात् जिसकी कोई आदि ही नहीं ऐसे अनादि काल से ईश्वर सृष्टि रचना का कार्य करता ही चला आ रहा है।

आज तक कितने वर्ष बीत गए ? उत्तर हैं - अनंत । अनादिकाल से आज तक अनंत वर्षों में भी सतत रचना करते हुए भी क्या ईश्वर की सृष्टि पूर्ण नहीं हुई ? और यदि उत्तर देते हो कि पूर्ण हो गई तो बस, सृष्टिरचना की समाप्ति के साथ इच्छा भी समाप्त हो गई, क्यों कि उसी कार्य के अनुसार इच्छा थी । अतः कार्य समाप्ति के साथ कारण की भी समाप्ति माननी ही पड़ती है, और ऐसा करते हैं तो पुनः इच्छाविहीन ईश्वर सिद्ध हो जाता है । अनादि - अनंत काल से सतत जिसकी रचना चल रही हो और वह भी नित्य ईश्वर के द्वारा और फिर भी यदि सृष्टिरचना का कार्य पूर्ण नहीं होता, समाप्त नहीं होता, तो फिर संकल्प मात्र में अथवा इच्छा करने मात्र में यह सृष्टि हो गई और जादूगर अथवा इन्द्रजालिक की तरह क्षण भर में सृष्टि की रचना हो जाती है । यह पक्ष तो मिथ्या सिद्ध हुआ न ? यह स्पष्ट बात है । यह अनादि - अनंत नित्य मान्यता स्वीकार करते हो तो फिर संकल्प मात्र से अथवा इच्छा करने मात्र से सृष्टि की रचना हो जाती है - यह पक्ष कहाँ से सिद्ध होगा ? यह भी टिक नहीं सकता है । और यदि इच्छा या संकल्प मात्र का पक्ष टिकता ही न हो, तो फिर, ईश्वर नित्य सृष्टि की रचना करता है, और उसमें अनादि अनंत काल लगा है - यह सिद्ध हो जाए तो दीर्घकाल तक चलते हुए सृष्टिरचना के कार्य में पहले जो जीव उत्पन्न हुए होंगे उन जीवों ने तो ईश्वर द्वारा रचना की जाती हुई सृष्टि को देखा ही होगा न ? या नहीं देख सके । चलो ! दूसरों की बात जाने दो । आज हम तो हो चुके हैं । मानव सृष्टि की रचना तो हो चुकी है और ईश्वर तो नित्य हैं । उसका यह सृष्टिरचना का कार्य तो नित्यता के आधार पर सतत चल ही रहा है, तो वह कार्य हम सब को तो दिखना चाहिये न ? क्यों नहीं दिखता है ? इसका क्या कारण है ? यदि किसी ने देखा नहीं अतः सृष्टि रचना का कार्य नहीं चलता है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? भले ही चलो मान लें कि किसी को दिखाई न पड़ने पर भी सृष्टि रचना का कार्य सतत चल रहा है तो यह कार्य कहाँ किस क्षेत्र में चल रहा है ? जो कार्य करना होता है वहाँ वह ईश्वर बैठकर काम करता है या स्वर्ग में बैठकर वहाँ बना बनाकर वर्षा की भाँति यहाँ पृथ्वी पर भेज देता है । इसी प्रकार ईश्वर ने स्वर्ग में ही बैठे बैठे पृथ्वी - पर्वत - वृक्ष - पानादि बना बना कर यहाँ भेज दिया - ऐसा मानें क्या ? तो फिर स्वर्ग की रचना कहाँ बैठ कर की ? क्या पृथ्वी पर बैठकर की ? और यदि पृथ्वी पर यहा रहकर ईश्वरने स्वर्ग-नरक की रचना की तो हम उसे क्यों नहीं देख सके ? क्या वह है ? अदृश्य या उसके द्वारा किया जाता सृष्टि रचना का कार्य

अदृश्य है भलेही अदृश्य मान ले पर सृष्टि रचना का चलता हुआ कार्य अदृश्य यह तो सर्वथा असंभव है/वास्तविकता तो यह है कि कहीं भी बैठकर ईश्वर सृष्टि की रचना ही नहीं करता तो फिर प्रदर्शन करने का तो प्रश्न ही कहां उठता है ?

रचना के साथ संहार क्यों ?

यदि आप इस पक्ष को स्वीकार करते हैं कि नित्य ईश्वर सतत सृष्टि रचना का कार्य कर रहा है तब संहार या प्रलय का विचार ही कहां आया ? यह नवीन इच्छा कहां से आई ? और जब ईश्वर की अभी तक तो सृष्टि रचना चल ही रही है, कार्य नियमित रूप से चल रहा है, तो ऐसा क्यों हैं ? क्या ईश्वर अपनी नित्यता बनाए रखने के लिये सृष्टि रचना का कार्य अनवरत रूप से नित्य किये जा रहा है ? क्या ऐसा मानोगे ? ठीक है तो फिर जिस सृष्टि रचना का कार्य अभी तक चल रहा है और जो सृष्टि अभी तक अधूरी है, अपूर्ण है तो समझ में नहीं आता कि अभी तक कौन से कार्य करने शेष रह गए हैं ? जीव-सृष्टि हो गई पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाश वृक्ष-पुष्प-पत्ते फलादि सब कुछ कभी का हो चुका है, और अनादि से लगाकर आज तक अनंत काल व्यतीत हो चुका हैं, साथ ही रचयिता भी कोई जैसा-तैसा सामान्य कोटि का जीव नहीं, बल्कि सर्व सामर्थ्य सम्पन्न सर्व शक्तिमान् ईश्वर है फिर भी सृष्टि - रचना का कार्य अभी तक समाप्त नहीं हुआ ? तो क्या ईश्वरीय शक्ति में न्यूनता आ गई ? क्या उसका सामर्थ्य घट गया, क्या इच्छा अवरुद्ध हो गई, या क्या हुआ ? क्या कारण है कि अभी तक सृष्टि पूरी नहीं हुई ? वास्तव में सृष्टि रचना का कार्य ही समाप्त नहीं हुआ या मात्र ईश्वर की नित्यता को टिकाए रखने के लिये यह ढाल खड़ी की गई है ? नहीं। तब फिर सृष्टिरचना का कार्य कब समाप्त होगा ? कभी न कभी तो पूर्ण होगा या नहीं ? यदि हां, कहते हो तो जब भी यह कार्य पूर्ण होगा, उसके साथ ही ईश्वर की नित्यता भी समाप्त हो जाएगी । अर्थात् सृष्टि रचना का कार्य की समाप्ति के साथ ही ईश्वर की समाप्ति हो जाएगी । यदि ईश्वर की ही समाप्ति हो गई तो फिर सृष्टि-निर्माण के पश्चात् सृष्टि संचालन और महाप्रलय-संहार आदि कार्य कौन करेगा ? या क्या सृष्टि रचना का कार्य चल रहा हो, अभी तक पूर्ण न हुआ हो, उसके पूर्व ही ईश्वर सृष्टि का संहार-प्रलय कर डालेगा ? नहीं-नहीं ईश्वर इतनी बड़ी मूर्खता तो कदापि नहीं करेगा... तो क्या सृष्टि रचना का कार्य चलता ही रहेगा ? तो कहाँ चलेगा ? अभी और कितने वर्षों तक चलेगा ?

यह भी सोचो कि भूतकाल में अनादि से लेकर आज तक अनंत वर्ष व्यतीत हो चुकने पर भी अभी तक सृष्टि रचना का कार्य पूर्ण होगा ? और यदि होगा तो क्या उसमें भी अनंत वर्ष लगेंगे ? अर्थात् अभी तक सृष्टि रचना का ही कार्य यदि अनंत वर्षों तक चलने वाला हो - (होगा) तो फिर मध्य में ही ईश्वर महाप्रलय कैसे करेगा ? यदि सृष्टिरचना का कार्य अनंत वर्षों तक चलता ही रहेगा और पूर्ण न होगा तो ईश्वर के सिर अपूर्ण कार्य करने का आरोप आएगा और यदि अपूर्ण सृष्टि करके बीच में ही प्रलय - संहार करेगा तो भी संहार करने का कारण क्या होगा ? कार्य पूर्ण किये बिना ही प्रलय क्यों ? सृष्टि समाप्त करने की बात यदि आप कहते हैं तो.. नित्यता पक्ष समाप्त हो जाता है और नित्यता पक्ष को बचाने के लिये सृष्टि रचना का कार्य जारी रखने की बात करते हो तो प्रलय कार्य किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है ।

दूसरी ओर ईश्वर को आप लोग सर्वज्ञ कहते हो और अनंत काल जैसे दीर्घकाल में भी उस समर्थ-सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर से सृष्टि रचना का कार्य अपूर्ण है तो यह क्यों नहीं बताते कि अब किसका निर्माण शेष है ?

तो फिर ईश्वर सृष्टि की रचना नित्य स्वरूप में करता है - ऐसा मानने या यह मानें कि सृष्टि रचना का कार्य तो पूर्ण हो चुका है, अब तो वह मात्र संचालन करता है ? इसका कारण यह है कि नियंता भी ईश्वर ही है अतः अब तो मात्र संचालन ही करता है . इस बात पर एक बिन्दु तो सिद्ध हो गया कि सृष्टि रचना का कार्य पूर्ण हो चुका है - है न ? तो अब प्रश्न है कि यह कार्य कब पूर्ण हुआ ? क्या अनंत काल बीता ? नहीं.... अनंत नहीं तो बताओ कितना ? वरना, इस सृष्टि को अनादि अनंत तो कह ही नहीं सकते हैं ? फिर तो इसे सादि-सान्त ही कहना होगा ? क्यों कि रचना जारी है । कभी तो प्रारंभ करता है और कभी वह महा प्रलय के रूप में इसका संहार भी करता है । तो जिसकी आदि भी हो और जिसका अंत भी हो उसे अनादि - अनंत कैसे मान सकते हैं ? मान ही नहीं सकते। यदि सृष्टि को अनादि अनंत नहीं मानते हो तो ईश्वर को नित्य कैसे मानोगे ? क्यों कि आपने तो ईश्वर का आधार ही सृष्टि पर रखा है । सृष्टि निर्माण करते रहने के सिवाय ईश्वर के पास और तो कोई कार्य ही नहीं हैं । उसका कार्य तो आपने निर्माण - संचालन और संहार ही बताया है । दूसरी बात यह है कि जो अज्ञादि अनंत हो उसे ही नित्य कह सकते हैं । अब सृष्टि को तो बताया सादि और सान्त और ईश्वर को बताया अनादि - अनंत, तो इन दोनों विपरीत

स्थितियों का - पूर्व - पश्चिम का मेल कैसे संभव हो सका है ?

कारण यह है कि महा प्रलय हो जाने के बाद सृष्टि या सृष्टिरचना का कोई कार्य शेष नहीं होगा तब ईश्वर का अस्तित्व किस प्रकार मानें ? तब ईश्वर कहां रहता होगा ? क्या करता होगा और उस ईश्वर की इच्छा का क्या हुआ होगा ? अब इच्छा क्यों न होती होगी ? तो क्या ईश्वर अब सर्वथा इच्छारहित हो गया ? यदि हाँ- तो इच्छा रहित होने का कारण क्या ? क्या इस सृष्टि रचना कार्य से थकान आ गई, उष गया ? यदि ईश्वर थक जाय तो उसकी सर्वशक्ति सम्पन्नता का क्या हुआ ? कहां चली गई ? ईश्वर की नित्यता का क्या ? अब सृष्टि और सृष्टि रचना का कार्य ही न रहा तो आप लोग जिस ईश्वर का आधार ही अब तक सृष्टि रचना तथा इच्छा पर रखते थे, उस ईश्वर का अस्तित्व अब प्रलय के पश्चात् कैसे मानना ? प्रलय के बाद ईश्वर की सत्ता मानने के पीछे अब कौन से प्रबल प्रमाण रह जाएंगे ?

प्रलय क्यों करता है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर स्वनिर्मित सृष्टि का प्रलय संहार क्यों करता है ? जिस सृष्टि के निर्माण में अनंत काल व्यतीत हुआ है, और अभी तक तो जिसकी रचना पूर्ण ही नहीं हुई उस सृष्टि का बीच में ही संहार क्यों करता है ? यह बात गले ही उतरती । इसके उत्तर में जगत् कर्तृत्ववादी क्या कहेंगे ? इसका ठोस कारण वे क्या देंगे ? क्या इसमें भी मात्र ईश्वरेच्छा ही मानें ? क्या सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर ईश्वरेच्छा ? क्या इसके सिवाय अन्य कोई बात ही नहीं है ? यह ऐसा उत्तर है जिसमें किसी की बुद्धि चलने का प्रश्न ही नहीं है ? ऐसे उत्तर देकर भी क्या आप तार्किक-शिरोमणि, तर्क चूड़ामणि, तर्कवागीश के विरुद्धों से सम्मानित होते हो - जो कितना उचित हैं ? यह तो जगत् के समक्ष सिद्ध हो जाता है ।

सामान्य बुद्धि से भी विचार तो करो कि जो माता अपने गर्भ में स्वरक्त से जिस संतान का निर्माण करके धरा पर जन्म देती है, जिस संतान के प्रति अपार वात्सल्य से ही जिसके रक्त में से दूध बनकर स्तनों में उभरता है और जिस पर बालक का आधार है, ऐसी वात्सल्य ममतामयी माता क्या स्वयं ही अपनी संतान का गला घोट देगी ? और हत्या कर दे या चीर कर खा जाए तो क्या उसे माता समझें या नरपिशाचिनी - राक्षसी समझें ?

इसी प्रकार ईश्वर का विचार करो । जिस ईश्वर को हम माता-पिता

परमपिता, जगत-पिता कहते हैं, उसी ईश्वर को ही प्रलय कर्ता-संहर्ता कहने में हमें संकोच भी नहीं होता है ? शर्म भी नहीं आती है ? ईश्वर की क्या यह क्रूर मजाक नहीं है ? जगत निर्माता जगतपिता को जगत का ही संहारक प्रलयकर्ता कैसे मानें ? ऐसा मानने का कोई कारण तो होना चाहिये न ? खैर, पलभर हम मान भी लें तो किस कारण से और क्यों ईश्वर सृष्टि का प्रलय करता है ? कोई कारण तो होना चाहिये न ? या क्या बिना किसी कारण के वह ऐसा करता है । तो क्या आप जैसे महातार्किक बिना कारण कार्य की सत्ता स्वीकार करेंगे भला ? कारण ढूँढ ढूँढकर तर्कवादी बने हुए आप जैसे बुद्धिशाली यहाँ हाथ ऊँचे कर के बुद्धि के द्वार बंद कर कह दें कि नहीं - नहीं इसमें तो कोई कारण नहीं है, एक मात्र ईश्वरेच्छा ही प्रबल कारण है, तो क्या यह कारण देने में आपकी विद्वत्ता सिद्ध होगी ? क्या आपकी तर्कशक्ति कसौटी पर सही उतरेगी ? नहीं, सर्वथा असंभव बात हैं ।

चलो ! ईश्वरेच्छा को कारण गिनते हो तो फिर किस प्रकारकी ईश्वरेच्छा कारण बनी ? प्रश्न यह भी होगा कि ईश्वर एक इच्छावाला हैं या अनेक इच्छा वाला है ? ईश्वर को सर्व इच्छा सम्पन्न मान सकते हैं तब तो अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाएँ ईश्वर को होती होंगी ? जिस प्रकार हमें अच्छी और बुरी सभी प्रकार की इच्छाएँ होती हैं, उसी प्रकार सभी तरह की इच्छाएँ ईश्वर को भी होती ही होगी ? यदि इसका उत्तर नकारात्मक हैं तो फिर महा प्रलय की संहार इच्छा को अच्छी समझें या बुरी समझें ? ऐसी प्रलयकारी संहारेच्छा को यदि अच्छी समझी जा सकती है तब तो बच्चे की हत्या कर डालने की माता की इच्छा को अच्छी समझने में क्या आपत्ति है ? समाजमें ऐसी माताओं को शाबाशी के साथ साथ मान-सम्मान मिलना चाहिये, पुत्र-हत्यारि माता को पुरस्कृत करना चाहिये-परन्तु हमारे मानव समाज में आज तक ऐसा कभी हुआ है क्या ? जो माता स्वयं संतान को जन्म देती है, उसे भी अपनी ही संतान की हत्या करने का कोई अधिकार नहीं है । भले ही वह जन्मदाता माता कहलाती हो, क्यों कि यह भी पंचेंद्रिय वधस्वरूप घोर पाप हैं । तो क्या ईश्वर को यह घोर पाप नहीं लगता ? माता यदि मार भी डाले तो एकाद संतान को मारे और उसे 9 जीव के ही वध का पाप लगे और ऐसे पंचेंद्रिय वध से उस माता का जीव नरक का कर्म उपार्जन करे; परन्तु समस्त सृष्टि में तो अनंत जीव हैं और अनंतजीवों के वध का पाप ईश्वर को अनंतगुना लगता होगा, तो ईश्वर की कौन सी गति होती होगी ? नरक

में भी उसे कौन सी नरक मिलेगी ? सातवीं से आगे आठवीं नरक तो है ही नहीं। एक पंचेन्द्रिय जीव की हत्या के पाप से सातवीं नरक में जाना पड़ता है तो अनंत जीवों का संहार करने वाले को कौन सी गति मिलनी चाहिये ? वह किस नरक में जाना चाहिये ?

पाप तो पाप ही हैं । पाप सभी के लिये समान स्वरूप में होता है । जैसे विष विष ही है । विषपान करने वाले सभी पर समान प्रभाव होता है । विष किसी के साथ भेद-भाव नहीं करता । ऐसा ही पाप के विषय में भी समझें । पाप भी किसी के साथ भेद-भावपूर्ण व्यवहार नहीं करता है । पाप कर्म जो भी करेगा वह भोगेगा भी । पापकर्ता भले ही छोटा व्यक्ति हो या बड़ा व्यक्ति हो, सामान्यजीव हो या विशेष जीव हो - पाप कर्म किसी के प्रति भेद-भाव या पक्ष पात नहीं करता है । महावीर स्वामी तीर्थंकर भगवान् थे, पर उनको भी अपने पूर्वजन्मों में कृत पापकर्मों के फल चखने ही पड़े थे, यहाँ तक कि अपने अन्तिम भव में भी पूर्व के घोर पाप कर्मों के पलस्वरूप दारुण कष्ट सहन करने पड़े थे - इस में दो मत ही नहीं हैं । यह नियम छोटे - बड़े सभी के लिये समान रूप से लागू होता है - भले ही वह ईश्वर महेश्वर क्यों न हो ? यदि ईश्वर भी अनंत जीवों का संहार करता है - महाप्रलय करता है तो वह भी अनंतगुने पाप का भागी होता है, और इसके परिणामस्वरूप वह भी नरकगामी होता है । किस नरक में जाए-कितनी बार जाए ? कैसी नरक-वेदना भोगे - और उसका कितना उत्पीड़न होगा ? यह तो ज्ञानी - महात्मा ही जानें ।

दयालु ईश्वर महा प्रलय क्यों करे ?

हम सब ईश्वर को कृपालु-दयालु-करुणामय आदि शब्दों से संबोधित करते हैं । कुरानवादी अल्लाह के अनुयायी भी उसे रहीम कहकर करुणा, दया करने वाले के अर्थ में ही स्वीकार करते हैं । बाइबिल को मानने वाले ईसाई भी Mercy शब्द से संबोधित करते हुए कहते हैं Oh God is Thou art Merciful अर्थात्, हे ईश्वर तू दयालु है , Mercy thy name is God दया का नाम ही ईश्वर है । God is the father of the world ईश्वर जगत का पिता है । ईश्वर को पिता तुल्य दयालु मानने वाले उसकी इतनी इतनी प्रशंसा करने वाले क्या उसी के हाथों पुनः पुनः सृष्टि का प्रलय मानते हैं ? ऐसा क्यों ?

ईश्वर सृष्टि का संहार क्यों करता है ? यदि उनका ईश्वर स्वयं सर्वज्ञ है,

तब तो वह स्वयं भविष्य को भी तो जानता ही होगा न ? क्या वह नहीं जानता होगा कि जिस सृष्टि का प्रलय मैं करता हूँ, वह मुझे पुनः बनानी पड़ेगी ? जो है उसे समाप्त कर पुनः रचना करने का श्रम करने के बजाय जो है वही क्या बुरी है ? निर्मित किसी वस्तु को समाप्त कर दूसरी कोई भी नवीन वस्तु कोई कब बनाता है ? या तो पूर्व रचित वस्तु में कोई बड़ी भूल हो गई हो, सोचा था कुछ और हुआ कुछ और या चिंता की स्थिति में बनाई हो और उसमें कोई त्रुटि रह गई हो । बड़ी भूल के भी अनेक प्रकार हैं ।

एक कलाकार गणपति की मूर्ति बना रहा था । उसने खूब परिश्रमपूर्वक एक अति सुन्दर मूर्ति बनाई थी, परन्तु किसी व्यग्रता चिंता के कारण भूल हो गई और नाक के स्थान पर आगे सुँढ़ लगाने के बजाय पीछे पूँछ लगा दी जिससे गणपति के स्थान पर हनुमानजी की मूर्ति बन गई । अब क्या हो ? लो कोई बात नहीं । हनुमानजी भी देव ही है न ? बाद में पुनः बिखेर कर गणपति बनाए ? ऐसी कोई बड़ी भूल हुई हो तभी कार्य पुनः किया जाता है । ईश्वर सृष्टि का प्रलय करता है और पुनः उसका निर्माण करेगा - इस से सिद्ध होता है कि ईश्वर को ऐसा लगा होगा कि सृष्टि की रचना में कोई बड़ी गंभीर भूल रह गई है अतः चलो फिर से बना लूँ । यदि इस पक्ष को स्वीकार करते हैं तो ईश्वर की सर्वज्ञता में शंका हो जाती है । क्या सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा ऐसी भूल होना संभव है ? क्या सूर्य में भी अँधकार रहने की बात कभी सुनी है ? क्या ईश्वर सर्वज्ञ हो और भूल भी कर ले ? तब तो भूल करे उसे भगवान मानें अथवा यह मानें कि जो भगवान हो उसमें भूल हो जाती हैं, वह भूल कर बैठता है । तब यह क्यों कहा गया है कि *To err is human* इसके बजाय यह क्यों नहीं कहा गया कि *To err is God, or To err is divine* ? कौन सा पक्ष सच्चा मानें ? इन दोनों पक्षों में से एक भी मानते हैं तो भगवान का भगवानपन ही चला जाता है और भूल करे उसे यदि भगवान मानने की तैयारी हो तो नित्य सँकड़ो मनुष्य अनेक भूल करते हैं, तो उन सब को भगवान क्यों नहीं मान लेते ? तब तो स्पष्ट मना करते हो । कोई बात नहीं, तो क्या इस बात को स्वीकार करते हो कि भगवान हो तो भूल भी हो सकती हैं ? नहीं, नहीं, तब तो सृष्टि बनाई उसमें भूल अवश्य रही होगी - इसीलिये तो संहार कर दूसरी बार नई बनाने की बात करते हैं, वरना ऐसा क्यों कहें ? यदि भूल को ईश्वर में स्वीकार करते हैं तो उसका ईश्वरत्व ही नष्ट हो जाता है । सर्वज्ञ हो और भूल करे - सर्वथा असंभव है । यदि सृष्टि में भूले ही दिखाई पड़ती हो तो इस

सृष्टि के निर्माता को सर्वज्ञ कैसे कह सकते हैं ? क्यों कि भूल किससे होती है - सर्वज्ञ से अथवा अल्पज्ञ से ? भूल तो अल्पज्ञ ही करता है । अल्पज्ञ तो हम हैं। यदि भूलों से भरी सृष्टि के रचयिता ईश्वर भी इस प्रकार अल्पज्ञ सिद्ध हो तब तो अल्पज्ञता की दृष्टि से हम और ईश्वर एक ही स्तर पर आ जाते हैं, समान सिद्ध हो जाते हैं । यदि हम और ईश्वर दोनों समान ही हों, तब फिर ईश्वर को ही महान् कहने के पीछे क्या आधार हो सकता है ? कुछ भी नहीं । और जब कुछ भी नहीं मिलता है तो सृष्टिवाद पुनः आगे रख देते हो । भूल तो भूल ही होती है - चाहे मानवकृत हो या ईश्वर कृत । भूल एक अपराध हैं, चाहे वह मनुष्य से हो या ईश्वर से हो । भूल भरी सृष्टि बनाने वाला यदि ईश्वर है तो वह भी अपराधी ही है, उसे महान् कैसे कह सकते हैं ? उस में और सामान्य मानव में कोई अन्तर नहीं रहता है ।

जब सारी सृष्टि एक समान ही बनानी है तो बनी हुई सृष्टि का संहार करने का प्रयोजन क्या ? वेद में भी कहा है कि 'धाता यथा पूर्वमकल्पयेत्' विधाता ने जिस प्रकार की सृष्टि की रचना पूर्व में की थी उसी प्रकार - वैसी ही सृष्टि इस बार भी बनानी है । और आगे भी बनानी है । इससे एक बात तो यह सिद्ध हो जाती है कि सर्व काल में सृष्टि एक जैसी ही होती है । एक के बाद दूसरी में किसी प्रकार का सुधार-वृद्धि जैसा कुछ भी नहीं होता है, तब तो बनी हुई सृष्टि का संहार कर पुनः वैसी ही दूसरी बनाने में तो ईश्वर का श्रम निरर्थक ही हुआ न ? इसका अर्थ क्या यह समझें कि ईश्वर निरर्थक - बिना प्रयोजन भी कुछ करता है ? नीतिकार तो कहते हैं कि - "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोदपि न प्रवर्तते-" अर्थात् प्रयोजन - उद्देश्य के बिना तो मंदबुद्धि मूर्ख भी कोई प्रवृत्ति नहीं करता - तब फिर ईश्वर जैसा महान् ईश्वर क्या निष्प्रयोजन ही प्रवृत्ति करता है ? यह बात कैसे मान लें ? क्यों कि दूसरी ओर सिद्धान्त मुक्तावलीकार ईश्वर को इन शब्दों से अभिवादन करते हुए कहते हैं कि 'लीलाताण्डवपंडित' अर्थात् तांडव लीला करने में निष्णात हैं ऐसे शंकर भगवान... । इस स्तुति में तांडव लीला शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार महाप्रलय या संहार के पीछे जब कोई कारण या प्रयोजन न मिला तब ईश्वरवादिओं ने संहार अथवा महा प्रलय को मात्र लीला शब्द कहकर बात को छोड़ दी है । सृष्टि निर्माण की बात भी लीला और सृष्टि संहार की बात भी लीला ? सब लीला ही लीला हैं तो फिर यह लीला क्या है ?

यहाँ उत्तर देते हैं कि लीला अर्थात् मात्र ईश्वरेच्छा । लीला का मूल कारण

ही इच्छा है । यदि इच्छा न हो तो लीला भी न हो । जैसे मिट्टी न हो तो घड़ा बने ही नहीं, अग्नि न हो तो धुआँ निकले ही नहीं, इसी प्रकार इच्छा तत्त्व न हो तो लीला भी न हो । अब हमें यदि लीला को रोकना हो तो ईश्वर की इच्छा को भी रोकनी पड़े, परन्तु दूसरे की इच्छा को हम होने से कैसे रोक सकते हैं ? जो स्वयं इच्छा करता है वही अपनी इच्छा को रोक सकता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति किसी के मन में जागृत होती हुई इच्छा को कैसे रोक सकता है ?

इच्छा का जो निरोध करे वह-योगी

इसी ईश्वरने जगत के जीवों को उपदेश देते हुए धर्मशास्त्र में कहा है कि इच्छाओं पर नियंत्रण करना चाहिये । इच्छा है आगास समा अणंतिया अर्थात् इच्छाए तो आकाश की तरह अनंत है, अतः इच्छाओं को उत्पन्न ही न होने दो । उत्पन्न होने से पूर्व ही उन पर नियंत्रण कर लो - *Nip the evil in the bud*. क्यों कि उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति बड़ा ही दुष्कर कार्य है । उत्पन्न इच्छाओं को यदि पूर्ण करने लगोगे तो अनेक अनर्थकारी पापों को निमंत्रण दे दोगे । इच्छा होने में तो एक सेकंड लगती है,, पर उत्पन्न इच्छा का कार्यान्वित करने के कठोर परिश्रम में नाना प्रकार के अनेक पापों से घिर जाओगे अतः इच्छाओं का निरोध करने में ही भलाई है - हित है . यदि इच्छाओं का निरोध करोगे तो योगी बन जाओगे वरना विपरीत स्थिति में तो भोगी ही रहोगे और इच्छाएँ करते करते दुःखी हो जाओगे, क्यों कि सभी की सभी इच्छाएँ कभी भी फलीभूत नहीं होती । सबके जीवन में दृष्टिपात करें तो हमें दिखता है कि इच्छानुसार कभी कुछ भी नहीं होता - यह बात अकाट्य है । कहा है कि - दरिद्राणां मनोरथा मनसि एव विलीयन्ते दरिद्रनारायणों के मनोरथ मनकी इच्छाएँ मन में समा जाती है - विलीन हो जाती हैं । इच्छानुसार कुछ भी नहीं होता, अतः इच्छाओं पर नियंत्रण रखो ।

ईश्वर के धर्मोपदेश की ये सभी बातें सच्ची, परन्तु इच्छाओं का नियंत्रण करें कैसे ? क्यों कि इच्छाएँ तो मन के आधीन हैं - ये मन में ही उत्पन्न होती हैं, अतः यदि मन पर अंकुश रखा जाए तभी इच्छा पर नियंत्रण रह सकता है, परन्तु मन वश में नहीं रहता - इसी की तो यह रामायण है । न तो इच्छाएँ छूटती हैं, न इन पर अंकुश लगता है और इसीलिये तो संसार में जीव दुःखी होते हैं, । इच्छा के कारण अनेक जीवों का जीवन दुःखो से परिपूर्ण रहता है । इसीलिये ईश्वर नने योग साधना-ध्यान मार्ग बताए हैं और कहा है कि इस ध्यान और योग साधना के

मार्ग पर चलकर योगी बन जाओ जिससे मन स्वतः वश में हो जाएगा । बस, फिर इच्छा ही नहीं जगेगी और जब इच्छाएँ ही नहीं जगेगी तो उनकी तुष्टि-पूर्ति हेतु भी आपको परिश्रम नहीं करना पड़ेगा । इस प्रकार इच्छाओं की पूर्ति हेतु जब कदम ही नहीं उठाओगे तो दुःखी होने से भी बच जाओगे ।

ईश्वर इच्छा निरोध क्यों नहीं करते ?

वाह भाई वाह ! उपदेश कितना सुंदर है । बिलकुल सही बात है । सभी दुःखों का मूल इच्छाएँ हैं, पर उसका घर भी ईश्वर ही है - यह कैसी विचित्रता ? ऐसा उपदेश देने वाला ईश्वर सर्वज्ञ है, स्वयं जानता है तो वह अपनी इच्छाओं का निरोध क्यों नहीं करता ? इच्छाएँ ईश्वर को भी होती हैं उसके मन में भी इच्छाएँ जागृत होती हैं - इसका प्रमाण ही यह है कि वह सृष्टि रचना या प्रलय आदि की लीलाएँ करता है । 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' - ये शब्द तो स्पष्ट लिखे गये हैं और इसीलिये धर्मशास्त्र भी डंके की चोट कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा ही बलवान है, उसकी इच्छा के अनुरूप ही संसार का घटनाचक्र चलता है । इच्छाएँ होती हैं इसीलिये ईश्वर लीला करता है, इच्छाएँ ही यदि न होती तो ईश्वर लीला ही नहीं करता । इच्छा कारण है और लीला कार्य है । मिट्टी और घड़े या अग्नि और धुएँ की भाँति इच्छा और लीला में कारण कार्य भाव संबंध है । इच्छा से ही लीला होती है ।

कार्याऽभावे कारणाऽभावः ? वा कारणाऽभावे कार्याऽभावः ? कार्य के अभाव में कारण का अभाव समझें या कारण के अभाव में कार्य का अभाव समझें। दोनों में से क्या समझें ? किसके बिना कौन रह सकता है ? कारण के बिना कार्य या कार्य के बिना कारण ? धुएँ के बिना अग्नि या अग्नि के बिना धुआँ ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि अग्नि - कारण के बिना धुएँ-कार्य रूप में रह ही नहीं सकता, परन्तु धुएँ के बिना अग्नि तो रह सकती है । इसी प्रकार यहाँ भी समझना है कि इच्छा कारण है । कारण के बिना कार्य नहीं होता है अतः इच्छा कारण के बिना लीला - कार्य संभव ही नहीं, हाँ, इच्छा लीला के बिना रह सकती हैं, क्यों कि यह कारण है ।

इस पर से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इच्छा होने के साथ यह आवश्यक नहीं कि लीला हो ही जाएगी । नहीं, मिट्टी पड़ी है तो घड़ा बन ही जाएगा, ऐसी बात नहीं है । जगत में मिट्टी तो पृथ्वी पर चारों ओर बहुत पड़ी

है, सारी की सारी कहाँ घड़े के रूप में बन जाती है, इसी प्रकार ईश्वर के मन में इच्छा होने मात्र से कार्य या लीला थोड़ी ही संभव है ? इच्छा हो वहाँ तक तो चिंता नहीं, भले ही हो, क्यों कि कारण तो ईश्वर के मन में इच्छा के रूप में पड़ा ही रहेगा। इतने मात्र से कौन सा कार्य हो जाने वाला है ? इसी नियम के अनुसार ईश्वर की इच्छा मात्र से ही या संकल्प मात्र से ही सृष्टि रचना नहीं हो जाती है यह निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है, तो फिर ईश्वर की इच्छा मात्र से सृष्टि हो जाती है यह कथन सत्य से कितना परे है ? अर्थात् इसमें तनिक भी सत्यता नहीं है ।

दूसरी ओर प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह बात जगत के सभी जीवों में सत्य स्वरूप में दिखाई देती है कि सब की इच्छा के अनुसार अथवा इच्छा होने मात्र से सब कार्य नहीं हो जाता । कार्य-कारण के अन्योन्याश्रित संबंध में कार्य का कारण के साथ संबंध अनिवार्य है, परन्तु कारण का कार्य के साथ नहीं । कार्य हो तो कारण अवश्य होगा परन्तु कारण होने पर कार्य हो और न भी हो उदाहरण के लिये धुआँ हो तो अग्नि अवश्य होगी, परन्तु अग्नि हो तो धुआँ हो और न भी हो जैसे लोहे के तपाए हुए गोले में अग्नि तो है, परन्तु धुआँ नहीं होता है । इसी प्रकार यहाँ प्रस्तुत प्रकरण में देखो कि लीला होगी तो उसके कारण भूत इच्छा अवश्य होगी । हाँ, इच्छा हो तो लीला हो भी सकती है, और न भी होने की संभावना है ।

परन्तु क्या ये दोनों -इच्छा और लीला सच्चे अर्थ में कारण-कार्य भाव के संबंध में हैं ? क्या लीला कार्य का कारण ईश्वरेच्छा ही है, या कोई अन्य कारण भी है । यदि कोई अन्य कारण भी है तो वह कौन सा कारण है ? नियम ऐसा है कि 'कार्यनियतपूर्ववृत्तित्व कारणम्' - अर्थात् कार्य के ठीक नियत पूर्ववृत्ति रहने वाले हो उसे कारण कहते हैं । यहाँ लीला कार्य के ठीक नियत पूर्ववृत्ति का कारण कौन सा है ? इच्छा या सामर्थ्य या ईश्वर स्वयं इन सभी प्रश्नों के उत्तर में सशरीरी ईश्वर तो जगत कर्तृत्ववादी मानते ही नहीं और सशरीरी ईश्वर ही न हो तो फिर इच्छा और सामर्थ्य कैसे संभव हो सकते हैं ? क्यों कि ये दोनों तो शरीरधारी में ही संभव हो सकती हैं । अशरीरी में इच्छादि की कभी भी संभावना नहीं हो सकती क्यों कि अशरीरी की तो मुक्तावस्था है सदैव के लिये मुक्तावस्था में रहे हुए सिद्ध - बुद्ध या मुक्त अशरीरी ही कहलाते हैं । मन तो शरीरधारी में ही होता है और समनस्क को ही इच्छाएँ होती हैं । इच्छा का उत्पत्ति स्थान एक मात्र मन ही है - शरीर नहीं । कार्यशक्ति स्वरूप सामर्थ्य भी सशरीरी में ही होता है । अशरीरी

मुक्तात्मा में मन भी नहीं होता, क्यों कि शरीर से ही सदैव के लिये मुक्त हो गए और एक मात्र शुद्धात्म स्वरूप में रहने वाले अशरीरी मुक्तात्मा को न मन होता है न इच्छा, न कार्य निर्माण शक्ति स्वरूप सामर्थ्य इनका त्याग कर वे मुक्त हो चुके हैं । जन्म-जीवन-मरण, उत्पत्तियोगि, आयुष्य, शरीर, कर्म, अवगाहना आदि मुक्तात्मा में कुछ भी नहीं होता . अतः यदि आप ईश्वर को अशरीरी गिनते हैं तो फिर अशरीरी ईश्वर में तो इच्छा और सामर्थ्य का होना असंगत बात है, इनका तो उसमें सर्वथा अभाव होता है तब फिर अशरीरी ऐसे आप द्वारा मान्य ईश्वर ने यह सृष्टि कैसे बनाई ? सृष्टि या लीला कार्य के पीछे नियत पूर्ववृत्ति कारण क्या बताओगे ? यदि कोई भी कारण न मिलेगा तो कार्य सिद्धि कैसे करोगे ?

यह तो आपके लिये “इतो व्याधस्ततो तट” जैसी स्थिति हो गई है । अब यदि आप तोड़ मरोड़कर भी सृष्टि कार्य की सिद्धि करने का परिश्रम करोगे और उसके लिये ईश्वर को कारण बनाने जाओगे तो ईश्वर का अशरीरीपन चला जाएगा और अशरीरीपन जाने के साथ साथ उसका मुक्तस्वरूप भी मिट जाएगा और उसके स्थान पर संसारी राग-द्वेष-कर्म बंध युक्त स्वरूप सामने आ जाएगा क्यों कि अविनाभाव संबंध है कि जो जो सशरीरी होते हैं वे सभी संसारी होते हैं और जो जो संसारी होते हैं वे वे निश्चित रूप से सशरीरी ही होते हैं और दूसरे ढंग से कहें तो जो जो संसारी सशरीरी होते हैं वे वे निश्चित रूप से राग-द्वेषादि कर्मयुक्त ही होते हैं । ऐसे राग-द्वेषादि कर्मबंध सशरीरी संसारी जीव में ही इच्छा मन तथा कार्य कारक सामर्थ्य शक्ति आदि संभव हैं, वे ही ऐसा कर सकते हैं - अशरीरी नहीं कर सकते हैं ।

इतनी दीपक जैसी स्पष्ट सिद्धान्त की बात हैं तो फिर आप ईश्वर को सशरीरी मानकर उसकी मुक्तावस्था - कर्म मुक्तावस्था क्यों समाप्त कर रहे हो और किसी भी प्रकार से बलात् सृष्टि का कार्य करने के लिये इच्छाधारी ईश्वर को कारण रूप सिद्ध करने का आग्रह क्यों रखते हो ? क्या आप नहीं जानते है कि आपके ऐसा करने से सम्पूर्ण ईश्वर का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है ? यह तो गधे की पूँछ पकड़े रखकर लात खाने जैसी बात हैं । इतनी लात खाने, लोह लुहान होने के बाद तो गधे की पूँछ कोई भी समझदार सज्जन, सयाना व्यक्ति अवश्य छोड़ ही देता है । आप भी इस कदाग्रह या दुराग्रह को छोड़ दो, इसी में आपकी समझदारी है, सज्जनता है क्यों कि किसी भी प्रकार से ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता और न किसी भी प्रमाण से यह सृष्टि ईश्वर निर्मित सिद्ध होती है, तब फिर

आप लोग संसार में मिथ्या प्रचार क्यों करते हैं कि सृष्टि तो ईश्वर की ही बनाई हुई है । ईश्वर की इच्छा से ही सब कुछ होता है । इस प्रकार मिथ्या असत्य प्रचार करके स्वयं ही ईश्वर का स्वरूप क्यों विकृत कर रहे हो ? क्या ईश्वर को बाज़ी पर लगाकर भी सृष्टि खड़ी रखनी है ? क्या ईश्वर को हानि पहुँचाकर भी इच्छा-लीला या सृष्टि का अस्तित्व बनाए रखना है ? यह कैसे शोभा देता है ? इस प्रकार ईश्वर विषयक मान्यता, ईश्वर निर्मित सृष्टि, ईश्वर की लीला, ईश्वर की इच्छा, इच्छा मात्र में सृष्टि की रचना, ईश्वर का सशरीरी अथवा अशरीरीपन ईश्वर की नित्यता, ईश्वर की सर्वज्ञता आदि अनेक विशेषण पक्ष तर्क - युक्ति की कसौटी पर सही नहीं उतरते हैं ।

यदि इतने से भी संतोष न हो तो अभी भी हम ईश्वर की सर्वज्ञता, ईश्वर की नित्यता ईश्वर का एकाकीपन, ईश्वर की सर्व व्यापकता आदि अन्य भी विशेषण जो पूर्व पक्षी जगत्कर्तृत्ववादी ईश्वर का स्वरूप सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत करते हैं, उन्हें भी कसौटी पर कस कर क्रमशः देख लेते हैं कि ये मत भी सत्य की तर्क युक्ति वाली कसौटी पर कितने शुद्ध सिद्ध होते हैं ? क्यों कि जिस ईश्वर को आजीवन मानना-पूजना-जपना है, जिसकी पूजा-अर्चना-आराधना करनी है उस ईश्वर का स्वरूप यदि विकृत रूप में जानेंगे या समझेंगे तो हमारा सम्पूर्ण जीवन अशुद्ध स्वरूप में आराधना-उपासना करने से निरर्थक जाएगा न ? फिर तो आजीवन आराधना करने का हमें क्या लाभ मिलेगा ? अतः जिसकी एक जन्म में ही नहीं, बल्कि भव-भवान्तर में भी आराधना करनी है, उसके विषय में सम्पूर्ण जानकारी - छानबिन करना नितान्त आवश्यक है । इसमें यदि कोई त्रुटि रह गई तो भयंकर मूर्खता कहलाएगी । सोने के क्रय में यदि कोई भूल हो गई तो अधिक से अधिक २-४-५-१० या २०-२५ हजार की ही हानि होगी, परन्तु यहाँ तो सारे ही जीवन और आगामी भवों की भी हानि होगी, महामिथ्यात्व का दोष लगेगा और मिथ्यात्व में अनेक कर्मों की दीर्घतम कर्म स्थितिओं का बंध होगा और उन कर्म स्थितिओं के बंध के कारण कितने जन्मों - भवों तक चार गति के चक्कर स्वरूप संसार में भटकना पड़ेगा । परिभ्रमण करना पड़ेगा - इसका किस पता है ? अतः जीवन में ऐसी भीषण भूल न हो जाए, इस दृष्टि से हजार बार विचार करके पहले से सोच-समझकर ईश्वर का स्वरूप स्वीकार करना ही उचित रहेगा ।

सम्पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् सत्य स्वरूप समझ लेने के पश्चात् यदि

आँखे मूंदकर श्रद्धा भाव से भवोभव आराधना करते हैं तो कोई समस्या ही नहीं रहती । एक बार गाड़ी की पटरी को सही दिशा मिल जाने के बाद तो आँखे बंद करके भी गाड़ी चलाएँ तो चलेगी । हमें भव भवान्तर का बड़ा दीर्घ विचार करना है, दीर्घ दृष्टि दौड़ानी है, अतः कसौटी के कुछ शेष बिंदुओं का हम आगे विचार करते हैं ।

ईश्वर की सर्व व्यापकता सही या गलत ?

जगत् कर्तृत्ववादी ईश्वर की महिमा में वृद्धि करने के लिये एक अन्य विशेषण कारणरूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि हमारे ईश्वर सर्व व्यापी हैं सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त हैं । इस विश्व में राई के एक दाने जितना भी रिक्तस्थल नहीं है, जहाँ ईश्वर न हो ? स्तुति करते हुए वेद-वेदांत में ऐसे श्लोक प्रस्तुत करते हैं।

जले विष्णुः स्थले विष्णु - विष्णु पर्वतमस्तके ।

सर्वभूतयो विष्णु - स्तस्माद् विष्णुमयं जगत् ॥

इस श्लोक में स्तुति करते हुए कहते हैं कि जल में विष्णु हैं, स्थल-पृथ्वी के सभी भागों में विष्णु है और पर्वत के मस्तक पर भी विष्णु है, सभी प्राणियों में विष्णु है, इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय ही है । विष्णु विहीन तिलमात्र भी रिक्त-स्थान इस विश्व में नहीं है । अर्थात् विष्णु से व्याप्त यह जगत् है । इस प्रकार सर्वजगत् में ईश्वर व्याप्त है ।

परन्तु ईश्वरवादिओं के इस विचार के विरुद्ध एक प्रश्न खड़ा होता है कि यह ईश्वर किस प्रकार विश्वव्यापी है ? शरीर से व्याप्त है या शरीर के बिना भी व्याप्त है ? यदि शरीर से व्याप्त है तो इतना विशाल शरीर होना चाहिये कि सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर ले ? तो क्या ईश्वर का शरीर विश्व के आकार जितना विशाल मानें ? ठीक हैं यदि सम्पूर्ण विश्वके समान विशाल मान लेंगे तब तो फिर सम्पूर्ण विश्व में एक मात्र ईश्वर का ही अस्तित्व सिद्ध होगा । ईश्वर के सिवाय अन्य किसी का अस्तित्व सिद्ध ही न हो पाएगा, क्यों कि ईश्वर के सिवाय अन्य पदार्थों के रहने का स्थान ही कहाँ रहा ? दूसरा स्थान रिक्त है और वहाँ दूसरे पदार्थ रहते हैं - ऐसा मानते हो तो ईश्वर की सर्वव्यापकता भी मिट जाएगी और सभी पदार्थों को विश्व के एक कोने में स्थित मानना पड़ेगा, बताओ, क्या आपको यह सिद्धांत मान्य हैं ?

नहीं, नहीं तो फिर इन दो में से किसका अस्तित्व मानें ? एक ही म्यान में

दो तलवारें तो कैसे रहेगी ? इसी प्रकार समग्र विश्व में सर्व प्रदेशों में सर्वत्र सभी जीव और जड़ पुद्गल पदार्थ अनंत की संख्या में सर्वत्र हैं - यह बात भी माननी है और ईश्वर को भी सर्वत्र सर्व व्यापी मानना है - ये दोनों तो कैसे संभव हो सकते हैं ? और यदि ईश्वर को ही सर्वव्यापी मानते हैं तब फिर ईश्वर ने सृष्टि कैसे बनाई ? एक-एक पदार्थ बनाकर कहाँ रखा ? क्या रिक्त स्थान में रखा ? तो ईश्वरविहीन, रिक्त स्थल विश्व में कौन सा था ? यदि मानते हो कि ऐसा कोई भी स्थल न था जहाँ ईश्वर न तो ईश्वर ने एक-एक पदार्थ कैसे बनाया ? बनाकर अलग कहाँ रखा ? बनाने के लिये कोई स्थान रहा या न रहा ? और अन्य पदार्थों के लिये भी स्थान रहा या न रहा और बनाने के लिये शेष रहे हुए पदार्थों को रखने के लिये भी स्थान रहा या न रहा ? यदि नकारते हो तो हमारे जैसे अनंत-असंख्य जीव हैं - अनंत जड़ पुद्गल पदार्थ है उनका क्या ? इनके अस्तित्व को कैसे नकारें ? यदि नकारते हो तो जो प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तुएँ हैं, व्यक्ति हैं, उनका क्या ? प्रत्यक्ष प्रमाण को मिथ्या कैसे कहें ?

दूसरी ओर एक मात्र ईश्वर को सर्व व्यापी बनाने के खातिर यदि जगत के ईश्वरेतर सभी पदार्थों की बलि चढा दोगे और ईश्वरेतर पदार्थों का अस्तित्व ही नकार डालोगे तो फिर ईश्वर ने ही सब कुछ बनाया है - इस सिद्धान्त का क्या होगा ? ईश्वरने सम्पूर्ण विश्व का निर्माण किया, उसी ने जगत में पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाश-वृक्ष-फूल-पत्ते आदि अनंत पदार्थ बनाए उनका अस्तित्व कैसे मानोगें ? और यदि ईश्वर ही सर्व व्यापी है, तो फिर ईश्वर ने क्या बनाया ? ईश्वरेतर पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हो तो ईश्वरेतर का कर्तृत्वपन-सृष्टि निर्माण करने की बात भी नौ दो ग्यारह हो जाती है । इस प्रकार दोनों ही ओर से मुसीबत की तलवार सिर पर झुलने लगती है - इसका क्या करोगे ? किस प्रकार और किस ओर बचकर निकलने का प्रयत्न करोगे ?

ईश्वर की सर्वव्यापकता मान भी लेते हैं तो किस प्रकार मानें ईश्वर शरीर से व्यापक है या इच्छा से व्यापक है ? कर्तृत्वपन से व्यापक है अथवा अपने प्रभुत्व से अपनी सामर्थ्य शक्ति से व्यापक है ? ज्ञान से व्यापक है या कैसे व्यापक है ? और कितने प्रदेश में व्याप्त है ?

एक तर्क यहाँ ऐसा उत्पन्न होता है कि यदि आप ईश्वर को सशरीरी या अशरीरी किसी भी अवस्था में व्यापक मानते हो तो मानो, परन्तु इतना तो कहो कि यदि पूर्व से ही ईश्वर विश्व व्यापी था तो उसने विश्व का निर्माण कब किया ?

स्या पहले विश्व बनाया और बाद में ईश्वर विश्व व्यापी बना ? या पहले ईश्वर ही व्यापक स्वरूप लेकर अवतरित हुआ और बाद में विश्व बनाया ? यदि मानते हो कि पहले ही व्यापक स्वरूप धारण करके अवतरित हुआ तो तब विश्व ही न था तो फिर व्यापक होने की बात कहाँ से आई? आप उत्तर देंगे कि आकाश में अनंत आकाश तो था ही न ? ठीक है - आकाश को ईश्वर से पहले ही मान लेते हैं तब तो फिर ईश्वर कृत आकाश नहीं माना जाएगा, क्यों कि ईश्वर के होने के पूर्व ही आकाश तो था, तो फिर ईश्वर ने स्वयं के होने से पूर्व ही आकाश कैसे बनाया होगा ? यह बात संभव ही नहीं है । यदि आकाश के पहले मानते हैं तो ईश्वर का आकाश बनाने का अधिकार ही छिन जाता है और उसके साथ ही उसकी व्यापकता भी सिद्ध नहीं होती । यदि कहते हो कि ईश्वर ने पहले होकर फिर विश्व बनाया तो उसकी व्यापकता मिट जाती है । ईश्वर को बना हुआ या बनता हुआ सिद्ध करते हो तो उसकी नित्यता चली जाती है । तब क्या किया जाए? दूसरी ओर ईश्वर को अशरीरी मानते हो तो विश्वव्यापी कैसे माने- ? व्यापक सर्वव्यापी मूर्त होता है या अमूर्त ? अशरीरी ईश्वर अरुपी-अमूर्त हो तो फिर उसका स्वरूप सर्वव्यापी कैसे हो सकता है ? यदि इसे माने तो आकाश में अतिव्याप्ति आ जाती है । तो क्या ईश्वर को आकाश की तरह सर्वव्यापी माने ? अर्थात् क्या जितना आकाश व्यापक है उतना ही ईश्वर भी व्यापक है ? तो आकाश के बाहर तो एक भी पदार्थ नहीं है और यहां ईश्वर द्वारा निर्मित पदार्थों को ईश्वर से भिन्न मानें या अभिन्न मानें ? जैसे सर्व व्यापी आकाश सर्व पदार्थों का संयोग करता है वह विभु है, आकाश पदार्थ उसी तरह यदि सर्व मूर्त द्रव्य संयोगी के रूप में ईश्वर को भी विभुरूप से व्यापक मानना चाहिये तब तो ईश्वर में आकाशवत् निष्क्रियता - जडता आ जाएगी और ऐसा होगा तो ईश्वर सृष्टि की रचना कैसे कर सकेगा ? तब तो पुनः कर्तृत्वपन चला जाएगा । अथवा यदि ईश्वर और आकाश दोनों को सदृश पदार्थ मानोगे तो ईश्वर की सकर्तृकता आकाश में माननी पड़ेगी और तब तो आकाश से भी सृष्टि की उत्पत्ति होती है यह मत स्वीकार करना पड़ेगा । दूसरी ओर ईश्वर में आकाश की तरह निष्क्रियता आ जाएगी तो सृष्टि - रचना का कार्य उसके हाथ से निकल जाएगा । तब क्या किया जाए ? कठिनाई दोनों ओर हैं ।

यदि ईश्वर को शरीर से व्यापक मानते हैं तब भी अनेक समस्याएँ सामने आएंगी । क्या जितना विश्व है उतना ही ईश्वर का शरीर है या न्यूनाधिक है ?

विश्व को ब्रह्मांड के स्वरूप में तो अनंत कहा है । अनंतगुना क्षेत्र विश्व का है, तो क्या ईश्वर का शरीर भी अनंतगुना विशाल मानें ? यदि हां कहते हो तो इतने विशाल शरीर की रचना कैसे संभव हो सकती है ? तब तो विशाल ब्रह्मांड को बनाने में ईश्वर को जितना समय लगा, उतना ही समय अपने विशाल काय शरीर को बनाने में भी लगा होगा ? और इतना विशाल शरीर हो तो वह दृश्य है या अदृश्य है ? रुपी है या अरुपी है ? मूर्त है या अमूर्त है ? क्या हमारे शरीर जैसा दृश्य शरीर है या भूत-प्रेतादि के अदृश्य शरीर जैसा उसका शरीर भी अदृश्य है ? यदि भूत-प्रेतादि की उपमा देते हो तो क्या अन्य भूत-प्रेतादि इतने ही व्यापक - विश्व व्यापी थे ? या वर्तमान में भी होते हैं ? क्या समझा जाए ? और इतने विराट शरीर को मानते हो तो वह शरीर किसका बना हुआ मानें ? किन द्रव्यों का मानें ? यदि किन्ही द्रव्यों से निर्मित मानते हो तो उन द्रव्यों को ईश्वर ने बनाया या किसी अन्यने बनाया था ? इतने बड़े व्यापक शरीर को बनाने में कितने द्रव्य उपयोग में लिये गए होंगे ? यदि विश्व तुल्य व्यापक शरीर को बनाने में पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-आकाशादि सभी द्रव्य उपयोग में आए हो तो विश्व बनाने के लिये या पृथ्वी-समुद्रादि अन्य सभी पदार्थ बनाने के लिये शेष क्या बचा ? और यदि शेष बचे तो वे कहाँ से आए ? तब फिर शरीर से व्यतिरिक्त भी इन अन्य पदार्थों की सत्ता कहाँ मानें ?

ईश्वर का शरीर ईश्वर निर्मित ही मानें ? या अन्य ईश्वर द्वारा निर्मित मानें ? अथवा क्या हमारी तरह गर्भज शरीर माता पितादि द्वारा निर्मित मानें ? क्या किया जाय ? यदि माता-पिता थे तो ईश्वर होने से पूर्व उनके माता-पिता थे यह बात स्वीकार करनी पडती है और इस प्रकार तो उनके भी माता-पिता, उनके भी, उनके भी.. इस प्रकार अनंत माता-पिता स्वीकार करेंगे तो अनवस्था - अव्यवस्था दोष लग जाएगा । फिर गर्भज शरीर तो हमारे जैसे होते हैं । विराट विश्व के समान व्यापक कैसे हो सकते हैं ?

इच्छा या सामर्थ्य से ईश्वर की व्यापकता कैसे स्वीकार करें ? इसका अर्थ तो यह हुआ कि ईश्वर सर्व व्यापी नहीं - बल्कि इच्छा को सर्व व्यापी मानें ? तो यह पक्ष भी निर्दोष सिद्ध नहीं होता है, क्यों कि इच्छा मन से उत्पन्न होती है और मन प्रदेश तक ही सीमित रहती है । मन से बाहर इच्छा जाती ही नहीं है । यदि इच्छा मन से बाहर जाती होती, तब तो इस जगत के अन्य जीवों को हमारी इच्छा का पता चलता होता, परन्तु हमारी इच्छा का किसी को भी पता नहीं लगता है।

एक मात्र मनः पर्यवज्ञानीजनों में ही इस प्रकार की मनोगत भावों को जानने की लब्धि होती है, अतः वे ही जान सकते हैं । ईश्वर की सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा का हम अन्य जीव कैसे जान सके ? क्या हम सब मनः पर्यवज्ञानी हैं ? नहीं, किसी एक मनः पर्यवज्ञानी ने ईश्वर की इच्छा को जाना और उसने हमारे जैसे सभी को कहा - क्या यह पक्ष भी उचित है ? यदि यह मानते हो तो ईश्वर की इच्छा को जानने पहचानने वाले अन्य मनः पर्यवज्ञानियों की सत्ता भी हमें स्वीकार करनी पड़ती है । तब वह मनः पर्यवज्ञानी कौन ? ईश्वर ने कुछ भी न था ऐसे शून्य में से सृष्टि बनाई है तो उस समय अन्य मनः पर्यवज्ञानी की सत्ता कैसे स्वीकार की जाए ? अभी तो ईश्वर ने इच्छा ही की है अभी सृष्टि का निर्माण तो हुआ ही नहीं, तो फिर कोई अन्य मनः पर्यवज्ञानी कहां से आ सके ? क्या ईश्वर ने इच्छा करने के साथ ही अपनी इच्छा को जानने वाले अन्य मनः पर्यवज्ञानी का अपने ही हाथों से निर्माण किया था ? यदि किया था तो कारण क्या था ? स्वेच्छा को जानने के लिये या यथेच्छ सब बनता है या नहीं, इसकी जांच करने के लिये ऐसा किया था ? क्या उत्तर ढूँढे ?

क्या सर्वज्ञता से सर्वव्यापकता ?

पहले सर्वज्ञता पक्ष ईश्वरमें सिद्ध करो और फिर उस सर्वज्ञ ईश्वर को सर्व व्यापकगिनना ? क्या ऐसा करना है । तो फिर ईश्वर विश्व व्यापी है या ईश्वर का ज्ञान सर्वव्यापी है ? यदि ईश्वर और ईश्वर के ज्ञान में अल्पाधिकता का भेद करते हो तो क्या यह समझें कि ईश्वर का ज्ञान अधिक देश व्यापी है जब कि ईश्वर न्यूनदेश व्यापी है ? यदि ईश्वर को ज्ञान से सर्वव्यापी कहते हो तो ज्ञान में कर्तृत्व स्थापित करें या ईश्वर में कर्तृत्व स्थापित करें ? क्यों कि ज्ञान का कार्य तो मात्र जानने का है । पदार्थों की रचना करने का या निर्माण करने का कार्य ज्ञान का नहीं है । तो फिर सर्वज्ञ होकर ईश्वर ने क्या किया ? विश्व की सभी वस्तुओं को जाना या बनाया ? इस प्रकार सर्वज्ञता से कर्तृत्वपन चला जाता है । ये सभी आबाल-गोपाल जीव जानते हैं कि ज्ञान से जाना जाता है । ज्ञान स्वयं बनाने का कार्य करता नहीं है ।

चलो, जब ईश्वर सर्वज्ञ थे, तब सृष्टिकर्ता थे या नहीं ? यदि दोनों ही एक साथ थे, तो जब सर्वज्ञ थे तब सर्व ज्ञान से उन्होंने क्या देखा था ? विश्व के कौन से पदार्थ देखे थे ? क्यों कि अभी तक ईश्वर ने कुछ बताया ही नहीं, किसी प्रकार

की रचना ही नहीं की तो फिर क्या देखा ? तब तो इस प्रकार सर्वज्ञता लुप्त हो जाती है और यदि कर्तृत्वपन पहले मानते हैं तो सर्वज्ञता चली जाती है । तो क्या ईश्वर पहले कर्ता थे और बाद में सर्वज्ञ बने ? इसका अभिप्राय यह हुआ कि सृष्टि की रचना करते थे तब ईश्वर अल्पज्ञ थे : यह पक्ष सिद्ध हो जाएगा यदि अल्पज्ञ द्वारा निर्मित सृष्टि मानेंगे तो अनेक भूलों से भरी हुई सृष्टि दिखाई देगी - तब क्या किया जाए ? और वास्तविकता भी तो यही दृष्टिगोचर हो रही है । सम्पूर्ण सृष्टि में सैकड़ों भूलों दिखाई पड़ती हैं । इस सृष्टि में कहीं भी समानता-सादृश्यता दिखाई नहीं पड़ती । चारों ओर विषमता, विचित्रता और विविधता दिखाई देती है । कुछ भी एकरूपता में नहीं दिखता । जैसी कर्म जन्य विचित्रता, विषमता और विविधता दिखाई पड़ती है, वैसी ही-बिल्कुल वैसी ही विचित्रता विषमता और विविधता, विसंगतता आदि ईश्वर की सृष्टि में भी दिखाई देती है । हम सभी का अनुभव है कि एक राजा तो दूसरा रंक, एक धनी तो दूसरा निर्धन, एक सुखी तो दूसरा दुःखी, एक सर्वथा बुद्धु तो दूसरा तीव्र बुद्धिवान, एक उच्च तो दूसरा नीच,-ऐसी अनेक विषमताएँ हमें दिखाई पड़ती हैं । ये सभी तो कर्म जन्य ही संभव हो सकती है । ईश्वर जब सर्वज्ञ है, सब कुछ जानने वाला है तो फिर ऐसी भूलों से भरी सृष्टि क्यों बनाई ? क्या इससे ईश्वर की अज्ञानता सिद्ध नहीं होती ? यदि होती है तो फिर सर्वज्ञता का पक्ष कैसे ठीक सकेगा ?

दूसरी ओर आप लोग ईश्वर में सर्वज्ञता किसी भी हिसाब से मानते ही हो तो फिर ईश्वर वेद में देखकर सृष्टि रचना क्यों करता है । तो क्या जो सर्वज्ञ हो उसे भी वेद में देख-देखकर वेद में जैसा लिखा है तदनुसार ही सृष्टि बनानी पड़ती है ? और यदि तदनुसार देख-देखकर ईश्वर सृष्टि रचना करता है और पूर्व कल्प में पहले वाले ईश्वर ने जैसी सृष्टि बनाई थी वैसी ही यदि वह बनाने जाए तो फिर ईश्वर की सर्वज्ञता कहाँ रही ? तो सर्वज्ञता कहाँ रही ? जो सर्वज्ञ होता है उसे वेदों में देखना-पठना नहीं पड़ता ? जो वेदों में पढ़ पढ़कर या देख देखकर सृष्टि बनाता है वह सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता । कारण स्पष्ट है कि जो स्वयं सर्वज्ञ न हो उसे ही वेदों को देखने की आवश्यकता रहती है । सर्वज्ञता के बिना वेदों में देखकर पढ़कर यदि सृष्टि बनानी हो तब तो हम भी बना सकते हैं! इसमें कौन सी बड़ी बात है ? हम भी अल्पज्ञ और ईश्वर भी अल्पज्ञ । अल्पज्ञता की दृष्टि से तो हम दोनों समान ही हुए न ? सादृश्य-सम्मान धर्मवाले एक ही धैली के चट्टेबट्टे गिने जाते हैं । तो समानता की दृष्टि से हम और ईश्वर दोनों एक ही पंक्ति में समान

कहलाते हैं । इस प्रकार ईश्वर की सर्वज्ञता ही नष्ट हो जाती है और यदि सर्वज्ञता ही नष्ट हो जाती है तो उसके आधार पर टिकाये रखा हुआ सर्वव्यापीपन कैसे टिक सकेगा ? और साथ ही उसका सर्व कार्य कर्तृत्वपन भी कैसे हो सकेगा ? क्यों कि किसी मकान की नींव ही जब अस्थिर हो जाए और उसमें से कंकड़ पत्थर अलग होकर गिरने लग जाएं तब ऊपर रहे हुए संपूर्ण मकान की क्या स्थिति होगी ? वह गिरने ही लगेगा या और कुछ ? बस, यही स्थिति यहाँ भी है। एक एक विशेषण जो ईश्वर को सिद्ध करने के लिये दिये हैं वे ही जब टिक नहीं सकते, तो ईश्वर रुपी मकान कैसे टिक पाएगा ?

दूसरी ओर देखें तो क्या सर्वज्ञ के कार्य में कभी कोई भूल हो सकती है क्या? और होती है तो क्या वह सर्वज्ञ कहलाएगा ? उत्तर स्पष्ट है कि भूल कदापि न होनी चाहिये और यदि उससे भूल हो जाती है तो वह सर्वज्ञ कहलाने का अधिकारी ही नहीं है । ईश्वर कारण है और ईश्वर द्वारा रचित यह सृष्टि कार्य है । क्या इस रचित सृष्टि में भूलें दिखाई नहीं पडती ? सैंकड़ों भूलें दिखाई पडती हैं । उत्पन्न करने में भूलें हैं, संचालन में भी अनेक भूलें दृष्टिगोचर होती हैं, उदाहरण के लिये पापी-अधर्मी जीवों को ईश्वर ने क्यों बनाया ? चोर, लुटेरे, गुंडे, धूर्त, ठग, खूनी, हत्यारे, नरभक्षी राक्षस, भूत-प्रेत, पिशाच, दुराचारी, परस्त्रीगामी, व्यसनी आदि अनेक प्रकार के घोर पापी लोगों को बनाने की क्या आवश्यकता थी ? ईश्वर ने इन्हें क्यों बनाए ? क्या बनाने से पूर्व ईश्वर को ज्ञान न था कि ये लोग ऐसे ऐसे भयंकर पाप करेंगे ? और ये बेचारे भी क्या करें ? ये तो यही कहते हैं कि हम कुछ नहीं करते । ईश्वर की इच्छानुसार ही सब कुछ होता है । ईश्वर ही अपनी इच्छा पूर्ण करने के खातिर हम से सब कुछ करवाता है - इसमें हमारा क्या दोष ? हम हमारी स्वेच्छा से तो कुछ भी करते ही नहीं ।

यह कैसी बात है ? तो फिर पहले ईश्वर ने इनका निर्माण क्यों किया ? और फिर ईश्वर की इच्छानुसार ही सब होता है - इस सिद्धान्त में ये लोग भी क्या करें ? इनकी बात भी सही लगती है तो यह सब भूल किसकी है ? दुनिया बनाने वाले की या किसी अन्य की ? और यदि ईश्वर ने इतनी गंभीर भूल की हैं तो उसने ऐसी भूल कब की ? सर्वज्ञ होते तो आगे-पीछे का सब कुछ जानकर-देखकर ही कार्य करते ? और यदि सुव्यवस्थित विचारपूर्वक नहीं किया है तो यह भूल तो ईश्वर में से सर्वज्ञता को ही खा जाएगी और इस प्रकार यदि ईश्वर में से सर्वज्ञता ही चली गई तो फिर प्राणविहीन शव जैसी सर्वज्ञताविहीन ईश्वर की हालत हो

जाएगी ।

दूसरी और देखते हैं तो ईश्वर को अपनी भूल के कारण कितना कष्ट, सहन करना पड़ता है । पहले तो ईश्वर ने भूल की जो इन सभी पापी, दुराचारी, व्यसनी, क्रूर, चोर तथा गुंडे आदि जीवों को बनाया । अपनी ही इच्छानुसार इन बेचारों के पास पापमय प्रवृत्तियाँ करवाई और यदि किसी काल में ऐसे जीवों, की ओर से अधर्म की प्रवृत्तियों का बोलबाला हो जाए तो “संभवामि युगे युगे” के भगवद्गीता के नियमानुसार ईश्वर को पुनः अवतार लेकर इस धरती पर अवतरित होना पड़े - यह कैसी अव्यवस्था ? यदि ईश्वर स्वयं सर्वज्ञ हो तो क्या वह भावी काल से अनभिज्ञ होता है ? सर्वज्ञ तो सदा त्रिकाल ज्ञानी होते हैं, तो क्या उस तथाकथित सर्वज्ञ ईश्वरने बिना भावी का विचार किये ही सृष्टि बना डाली ? ईश्वर स्वयं ही पहले तो चोर-गुंडे आदि बनाता है, स्वयं ही स्वेच्छानुरूप उन से सब कुछ करवाता है और अन्त में उनका संहार करने के लिये उसी ईश्वर को “आत्मानं सृजाम्यहम्” नियम के अनुसार अवतार लेना पड़ता है ।

अधर्मीजनो का संहार करके धर्म का अभ्युत्थान करने के लिये ईश्वर को अवतार लेना पड़ता है । “कीचड़ में पहले पाँव डालना और फिर उन्हें धोना” जैसी यह निरर्थक प्रवृत्ति पहले से ही ईश्वर ने क्यों की ? पहले करना और फिर सुधारना, यह तो सामान्य अल्पज्ञ जीव का काम है, पर ईश्वर को तो ऐसी निरर्थक बातें शोभा नहीं देती, तब भी ईश्वर ऐसे काम करता है, इसके प्रमाण भगवद्गीता के अध्यायों में मिलते हैं । तब हम क्या समझें ? ईश्वर की सर्वज्ञता कैसे टिक पाएगी ?

दूसरी ओर चोर, गुंडा आदि बनाने के पीछे ईश्वर की अज्ञानता तो कहीं कारणभूत नहीं दिखती ? यदि उत्तर हकारात्मक हो तो भूल भरे अल्पज्ञ को भगवान् कैसे माना जाय ? ईश्वर अपनी सर्वज्ञता के कारण ईश्वर है । सर्वज्ञता ही सिद्ध न होती हो तो उसके आधार पर ईश्वरता कैसे टिक पाएगी ? दूसरी बात यह है कि ईश्वर की इच्छा यदि चोर-गुंडे, व्यभिचारी, आदि पापीजनों के पास कार्य करवाती हो तो ईश्वर की ऐसी इच्छा को हम कैसी समझें ? अच्छी या बुरी ? अच्छी तो कह ही नहीं सकते कारण स्पष्ट ही है । और बुरी कहते हैं तो मन में होता है कि क्या ईश्वर अपनी स्वयं की इच्छा से दूसरे जीवों के पास व्यभिचार, दुराचार, खून-हत्या आदि पाप करवाता है । इतनी बुरी इच्छा ईश्वर की है ? और इच्छा तो विचार स्वरूप है । इस जगत में बुरे-पाप करने वाले पापी-दुष्ट-दुर्जनों की

संख्या बढ़ती गई, और बढ़ते बढ़ते इतनी बढ़ गई कि ईश्वर को इन दुर्जनों का संहार करने के लिये अवतार लेना पड़ा। प्रश्न यह उठता है कि इतनी संख्या कब और कैसे बढ़ी ? क्या ईश्वर की इच्छा के बिना या इच्छा के विरुद्ध या ईश्वर की अनभिज्ञता में अपने आप बढ़ गई ? क्या उत्तर दोगे ? एक ओर तो कहते हो कि ईश्वर की इच्छा के बिना, ईश्वर की इच्छा से परे कुछ भी होता नहीं है। ईश्वर जो करता है, वही होता है, तब प्रश्न है कि ईश्वर ने स्वेच्छा से ऐसे दुष्ट-दुर्जनों की ऐसी सृष्टि क्यों बनाई ? और बनाने के बाद पुनः उनका परिहार करने के लिये, उनका संहार करके सज्जनों की रक्षा करने के लिये ईश्वर पुनः अवतार ले-ऐसी बातें कहां तक गले उतर सकती हैं। यदि ईश्वर स्वयं सर्वज्ञ ही है और सब कुछ जानता है तब फिर पहले से सोच-समझकर योग्य सृष्टि ही क्यों नहीं बनाता ? जिससे बार बार उसे प्रलय या संहार करने के लिये अवतार लेने की आवश्यकता ही न रहे।

वास्तविक सत्य :

वास्तविक सत्यता तो यह है कि जीवों के स्वयं के शुभासुभ कर्मों के कारण ही ऐसी स्थिति पैदा होती है। दुष्ट-दुर्जनों को भी ईश्वर बनाता नहीं है परन्तु वे जीव स्वयं अशुभ पाप की प्रवृत्ति करके अपने लिये पाप कर्मों का उपार्जन करते हैं, और उनके ही विपाकोदय पर पुनः वेसी ही पापमय प्रवृत्ति में ही आनन्द लेते हैं। इन दुष्ट दुर्जनों की ऐसी पापमय प्रवृत्ति उनके स्वयं के तथा ऐसे ही प्रकार के विषय-कषाय के स्वभाव के कारण चलती रहती है और साधु-सज्जन जीव शुभ-पुण्यमय प्रवृत्ति करके पुण्य कर्म का उपार्जन करते हैं और अपने शुद्ध स्वभाव के अनुरूप व्यवहार करते हैं - यह दीपक तुल्य सत्य स्पष्ट रूप से स्वीकार कर ले तो ईश्वर पर के सभी दोषारोपणों का निवारण हो जाए और निर्दोष व्यवस्था स्थापित हो सके। सर्व मान्य सर्व स्वीकार्य कर्म सिद्धान्त Karma Theory जैन दर्शन की जगत को श्रेष्ठ देन है। हमें तो शुद्ध सत्य स्वीकार करना है, क्यों कि शुद्ध सत्य ही निर्दोष होता है। हमें सत्य के आग्रही या पक्षपाती होना चाहिये। हीरा कीचड़ में पड़ा हो तब भी हम उठा लेते हैं, तो फिर ऐसा दीपक सदृश सत्य किसी भी धर्म या दर्शन के पास मिलता हो अथवा कहीं भी मिलता हो तो उसे अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिये। ईश्वर के विषय में इतनी लम्बी चौड़ी चर्चा करना और उसमें से दोषों पर दोष निकलते ही जाएं तो ऐसी दोषग्रस्त पद्धति को

स्वीकार कर अज्ञानता में वृद्धि करने में क्या लाभ है ? फिर तो अज्ञानता के आधार पर अश्रद्धा अथवा अंध श्रद्धा चलती ही रहेगी अतः हमें तो सत्य को स्वीकार करने के पक्ष में रहना चाहिये जैन दर्शन द्वारा प्रदत्त कर्म सिद्धान्त में आप दोष निकालकर बताईये । हम उनका प्रतिकार कर दिखाएँगे । सत्य इतना सरल और सहज होता है कि पढ़ते ही गले उतरने लगता है कहीं भी शंका का कारण नहीं रहता ।

दैहिक व्यवहार या संकल्प मात्र से जगत बनता है क्या ?

जगत्कर्ता ईश्वर है - ऐसा कहने वाले ईश्वरवादिओं ने ईश्वर को सर्व व्यापक रूप दे दिया है । इसके पीछे उनका कहना यह है कि संसार ब्रह्मांड स्वरूप में बहुत ही विशाल है । सभी कार्य करने होते हैं । स्वर्ग में, नरक में - सर्वत्र कार्य बहुत करना होता है और ईश्वरछोटा सा शरीर धारण कर यदि एक ही स्थल पर बैठा रहे तो सारे विश्व के कार्य कैसे होंगे ? इसी प्रकार यदि एक ही स्थान पर कार्य करके दूसरे स्थान पर कार्य करने के लिये जाए तो इस प्रकार वह कितने स्थानों में जाएगा ? तब तो ईश्वर थक भी जाएगा और सभी स्थलों के कार्य भी न हो पाएँगे । इसलिये ईश्वर को सर्व व्यापी ही मान लिया है ताकि ईश्वर को कहीं भी जाना आना न पड़े और सर्वत्र काम भी होते रहे ।

चलो, थोड़ी देर के लिये इस बात को भी गले उतारने का प्रयत्न करते हैं कि ईश्वर यदि छोटे शरीर वाला हो और एक ही स्थल पर रह जाए तो अन्य सभी स्थलों पर जानें में असमर्थ रहेगा, परन्तु पहले यह तो समझाओ कि ईश्वर शरीर से अर्थात् शारीरिक श्रम करके कुम्हार-सुधार की भाँति कार्य करता है या मात्र इच्छा संकल्प बल से ही सृष्टि का निर्माण कर डालता है ? क्या करता है ? कैसे करता है ? शायद आप लोग उत्तर देंगे कि ईश्वर शरीर से -देह व्यवहार से ही कार्य करता है और इससे ही सम्पूर्ण जगत के सारे ही कार्य सम्पादित होते हैं । ठीक है, आपके कथनानुसार शारीरिक श्रम करके कुम्हार - सुधार की भाँति ही सब वस्तुएँ ईश्वर बनाता है । कुम्हार जैसे अपने शरीर का श्रम जुटा कर घड़ा बनाता है, सुधार को भी लकड़ी की वस्तुएँ बनाने में दैहिक परिश्रम करना पड़ता है, उसी प्रकार आपकी मान्यतानुसार - कथनानुसार तो ईश्वर को भी जगत की सभी वस्तुएँ स्व परिश्रम (दैहिक परिश्रम) द्वारा ही बनानी पड़ती हैं तो प्रश्न यह है कि अपनी काया के व्यवहार (श्रम) से पृथ्वी-पर्वत-नदी-नाले-समुद्र-जंगल, वृक्ष-

फूल-पत्ते आदि विशालकाय कार्य करने में ईश्वर को कितना शारीरिक श्रम उठाना पडता होगा ? और जितने बड़े कार्य उतना ही अधिक समय भी लगेगा कि नहीं ? तब तो वेद-वेदांत में यह समय भी उल्लेखित होना चाहिये कि पृथ्वी बनाने में ईश्वर को इतने वर्ष लगे, पर्वत, समुद्र आदि बनाने में इतने इतने वर्ष बीते - परन्तु ऐसा कहीं भी संकेत मात्र तक नहीं है । तब क्या समझा जाए ? और इस प्रकार इतने बड़े बड़े और एक एक कार्य देह के व्यापार से शारीरिक श्रम से हों और वे भी क्रमशः हो तो समय तो निश्चित रूप से लगेगा ही । और यदि बिना किसी क्रम के एक साथ हो जाएं तब तो फिर शारीरिक श्रम निरर्थक ही जाएगा ? यदि दैहिक व्यापार शारीरिक परिश्रम से एक एक कार्य करना हो तो पर्वत-पृथ्वी आदि निर्माणकार्य ईश्वर ने एकेले ही किया था या किसी अन्य की सहायता ली थी ? यदि सहायता ली थी - ऐसा कहते हैं तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर पानी फिर जाता है । और यदि इस तर्क को स्वीकार नहीं करते हैं तो सभी अनंत कार्य ईश्वर ने बिना किसी की सहायता के Single handed अकेले ही किये हो तो अनंत वर्ष लगे होंगे या नहीं ? एक एक कार्य में यदि एक-एक वर्ष गिनते हैं तो अनंत कार्यों को करने में अनंत वर्ष लगे या न लगे ? और इन अनंत वर्षों का लगना यदि स्वीकार करते हो तो सृष्टि का प्रलय कैसे स्वीकार करना ? एक ओर तो युग युग में ईश्वर सब कुछ महा प्रलय कर नवीन सृष्टि की रचना करते हों, अभी तो बड़ी मुश्किल से एक कार्य करते करते सृष्टि की रचना करते होते हैं, कि इसी बीच महाप्रलय कर संहार भी कर लेते हैं ? तो ऐसा अचानक बीच में ही महा प्रलय कौन कर डालता है ? ईश्वर ही या कोई अन्य ? ईश्वर स्वयं तो प्रलय कर नहीं पाता होगा क्यों कि वह तो स्वयं ही रचना कार्य में व्यस्त होगा ? - उसके तो कई कार्य अभी अधूरे ही पड़े होंगे वहां बीच में वही ईश्वर संहार-कार्य, प्रलय जैसा कार्य कैसे कर पाता होगा ? क्या वह नहीं जानता कि ऐसा करने में उसका परिश्रम वृथा सिद्ध होगा ? उसके किये - कराये महल धूल धूसरित न हो जाएंगे ? निरर्थक बिना प्रयत्न के वह ऐसा क्यों करने लगा ? यह तो तभी संभव है जब उसे यह एहसास हो जाए कि बनाते बनाते मुझसे यहां भूल हो गई है, कार्य गलत हो चुका है, इसे मिटा देना आवश्यक है ? क्या इसलिये वह प्रलय करता है ? मान लो मिटा देने के खातिर भी करता हो तो क्या सब कुछ मिटा दे, सब का संहार कर दे या जितना बिगड़ा हो इतना ही मिटाने के लिये महा प्रलय करता है ? तो यहाँ तो कहते हैं कि महा प्रलय ही कर डालता है जिससे, पीछे कुछ भी शेष

नहीं रहता, पर क्या इस बात को शिरोधार्य करने में ईश्वर की अज्ञानता-अनभिज्ञता का परिचय नहीं मिलता ? और यदि होता है तो भूल करने वाले को सर्वज्ञ कैसे माना जाय ?

तो फिर ईश्वर शरीर द्वारा देहव्यापार पूर्वक यह सृष्टि बनाता है या अशरीरी होकर बिना शरीर के ही इस सृष्टि के सारे काम करता है ? कौन सा पक्ष मानना है ? अशरीरी अर्थात् शरीर विहीन का ईश्वर तो मानना ही नहीं है क्यों कि वेद साक्षी के रूप में पाठ देता है कि "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः" प्राणिरुत विश्वतपातः इत्यादि श्रुतेः" वेद श्रुति में शरीर द्वारा ही ईश्वर को सर्व व्यापी कहते हुए उसके अंगोपांगो का वर्णन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर सर्वत्र आँखे, मुख, हाथ और पाँव धारण करने के कारण ही विश्वमुखी, विश्वरूपी, हाथ-पाँव-चक्षु आदि वाला है अर्थात् विराट शरीर धारी ईश्वर समग्र विश्वव्यापी है । इस प्रकार सर्वत्र रहा हुआ ईश्वर सभी क्षेत्रों में कार्य कर सकता है - ऐसा भी यदि आप कहते हैं तब भी यह कैसे संभव हो सकता है ? क्यों कि शरीर तो एक ही मानते हो । एक ही शरीर धारी हो तब तो हाथ-पाँव आदि भी दो-दो ही होने चाहिये और भले ही विराट शरीरधारी अपने तरीके से ही कार्य करता हो परन्तु सब कार्य एक साथ कैसे कर सकता है ? क्या शरीर विशाल होने से मात्र से एक साथ सभी कार्य हो सकते हैं । एक छोटा बल्लक एक-एक पत्थर उठाकर घर बनाने के लिये नीच में डालता है और दूसरी ओर एक विशाल काया वाला लंबा-चौड़ा-ऊँचा व्यक्ति सभी पत्थरों को एक साथ उठा कर डाल देगा क्या ? कैसे संभव हो सकता है ? यदि आप हाँ भी कहते हैं तो भी हमें तो किसी प्रकार की आपत्ति ही नहीं है क्यों कि ईश्वर अपने हाथ-पाँव चलाकर सृष्टि का निर्माण कर उत्पन्न करता है, यह मानते हैं तो संकल्प मात्र से बना लेता है ऐसा आपके ही वेदों के पक्ष का क्या होगा ? कि आप तो मानते हैं कि ईश्वर की इच्छा-संकल्प मात्र से ही सारा जगत निर्मित हो जाता है । इस प्रकार तो आपके ही सिद्धान्त में आपकी मान्यता दूषित हो जाती है, मिथ्या सिद्ध हो जाती है ।

चलिये ! पुनः क्षमा कर देते हैं और ईश्वर की इच्छा या संकल्प से ही जगत का निर्माण होता है - ऐसा मान भी लेते हैं, परन्तु इच्छा और संकल्प मात्र करने के लिये विश्वव्यापी इतने बड़े विराट शरीरधारी ईश्वर को मानने की आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? मात्र संकल्प ही तो करना है न ? तो छोटे से शरीर में भी रहकर संकल्प करे तो क्या अन्तर पडता है ? संकल्प का शरीर के साथ कहाँ

संबंध है, इसका संबंध तो मन के साथ है । जैसे अन्य भी देवी-देवता-भूत-देवता-भूत प्रेतादि संकल्प या मंत्रादि के प्रयोग मात्र से एक स्थान पर बैठे ही दूसरे स्थान का कार्य कर सकते हैं, क्या वैसे ही तथाकथित सर्वशक्तिमान आपका ईश्वर नहीं कर सकता ? तब तो वे क्या बुरे हैं ? उन्हें ही ईश्वर क्यों न मान लेते? तब तो कहते हो कि ऐसा तो कैसे हो सकता है, मानना तो है ईश्वर को ही । ठीक है, तो ईश्वर को ही सृष्टि के कार्यों का कर्ता मानो, पर संकल्प करने के लिये तो लघु शरीर भी तो चल सकता है न ? और लघु शरीर तो सर्व विश्वव्यापी नहीं हो सकता ! तब तो ईश्वर को एक देशीय - एक देश व्यापी और एक ही स्थान पर रहने वाला मानना पड़ेगा । वहां से बैठे बैठे ईश्वर संकल्प करते रहें और सृष्टि के कार्य सम्पादित होते रहें । यह पक्ष गले उतर गया है - ऐसा तो लगता है परन्तु यदि मान लोगे तो आपके सिद्धान्त का ईश्वर का सर्व व्यापीपन मानने में आपको ही आपत्ति होगी ! इसे अब कैसे मानोगें ? इस प्रकार देखते हैं तो यह तो वही मेंढक खेल हो गया - एक को पकड़े तो दूसरा भाग निकलता है । क्या किया जाए? कहा है न कि ऊंट के अठारहों अंग टेढ़े-मेढ़े-एक भी अंग सीधा नहीं - ऐसी ही बात यहां भी हैं ।

जैन दर्शनाभिप्रेत ज्ञान की व्यापकता :

जैन दर्शन में अरिहंत तीर्थंकर भगवान को ही ईश्वर तो क्या परमेश्वर माना गया है । जब चारित्र्य जीवन की साधना में ये महापुरुष घोर तपश्चर्या करते हुए और घोर उपसर्ग सहन करते करते प्रबल कर्म निर्जरा करते करते चार घनघाति कर्मों का क्षय होता है तब इन्हें वीतरागता और केवलज्ञान-केवलदर्शन - अनंत वीर्यादि शक्तियां प्राप्त होती हैं । ऐसे अनंतज्ञानी परमेश्वर जिस भूमि में जहां बिराजमान होते हैं वहां से भी ज्ञान योग के बल से समस्त ब्रह्मांड अनंत विराट विश्वलोक और अलोक सब कुछ एक समय-एक साथ देखते हैं और जानते हैं । उनके अनंतज्ञान में ज्ञातव्य पदार्थों में से, संपूर्ण संसार में से एक भी पदार्थ अथवा वस्तु शेष नहीं रहती, क्यों कि जगत के पदार्थ जितने अनंत हैं, उन सभी को जानने योग्य परमात्मा का ज्ञान भी अनंत और दर्शन भी अनंत होता है, फिर पदार्थ ज्ञान के विषय बने बिना कैसे बच सकते हैं ?

अनंत लोकालोकाकाश तक केवलज्ञानी देखते हैं

लोक चौदह राज जितना है । यह पंचास्तिकायात्मक है, जब कि अलोक अनंत है । दसों ही दिशाओं में इसका कोई अंत न होने से वह अनंत है । इतने बड़े अनंत अलोक में एक मात्र शून्यावकाश के सिवाय अन्य किन्हीं भी पदार्थों का वहाँ अस्तित्व नहीं है । जीव-अजीव जैसी कोई भी सृष्टि वहाँ नहीं है । वहाँ कुछ भी नहीं है यह बात भी सर्वज्ञ ने कैसे कही ? क्या बिना जाने-बिना देखे ही कह दिया ? या देखकर-जानकर कहा ? साथ ही परिमित क्षेत्र में जीव-अजीव उभय सृष्टि है - सब कुछ है यह भी सर्वज्ञ प्रभुने देखकर ज्ञानपूर्वक कहा है । यह सब कुछ जानने-देखने वाले ही जैनों के अभिप्रेत केवलज्ञानी और कैवलदर्शनी अनंत ज्ञानी हैं ।

ऊपर दिये हुए चित्र को देखने से ख्याल आएगा कि चौदह राजलोक के केन्द्र में तिर्छालोक के मध्य में ढाई द्वीप के भीतरी १५ कर्मभूमि के क्षेत्र में तीर्थंकर पद प्राप्त करके चारों ही घाती कर्मों का क्षय करके, केवलज्ञान-सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता प्राप्त करके स्वदेह में विराजमान परमेश्वर वहाँ अपने स्वक्षेत्र में स्वस्थान में बैठे बैठे ही अनंत ब्रह्मांड को देखकर जानकर उसका कथन वीतरागभाव से करके हमें सब कुछ बताते हैं । उन भगवान को अनंत लोक-अलोक देखने अथवा जानने के लिये अन्य सभी प्रदेशों में जाना नहीं पड़ता है, न वे स्वशरीर से भी विश्वव्यापी है । उनका शरीर भी हमारे शरीर जैसा ही है और एक स्थान पर बैठे बैठे ही अनंतज्ञान से सब कुछ जानकर-देखकर हमें बताते हैं, अतः उन्हें देह से व्यापक नहीं, बल्कि ज्ञान से व्यापक कहते हैं । सर्वज्ञ परमेश्वर अपनी सर्वज्ञता के कारण सर्वव्यापी हैं - ऐसा कहना सही है, परंतु सशरीरी ईश्वर का स्वदेह से सर्वविश्व व्यापी कहना असत्य का प्रतिपादन है ।

दूसरे प्रकार से इसी चित्र में चौदह राजलोक के ऊपर के अग्रभाग में देखोगे तो आपको दिखाई देगा कि वहाँ पर सिद्ध परमात्मा आसीन हैं । वे अशरीरी हैं आत्मस्वरूप में ज्ञान प्रकाश पुंज मात्र हैं, परन्तु यहीं से अनंतज्ञान लेकर वहाँ गए हैं । अब वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो चुके हैं, शरीर भले ही नहीं, परन्तु आत्मा तो है ही और ज्ञान आत्माश्रयी है देहाश्रयी नहीं है, इसीलिये वे सिद्धात्मा अपने अनंत ज्ञान से अनंत लोकालोक को देखते हैं, जानते हैं । सशरीरी सर्वज्ञ और अशरीरी सर्वज्ञ सिद्ध दोनों की सर्वज्ञता संपूर्णतः समान होती है, किसी में भी रतीभर भी न्यूनताधिकता नहीं होती । इस प्रकार जैन दर्शन कहता है कि दर्पण के सामने

पदार्थ जैसे प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ की आत्मा के समक्ष पदार्थ और अनंत लोकालोक संपूर्ण रूप से उनके अनंत ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं। ईश्वर को सद्देह से अथवा विदेह से सर्वव्यापी होने की आवश्यकता ही नहीं है। यह पक्ष अनेक वीरों से युक्त है, अतः देह से सर्वव्यापकता स्वीकार करने के बजाय अनंत ज्ञानयोग से सर्वव्यापकता स्वीकार करने में दोष रहितता है।

शरीर से व्यापक ईश्वर दुःखी होगा :-

ईश्वर को यदि शरीर से सर्वविश्व व्यापी मानोगे तो आपको एक और अन्य मुसीबत का सामना करना पड़ेगा क्यों कि विश्व में नरक भी हैं। नरक-पृथ्वी आदि आप भी मानते हैं, रौख नरकादि के नाम आपने भी बताए हैं। जहाँ रक्त की नदियाँ प्रवाहित होती हैं भयंकर वेदना-पीड़ा का जहाँ साम्राज्य है, तथा अत्यन्त अशुद्धि गंदगी आदि के स्थानों की ही जहाँ बहुलता है, ऐसे प्रदेशों में ईश्वर यदि स्वदेह से व्याप्त होगा तो उस समय ईश्वर को भी नारकीय वेदना तो सहन करनी ही पड़ती होगी, क्यों कि नरक में तो मार-काट की धूम रहती है और ईश्वर का शरीर भी यदि वहाँ होता होगा, तब तो उसकी सर्व व्यापकता के कारण उसे नरक के दुःख भोगने पड़ते होंगे। इसी प्रकार जगत में सर्वत्र अशुचिमय-गंदे पदार्थों की भरमार स्थल-स्थल पर होगी और ईश्वर को सदेह सर्वव्यापी मानने से उसका अस्तित्व उन अशुचिपूर्ण स्थानों में भी मानना होगा और इन सभी की दुःखानुभूति ईश्वर को सदैव सतत सताती ही रहेगी - इसमें कहीं भी दो मत नहीं हो सकते। तब क्या किया जाए ? क्या ईश्वर को सदैव दुःखी ही माने ? या फिर ईश्वर स्वर्ग का भी तो निर्माण करता है और स्वर्ग भूमि में भी ईश्वर विद्यमान है, तो वहाँ के आनंद-सुखादि की अनुभूति के अनुसार क्या ईश्वर को सदैव सुखी मानें ? यदि ऐसा मानते हैं तब तो ईश्वरभी हमारी ही भाँति सुखी-दुःखी सिद्ध होगा और तब तो हमारे और ईश्वर में अंतर ही क्या रहेगा ? इसके अतिरिक्त एक ही समय में ईश्वर स्वर्ग-नरक दोनों में ही सशरीरी व्याप्त रहेगा तो एक ही समय में दोनों ही प्रकार के उसे ज्ञान-अनुभव नहीं होंगे क्या ? सुख और दुःख दोनों का ज्ञान एक ही समय में एक साथ कैसे मानोगे। स्वर्ग का सुख और दुःख दोनों ही एक ही शरीर से एक ही समय में अनुभव करने की बात भी गले कैसे उतरेगी ? इसी प्रकार नरक और अशुचि तो सदा काल-सदैव रहते हैं और ईश्वर भी नित्य है तो फिर ईश्वर को सदैव के लिये दुःखी ही मानना पड़ेगा।

ईश्वर स्वयं स्वतंत्र है या परतंत्र ?

एक अन्य प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है कि जो ईश्वर इस संसार का सृजन करता है वह स्वयं स्वतंत्र है या परतंत्र ? जो स्वयं स्वतः ही किसी के भी आधीन हुए बिना संसार का सृजन करता है वह स्वतंत्र कहलाता है और जो किसी अन्य के वश होकर पराधीनतावश सृजन करता है वह परतंत्र कहलाता है । यहाँ इन दोनों में से आप कौन सा मत स्वीकार करते हैं ? न्याय वैशेषिक तो अपने सिद्धांत के अनुसार ईश्वर को स्वतंत्र मानते हैं । उनका कथन है कि सर्वशक्तिमान, ईश्वर स्वतंत्र है, वह कदापि परतंत्र होता ही नहीं । जिस सृष्टि का वह सृजन करता है वह स्वयं अपने ही ढंग से स्वतंत्र रूप से करता है, ईश्वर स्वयं सर्वज्ञ है, अल्पज्ञ सदैव परतंत्र होता है, सर्वज्ञ के परतंत्र होने की बात असंभव है । उसे सृष्टि रचना करते समया किसी को पूछने की किसी का परामर्श करने की आवश्यकता न होने से वह स्वतंत्र है !

ठीक है, तो यह सब जो आप कहते हैं उसे कैसे माना जाय ? आप अपने शास्त्र - सिद्धान्त के आधार पर कहते हो यह बात तो ठीक है, परन्तु आपके ही शास्त्र-सिद्धान्त में कहा गया है कि धाता तथा पूर्वमकल्पयत् अर्थात् विधाता ने जिस प्रकार पूर्व के कल्पों में सृष्टि की रचना की थी, उसी प्रकार वेदों में देख देखकर पुनः पुनः सृष्टि का सृजन करता है । इससे एक बात तो सिद्ध हो गई है कि ईश्वर स्वतंत्र रूप से सृष्टि का सृजन नहीं करता, उसे भी वेद में देखकर रचना करनी पड़ती है, तब इससे तो ईश्वर वेदाधीन - पराधीन - परतंत्र सिद्ध हो जाता है या नहीं ? स्वतंत्र व्यक्ति किसी के भी आधीन न होना चाहिये और यदि ईश्वर को आप सर्वज्ञ मानते हो तो दूसरी ओर वेदाधीन भी कहते हो । वेद में देख-देख कर ही सृष्टि की रचना करने वाले में स्वतंत्रता कहां रही ? और ईश्वर को सर्वज्ञ मानने के पश्चात् पुनः वेदाधीन बताने में मूर्खता के सिवाय क्या है ?

चलो, कदाचित् स्वीकार भी कर लें तो प्रश्न यह होगा कि वेद सर्वज्ञ हैं या ईश्वर सर्वज्ञ है ? ईश्वर तो वेद को देखकर सृष्टि बनाता है अतः वे तो सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता तो क्या वेद को सर्वज्ञ मानें ? ज्ञान क्या पुस्तकों में रहता है या आत्मा में रहता है ? ज्ञान गुण है या द्रव्य का गुण है ? बिना द्रव्य के गुण कहीं भी स्वतंत्र रूप से रहता ही नहीं । द्रव्य सदैव गुण पर्यायमय ही होता है, अतः ज्ञान गुण है और आत्मा द्रव्य है । ज्ञान एक मात्र आत्मा में ही रहता है । जगत में मूलभूत दो ही द्रव्य है । एक जड़ और दूसरा चेतन जड़ में तो ज्ञान संभव ही नहीं - यह

बात प्रत्यक्ष रूप से स्पष्ट सत्य है । तो फिर दूसरा द्रव्य एक मात्र चैतन्य आत्मा है जिसमें ही ज्ञान रहता है, तो क्या वेद को चेतन माना जाय ? कैसे मानें ? वेद चेतना शक्तिमान तो है ही नहीं, सुख दुःख की संवेदना वेद को नहीं होती हैं । वेद ज्ञान-दर्शनात्मक हो ही नहीं सकता, अतः वेद को तो सर्वज्ञ कहने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार वेद की सर्वज्ञता किसी भी प्रकार से सिद्ध होती ही नहीं और ईश्वर वेदाधीन हो गया । वेद में देख-देखकर वह सृजन करता है अतः उसमें सर्वज्ञता टिकती ही नहीं - इस प्रकार दोनों ही में सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती, तो फिर इस पृथ्वी को अल्पज्ञ द्वारा स्थापित - रचित मानें क्या ? दूसरी ओर जहाँ वेद की सर्वज्ञता सिद्ध ही नहीं होती वहीं, आप लोग ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर वेदाधीन करते हो तो क्या समजा जाए ? क्या सर्वज्ञ अल्पज्ञाधीन बनकर कार्य करता है । क्या इसमें ईश्वर की महता में न्यूनता नहीं जाती ?

ईश्वर अन्य प्रकार से तो कहीं पराधीन नहीं है न ?

जगत की विचित्रता, विषमता और विविधता देखते हुए लगता है कि इस संसार में लूले-लंगडे-अपाहिज, अँधे, गूँगे, बहेर, काने, मूर्ख, पंगु, असहाय निराधार, दीन, दुःखी, निर्धन, अनाथ, काले, गोरे, स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक आदि विचित्रता एवं विषमता पूर्ण सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने क्यों किया ? इसका आपके पास क्या उत्तर है ? एक अन्य ही उत्तर देते हुए समाधान करते हैं कि ईश्वर ने स्वयं अपनी इच्छानुसार से सभी नहीं बनाए, परन्तु संबंधित जीवों के जैसे जैसे पुण्य-पाप थे तदनुसार उसने उन्हें बनाया है । ईश्वर तो निमित्त मात्र है । मूल में तो सभी जीवों के पुण्य-पाप ही कारणभूत हैं । अर्थात् जैसे जैसे कर्म जीवों ने किए थे वैसे वैसे ही फल ईश्वर ने उन्हें दिये हैं ।

किले की प्रदक्षिणा लगाते हुए अन्ततः जैसे अंधे को किले का द्वार मिल जाता है, उसी प्रकार पूर्वपक्षधर आखिरकार कर्मसत्ता पर आए ? कर्म सत्ता मानने के लिये तो तैयार हुए परन्तु उसकी लगाम उन्होंने ईश्वर के ही हाथों में रखी है । हमारे लिये तो प्रसन्नता का विषय है कि अर्धांश में कर्म सत्ता को मानने लगे और हमारी ओर आए परन्तु यह सिद्धान्त भी भली प्रकार समझ पाए हैं या नहीं ? ठीक प्रकार से स्वीकार किया है या नहीं ? कहीं रस्सी की जगह गधे की पूँछ तो हाथ में नहीं आई न ? अतः इसका भी स्पष्टीकरण करने हेतु कुछ प्रश्न पूछ लेते हैं ?

ईश्वर ने उन उन जीवों के कर्मों अर्थात् पुण्य-पाप जन्य कृत्य अदृष्ट देखकर तदनुसार फल देने के लिये उन्हें वैसा बनाया है - आपका यह उत्तर भी सही तो है न ? सर्व प्रथम ईश्वर ने मानवसृष्टि की रचना की, सृष्टि निर्माण करते समय ही प्रथम बार ही किसी को स्त्री तो किसी को पुरुष बनाया, किसी को कृमि, कीट, पतंग, कीड़े - मकोड़े, मच्छर, मक्खी आदि बनाया तब उन जीवों के अदृष्ट कहाँ से आए ? जीव कहीं अलग तो थे ही नहीं ? उनके अदृष्ट का तो प्रश्न ही नहीं उठता तो उन्होंने कैसे पुण्य-पाप कब किये ? और यदि मानते हो कि उन्होंने किये, तब तो उन जीवों का अस्तित्व पूर्व में कहीं मानना पड़ेगा ? तो क्या ईश्वर से पूर्व भी सभी जीवों का अस्तित्व मानें ? अथवा सृष्टि रचना से पूर्व भी उनका अस्तित्व मानें ? कब मानें ? उन्होंने अदृष्ट कर्म का निर्माण कब किया ? क्या समझा जाए ?

दूसरी ओर जीव ईश्वर से भिन्न - अलग अस्तित्व रखता है - ऐसी बात आप मानते नहीं । “जीवो ममेवांश” - नाऽपर जीव मेरा ही अंश है मुजसे अन्य नहीं, अलग नहीं यह आपका सिद्धांत है । तो इसके अनुसार तो जीव ही ईश्वर स्वरूप है । जब जीव का स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं, तब उसका अदृष्ट कहाँ से आया ? जीव ने अदृष्ट कहाँ किया ? चलो, पलभर के लिये आगे विचार करते हैं कि जीव ईश्वर से भिन्न स्वतंत्र भी होगा और उसने पुण्य - पापात्मक अदृष्ट का निर्माण भी किया होगा । पुण्य अर्थात् मन-वचन-काया के योगों की शुभ प्रवृत्ति! इस प्रकार हम देखते हैं कि मन-वचन और शरीर के बिना तो कोई भी जीव पुण्य-पाप की प्रवृत्ति कर ही नहीं सकता अर्थात् जीव पहले शरीर धारी था और उस जन्म में उसने शुभ-अशुभ प्रवृत्ति करके अदृष्ट-उपार्जन किया होगा । फिर उस अदृष्ट को देखकर उसके आधार पर ईश्वर ने सृष्टि रचना के समय उसे वैसा बनाया होगा, जन्म दिया होगा - ऐसा मानें क्या ? तब तो इस जन्म से पूर्व भी अदृष्ट निर्माण करने का जो जन्म था उसे ईश्वर निर्मित न मानने में ईश्वर निर्माण के बाहर भी संसार जीव सृष्टि आदि मानने की आपत्ति आप पर आएगी । तब तो ठीक है, ईश्वर के बिना भी सृष्टि निर्माण हो सकती है। यह पक्ष आप भी मानने के लिये तैयार हो गए हो - और यह तो अच्छी ही बात है ।

और यदि स्वीकार न करते हो, तो इस जीव ने अदृष्ट का निर्माण कब किया कि जिसके आधार पर ईश्वर ने उसे जन्म दिया ? इसका उत्तर क्या दोगे ? दूसरी ओर जब यह जीव पूर्व जन्म में अदृष्ट उपार्जन करता था अकेला तो था

नहीं। उसने भी किसी अन्य के साथ ही शुभ-अशुभ पुण्य-पाप की प्रवृत्ति की ही होगी, तभी तो अदृष्ट का निर्माण हुआ होगा न ? इस प्रकार तो सभी जीवों की सृष्टि ईश्वर की रचना के पूर्व ही मानने की आपत्ति आती है, और उस जन्म में अदृष्ट निर्माण किया तो उस भव से पूर्व के दूसरे भव में वह क्या था ? वह भव किस अदृष्ट के आधार पर समझें ? उसके पूर्व का जन्म फिर किस जन्म के अदृष्ट के आधार पर समझें ? ऐसे करते करते तो अंडे और मुर्गी जैसी अनवस्था दोष की बात सिद्ध हो जाएगी, तो आप दोनों ओर से फँस जाओगे।

चलो, ईश्वर जीवों के अदृष्ट के आधार पर सृष्टि निर्माण करता है ऐसा आपका सादा पक्ष भी मान लेते हैं, तब भी सरलतापूर्वक बात गले उतरती नहीं हैं, क्यों कि यह पक्ष मानने, में एक बात तो सिद्ध हो ही जाती है कि ईश्वर ने मनस्वी की तरह स्वेच्छानुसार सृष्टि की रचना नहीं की। जीवों के जैसे भी शुभाशुभ अदृष्ट कर्म थे उन्हीं के अनुसार उन्हें फल देने के लिये सृष्टि का निर्माण किया है। इस प्रकार यदि मानते हैं तो ईश्वर की स्वतंत्रता मिट जाएगी और पुनः ईश्वर को परतंत्र पराधीन, अदृष्टाधीन, कर्माधीन मानना पड़ेगा। तब तो फिर ईश्वर जिसके आधीन है वह अदृष्ट या कर्म सत्ता ईश्वर की अपेक्षा भी बड़ी सत्ता होनी चाहिये। इसमें तो दोनों ओर से आपत्ति आपके सिर पर ही आती है। एक तो ईश्वर की अपेक्षा दूसरी महती सत्ता सिद्ध हो जाती है और दूसरी ओर ईश्वर दूसरी सत्ता के अर्थात् अदृष्ट के आधीन हो जाता है। इसमें परतंत्रता स्वीकार करने की आपत्ति खड़ी हो जाती है। अब आप ही सिद्ध करो कि ईश्वर की स्वतंत्रता कैसे बचायी जाए ? यह सिद्ध करने जाओगे, तो अदृष्ट कर्म की सत्ता आप लोग स्वीकार नहीं कर सकोगे और अदृष्ट कर्म की सत्ता स्वीकार नहीं कर सकोगे तो आप यह कैसे कह सकोगे कि ईश्वर अदृष्ट के आधार पर जीवों को फल देने के लिये सृष्टि की रचना करता है, जन्मादि देता है, यदि ऐसा कहोगे तो ईश्वर की स्वतंत्रता नहीं रहेगी, बल्कि परतंत्रता सिद्ध हो जाएगी। अब आपके असर्वज्ञता के शास्त्र में ऐसी आपत्ति खड़ी हो जाएगी तब बताओ आप क्या करोगे ? तराजू के पलड़ों में मेंढको को दूसरे मेंढको से ही तोलने की क्रीडा का बीड़ा तो आपने उठाया है, परन्तु आप स्वयं ही उबका जाओगे, एक पलड़े में मेंढक रखने के प्रयास में दूसरे पलड़े का मेंढक बाहर कूद पड़ेगा और इस प्रकार आप कभी भी मेंढको से मेंढकों को तोल नहीं पाओगे। ऐसी मेंढको से मेंढको को तोलने की क्रीडा आपके हाँ भी हुई है। एक सिद्धान्त बचाने जाते हो कि दूसरा

टूट जाता है और दूसरे की रक्षा के प्रयत्न में पहला टूट पड़ता है । यह तो तीन जोड़ने के प्रयास में तेरह टूटने जैसी स्थिति हो गई । ईश्वर का एक सिद्धान्त ही सच्चा सिद्ध न हो सके तो क्या करोगे ? तो ईश्वरको कैसा मानोगे ? किस स्वरूप में मानोगें ? या मात्र ईश्वर शब्द ही स्वीकार करोगे ? भले ही उस शब्द का कोई भी अर्थ न हो, कोई भी सत्य स्वरूप न होने पर भी मानना अर्थात् मानना ही क्यों ! तब तो आप जानें और आपका काम जाने ।

स्वतंत्ररूप से रचित सृष्टि कैसी होती है ?

चलो, पुनः विचारणा करते हैं और आपके कथनानुसार मान लेते हैं कि ईश्वर स्वतंत्र है, और स्वतंत्र रूप से सृष्टि की रचना करता है - इस में कोई शंका नहीं, तो स्वतंत्र ईश्वर कैसा है ? दयालु है, करुणामय है, परम वात्सल्यमय है, ईश्वर में तो स्वभावादि की कोई विकृति ही नहीं न ? वह तो शुद्ध एक स्वभावमय ही है न ? ईसाई भी ऐसा कहते हैं कि Oh God ! Thou name is mercy. Thou art merciful. God is compassionate. ईश्वर का ही नाम दया है । ईश्वर दयालु है । भगवान करुणा से भरपूर है । इस प्रकार अच्छे दयालु शब्द से ईश्वर का अभिन्नंदन करते हैं । ठीक हैं, मान लेते हैं कि ईश्वर करुणानिधान दयानिधि होगा और ऐसा ईश्वर सृष्टि का सृजन करता है और दयाद्वि हृदयी ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण किया हो, तब तो पूछना ही क्या ? वह सृष्टि कैसी होनी चाहिये ? क्या उसमें कोई त्रुटि हो सकती है ? पर प्रश्न यह है कि इन कसाईओं को किसने बनाया ? हिंसा करने वाले हिंसक किसने बनाए ? मछुआरे किसकी कृति है ? वाघ, सिंह, शेर, चीत्ते, तेंदुए आदि घोरहिंसक प्राणी किसने बनाए ? भयंकरवृत्तिवाले नरभक्षी राक्षस किसने बनाए ? भूत-प्रेत-पिशाचों की रचना किसने की ? यदि कहते हो कि ईश्वर ने नहीं बनाए तब तो ईश्वर के हाथों से उसकी रचना करने का अधिकार छिन जाता है - और यह बात आपको जरा भी अनुकूल नहीं, और यदि मानते हो कि इन क्रूरजीवों को ईश्वरने बनाया है, तो ईश्वर की करुणा को ठेस पहुंचती है और पुनः आप दोनों ओर से फँस जाते हो।

दूसरी बात यह है कि करुणासागर ईश्वर दयापूर्वक सृष्टि का सर्जन करे तो सब कुछ एक जैसा ही क्यों न बनाए ? इस सृष्टि में सादृश्यता क्यों नहीं दिखती ? एक जड़ मशीन भी लाखों वस्तुओं का उत्पादन करती है तो वह भी सब एक जैसी ही वस्तुएँ बनाती हैं । उदाहरण के लिये एक मशीन ग्लास, पेंन, बटन, मोटरकार

अथवा कोई भी वस्तु बनाती हो, तब भी वह विशाल मशीन भी एक जैसी ही वस्तुएँ बनाती हैं। उसके द्वारा ढाली गई वस्तुओं में एक रत्तीभर अथवा धागे जितना भी अन्तर नहीं होता है। भले ही वह मशीन लाखों - करोड़ों वस्तुएँ बनाती हो, पर वह बनाती है सब एक जैसी ही - जब कि मशीन तो जड़ होती है, उसमें तो दया-करुणा जैसी कोई बात ही नहीं होती। उधर ईश्वर तो दयालु है, करुणावान् है, चैतन्य शक्ति स्वरूप है, वह यदि सृष्टि की रचना करता है, तो उसमें शेष ही क्या रह सकता है ? उसकी कृति में तो किसी प्रकार का दोष रहने का प्रश्न ही नहीं होना चाहिये परन्तु इस सृष्टि में सैकड़ों दोष और विषमताएँ दिखाई पड़ती हैं - 'यह बात स्पष्ट है, दीपक के प्रकाश की तरह साफ दिखाई देती हैं।'

उदाहरणार्थ - एक राजा और एक रंक, एक धनी तो दूसरा निर्धन, एक सुखी तो दूसरा दुःखी, उच्च-अधम, ब्राह्मण-शूद्र स्त्री-पुरुष, कीड़ा-मकोड़ा आदि है। नदी का नीर मधुर तो सागर का जल खारा, एक क्रोधी तो दूसरा क्षमाशील, एक मायावी तो दूसरा सरल, एक साहूकार तो दूसरा चोर, एक कंजूस तो दूसरा उदार-दानवीर, एक दाता तो दूसरा याचक, - इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि सैकड़ों प्रकार की विषमताओं से परिपूर्ण है, कहीं भी एक जैसी समानता तो दिखती ही नहीं है। इसीलिये यहाँ भी एक ही मां के चार पुत्रों के स्वभाव भी एक जैसे नहीं होता इतना ही नहीं, बल्कि एक ही माता की कुक्षि से जन्मे हुए युगल भी एक जैसे नहीं होते हैं। इन में भी एक बुद्धिशाली तो दूसरा बुद्ध होता है इतनी अधिक विषमता क्यों ?

मान लो कि ऊपरवाला ईश्वर कुम्हार की तरह मिट्टी लेकर भिन्न भिन्न आकार के जिस प्रकार घड़े बनाता है उसी प्रकार प्रत्येक जीव की आकृतियाँ आदि शरीर बनाता होगा, तो ईश्वर ने कितने प्रकार की Dye सांचे बना रखे होंगे ? जिससे एक भी आकृति दूसरी आकृति से मिलती नहीं ? वर्तमान विश्व की छ अरब की जन संख्या में एक से दूसरे व्यक्ति की आकृति नहीं मिलती है। जब कि ये ही दोनों आँखे, दो हाथ, मुँह, नाक, भाल आदि सभी उसी स्थान पर सबके समानरूप से हैं, फिर भी परस्पर आकृतियाँ नहीं मिलती। ऐसी विषम ओर विचित्र सृष्टि की रचना करने में ईश्वर का ईश्वरपन सिद्ध होता है, बढ़ता है या घटता है ? अथवा सर्वथा प्रसिद्ध होता है ? और यदि आप उसे कुम्हार की भाँति कहोगे तब तो ईश्वर को कुम्हार कहने में आपकी आपत्ति होगी तथा संभवतः आपको यह

बात रुचिकर भी नहीं लगेगी ।

वहाँ तो वेदवादी कहते हैं कि हमें कोई आपत्ति नहीं है । हमारे वेद में “नमः कुम्भकोरेभ्यः कुलालेभ्यश्च” अर्थात् कुम्हार और कुलाल जैसे ईश्वर को भी नमस्कार हो । कुम्हार की अर्थ में ईश्वर की स्तुति करते हैं । यह स्थिति कुम्हार की तरह ईश्वर की कृति पर प्रकाश डालती है, परन्तु उपमा देने में सादृश्यता तो देखनी चाहिये या नहीं ? जैसे कुम्हार मिट्टी लेकर दंड-चक्र-चीवरादि की सहायता से घड़ा बनाता है, वैसे ही ईश्वर यदि सृष्टि की रचना करता हो तो उसने सृष्टि बनाने के लिये मिट्टी आदि की तरह कौन से मूलभूत पदार्थ उपयोग में लिए थे ? किन वस्तुओं या मूलभूत पदार्थों के संयोजन से सृष्टि बनाई थी ? जैसे कुम्हार मिट्टी नहीं बनाता, मिट्टी तो पहले से ही अपना अस्तित्व रखती है, उसी प्रकार पानी आदि भी अपना अस्तित्व रखते हैं, कुम्हार तो मिट्टी को पानी में भिगोकर घूमते हुए चक्र पर फिराते फिराते मात्र आकार देता है ? क्या इसी प्रकार ईश्वर तो मात्र आकार ही देता है ? तब तो मूल पदार्थों की सत्ता हाथ में से निकल जाएगी, और मिट्टी, पानी, पृथ्वी, आकाश, वायु, अग्नि आदि मूलभूत पदार्थों की सत्ता ईश्वर के हाथ में नहीं रहेगी, क्यों कि ईश्वर ने इन्हें बनाया नहीं है, बल्कि मात्र इनकी सहायता लेकर अन्य पदार्थ बनाए हैं, तब मिट्टी, पृथ्वी, वायु, अग्नि आकाशादि मूलभूत पदार्थ किसके द्वारा निर्मित माने जाय ? क्या ये किसी अन्य ईश्वर द्वारा निर्मित मानें ? यदि आप हाँ कहते हैं, तो जो आपके मतानुसार ईश्वर एक ही है, वह एकेश्वर का पक्ष गिर जाता है, और यदि आप नहीं कहते हैं तो ईश्वर ने ये पदार्थ नहीं बनाए बल्कि इनकी सहायता से दूसरे पदार्थ बनाए है, यह बात सिद्ध हो जाती है । तो फिर शून्य सृष्टि में मिट्टी-पानी-पृथ्वी-अग्नि-आदि पदार्थ आए कहां से ? किसने बनाए ? और इन पदार्थों की सहायता से ईश्वरने जीव सृष्टि कैसे बनाई ? क्या कुम्हार मिट्टी से मानव बना सकेगा ? नहीं, संभव नहीं है । यदि शक्य होता तब तो कुम्हार बनाए या ईश्वर बनाए दोनों में कोई अन्तर ही नहीं होता । एक जड़ और दूसरा चेतन है । तो फिर जड़ मिट्टी में से मनुष्यरूपी चैतन्य जीव सृष्टि कैसे बनी ? तो क्या ईश्वरने जड़-अजीव में से ही सारी जीव सृष्टि की रचना की है ? यदि जड़ पदार्थों में ऐसा परिवर्तनशील स्वभाव होता तब तो ईश्वर की भी आवश्यकता न होती और पदार्थ स्वयं ही इस प्रकार परिणत हो गए होते, परन्तु पदार्थों में तो वे गुणधर्म ही नहीं है, तो फिर कहां से होगा ? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि ये तो ईश्वर ने स्वसामर्थ्य से

बदल डाले। ईश्वर के सामर्थ्य से पदार्थों के गुण धर्म ही बदल जाते हैं । तब तो चाहिये ही क्या? फिर तो अजीव में से ही जीव सृष्टि और जीव में से अजीव सृष्टि माननी पड़ेगी । इसका अर्थ यह होगा कि जीव सृष्टि बनाने के लिये ईश्वर ने अजीव पदार्थों का निर्माण नहीं किया, परन्तु मात्र अजीव पदार्थों का रुपान्तर जीव सृष्टि में किया है तो प्रश्न है कि अजीव पदार्थ किसने बनाए ? ये कहाँ से आए ? क्या जीव में से अजीव बने । तब तो इस प्रकार अनवस्था दोष लगेगा ।

आज भी अजीव का जीव के रूप में रुपांतर संभव नहीं है, न कभी था और न कभी होता है । यदि ऐसा होता तब तो मिट्टी का घड़ा ही क्यों, मिट्टी से मानव बनता और अग्नि से घड़ा बनता, परन्तु क्या अनंत काल तक प्रयत्न करने पर भी यह संभव है ? नहीं - बिल्कुल नहीं । :

दयालु ईश्वर सृष्टि का संहार क्यों करता है ?

ईश्वर के तीन रूप मानकर शंकर-महादेव को सृष्टि के संहार - प्रलय का कार्य सुपुर्द किया गया है । क्या जो माता अपने संतान को जन्म देती है वही माता अपने ही संतान को मार कर खा सकती हैं ? संभव नहीं हैं, क्यों कि उसका वात्सल्य उसका स्नेह उसे ऐसा करने से रोकता है । इसी प्रकार जो ईश्वर माता की भाँति सृष्टि का निर्माण करता है, वही ईश्वर इस सृष्टि का प्रलय महाप्रलय करके संहार कर सकता है क्या ? और यदि करता है, तो उसकी करुणा का क्या होगा ? जो दयालु है, परम कृपालु है ऐसा दया-कृपा-करुणामय गुणयुक्त ईश्वर अपने हृदय में इन गुणों को रखते हुए क्या स्वसर्जित सृष्टि का संहार-प्रलय कर सकता है ? और यदि करता है तो इन गुणों का क्या मूल्य ? फिर तो एक माता भी अपनी संतान को मार कर खा सकती है, परन्तु माता में वात्सल्य - स्नेह का भंडार होने के कारण ऐसी प्रवृत्ति का होना असंभव है, तो महाकरुणावान् ईश्वर में इसकी शक्यता कैसे मान लें ? संहार-प्रलय करने के लिये हिंसकवृत्ति, मारने की बुद्धि, सर्वनाश के भाव, भीषण क्रूरता आदि दुर्गुण और भाव कारणभूत हैं, तो क्या ये सभी दुर्गुण आप ईश्वर में स्वीकार करते हैं ? क्या ऐसी स्वीकृति उचित है? और यदि स्वीकार न करते हो तो दया-करुणापूर्वक तो संहार हो ही नहीं सकता, फिर भी संहार प्रलय तो आप मानते ही हो, तो किस कारण से प्रलय मानते हो? वहाँ तो आप एक ही कारण बताते हो कि ईश्वर यह महाप्रलय या संहार भी लीलास्वरूप ही करता है । यह तो लीला मात्र ही है, क्या आश्चर्य है?

लीला एक ऐसा शब्द मिल गया है कि उसमें सब कुछ समा जाता है ।

परन्तु इस दयालु ईश्वर को ऐसी लीला करने का मन ही क्यों होता है ? ऐसी लीला ? क्या अन्य कोई लीला करना नहीं सूझा ? ऐसी लीला किस काम की ? क्या ऐसी लीला करने से ही ईश्वर की महत्ता में वृद्धि होती है ? दूसरी ओर क्या यह निरर्थक श्रम नहीं है ? पुनः पुनः इस सृष्टि का निर्माण करना और पुनः पुनः इसका संहार करके इसे विलीन करना - क्या उचित है ? बार-बार निर्माण करना और बार-बार संहार करना ? इसकी अपेक्षा तो प्रलय - संहार करो ही नहीं, ताकि बार-बार बनाने का प्रश्न ही उपस्थित न हो, दूसरी बार बनाने की आवश्यकता ही क्यों ? कोई प्रश्न ही नहीं उठता । एक बार बनाई हुई ज्यों की त्यों हो तो फिर दूसरी बार बनाने का प्रश्न ही कहाँ रहा ? इससे बढ़िया और क्या हो सकता है ? इस प्रकार तो सृष्टि की अनादि-अनंतता - शाश्वतता भी बनी रहेगी - यह उत्तम पक्ष है, इसे क्यों नहीं स्वीकार लेते ?

नहीं ऐसा नहीं करोगे, क्यों कि इस पक्ष को मान लेते हो तो फिर ईश्वर तो बेकार हो जाए न, उसे तो फिर निष्काम ही बैठा रहना पड़े न ? तो यदि बार-बार सृष्टि निर्माण-महा प्रलय आदि का कार्य ही न रहेगा, तो फिर ईश्वर क्या करेगा ? उसके पास फिर तो कोई कार्य ही नहीं रहेगा, तो क्या फिर हाथ पर हाथ रखकर बैठा ही रहेगा । मात्र निष्क्रिय होकर बैठे रहने के बजाय तो सृष्टि का कार्य करता रहे तो यह अधिक अच्छा है, क्यों कि सृष्टि को बनाने चलाने, उसका विलय करने आदि का संपूर्ण दायित्व तो ईश्वर का ही है । उसके सिवाय यह कार्य किसी अन्य से संभव भी नहीं, शक्य ही नहीं है । अतः जिसका जो कार्य है, वही उसे करे । यदि वह नहीं करता है तो अन्य तो कोई भी ईश्वर है नहीं, जो इस कार्य को कर पाए ।

परन्तु सज्जनों ! रामायण को आप लम्बी क्यों कर रहे हो ? ईश्वर के पास तो चलाने का कार्य भी अत्यधिक है, बनाने या विनाश करने का काम ईश्वर न भी करे, तब भी चलाने का उत्तरदायित्व कहाँ कम है ? नित्य सबका हिसाब सम्हालना ? सबको उनके पुण्य-पाप का फल देने का कार्य भी तो आप ईश्वर का ही स्वीकार करते हो न ? यह कार्य तो बहुत बड़ा है संसार में अनंत जीव है । सबका हिसाब किताब रखने का कार्य ही इतना बड़ा है कि ईश्वर इस में से कभी ऊँचा ही नहीं उठ सकता फिर संहार-प्रलय करने का समय तो ईश्वर को कहाँ से मिले ? नहीं.... नहीं.... हम यदि यह न मानें तो ईश्वर का अधिकार छिन जाता

है ? सर्जन विसर्जन करने का अधिकार तो ईश्वर का ही है ! अरे! पर अधिकार जा कर भी कहाँ चला जाएगा ? कुछ तो समझों ! अन्य ईश्वर को तो आप ने माना ही नहीं है । ईश्वरेतर अन्य ईश्वरादि समर्थ महाशक्तिशाली तो कोई है ही नहीं, फिर अधिकार छिन जाने का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है ? और यदि कहते हो कि ईश्वर अपना अधिकार बनाए रखने के लिये ही सर्जन विसर्जन करता है, तो वह भी युक्त नहीं है ।

इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर सर्जन विसर्जन ही करता रहेगा, तो ईश्वर की नित्यता कैसे टिक सकेगी ? सर्जनकर्ता ईश्वर को नित्य माने या विसर्जन महा प्रलयकर्ता संहारक ईश्वर को नित्य मानें ? दोनों में से एक भी उत्तर दोगे तो आप फँस जाओगे, क्यों कि यदि स्रष्टा ईश्वर नित्य है तो वह नित्य रहेगा और उसके साथ साथ उसका सृष्टि रचना का कार्य भी नित्य ही रहेगा । उसे भी नित्य मानना ही पड़ेगा । सृष्टि की रचना का कार्य यदि नित्य रहेगा तो कभी भी सृष्टि का कार्य पूर्ण हुआ नहीं कहलाएगा । तब तो सृष्टि को सदैव अपूर्ण ही माननी होगी । यदि उसका पूर्ण होना मानोगे तो ईश्वर की नित्यता लुप्त हो जाएगी । यदि नित्यता टिकाए रखोगे तो सृष्टि की रचना सतत स्वीकार करनी ही पड़ेगी और यदि यह पक्ष स्वीकार करोगे तो जो सृष्टि अपूर्ण है, जिसकी सम्पूर्ण रचना हुई ही नहीं, उसका बीच में ही ईश्वर प्रलय क्यों कर सकता है ? प्रलय तो कब हो जब सृष्टि की संपूर्ण रचना हो चुकी हो, कार्य चल रहा हो और बीच में कोई विकृतियाँ पैदा हो गई हो, पाप - अनाचारादि बढ़ गए हो, तब तो प्रलय करने का कोई कारण भी बन सकता है ।

परन्तु जिस ईश्वर की पकड़ ही इस सृष्टि पर पक्की हो, पूर्ण हो एक ही समर्थ और सक्षम ईश्वर हो और वह भी इच्छा शक्ति मात्र से सृष्टि चलाता हो तो उसकी सृष्टि में विकृतियाँ आने का तो प्रश्न ही कहाँ रहता है ? और जब विकृतियाँ का ही अभाव हो तो प्रलय करने का क्या प्रयोजन रहता है ? निष्प्रयोजन प्रवृत्ति तो मूर्ख भी नहीं करता है । ऐसे जाल में जब फसने की नौबत आई तो अंतिम ब्रह्मास्त्र उठा लिया कि - यह तो ईश्वर की लीला. ईश्वर की इच्छा इसे ही स्वीकार कर लो - इसे ही प्रलय-संहार आदि का कारण मान लो, क्यों कि लीला और इच्छा के शब्दों से ईश्वर की रक्षा का ऐसा अभेद्य कवच बना लिया है कि कोई इसे भेद ही न सके । अभेद्य कवच इस लीला का ही है । बस, ये शब्द आगे बढ़ा देने से बुद्धि के द्वार बंद ही हो जाते हैं । फिर आप क्या बोल सकते

हो ? है कोई उत्तर ?

हां है । बोलो - लीला क्या है ? इच्छा क्या है ? इच्छा और लीला दोनों एक ही है या भिन्न भिन्न हैं ? इनकी उत्पत्ति किस में से होती है ? ईश्वर लीला या इच्छा के आधीन है अथवा लीला और इच्छा ईश्वर के आधीन है ? यदि ईश्वर को लीला या इच्छा के आधीन मानते हो, तो ईश्वर को परतंत्र मानना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में उसकी स्वतंत्रता का सिद्धान्त नष्ट हो जाएगा और यदि लीला या इच्छा को ईश्वर के आधीन मानोगे तो ईश्वर की ईश्वरता समाप्त हो जाएगी । क्या ईश्वर में इतनी भी शक्ति नहीं है कि वह स्वयं अपनी इच्छाओं को भी समाप्त कर सके, तो उसकी ईश्वरता किस प्रयोजन की ? हाँ गई उसकी ईश्वरता ? इस प्रकार यदि इच्छा तत्त्व की पूँछ यदि आप नहीं छोड़ते हो तो इच्छा तो राग-द्वेष स्वरूप है, अतः आपको ईश्वर को भी रागी - द्वेषी मानना पड़ेगा, और रागी-द्वेषी तो हमारे जैसे अनंत जीव हैं, और तब तो सभी ईश्वर हो गए । ऐसा करने पर आपका एकेश्वरवाद का पक्ष भी मिट जाएगा । इस प्रकार आप दोनों ओर से फँस जाते हो अब क्या कहना है क्यों कि आपको ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया है ।

राज-द्वेषाधिन फलदाता ईश्वर :-

जगत् कर्तृत्ववादिओं ने ईश्वर के नाम पर चढ़ाने में कुछ भी शेष नहीं रखा है । ईश्वर का सामर्थ्य बढ़ाने के लिये जो कुछ भी आया वह सब ईश्वर के नाम पर चढ़ा दिया गया है । ईश्वर ही जीवों के पुण्य-पाप का फलदाता है । अच्छे, बुरे, मधुर-कुदु आदि सभी फल जीवों को देने का काम ईश्वर का ही है । वेद में लिखा है कि 'अनुग्रह-निग्रह' समर्थों ईश्वर अनुग्रह और निग्रह दोनों ही करने में ईश्वर समर्थ है । यह इसी का कार्य है और इसे करने में वह निष्णात है - समर्थ है । अनुग्रह अर्थात् किसी पर दया करना कृपा या उपकार करना और निग्रह का अर्थ है किसी पर कुपित होना उसका सर्वनाश करना । अर्थात् ईश्वर जिस पर प्रसन्न हो जाता है, उसे राज सिंहासन आदि सब कुछ प्रदान कर उसे समृद्ध बना देता है, और जिस पर कुपित हो जाता है, उसे मिट्टी में मिला देता है - उसका सर्वनाश कर डालता है । ये बातें लोगों के मस्तिष्क में बिठा दी गई हैं, इसीलिये जनसाधारण ईश्वर को प्रसन्न करने का ही प्रयत्न करता है, ऊपर वाला कहीं क्रुद्ध न हो जाय, इसके लिये उसकी पूजा करो - उसे मानो, उसका जाप करो - ऐसा भय लोगों में है ।

अनेक प्रदेशों में शिव-शंकर भगवान के शिवलिंग पर रस्सी से बाँधकर पानी से भरा हुआ एक मटका लटकाए रखते हैं, और उसके नीचे एक छिद्र करके उसमें कपड़े या रुई की बत्ती डालकर रखते हैं जिससे पानी की एक-एक बूंद शिवलिंग पर टपकती ही रहे - यह दृश्य शिवजी के अधिकांश मंदिरों में देखने में आता है। इसका कारण पूछे तो वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि भगवान शिव कहीं क्रुद्ध न हो जाए, उनके मस्तिक में कहीं गरमी न चढ जाएँ, यदि वे कुपित हो गए और उन्होंने अपना तृतीय नेत्र यदि खोल दिया, तो भय है कहीं वे इस सृष्टि का प्रलय न कर बैठे ? संपूर्ण विश्व का संहार कर डालें ऐसे हैं शंकर भगवान ! अतः उनका मस्तिष्क सतत ठंडा रखने के लिये पूजा - भक्ति में यह पद्धति उन्होंने डाल रखी है। मटकी का ठंडा पानी सतत उनके सिर पर टपकता ही रहने से उन्हें क्रोध नहीं चढ़ेगा वे सदैव ठंडे ही रहेंगे तब तो संसार का प्रलय नहीं होगा क्यों ?

यह बात टीका टिप्पणी करने की दृष्टि से नहीं लिखी है, बल्कि आँखों से देखी हुई बात है और पूछकर स्पष्टीकरण करके प्राप्त किये हुए उत्तर हैं। यह सब कुछ लिखने के पीछे टीका टिप्पणी करने का कोई इरादा नहीं है, परन्तु यह देखना है कि लोगों ने अपनी मान्यताएँ स्वार्थी तत्त्व जबरन घुसाकर ईश्वर का स्वरूप कितना विकृत कर डाला है, और ऐसी परम्पराएँ चलती रहें तो कालांतर में वे भी सिद्धान्त बन जाती है। ऐसे ही सिद्धान्तों से अंधश्रद्धा प्रचलित हो जाती है और इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप में कितनी विकृतियाँ आ जाती है।

इस प्रकार कालिक इतिहास का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि ईश्वर के सिद्धान्तों, स्वरूप की मान्यताओं, श्रद्धा भक्ति आदि के अन्दर हजारों वर्षों के काल में कितनी अंध-श्रद्धा, कितनी विकृतियाँ आ गई हैं, जिन के कारण ईश्वर का स्वरूप ही विकृत हो गया है। यदि ईश्वर का ही निर्दोष स्वरूप न रहा तो उसकी श्रद्धा-मान्यता-पूजा-भक्ति भी कैसी होगी ?

कर्म सत्ता का मानना ही एक मात्र विकल्प है :

पुण्य - पाप तो शुभ-अशुभ प्रवृत्ति मात्र हैं और उन्हें जीव स्वयं ही करते हैं। इस में ईश्वर को बीच में घंसीट लाने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता और पुण्य-पापमय जो भी प्रवृत्तियाँ जीव करते हैं उन्हीं से जीव कर्मोपार्जन करते हैं। कालांतर में जब ये कर्म उदय में आते हैं तब अच्छे-बुरे फल भी जीव स्वयं ही पाते हैं। फलदाता के रूप में ईश्वर को बीच में फँसाने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

ऐसा करते हैं तो ईश्वर में निरर्थक ही राग-द्वेष की स्वार्थी वृत्ति आदि के दोषों का समावेश हो जाता है । एक को सुखका अच्छा फल देने वाले, दूसरे को दुःख का कटु फल देने वाले के रूप में ईश्वर को कारण मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती । चलाकर ईश्वर के स्वरूप को राग-द्वेष का कलंक लगाकर काला टीका लगाने के बजाय तो ईश्वर की सच्ची महत्ता बढ़ाने में ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है। अतः पुण्य - पाप तथा उनके फल सुख-दुःख आदि, के पीछे अथवा सृष्टि की रचना के पीछे ईश्वर को कारण मानने की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती । ईश्वर के विकल्प स्वरूप कर्मसत्ता को ही कारण मान लो और ईश्वर को शुद्ध उपास्य तत्त्व तक ही सीमित रहने देना ही सत्य है, ज्ञान है सम्यग ज्ञान है । यदि इसे स्वीकार नहीं करते हैं, तो अकल्पित दोषों का अंबार ईश्वर के सिर मढ़ जाएगा । एक और ईश्वर ही अपनी इच्छानुसार जीवों के पास पुण्य-पाप करवाए, अच्छी-बुरी प्रवृत्तियां करवाए और फिर बेघारे उन जीवों को सुख-दुःख रूप में फल दे - यह कहाँ का न्याय है ? यदि कोई जीव प्रश्न करे कि हे भगवान् ! मुझे ऐसा भयंकर दुःख क्यों देते हो , तो क्या ईश्वर कह सकेगा कि तूने ऐसे ही पाप कर्म किये हैं । ऐसी स्थिति में जीव कहीं यह न कह बैठे कि भगवन् ! पाप करवाने वाले तो आप ही हैं । हम तो कठपुतली की तरह आपके हाथ के खिलौने हैं - आपके निर्देशानुसार ही हम नृत्य करते हैं, हमारा तो कुछ भी चलता ही नहीं है, हम तो स्वेच्छानुसार कुछ भी कर नहीं सकते । जो कुछ भी करवाते हो वह सब आप ही करवाते हो, फिर हमें अच्छे-बुरे फल क्यों देते हो ? पहले तो पाप-पुण्य करवाना और फिर उनके फलस्वरूप हमें दुःख सुख देना, इस के बजाय तो प्रारंभ में ही हमसे अच्छी-बुरी प्रवृत्ति करवाओ ही नहीं, ताकि बाद में फल देने का प्रश्न ही न आए ? आपको भी निश्चितता और हमें भी शांति ।

परन्तु सामान्य जीवों के ऐसे तर्क ऊपरवाला कहाँ सुनता है ? उसे तो संसार चलाना और समाप्त करना होता है । अतः ईश्वर भी हाथ झाड़कर कह देता है कि भाई ! मैं भी क्या करूँ ? मेरी लीला-इच्छा ही ऐसी है । मैं भी इच्छा और लीला से बंधा हुआ हूँ, विविश हूँ । अब आप ही सोचो कि सर्वशक्तिमान सामर्थ्यवान् ईश्वर भी कैसी लाचारी बताता है ? ऐसी लाचारी में उसका ईश्वरत्व कैसे टिक सकता है ? अतः चलाकर ईश्वर का स्वरूप अधिक से अधिक विकृत करने के बजाय तो इस अर्थ में यहाँ ईश्वर के विकल्प के रूप में कर्मसत्ता को ही कारण मान लेना चाहिये, क्यों कि यह सिद्धान्त अधिक निर्दोष है शुद्ध है, शुभ है

और सच्चा है ।

जीव स्वतंत्र है । स्वयं अपनी अपनी वृत्ति के आधार पर शुभ-अशुभ पुण्य-पाप की प्रवृत्ति मन-वचन-काया, से करता है और उससे अच्छे-बुरे कर्म अर्जित होते हैं । उन उन कर्मों के समय-समय पर उदय होने से जीव सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक, सद्गति-दुर्गति आदि के अच्छे बुरे विपाक-फल प्राप्त करता है । बस, आवश्यकता है कर्म की शुद्धसत्ता को मानने की । ईश्वर कहीं भी बीच में आता ही नहीं हैं, अतः ईश्वर का स्वरूप विकृत होने का प्रश्न ही नहीं रहता । इस प्रकार ईश्वर और कर्म सत्ता का स्वरूप अलग अलग कर देना चाहिये । दोनों ही की स्वतंत्र सत्ताएँ हैं - इस बात को स्वीकार कर लेना चाहिये और ईश्वर को शुद्ध तत्त्व के रूप में उपास्य समझकर उसकी उपासना करनी चाहिये ।

इस ईश्वर का शुद्ध स्वरूप क्या है ? क्या ईश्वर Readymade तैयार ही अबतरित होता है या इस धरती पर अपने जैसे जीव ही स्वयं स्वपुरुषार्थ से ईश्वर बनते हैं ? ईश्वर बनने की कला क्या है ? क्या कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है ? या यह मात्र ईश्वर का ही अधिकार है ? कितने जीव ईश्वर बन सकते हैं ? बनने के बाद वे क्या करते हैं ? कहाँ रहते हैं ? ऐसे ईश्वर की उपासना साधना कैसे की जाए - आदि सैकड़ों प्रश्नों की विचारणा हम आगे स्वतंत्ररूप से करेंगे । 'अलं विस्तरेण' अधिक विस्तार से प्रयोजन सिद्ध हुआ । इतने विवेचन से जिस ईश्वर की उपासना हमें आजीवन - भवोभव करनी है, उस ईश्वर के स्वरूप को सच्चे अर्थ में समझने के लिये एक विनम्र प्रयत्न किया है, सत्य स्वरूप समझने के लिये तर्क और युक्तियों का सहारा लिया है । इसे कोई आक्रोश या टीका - टिप्पणी समझने की भूल न करे । सज्जनों ! सज्जनता का भाव छोड़े बिना सत्य को स्वीकार करने के लिये तैयार रहोगे - बस, इतना ही नम्र निवेदन कर शासन देव को प्रार्थना करता हूँ कि जगत के सभी जीव ईश्वर का सच्चा स्वरूप समझें, शुद्ध प्रणाली से उसकी आराधना उपासना करें और सभी का कल्याण हो - ऐसी ही शुभ भावना.....



अरिहंत परमात्मा का शुद्ध स्वरूप

विश्वबंध.. त्रिजगत्पूज्य... त्रिभुवनपति... अनंतोपकारी.. तारक...तीर्थकर...
परमेष्ठि परमेश्वर...परमनाथ... परमार्हन्... परम पिता... परमात्मा को
अनंतानंत नमस्कार पूर्वकः.

यं शैवाः समुपासते शिव इति, ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैन शासनरताः कर्मति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं, त्रैलोक्यनाथः प्रभु ।

१ भारतीय प्रसिद्ध दर्शनों में ईश्वर को मानने वाले सभी दर्शन अपनी अपनी विधि से जो मानते हैं उसके स्वरूप का इस श्लोक में वर्णन करते हुए कहते हैं कि शैवधर्मीजन् अपने भगवान को शिव कहकर पूजा करते हैं, वेदान्तवादी इसे ब्रह्मा के रूप में मानते हैं, बौद्ध अपने भगवान को बुद्ध कहते हैं, प्रमाणां में निपुण नैयायिक-वैशेषिक अपने मान्य ईश्वर को जगत् के कर्ता, संसार के रचयिता कहते हैं, जिनेश्वर परमात्मा को मानने वाले जैन धर्मी अपने भगवान को "अर्हन्" अरिहंत कहते हैं और मीमांसक भगवान - ईश्वर को मानते ही नहीं, वे कर्म को ही महत्व देते हैं - ऐसे त्रैलोक्यनाथ प्रभु सबको वाञ्छित फल देने वाले बने ।

इस स्तुति में इस प्रकार षड् दर्शन वादिओं की अपनी अपनी ईश्वर विषयक मान्यताएं प्रस्तुत की गई है । ईश्वरवादी अनेक हैं । सांख्य दर्शन अपने इष्ट को शुद्ध पुरुष के रूप में पहचानते हैं । इस श्लोक में सांख्य दर्शन का उल्लेख नहीं है । सांख्यों में दो भेद हो गए हैं । प्राचीन सांख्य ईश्वर को मानते थे, अतः वे सेश्वर सांख्य कहलाते थे, जब कि अर्वाचीन सांख्य निरीश्वर सांख्य कहलाते हैं । "वैदीक" धर्म वेदानुसार जिसे निरंजन - निराकार ईश्वर कहते हैं, मुसलमान जिसे अल्लाह खुदा के रूप में अभिवादन करते हैं, ईसाई जिसे God कहेकर God Father के रूप में अथवा Messenger of God भगवान के दूत के रूप में मानते हैं, सिख जिसे कतरि कह कर वही जगत् त्त्व कर्ता है-इस अर्थ में पूजते हैं, कतरि पंथी सांड नाम का उपयोग ईश्वर के अर्थ में करते हैं, पारसी धर्मावलम्बी

‘जर धुस्त’ की पूजा करते हैं, अवतारवादि नाम से राम, कृष्ण, विष्णु, हरि, आदि अनेक नामों का उपयोग करते हैं । कई बार अलग अलग देश - क्षेत्रों में नाम भी अलग अलग होते हैं । मूल धर्म के विविध संप्रदाय भी अपनी अपनी मान्यतानुसार अलग अलग प्रकार से पूजते हैं ।

मान्यता भेद :-

ईश्वर को मानने, पूजने आदि विषयों में सभी धर्मों की अपनी अपनी मान्यताएं भिन्न हैं । भिन्न भिन्न मान्यताएं रखकर मात्र एक ही ईश्वर को पूजते हों - ऐसा भी नहीं है । उनकी सैद्धांतिक मान्यता भिन्न है नामभिधान भिन्न हैं, पूजा करने की विधि में भी भिन्नता हैं, मंदिरों - मूर्तियों की रीति - प्रणाली भी भिन्न भिन्न हैं । फिर ऐसाभी कहा जाता है - व्यवहारिक भाषा में ऐसा भी बोला जाता है कि आखिर सबका भगवान तो एक ही है, चाहे किसी नाम से पुकारो । सब नाम से वाच्य ऊपरवाला तो एक ही है, नाम भेद है व्यक्ति भेद नहीं हैं । चाहे राम कहो या रहीम - दोनों एक ही है, सबका पिता परमात्मा तो एक ही हैं ।

इस प्रकार बोलचाल की भाषा में बोलना भिन्न बात है, जब कि अपना अपना सिद्धान्त मानना यह भिन्न बात हैं । ऊपर की भाषा के साथ जैन सहमत नहीं होते और न कभी होंगे । क्यों कि जैनों की अपनी स्वतंत्र विचारधारा हैं । स्वतंत्र रूप से जैन धर्मने बुद्धिगम्य विचार जगत को हजारों वर्षों से दिये हैं ।

जैन सभी प्रकार से सभी अन्य धर्मों की मान्यता से भिन्न अपनी ही मान्यता रखते हैं, अतः वे समान मान्यता कैसे स्वीकार करें ?

- | | |
|--|--|
| इतर दर्शन में ईश्वर स्वरूप | जैन दर्शनाभिप्रेत ईश्वर की मान्यता |
| १) जगत् कर्तृत्ववादी दर्शन ईश्वर को सृष्टि का रचयिता मानते हैं । | १) जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टि का सर्जक कभी नहीं मानता है । |
| २) अन्य सभी एकेश्वरवादी हैं । | २) जैन अनेकेश्वरवादी हैं, मात्र एक ही ईश्वर की सत्ता नहीं मानते हैं । |
| ३) एक ही मूल ईश्वर पुनः पुनः अवतार लेता हैं । | ३) अवतार वाद सर्वथा न मानने वाले जैनोंका कथन है कि मोक्ष से भगवान नहीं लौटते । |
| ४) ईश्वर बना नहीं जाता, ब्रह्म तो सत्ताधारी होता ही हैं । | ४) जैन धर्म की मान्यतानुसार तीर्थंकर नाम कर्म की साधना करके |

भगवान बना जा सकता है ।

५) ईश्वर अन्य कोई भी नहीं बन सकता । वह एक की सर्वोपरि सत्ता है ।

५) जैन दर्शन में कोई भी भव्यात्मा कर्म क्षय करके परमात्मा बन सकती है । किसी एक की ही सत्ता न होने से अन्य किसी को निषेध नहीं है ।

६) सर्वोपरि ईश्वर को अशरीरी मानते हैं । कई उसे सशरीरी मानते हैं । और मुक्तात्मा को मानते अशरीरी हैं ।

७) वे ईश्वर को सशरीरी के रूप में भी विश्वव्यापी मानते हैं ।

७) जैन दर्शन में सर्वज्ञ प्रभु अनंत ज्ञान से लोकालोक व्यापी हैं, न कि स्वदेह से ।

८) ईश्वर की इच्छानुसार ही सब कुछ होता है । उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं होता है ।

८) जैन धर्म मान्य अरिहंत इच्छारहित होते हैं । उनमें राग-द्वेष नहीं होते, अतः उनमें इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

९) जीव ईश्वर के अंश रूप में हैं, उपाधिभेद से हैं । जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है ।

९) जैन दर्शन अनंत जीवात्माओं को स्वतंत्र रूप में मानता है, ईश्वर के अंश के रूप में नहीं मानता है ।

१०) ईश्वर को शुभाशुभ का फलदाता मानते हैं ।

१०) जैन दर्शन ईश्वर को जीवों का शुभाशुभ का फलदाता न मानकर कर्म सत्ता को ही बलवान कहता है ।

११) “संभवामि युगे युगे” कहकर ईश्वर को युग-युग में जन्म लेने वाला मानते हैं ।

११) जैन धर्म में सृष्टिकर्तृत्ववाद ही नहीं है, अतः युग युग में पुनः जन्म नहीं लेते । एक बार मुक्त बनी हुई आत्मा पुनः जन्म धारण नहीं करती है ।

१२) ईश्वर अपनी इच्छानुसार लीला करता है । यह सब ईश्वर की लीला-माया हैं ।

१२) जैन ईश्वर को वीतराग महापुरुष मानते हैं । वे इच्छा रहित राग-द्वेष रहित होते हैं, अतः न लीला करते हैं न माया दिखाते हैं ।

- १३) ईश्वर ही सृष्टि का लालन-पालन करता है। वही नियंता ही सृष्टि को सम्हालना उसी का काम है।
- १४) ईश्वर ही एक मात्र सत्य हैं, शेष सम्पूर्ण जगत् मिथ्या हैं, माया रूप हैं।
- १५) ईश्वर महाप्रलय करके अंतमें स्व सृष्टि का ही संहार कर लेता है।
- १६) सर्वज्ञ ईश्वर की भुल से ही कल्पना की है।
- १७) जगत् के जीवों का सुख-दुःख कर्ता-दाता ईश्वर ही हैं। ईश्वर की इच्छानुसार ही सब होता है।
- १८) ईश्वर, परमेश्वर, जगत्पिता, सृष्टि रचयिता, भगवान इत्यादि शब्द ईश्वर के अर्थ में प्रयोग करते हैं।
- १३) जैन दर्शन में ईश्वर सृष्टि बनाता ही नहीं, तो उसके पालन-पोषण का प्रश्न ही कहाँ उठता है। वह नियंता भी नहीं है।
- (१४) जैन दर्शन ने परमेश्वर को स्वतंत्र माना है। जगत् पुद्गलों की पौद्गलिक रचना है। उसमें अनन्त जीव भी रहते हैं। स्वकर्मानुसार ४ गतियों में जीव हैं, जड़ पदार्थ है - यह भी सत्य है, जड़ पदार्थ है - यह भी सत्य है। जगत् माया - मिथ्या रूप नहीं है।
- १५) जैन सृष्टि बनाने वाले ईश्वर को ही नहीं मानते, फिर महाप्रलय अथवा संहार मानने का प्रश्न ही कहाँ रहता है।
- १६) जैन धर्म मान्य परमेश्वर ही घनघाती कर्मों का क्षय करके सर्वज्ञता प्राप्त करते हैं।
- १७) जीवों का सुख दुःख उनके स्वयं द्वारा कृत शुभ अशुभ कर्माधिन हैं। अरिहंत परमात्मा राग-द्वेष रहित वीतरागी होने के कारण स्वयं की न कोई इच्छा रखते हैं और न तदनुसार कुछ करते ही हैं।
- १८) अरिहंत, वीतराग, जिन-जिनेश्वर तीर्थंकर, परमेश्वर, परमात्मा, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा भगवान शब्द ईश्वर के लिये प्रयोग करते हैं।

- १९) ईश्वर सदा काल नित्य ही हैं । १९) अरिहंत स्वरूप ईश्वर नित्य नहीं उनका निर्वाण होता हैं । सिद्ध परमात्मा ज्ञानादि - अनंत स्थिति में नित्य हैं ।
- २०) ईश्वर का निवास स्थान कोई वैकुण्ठ मानते हैं, कोई नीचे शेषशायी कहते हैं । कोई अदृश्य स्वरूप में सर्वत्र विश्व व्याप्त कहते हैं । २०) मनुष्य लोक में स्वदेही अवस्था में अरिहंत विचरते हैं, ऐसा मानते हैं ।
- २१) सर्वत्र मंदिरों में सपत्नी तथा राग-द्वेषादि युक्त आयुधादि सहित प्रतिमाएँ बनती हैं और पूजी जाती हैं । २१) पत्नी-पुत्रादि युक्त प्रतिमाएँ भरवाई ही नहीं जाती । वे वीतरागी हैं अतः पत्नी-पुत्रादिसहित प्रतिमा नहीं होती है । ध्यानस्थ पद्मासनस्थ अकेली ही प्रतिमा भरवाई जाती हैं और पूजा की जाती हैं ।
- २२) वेदाधिन ईश्वर वेदमें देख देख कर वेद में उपलब्ध वर्णनानुसार सृष्टि की रचना करता हैं । २२) जैन दर्शन में अरिहंत स्वयं सर्वज्ञ हैं । जैन दर्शन वेद नहीं मानता है । सृष्टि का रचयिता ही नहीं मानता फिर वेद का प्रश्न ही कहाँ रहा ?
- २३) २४ अवतार मानते हैं । २३) जैन अलग-अलग २४ तीर्थंकर मानते हैं ।

इस प्रकार संक्षिप्त स्वरूप इतने मुख्य बिंदु हैं जो जगत् के अन्य धर्म-दर्शन तथा उनकी मान्यताएँ जैन धर्म को भिन्न-स्वतंत्र सिद्ध करते हैं । जैनों की ईश्वर विषयक मान्यता स्वतंत्र है बिल्कुल ही अलग सिद्ध होती है । पानी पर तेल-बिन्दु की भाँति यह अलग ही निखर उठता है । फिर 'सब एक है,' किसी भी रूप में मानों, पूजो, आखिर सब एक है, सिर्फ नाम-भेद हैं ये सभी बातें कितनी खोखली है । जैन धर्म को यह सब बोलचाल की भाषा लागू नहीं होती, न उसे ये मान्य ही है ।

निरीश्वरवाद :-

जैन धर्म को निरीश्वर धर्म कहकर-जैनों को निरीश्वरवादी कह दिया गया है - ऐसा क्यों ? जैनेतर दर्शनानुसारी मान्यतावाले ईश्वर को मानें तो ही क्या जैन सेश्वरवादी कहलाए ? ईश्वर को मानते हैं क्या ऐसा कहा जाए ? आपकी मान्यतानुसार न मानकर स्वयं अपने धर्म की स्वतंत्र मान्यतानुसार मानते हैं, फिर जैनों को निरीश्वरवादी कहने का अर्थ क्या है ? ऐसा क्यों कहा जाता है । निरीश्वरवाद का अर्थ तो है ईश्वर को ही न मानना । ईश्वर रहित मान्यता निरीश्वरवाद है । जैन ईश्वररहित ही सब नहीं मानते । वे ईश्वर को मानते हैं - स्वीकार करते हैं, पूजा करते हैं- मात्र अन्तर यही है कि आप लोगों की मान्यतानुसार नहीं, परन्तु अपने स्वतंत्र ढंग से वे मानते - पूजते हैं । वे अपने स्वतंत्र सर्वज्ञ वीन राग अरिहंत परमात्मा को ईश्वर तो क्या बल्कि परमेश्वर के रूप में मानते हैं, फिर वे निरीश्वरवादी कैसे हुए ?

ईश्वर शब्द की धातु गत व्युत्पत्ति अथवा किसी भी प्रकार की व्युत्पत्ति में जगत् कर्ता अथवा रचयिता अर्थ की ध्वनि नहीं निकलती । ईश अर्थात् स्वामी - वह सर्व जगत् का स्वामी ईश्वर कहलाता है । तो यह व्युत्पत्ति जैनों को भी मान्य है, 'तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय' कह कर जैनों ने ईश्वर की स्तुति की है और कहा है कि तीनों ही जगत् के स्वामी रूप परमेश्वर को नमस्कार हो । जैनेतर ईश्वर को संसार के निर्माता मानकर उसके अधिकारी के रूप में ईश्वर को स्वामी गिनते हैं, जब कि जैन दर्शन में तीनों ही जगत् के सर्व जीव अरिहंत वीतरागी परमात्मा को मानकर-पूजकर अपने नाथ-स्वामी के अर्थ में स्वीकार करते हैं - मानते हैं, पूजते हैं अतः त्रिलोकनाथ, ईश्वर, परमेश्वर कहलाते हैं । इस प्रकार जैन निरीश्वरवादि सिद्ध होते ही नहीं है, बल्कि शुद्ध ईश्वरवादि और परमेश्वर को माननेवाले सिद्ध होते हैं ।

जैनों को नास्तिक कहना भयंकर मूर्खता है :

न तो जैन दर्शन को नास्तिक कह सकते हैं और न जैन दर्शन के अनुयायियों को नास्तिक कहा जा सकता है क्योंकि वे तो ईश्वर को अधिक शुद्ध स्वरूप में मानते हैं । वे उसका विकृत स्वरूप करके उसे रागी-द्वेषी नहीं मानते परन्तु वीतरागी मानते हैं । मात्र ईश्वर को मान लेने अथवा उसकी सत्ता मात्र से अस्तित्व मान लेने से आस्तिकता की छाप नहीं लगती । ईश्वर को मानकर भी

जगत् कर्ता अथवा सृष्टि के रचयिता, सर्जनहार और विसर्जनहार आदि मानकर ईश्वर का स्वरूप ही सर्वथा विकृत करके मानने में ही क्या आस्तिकता बनी हुई है ? नहीं - नहीं - इसके बजाय जैन दर्शन तो ईश्वर का अत्यन्त शुद्ध-विशुद्ध पूर्ण परमात्म स्वरूप स्वीकार करता है । वह इसी परमात्मा को सर्व कर्म मुक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अरिहंत बीतराग के स्वरूप में मानता है । अतः जैन उसे ईश्वर ही नहीं बल्कि परमेश्वर के रूप में मानते हैं। इस प्रकार जैनों को नास्तिक कहने के बजाय अन्य सभी की अपेक्षा अधिक शुद्ध तथा महान् आस्तिक कहना चाहिए और ईश्वर का स्वरूप रागी-द्वेषी बनाने वालों, विकृत करके मानने वालों को घोर नास्तिक कहना चाहिये । किस प्रकार और किन अर्थों में जैन दर्शन को नास्तिक कहा जा सकता है ? ऐसा कहने का प्रश्न ही नहीं उठता । यदि जैन नास्तिक सिद्ध होंगे, तब तो अन्य सभी महानास्तिक सिद्ध होंगे । फिर तो अन्य कोई भी आस्तिक सिद्ध ही नहीं हो सकेंगे, क्यों कि शुद्ध और सच्चे सचोट सिद्धान्त को मानने वाले-स्वीकार करने वाले ऐसे जैनों ने ईश्वर का स्वरूप विकृत नहीं किया है बल्कि उन्होने तो ईश्वर का परम शुद्ध स्वरूप यथावत् रखा है ।

आस्तिक - नास्तिकवाद -

महाराष्ट्र के पूना शहर में पी. एम. वैद्य नामक कथित विद्वान हुए । इन्हे तिथि चर्चा में निर्णायक के रूप में नियुक्त किया गया था । इस अर्थ में इन्हें सभी पहचानते होंगे । उन महाशय ने 'वेद शास्त्रोत्तेजक सभा - पुणे' के हीरक महोत्सव के प्रसंग पर प्रकट हुए विशेषांक में लेख लिखा है । 'नास्तिक किंवा अवैदिक दर्शन' । मराठी भाषा में लिखित इस लेख में उन्होने जैन दर्शन को नास्तिक बताया है । अवैदिक कहा है - यह बराबर है । उसे अवैदिक कहा है - यह बात सही है । वेद को मानने वाला वैदिक दर्शन जैन नहीं है अतः अवैदिक सिद्ध होता है - यह ठीक ही है, परन्तु अवैदिक - वेद बाह्य होने से वह नास्तिक सिद्ध नहीं सकता है । आस्तिक-नास्तिक विषयक कुछ विचारणा तीसरे प्रवचन में हम कर चुके हैं (वहाँ से पढ़कर पुनः ध्यान में लेने हेतु निवेदन हैं) हमारे वेदों को नहीं मानते हैं और ईश्वर को जगत् का कर्ता नहीं मानते हैं अतः जैन वैदिक होने से नास्तिक हैं - ऐसी मनोकल्पित व्याख्याओं से जैनों को नास्तिक कहने वालों को क्या उनकी ही व्याख्या के आधार पर हम नास्तिक नहीं कह सकते हैं ? जैन भी कह सकेंगे कि वैदिक हमारे आगमों की निंदा करने वाले हैं, सर्वज्ञ सिद्धान्त के

उत्थापक हैं और कर्मसत्ता को न मानकर ईश्वर का स्वरूप विकृत कर देने वाले होने से सभी नास्तिक हैं । इस प्रकार अपना अन्य न मानें अतः नास्तिक-यह किसके घर की व्याख्या है ?

पाणिनि की नास्तिक विषयक व्याख्या के अनुसार भी जैन दर्शन नास्तिक सिद्ध नहीं होता, क्यों कि जैन किस वस्तु को नहीं मानते है ? किस अदृष्ट वस्तु को नहीं मानते हैं ? किस तत्त्व को नहीं मानते हैं ? क्या जैन लोक - परलोक को नहीं मानते हैं ? क्या वे आत्मा-परमात्माको नहीं मानते हैं ? क्या वे जगत में अस्तित्व रखने वाले पुण्य - पाप, कर्म-धर्म, स्वर्ग-नरक, बंध-मोक्ष आदि तत्त्वों को नहीं मानते हैं ? भले ही वह दृष्ट हो या अदृष्ट हो - अगर अपना अस्तित्व रखता है, जो सत् रूप में विद्यमान है तो जैन उसे अवश्य मानते हैं । जैनों के परमेश्वर अरिहंत सर्वज्ञ-अनंतज्ञानी हैं । उन सर्वज्ञ के ज्ञान से परे जगत का एक अंश मात्र भी छूट नहीं सकता और इतना ही नहीं बल्कि इन सर्वज्ञों ने एक-एक वस्तु के अनंतानंत धर्म, द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप में बताए हैं, उन सभी को स्वीकार करते हुए अनंत धर्मात्मक वस्तु स्वरूप में मानते हैं । अतः सत् पदार्थ विषयक एक भी तत्त्व जैन नहीं मानते-ऐसा कहना नरीअज्ञानता है ।

जैन तो दावे के साथ कह सकते हैं कि जैन दर्शन सर्वज्ञ भाषित जितने तत्त्व मानता है, जितने तत्त्वों को वह पूर्ण सत्य स्वरूप में स्वीकार करता है उतने पूर्ण सत्य स्वरूप में जैनेतर भी स्वीकार नहीं करते हैं और न उतने तत्त्वों को भी स्वीकार करते हैं । उदाहरण के लिये देखे तो पता चलेगा कि जैनेतर दर्शनों में से एक भी दर्शन निगोद के जीवों का अस्तित्व और स्वरूप स्वीकार करता है क्या ? स्वीकार करने की बात तो छोड़ो परन्तु जानते भी नहीं है कि यह भी क्या है ? चलो एकेन्द्रिय पर्याय के पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति सभी में अपने ही जैसी जीवात्मा रही हुई हैं, सभी में जीव हैं, जो प्राणयुक्त प्राणधारी है, उन में भी सूक्ष्म रूप से वे पांचों ही १४ राजलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं । इसी प्रकार विकलेन्द्रिय के जीवों का स्वरूप और चारों ही गतियों के कुल मिलाकर जीवों के ५६३ भेद स्वीकार करने हेतु एक भी दर्शन तैयार नहीं है । इस से भी और आगे बढ़ते हैं तो प्याज, आलू, लहसुन, गाजर, मूली, शकरकंद, अदरक, नव अंकुरित अंकुर, कोमल फल, नसरहित कूपल, मशरूम, काई - पांचो प्रकार की फंगस आदि वनस्पतियाँ जो साधारण वनस्पतियों के नाम से जानी जाती हैं - उनमें सर्वज्ञोंने एक-एक शरीर में अनंत जीव बताए हैं और यह स्वरूप जानने के कारण

आचरण में भी इनका निषेध किया गया है । इतर सभी धर्मों में से किसी एक भी धर्म अथवा दर्शन में ऐसी कोई मान्यता ही नहीं है ।

भौगोलिक दृष्टि से अनंत अलोक में सर्वत्र व्याप्त अनंत आकाश है । उसके बीच लोक क्षेत्र है जो १४ राजलोक तक परिमित है । इसी में जीव-अजीव सृष्टि रहती है । जीव अनंत है और धर्मास्तिकाय नामक गति सहायक और अधर्मास्तिकाय नामक स्थिति सहायक दोनो ही अदृश्य अरूपी पदार्थ सर्वत्र लोक में अपना अस्तित्व रखते हैं । जिनके बिना हमारी गति-स्थिति न हो सके-ऐसे आवश्यक पदार्थों को अजीव के भेद में कौन सा दर्शन मानता है ? किस धर्म में ये भेद बताए गए हैं ? पुद्गल परमाणु का स्वरूप भी सर्वज्ञ के शासन में अद्भुत रीति से वर्णित है ।

जीव (आत्मा) अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव-संवर, निर्जरा-बंध-मोक्ष-इन नौ तत्त्वों का सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूप और इनकी व्यख्या आदि किस धर्म अथवा दर्शन में उपलब्ध है । ईश्वर की एक महान् सत्ता बिठा रखी है, वही कर्ता है अतः कर्मसत्ता को भी स्वीकार नहीं करते फिर पुण्य - पाप या आश्रव-संवर, बंध-निर्जरा आदि की बातें ही कहाँ से संभव हों, क्यों कि ये सभी तत्त्व कर्मसत्ता के अन्तर्गत के तत्त्व हैं ।

ढाईद्वीप या असंख्य द्वीप-समुद्र हैं । उनमें भी १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि, ५६ अंतद्वीर्ष-इस प्रकार १०१ प्रकार के स्थान हैं जहाँ मनुष्य जन्म लेते हैं - वे इन्हें भी नहीं मानते उनमें ४५ लाख योजन के विस्तारवाला ढाई द्वीप है । इन सभी बातों का वर्णन कहाँ है ? यदि स्वर्ग-नरक की बात का विचार करते हैं तो जैनेतर दर्शन अवश्य मानते हैं, परन्तु संपूर्ण स्वरूप अधिक सूक्ष्मता पूर्ण नहीं मानते ।

ऐसे अनेक सैंकड़ो पदार्थ-तत्त्व हैं जो सत् स्वरूप में विद्यमान हैं - असत् नहीं हैं और जैन दर्शन जिनका सुंदर वर्णन करता है उन्हें जैनेतर दर्शनों में स्वीकार नहीं किया गया है । यदि दोनों ही पक्ष से परमेश्वर सर्वज्ञ समान ही होते तो फिर सर्वज्ञ का ज्ञान भी समान ही होना चाहिये और इस आधार पर सभी पदार्थों का ज्ञान भी समान ही होना चाहिये । इसके बजाय इतना भेद-अंतर क्यों पडता है ? जैन जिसे मानते हैं - स्वीकार करते हैं, उनका जैनेतर दर्शनों में नामोल्लेख मात्र भी नहीं मिलता - तब क्या समजा जाए ? ऐसे अनेक विषय हैं जिनका अन्य दर्शनों में उल्लेख मात्र भी नहीं है, फिरभी वे सभी आस्तिक और

मात्र जैन ही नास्तिक ? वाह ! यह किसके घर का न्याय है ?

पी. एल. वैद्य की मनगढंत कल्पनाएँ :-

पुस्तक में पी. एल. वैद्य लिखते हैं कि जैन दर्शन-धर्म में २४ तीर्थंकर हुए ही नहीं है । पार्श्व नामक एक संन्यासी बाबा था और कालांतर में वही बाबा अपना पक्ष जमाता गया और लोगों को कहने लगा कि मैं तीर्थंकर हूँ और मुज से पूर्व ऐसे २२ तीर्थंकर हो गए हैं तथा मैं तेइसवा हूँ । इस प्रकार इस बाबे ने यह जैन धर्म चलाया है । बस, तभी से यह जैन धर्म अस्तित्व में आया और चलने लगा है । इसके बाद २४ वे महावीर स्वामी हुए । पी. एल. वैद्य इस प्रकार स्पष्ट लिखते हैं कि जैन धर्म में २४ तीर्थंकर हुए ही नहीं । जैन धर्म अधिक प्राचीन भी नहीं है, क्यों कि यह पार्श्व नामक संन्यासी-बाबे से निकला है । अतः यह ३ हजार वर्ष के आसपास का ही है । ऐसी कल्पना करके इस कथित वैद्य ने लिखकर लोगों को भ्रमित करने का कुप्रयास किया है ।

दूसरी और वे लिखते हैं कि जैन धर्म में ४५ आगम जैसा कुछ भी है ही नहीं । प्राचीनता की दृष्टि से मात्र आचारांग और सूत्रकृतांग दो ही स्वीकार्य है । शेष नहीं । इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं कि जैन धर्म में केवल ज्ञान जैसी कोई वस्तु ही नहीं है । केवल ज्ञान हो और वे सर्वज्ञ कहलाएँ - ऐसे कोई सर्वज्ञ होते ही नहीं और जैन धर्म में भी नहीं है ।

इतना सब लिखने के पीछे कारण संभव है कि वे स्वयं ब्राह्मण हैं और अभी तक जैनो के प्रचि पुराने-द्वेष के बीज उनमें रह गए होंगे । अतः इस प्रकार मनमाने ढंग से लिखते हैं, अथवा तो उन्होंने जैन धर्म-दर्शन के विषय में कुछ भी अध्ययन ही न किया हो और चाहे जैसे लिख दिया हो, या जैन धर्म-दर्शन के विषय में कुछ भी पढ़ा न हो - देखा न हो तो यह व्यक्ति इस प्रकार लिख ही कैसे सकता है ? क्या वैद्य ने जैन धर्म के ४५ आगम देखे है ? पढ़े हैं ? दार्शनिक ग्रंथ आगम बाह्य भी अनेक है । क्या उन्होंने ये पढ़े हैं ? यदि न पढ़े हों - न देखे हो तो उन्हे जैन धर्म के विषय में चाहे जैसे आंखे मूँदकर मुँह में - मन में जैसा भी आया वैसा लिखने का अधिकार ही क्या है ? अन्य के विषय में टीका टिप्पणात्मक लेख आँख मूँदकर लिख डालने का इन्हें अधिकार किसने दिया ? हाँ, कभी पूर्व पक्ष-उत्तर पक्ष की समीक्षा कर सकते हैं, प्रश्न खड़े, कर सकते हैं, परन्तु निर्णयात्मक कैसे लिख डाला ? यदि वैद्य महाशय ने जैन धर्म के ४५ आगम

अथवा दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन किया होता तो निश्चित रूप से ऐसा नहीं लिख सकते थे, क्यों कि दार्शनिक तार्किक शिरोमणि सिद्धसेन दिवाकर सूरी, हरीभद्रसूरी, वादीदेव सूरी आदि तर्कवागीश धुरंधरो ने जिस प्रकार सर्वज्ञता को सिद्ध किया है - इसके लिये जो तर्क प्रस्तुत किए हैं उन्हें पढ़ने के पश्चात् अच्छे से अच्छों को कान पकड़ने पड़ते हैं - तो इन वैद्य महाशय ने ऐसी बात कैसे लिख दी - यह बात समज में नहीं आती ।

इतना ही नहीं बल्कि हमारे दुर्भाग्य से जैन समाज तिथिचर्चा के निर्णायक के रूप में पी. एल. वैद्य को नियुक्त कर उन्हें महत्व देता है - पर यह भी क्यों ? क्या ऐसा लेख लिखने वाले कथित विद्वान की किसी ने भी भली प्रकार पहचान न की होगी ? क्या किसीने भी इनके क्रिया कलापों पर ध्यान नहीं दिया होगा ? या इनके लेख को पढ़ा या देखा न होगा ? बहुत वर्षों पूर्व लिखित यह लेख है । तिथि चर्चा का जैन समाज का ज्वलन्त प्रश्न और उसका सर्व मान्य निर्णय ऐसी विचारधारा रखने वाले घोर नास्तिक और महा मिथ्यात्वी के पास कैसे करवाया जा सकता है ? क्या ऐसे व्यक्ति को निर्णायक का भार सुपुर्द किया जा सकता है ? खेद है ! जैन समाज का कितना दुर्भाग्य रहा होगा कि किसी अन्य को नहीं बल्कि इन्ही को निर्णायक पद पर बिठाने का मन हुआ ।

मैं जब पूना में था तब भांडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट में गया था। उस समय वैद्य महोदय लगभग ९० वर्ष की आयु में तीव्र ज्वर से पीड़ित थे। उसी अवधि में वेदशास्त्रोत्तेजक सभा का हीरक महोत्सव के विशेषांक की पुस्तक मेरे हाथ लगी थी । लेख पर दृष्टिपात हुआ, पढ़ते ही रोंगटे खड़े हो गए । चर्चा हेतु उनके पास गया था परन्तु वे व्याधिग्रस्त थे और फिर तो कुछ ही समय में यमलोक सिधार गए, अतः प्रत्यक्ष चर्चा संभव न हो सकी, परन्तु लेख के प्रत्युत्तर में लेख लिखकर दो-तीन बार विद्वानों के समक्ष रखने का प्रयत्न अवश्य किया है, उनके विचारों से अवगत करवाया है । ऐसे तथाकथित विद्वान भी कभी कभी केसी घोर अज्ञानता के शिकार होते हैं - इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

दूसरी ओर बाल-युवा-वृद्ध सभी को पता है कि जैन-धर्म के २४ तीर्थंकर भगवंतों में प्रथम भगवान ऋषभदेव आदिनाथ हुए हैं और उन आदिनाथ से लगाकर अन्तिम २४ वे भगवान महावीर स्वामी तक कुल २४ तीर्थंकर भगवंत हुए हैं । त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, महाकाव्य ग्रन्थ में श्री हेमचन्द्राचार्य महाराजने २४ तीर्थंकरों के चरित्रों का वर्णन किया है । आगमों में भी इनका

उल्लेख है । अनेक ग्रंथों में चौबीसों ही चौबीस तीर्थकर भगवंतो के उल्लेख-चरित्रादि उपलब्ध होते हैं । दीपक जैसी स्पष्ट बात है । ४५ आगम तो आज स्थान - स्थान पर ज्ञान भंडारों में मुद्रित उपलब्ध हैं । ये ही ४५ आगम ताम्र पत्रों पर, भोज पत्रों पर संगमरमर की दीवारों पर और ग्रंथ स्वरूप विद्यमान हैं सूत्र टीका चूर्णी वृत्ति भाष्य स्वरूप में आज भी वे सर्वत्र उपलब्ध हैं । उनके नामों की सूची छपी है । आगम पुरुष के चित्र के साथ ४५ आगमों के नाम लिखे हुए तैयार मिलते हैं । प्रत्येक तीर्थकर निश्चित रूप से सर्वज्ञ ही होते हैं । कोई भी जीव जब ४ घाति कर्मों का क्षय करता है, तब उसे केवलज्ञान अवश्य प्राप्त होता है । तत्त्वार्थाधिगम सूत्रादि ग्रंथ उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया बताते हैं । कर्म ग्रंथादि में भी इस प्रक्रिया का वर्णन मिलता है । गुणस्थान क्रमारोह में १३वें गुण स्थान में प्रवेश करने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है - ऐसा स्पष्ट वर्णन है । केवलज्ञान - सर्वज्ञता जैसी वस्तु जैन शासन में से निकल जाए तब तो देह में से प्राण निकल जाने पर शव जैसी स्थिति हो जाती है । जैन दर्शनिकों ने तार्किक युक्तियों के साथ सर्वज्ञता की सिद्धि कितने ही प्रमाणों के साथ की है । क्या यह सब वैद्य महाशय की दृष्टि में नहीं आया होगा ? क्या वे स्वयं दीपक जैसी स्थूल बातों से अनभिज्ञ थे ? और मान ले कि वे अज्ञान - अनभिज्ञ भी रहे होंगे, फिर तो ऐसे अज्ञात व्यक्ति के द्वारा ऐसा लिख मारने की धृष्टता न होनी चाहिये और लिखना ही था तो अध्ययन करके सोच-समजपूर्वक लिखना चाहिये था ।

जैन समाज ऐसे को पंच नियुक्त करके तिथि चर्चा का सुखद समाधान करने की प्रतीक्षा में था, परन्तु जो भी हुआ वह अच्छा ही हुआ । शासन का पुण्य प्रबल रहा होगा और ऐसे व्यक्ति के द्वारा तिथि चर्चा का हल न हुआ । निर्णायक निर्णय नहीं हुआ और अनेक गतिमान चक्र स्वतः ही जन साधारण के सामने आ गए शासन - देवताओं ने भी अदृश्य रूप से शासन की महान सेवा-रक्षा की ।

ईश्वर विषयक जैन सिद्धान्त :-

‘श्री नमस्कार महामंत्र का अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान’ के चतुर्थ प्रवचन को पढ़ने से ईश्वर विषयक ख्याल तो आ ही चुका होगा ? जैन दर्शन ईश्वर को नहीं मानता - ऐसी बात नहीं है, मात्र अपने सिद्धांत के अनुसार ही मानता है अपने अर्थ में ही मानता है, दूसरे की भाँति उसे कर्ता-हर्ता नहीं मानता है । अतः जैन दर्शन को निरीश्वरवादी कहना बहुत बड़ी भूल है । जैन ईश्वर को ही नहीं मानते हैं अतः

नास्तिक हैं। भगवान को ही न माने वह नास्तिक कहलाता है - ऐसी लोक परम्परा सामान्यरूप से हैं, परन्तु इस दृष्टिकोण से भी विचार करें तो पता चलेगा कि - जैनों के तीर्थों-मंदिरों से यह समग्र पृथ्वी पावन हुई है। जैनों के भव्यातिभव्य - एक से एक बढ़कर तीर्थों - मंदिरों से गौरवान्वित होती हुई यह धरा सदियों से आज तक अपना मस्तक उन्नत किये हुए हैं। प्राचीन ऐतिहासिक जैन तीर्थ सदियों और शताब्दियों पुरानी मूर्तियाँ आज तक जैन सिद्धांत के प्रमाण को प्रकट करती हुई जगत को संबोधित कर रही हैं। जैन धर्म के पूजा-पाठ-भक्तियोग-प्रभुभक्ति पूजा-पूजनों के महान अनुष्ठान - आराधना के प्रकार - ये ही जैन दर्शन की ईश्वरोपासना के प्रबलतम प्रमाण हैं। इतिहास में आदिकाल से चली आ रही जैन मंदिरों की पूजा-पद्धतियाँ आदि वर्षों से अविरत अखंडरूप से चली आ रही हैं। अरिहंत परमात्मा पर ही जैन धर्म का सम्पूर्ण आधार है। उन्हें ही केन्द्र में रखकर सभी अनुष्ठान किये जाते हैं।

क्या यह सब निरीश्वरभाव से करते हैं यदि जैन ईश्वर को नहीं मानते होते; तो क्या यह सब इस प्रकार करते? संभव ही नहीं। इसके बजाय ऐसा कहो कि मान्यता की दृष्टि से - श्रद्धा की दृष्टि से अरिहतादि परमेश्वर में जितनी श्रद्धा है, उतनी श्रद्धा इस जगत में अन्य किसी में मिलना कठिन है। जैनों की जिस प्रकार की प्रभु भक्ति है वैसी अदभुत भक्ति देखकर अच्छे-अच्छे नतमस्तक हो जाते हैं। यह सब देखते हुए जैनों को निरीश्वरवादी या ईश्वर को न मानने वाले या नास्तिक कैसे कहा जा सकता है? इस संबंध में बुद्धि काम नहीं करती, और इतना सब कुछ मानने पर भी यदि किसी भी व्याख्या से जैनों को नास्तिक सिद्ध किया जा सकता है, तो जैन बाह्य अर्थात् जैनेतर दर्शन किसी भी प्रकार से, किसी भी व्याख्या से आस्तिक तो सिद्ध हो ही नहीं सकेंगे - बल्कि महा नास्तिक ही सिद्ध होंगे।

जैनों को या जैन दर्शन को नास्तिक कहने का दुःसाहस करनेवाले एक मात्र न्याय - वैशेषिक और वेदान्तवादि ही हैं। बस, इनके सिवाय अन्य कोई नहीं। चार्वाकों ने जैनों को कभी भी नास्तिक कहा ही नहीं। बौद्धों ने भी जैनों को नास्तिक नहीं कहा है, तब न्याय वैशेषिकों अथवा वेदान्तवादि ने जैनों को नास्तिक क्यों कहा? इसके उत्तरमें उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि - 'नास्तिको वेदमिन्दकः' हमारे पवित्रतम ग्रंथ वेदों की निंदा जैन करते हैं अतः जैन नास्तिक हैं। यह तो एक प्रकार की गाली है। गाली के अर्थ में नास्तिक शब्द

प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु नास्तिक शब्द व्युत्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है अथवा दूसरी रीति यह है कि हम जिस प्रकार ईश्वर को जिस अर्थ में जगत् का कर्ता-हर्ता मानते हैं, उसी प्रकार से जैन ईश्वर को जगत् का कर्ता-हर्ता जैन नहीं मानते हैं अतः जैन नास्तिक हैं। बस, इसके सिवाय उनके पास अन्य कोई कारण नहीं है।

बुद्धिमान् सज्जनो ! थोड़ी सी बुद्धि का उपयोग करके आप भी इसका विचार करें चार वेद वैदिकों के प्राचीनतम ग्रंथ है। इस में कहीं भी दोमत नहीं है परन्तु वेदों को जिस अर्थ में वैदिक मानते हैं, और इनका जितना महत्त्व बढ़ा दिया है, वास्तव में इतना नहीं है। इसकी अपेक्षा हजार गुना महत्त्व बढ़ाने के लिये अतिशयोक्तियाँ भर दी हैं कि हमारे वेद अपौरुषेय हैं। ये किसी पुरुष विशेष की रचना नहीं हैं। वेदों का कर्ता रचयिता कोई भी नहीं है, यहाँ तक कि ईश्वर भी वेदों का रचयिता या कर्ता नहीं है। वेद ईश्वर से बड़े महान् हैं। ईश्वर तो वेदों के आधीन हैं। वेदों में प्राप्त वर्णानुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। एक और तो इनकी यह मान्यता है, दूसरी और वेदों में परस्पर विरोधी सैंकड़ों बातें आती हैं। एक ओर कहते हैं कि 'मा हिंस्यात् सर्व भूतानि' - किसी भी प्राणी को न मारो और दूसरी ओर कहते हैं कि 'अश्वमेधयज्ञ कुर्यात्' - घोड़े का अश्वमेध यज्ञ किया जाए। विजय-स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो इसके लिये अश्वमेध यज्ञ बताया गया है। एक ओर गाय को पवित्र मानकर उसमें ३३ करोड़ देवताओं का निवास मानते हैं। गौमाता कहकर गाय को माता मानते हैं और दूसरी ओर गाय को मारने की और पुरोडाश करने की आज्ञा भी ये ही बेद देते हैं। एक और हिंसाका निषेध करते हुए कहते हैं कि हिंसक नरक गामी होगा और दूसरी ओर यज्ञ - याग में होती वेदविहित हिंसा को हिंसा मानने के लिये तैयार नहीं है। "स्वर्गकामो अग्नि होत्रं जुहुयात्" अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति करने हेतु अग्नि होत्र यज्ञ करो - ऐसी आज्ञा देते हैं।

इस प्रकार वेदों में परस्पर विरोधी और विरोधाभासी सैंकड़ों बातें हैं। फिर ये वेदों को सर्वज्ञरचित भी स्वीकार नहीं करते। ऊपर से सर्वज्ञ को वेदाधिन मानते हैं। ऐसी सभी मान्यताएँ सर्वज्ञ को स्वीकार करने वाले जैन कैसे मानें ? प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। जैन दर्शन - धर्म हिन्दु धर्म के अन्तर्गत नहीं गिना जाता और न यह वैदिक धर्म या दर्शन ही कहा जाता है, परन्तु यह एक स्वतंत्र विचारधारा वाला जगत का अनादिकालीन स्वतंत्र धर्म है। जैन धर्म की सिद्धान्त

धारा ही स्वतंत्र है, अतः जैन वेदों को मानें ही कैसे ? यह तो यहाँ प्रसंगवश निर्देश मात्र किया है, बाकी तो वेद स्वतंत्र समीक्षा करने योग्य हैं । यह स्वतंत्र रूप से बड़ा विषय है, परन्तु यहाँ संक्षिप्त समीक्षा करने से इतना तो स्पष्ट रूप से ख्याल आ जाएगा कि ऐसे विरोधाभासी विधान करने वाले वेद सर्वज्ञकथित हो ही नहीं सकते हैं और सर्वज्ञवचनमें कभी भी परस्पर विरोधाभास संभव ही नहीं है । अतः जैन दर्शन अपने यहाँ तीर्थंकर, परमेश्वर, अरिहंतो को सर्वज्ञ स्वरूप में मानता है - स्वीकार करता है, उनकी वे आज्ञा और उपदेश स्वरूप आगमों को ही स्वीकार करता है, उन्हीं के सिद्धान्त की सच्ची श्रद्धा को सम्यग् दर्शनके रूप में स्वीकार करता है । अतः वेदों को न मानने से जैन नास्तिक नहीं कहलाते हैं । यह तो ऐसी ही बात हुई कि हमारे घर की ठकुराई को यदि तुम अस्वीकार करते हो तो तुम भिखारी हो । अरे वाह ! यह भी कोई न्याय है क्या ? मेरे बँगले में वैभव अपार है, ठकुराई असीम है अतः तुम्हें इसे माननी ही चाहीये, वरना तुम बँगलाधारी सेठ होने पर भी भिखारी हो - यह कैसा न्याय ? इसी प्रकार हम ईश्वर को जिस अर्थ में जिस प्रकार जिस स्वरूप में जगत का कर्ता आदि मानते हैं, बस, वैसा ही तुम भी मानो तभी तुम सच्चे नास्तिक हो, वरना तुम नास्तिक हो ऐसी कपोल - कल्पित कल्पनाओं से तो कैसे चल सकता है । इस प्रकार जबरदस्ती करने से तो कैसे चलेगा ?

सच्ची रीतिसे सच्चे ज्ञानयोग से पूरी तरह परीक्षा करने से स्पष्ट हो जाता है कि जैन ईश्वर को जगत् का कर्ता-हर्ता स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं, क्यों कि वास्तव में तो ईश्वर का वैसा स्वरूप भी नहीं है । अतः जैनों के सिर यह बलपूर्वक थोपना उचित नहीं है । जैनों को अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से नास्तिक कहना भूल भरी मान्यता है । पीलिये से पीड़ित रोगी को श्वेत दूध अथवा वस्त्र भी पीतवर्ण का दिखाई दे तो यह दोष दूध या वस्त्र का नहीं होता। यह तो उस रोग का ही दोष है । काला चश्मा पहनने वाला सभी वस्तुओं को काली ही कहे तो कैसे चलेगा ? जब कि वास्तव में सभी वस्तुएँ श्याम वर्ण की नहीं हैं, तो फिर ऐसा क्यों कहें ? इसी प्रकार अपने ही ढंग से वेद और ईश्वर का स्वरूप मान लेनेवाले वैदिक पीलिये के रोग से ग्रस्त होकर जैनों को नास्तिक के रूप में देखते हो, तो इसमें जैनों का क्या दोष ? यह तो पीलिये वाली मति का अथवा काले चश्मेवाली दृष्टि का भ्रम है - दोष है, वास्तव में जैन नास्तिक नहीं हैं । किसी भी प्रकार से - किसी भी व्याख्या से भी जैनों को नास्तिक सिद्ध नहीं कर सकते हैं !

अतः चाहे जिस दृष्टिकोण से जैन धर्म अथवा दर्शन को नास्तिक कहना बड़ी भूल है - भ्रमणायुक्त है अतः सभी प्रकार से कसौटी पर कसने के पश्चात अथवा परीक्षा करने के बाद भी जैन धर्म या दर्शन को आस्तिक ही नहीं बल्कि परम आस्तिक कहना ही अधिक न्याय संगत हैं ।

ईश्वर बनना है या मात्र दर्शन करने हैं ?

ईशोपासना किस हेतु से करनी है ? क्या ईश्वर बनने के दृष्टि कोण से या फिर मात्र ईश्वर का प्रत्यक्षीकरण करने के लिये ? अथवा ईश्वर के दर्शन के खातिर ही ईश्वर की उपासना करनी है ? इतनी सी छोटी बात पर भी भिन्न भिन्न दर्शनों की दार्शनिक मान्यताएं भिन्न भिन्न हैं । ऐसी भिन्न भिन्न मान्यताओं के आधार पर ही दर्शनों के स्वरूप भिन्न हुए हैं । वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति दोनों ही में ईश्वरोपासना तो बताई ही हैं, परन्तु साधना का साध्य क्या हैं ? किस साध्य के आधार पर साधना की जाती है । साध्य विहीन साधना निरर्थक सिद्ध होती है । वैदिक संस्कृति में मात्र एक ही ईश्वर की सत्ता मानी गई है । वे एक ईश्वर के सिवाय अन्य किसी को भी ईश्वर की सत्ता के स्थान पर स्वीकार करते ही नहीं, फिर प्रश्न ही कहाँ रहता है ? अतः ईशोपासना करने वाला एक मात्र ईश्वर के प्रत्यक्षीकरण अथवा दर्शन मात्र का ही लक्ष्य रख सकता है । बस, इससे आगे वह बढ़ नहीं सकता, क्यों कि आगे बढ़ने की बात स्वीकार करने जाए, तो ईश्वर की सत्ता जाती रहती है अतः क्या करें ?

जैन दर्शन सभी दर्शनों से भिन्न है । उसका कहना है कि ईश्वर की कोई एक हाथ की सत्ता नहीं है । ईश्वर मात्र व्यक्ति नहीं - ईश्वर का पद भी हैं । जिस प्रकार नदी में पानी और पट दोनों भिन्न भिन्न उपर हैं । प्रवाह के रूप में बहता हुआ पानी नदी कहे या दो पट स्वरूप भूमि को स्पर्श कर बहते हुए पानी को नदी कहें ? प्रवाह बद्ध बहने वाला पानी है । पानी तो रहेगा भी और सूख भी जाएगा परन्तु नदी का पट का यथावत् रहेगा । इसी प्रकार ईश्वर का एक पद है - अवस्था है । जो आत्मा उस पद पर पहुँचती है वह ईश्वर बन जाती हैं । इस पद पर जो जो पहुँच सकते हैं वे सभी ईश्वर बन जाते हैं । यह सत्ता अथवा अवस्था को आत्मा शुद्धिकरण की एक विशिष्ट प्रक्रिया से प्राप्त होती हैं - ऐसा जैन दर्शन स्वीकार करता है । अतः जैन दर्शन ईश्वर बनने की विशिष्टता पर बल देता है, मात्र ईश्वर के दर्शन करके अथवा प्रत्यक्षीकरण करके जैन दर्शन संतुष्ट होने की बात नहीं

कहता । अतः ईश्वर उपास्य तत्त्व हैं, उपासना का माध्यम तत्त्व है । यह पद प्राप्त करने के लिये १४ गुणस्थान की क्षेणी पर प्रगति करते हुए कर्मक्षय करके तीर्थंकर नाम कर्म का विशिष्ट कोटि का पुण्योपार्जन करना पड़ता है, तब कहीं कालांतर में तीर्थंकर अरिहंत बनना शक्य हैं । इसी परमात्मा को जैन दर्शन ईश्वर - परमेश्वर के स्वरूप में स्वीकार करता हैं । यह एक महान् पद है - आत्मा की महान् व्यवस्था है । इसे प्राप्त करने के लिये जो कुछ भी करना पड़ता है वही उसकी उपासना - साधना है । जैन दर्शन मानता है कि आत्मा ही परमात्म स्वरूप प्राप्त करती हैं और जैन दर्शन की मान्यतानुसार आत्माएँ अनंत हैं, अतः अनंत परमात्मा भी जैन दर्शन स्वीकार करता है । जैन दर्शन ने मात्र किसी एक को ही ईश्वर का अधिकार नहीं सौंप रखा है । यह मात्र एक की ही सत्ता को स्वीकार नहीं करता । ईश्वरत्व साधना का साध्य है, प्रक्रिया अथवा प्रवृत्ति का परिणाम स्वरूप पद हैं, अतः जैन दर्शन कभी भी ईश्वर का साक्षात्कार करने की बात नहीं करता है । मात्र ईश्वर का साक्षात्कार करके अथवा प्रत्यक्ष दर्शन करके संतोष मानने की बात जैन दर्शन नहीं करता है । यह तो साधना के क्षेत्र में प्रथम सोपान की बात है, जब कि स्वयं ईश्वर बनकर संतोष मानने पर बल देता है अर्थात् ईश्वर बनकर ही रहो । इस लक्ष्य से ही साधना करो । इसी के लिये ईश्वर का भजन, पूजन-उपासना करो - यही प्रथम महान् लक्ष्य है ।

ईश्वर देता है अथवा, आत्मा स्वयं प्राप्त करती है ?

कर्म-धर्म की पद्धति में आस्था रखने वाला जैन दर्शन ऐसा कभी भी नहीं कहता है कि ईश्वर देता हैं । ईश्वर यदि देता है तो वह स्वयं की इच्छानुसार देता है अथवा याचक की याचना के अनुसार देता है । याचक जितना मांगता है उतना ईश्वर देही देता है अथवा ईश्वर अपनी इच्छा से जितना देना हो उतना मुक्त हस्त से देता है ? दोनों में से किस बात का उत्तर ईश्वरवादी देंगे ? यदि वे कहते हैं कि ईश्वर स्वेच्छानुसार देता है तब तो फिर माँगनेवाले के लिये माँगने जैसा कुछ भी नहीं रहता । देने वाला ईश्वर बिना माँगो ही स्वेच्छानुसार देता ही रहेगा और दाता ईश्वर तो परम् दयालु भी तो है, करुणानिधान है, दया का सागर है, वह यदि देने लगे तो कितना दे ? देते देते दोनों ही पक्षों को संतोष न हो उतना अतुल परिमाण में दे दे, परन्तु ९९ प्रतिशत लोगों की शिकायत है कि उपर वाला सुनता ही नहीं । मांग मांग कर हम थक गए परन्तु ईश्वर तो अभी तक कुछ भी देता ही नहीं है ।

क्या किया जाए ? ईश्वर न तो अपनी इच्छा के अनुसार देता है, न हमारी इच्छा के अनुसार देता है । करें भी तो क्या करें? माँगते माँगते संपूर्ण जीवन चला गया, परन्तु उपरवाले को दया न आई सो न आई । उसने हमारी बात न सुनी सो न सुनी क्या किया जाए ? कहाँ गई ईश्वर की देने की बात ? ऊपर से लोकभाषा में बोलते हुए लोग अंधध्रुवापूर्वक कहते हैं कि ऊपरवाला जब देता है, तब छप्पर फाड़कर देता है । इस धर्म में जब और तब कालवाची शब्द है । जब और तब न आता है और न ऊपरवाला देता है । इस प्रकार माँगने से ही मिल जाता है । तब तो क्या चाहिये ?

माँगने वाला भिखारी कहलाता है :-

श्री गणेशमंदिर के बाहर अनेक भिखारी पंक्ति बद्ध बैठे थे और राजा दशनार्थ मंदिर में गया । भिखारीयों में से एक ने ऐसा संकल्प कर रखा था कि जो व्यक्ति किसी से भी कुछ नहीं माँगेगा उसी के पास मैं माँगूंगा, क्यों कि माँगने वाला भिखारी कहलाता है । इस संसार में लोभी व्यक्तियों को माँगने की आदत ही पड़ी हुई होती है । अतः मैं अब ऐसे व्यक्ति के पास माँगूंगा जो अन्य किसी के पास न माँगता हो । यह निर्णय कर तो लिया, परन्तु उसे तीन दिन भुखा रहना पड़ा, क्यों कि उसके नियम का पालन नहीं हो रहा था । इतने में एक समृद्धि सम्पन्न राजा आया । उसे आते देख कर भिखारी के नैत्रों में आशा की किरण चमकी और उसे लगा कि आज कुछ प्राप्त होगा क्यों कि यह राजा बड़ा ही समृद्ध है । यह तो किसी के पास कुछ भी माँगता नहीं होगा ? ऐसा सोचकर राजा कुछ देगा - ऐसी आशा से भिखारी मंदिर के द्वार पर खड़ा रहा ।

राजा श्री गणेशजी के दर्शन करते करते इस संसार की अतुल ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति की याचना करते हुए कहने लगा, हे प्रभु ! यह सब मुझे देना । मुझ पर कृपा दृष्टि रखना.. आदि कहता कहता राजा स्तुति - दर्शन करके बाहर आया और पंक्तिबद्ध खड़े हुए सभी भिखारीयों को खुले पैसे देता हुआ आगे बढ़ा ! उस नियम धारी भिखारी ने लेने से इनकार करते हुए कहा हे राजन् ! मैं किसी के पास न कुछ भी माँगता हूँ न कुछ भी लेता हूँ, क्यों कि भिखारी भिखारी ही होता हूँ । मैं भी भिखारी और मेरी ही जाति का वह भी भिखारी ही कहलाता है । अतः उससे क्या लूँ ? मैंने ऐसा नियम ले रखा है कि जो स्वयं अन्य के पास माँगनेवाला है उसके पास न तो मैं कुछ भी माँगूँ न उससे कुछ भी लूँ । इतना सुनते ही राजा

क्रुद्ध हुआ और बोला - क्या तू मुझे भिखारी समझता है ? भिखारी बोला हाँ - राजन् ! उसका निडर उत्तर था ।

राजा : सैनिको ! इसे फाँसी दे दो ।

सैनिक तो उसे पकड़कर ले जाते हैं और राज दरबारके खचाखच भरे हुए चौक में सबके बीच भिखारी का अपराध घोषित कर उसे फाँसी पर चढ़ाने की तैयारी करते हैं । भिखारी को उसकी अन्तिम इच्छा पूछने पर, भिखारी ने कहा - मैं इतना ही जानना चाहता हूँ कि भिखारी की व्याख्या क्या है ? राजा ने उत्तर दिया - जो दूसरे के पास माँगता है वह भिखारी कहलाता है । यह सुनकर भिखारी ने निडरता से पूछा - राजन् ! तो फिर मंदिर में जाकर आपने गणेशजी के पास क्या किया। क्या कहा था । कितना माँगा था ? राजा बोला - भगवान के पास तो माँगा जाता है । वह तो सबका पिता है, उसके पास माँगने में शर्म कैसी ?

भिखारी : राजन् ! भले ही माँगा जाता होगा । मुझे पता नहीं कि भगवान के पास माँगा जाता है या नहीं. परन्तु आपकी ही व्याख्यानुसार आप भिखारी सिद्ध हुए या नहीं ?

राजा : भाई ! बात तो तेरी सच्ची है ।

भिखारी : बस ! यदि मेरी बात सच्ची ही हो तब तो मुझे फाँसी पर चढ़ाने का कारण क्या है ? हम तो छोटे भिखारी हैं । हम तो १०-२० पैसे अथवा एकाद रूपया माँगते हैं, पर आप तो हमारी जाति के ही कितने बड़े भिखारी हो ? आप ने तो माँगें हैं अरबों ! हम तो retail में माँगते हैं, परन्तु आप तो Wholesale में धंधा करते हो, सब कुछ एक साथ ही माँग लेते हो । हमारी अपेक्षा आप तो हजार गुने बड़े भिखारी कहलाओ तो मुझ से पूर्व आपको फाँसी लगनी चाहियें ।

राजा रहस्य को समझ गया ! उसकी समझ स्पष्ट होने लगी कि मैंने वास्तव में प्रभु की स्तुती की है - प्रभु के दर्शन किये हैं या भगवान के पास मांग मांग ही करता रहा हूँ । इस प्रकार तो गत ६०-७० वर्षों से मैं माँगता ही रहा हूँ और मुझे क्या मिला ? भगवान ने कितना दिया ? इस भिखारी के कथनानुसार तो मैं भी भिखारी ही सिद्ध होता हूँ और वह भी छोटा-नगण्य नहीं, परन्तु बड़ा भिखारी । हाँ, इसकी बात में तो पूर्ण सत्यता है ।

इस प्रकार मनोमंथन शुरू हुआ । क्या भगवान के पास माँगना होता है ? क्या माँगना उचित है ? यदि ऊपरवाला दयालु ही हो तो फिर हमारे माँगने की आवश्यकता ही क्या है ? परन्तु सारी दुनिया माँगती ही है । वर्षों से माँगती ही

रहती है, इसका अर्थ तो ऐसा लगता है कि ऊपरवाला नहीं देता होगा तभी तो माँगना पड़ता है न ? और जब देते ही नहीं है, तो माँगने की भी क्या आवश्यकता है ? और यदि यह दयालु दे ही देता हो, वह भी अपनी इच्छा से ही देता हो तब तो हमारे माँगने की आवश्यकता ही क्या ? क्यों कि इच्छा किसकी बड़ी ? याचक की या दाता की ? मनुष्य की या ईश्वर की ? ईश्वर महान् है अतः उसकी इच्छा बड़ी है ? या इच्छा बड़ी है अतः ईश्वर महान् ? इस समस्या को हल करने के लिये दिमागी कसरत करनी होगी, फिर भी उत्तर ढूँढने में कष्ट पड़ेगा । ईश्वर इच्छा से बड़ा है तो फिर वह अपने भक्तों के पास माँगवाने की प्रतीक्षा क्यों करता है ? उसे तो बिना माँगे ही दे देना चाहिये । ईश्वर ने दे दिया होता, तो लोग माँगते ही क्यों ? लाखों करोड़ों सभी माँगते हैं, यही इस बात का प्रमाण है कि ईश्वर देता है । यदि सब ईश्वर ने दिया नहीं और देता भी नहीं है । अतः देता है यह मान्यता ही अज्ञानतापूर्ण है - गलत है और उसके देने जैसा कुछ रहता भी नहीं । यह बात दीपक जैसी स्पष्ट है तो फिर हम माँगने जैसी भूल क्यों करते हैं ? क्या यह हमारी अज्ञानता नहीं है ? भूल नहीं है ? हम लोभग्रस्त जीव माँगते माँगते भिखारी बन चुके हैं अथवा माँगने में अभ्यस्त हो गए हैं । इतना तत्त्व समझते ही राजा ने उस भिखारी को अभयदान देकर मुक्त कर दिया और स्वयं ईश्वर के सच्चे स्वरूप को समझने के लिये साधना के क्षेत्र में निकल पड़ा । कोई सच्चा गुरु प्राप्त हो - कोई सच्चा धर्म या दर्शन मिले जो इस रहस्य को समझा सके, ऐसे गुरु की शोध में वह निकल पड़ा । वह जानना चाहता था कि ऐसा सच्चा धर्म या दर्शन है या नहीं ?

पूर्व कृत कर्मों के अनुसार प्राप्ति होती है :-

जैन दर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि जीव स्वयं ही अपने जन्म-जन्मान्तरों में जैसे जैसे अच्छे - बुरे पुण्य-पाप कर्म करता है उसी के आधार पर आगामी काल-जन्मादि में उसे सब कुछ प्राप्त होता है । उसे पुण्य का फल सुख के रूप में और पाप का फल दुःख के रूप में प्राप्त होता है । बस, इसे ही कर्म की प्रक्रिया कहते हैं । कर्म दोनो प्रकार के होते हैं । पुण्य शुभ कर्म है और पाप अशुभ-बुरा कर्म है । *As you sow, so shall you reap* जैसा बोओगे वैसा ही काटोगे। जिसे जितना और जैसा दिया होगा उसे तदनुसार वैसा ही और उतना ही प्राप्त होगा । बोओ वैसा ही काटो और दो वैसा ही लो । ये सब कर्म सत्ता की बातें हैं,

अतः कृत कर्मानुसार ही प्राप्त होता है । इसमें ईश्वर कहीं भी बीच में नहीं आता है । जीव स्वयं ही अपनी शुभ अशुभवृत्ति से प्रवृत्ति करता है और वह शुभ-प्रवृत्ति धर्म स्वरूप होती है जिससे वह पुण्योपार्जन करता है । वह पुण्य कर्म भी कालिक मर्यादा के अनुसार स्थितिबंध की रीति से बँधता है । उसका काल परिपक्व होने पर वह पुण्य स्वयं उदित होता है और जीव को सुख, प्रभुता, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य, भोग-विलास की साधन सामग्री विपुल वैभव तथा पुत्र-पुत्री-पत्नी, परिवार आदि की समृद्धि दिलवाता है । यह सब प्राप्त करके जीव सुखी होता है । पुण्यकर्म का फल सुखरूप में अच्छा मिलता है । उत्तरोत्तर श्रेणी का चढ़ते हुए क्रम का उपार्जित पुण्य उसी प्रकार उत्तरोत्तर श्रेणी का शुभ कर्म बढ़ते हुए सुख का फल दिलवाता है । आगे प्रगति करने पर दैविक सुख-समृद्धि की भी प्राप्ति होती है । ठीक इससे विपरीत पाप कर्म है । राग-द्वेष की अशुभ पाप वृत्ति करके अधर्म के मार्ग पर चलकर जीव पाप कर्म करता है । इस प्रवृत्ति में वह अशुभ पाप कर्म का बंधन करता है । उसकी भी काल स्थिति निर्धारित होती है और कालांतर में वह काल स्थिति जब परिपक्व होती है तब जीव अशुभ - दुःखदायी फल प्राप्त करता है । उसके आधार पर रोगी शरीर, एक पर एक इस प्रकार अनेक रोग, दुःख-दरिद्रता, नीच कुल में उत्पत्ति, तिर्यच, पशु-पक्षी के तथा नरक की गति के दुःख भोगने के अवसर आते हैं । क्षुधा-तृषा, ताप-कठोर परिश्रम आदि दुःख पाप कर्म के फल हैं । जीवनमें स्वयं ही जैसा किया है वैसा उसे स्वयं ही पाना है । परीक्षा के उत्तर-पुस्तिकाओं में जैसे प्रश्नोत्तर लिखते हैं वैसे ही और उतने ही अंक प्राप्त होते हैं और अपने लेखन के अनुसार ही हम उत्तीर्ण - अनुत्तीर्ण होते हैं । इसमें ईश्वर कहीं भी बीच में नहीं आता है ।

बीज को हवा-पानी और प्रकाश प्राप्त होता है और वह स्वयं भूमि में से उगता है - वृक्ष बनता है, उस पर फल-फूल और पत्ते लगते हैं और वे फल - फूल तथा पत्ते आदि स्वयं परिपक्व होकर नीचे गिर जाते हैं और इस प्रकार पुनः उगते हैं । ऐसा करते करते विशाल वन खड़ा हो जाता है । विशाल वन स्वयं अपने आप उठकर खड़ा हुआ है इस में ईश्वर की कहीं भी आवश्यकता नहीं होती है । ईश्वर कहीं भी बीच में नहीं आता है तो फिर बलात् ईश्वर को इस प्रक्रिया में घसीट लाने की कहाँ आवश्यकता है ? ईश्वर को निरर्थक ही सुख-दुःख दाता मानना है । उसे इस प्रकार फलदाता मानने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? उसके पीछे कारणरूप में भी उसे मानना हमारी अज्ञानता का ही परिणाम है । पहले पाप

करने में भी ईश्वर को कारण स्वरूप मानना और कालांतर में फलदाता भी ईश्वर को ही मानना - इसके पीछे एक मात्र ईश्वरेच्छा के सिवाय अन्य कुछ भी कारण नहीं मानना - यह सब मिथ्या ज्ञानग्रस्त है । राहू से ग्रसित सूर्य की जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति मिथ्या-ज्ञानग्रस्त मूढ अज्ञानी जीवों की होती है, अतः उपास्य तत्त्व ईश्वर को शुद्ध विशुद्ध और अत्यन्त शुद्ध स्वरूप में ही मानना चाहिये।

आत्मा ही परमात्मा बनती है :-

आत्मा के दो प्रकार है :

आत्मा

पामरात्मा (जीव)

परमात्मा(ईश्वर)

पामर + आत्मा = पामरात्मा और परम + आत्मा = परमात्मा

इन दोनों ही शब्दों के अन्त में तो आत्मा ही है । अन्तर इतना ही है कि एक पामर है और दूसरा परम है । पामर अर्थात् कैसा ? जैसा कि बादलों से घिरा हुआ सूर्य होता है, और परम अर्थात् बादलों से बीना घिरा हुआ शुद्ध सूर्य । इसी प्रकार पामर अर्थात् शुभाशुभ कर्मों से आवृत्त जीवात्मा और परम अर्थात्, जिसके शुभाशुभ कर्मों के आवरण सर्वथा हट चुके हैं ऐसी शुद्ध-विशुद्ध-अत्यन्त शुद्ध आत्मा = परमात्मा । वस, इतना ही अंतर है, परन्तु अन्ततः तो दोनों आत्माएँ ही हैं । जैन दर्शन पामरात्मा को संसारी जीवात्मा कहता है और परमात्मा को ईश्वर परमेश्वर के स्वरूप में पहचानता है ।

इससे एक बात सिद्ध होती है कि परमात्मा भी आत्मा की ही कक्षा हैं । जीव-शिव की बातें तो हिन्दु भी करते ही है । फिर भी ईश्वर को सर्वोपरि सत्ता स्वीकार कर उसे कर्ता-हर्ता मानते हैं और जीव को कर्ता-हर्ता का कोई अधिकार ही नहीं देते । फिर ऐसी मान्यता में जीव-शिव की समानता कहाँ रही ? मात्र भाषा में या शब्दों में ?

जैन दर्शन में आत्मा-परमात्मा को समान जातीय माना है । जैन दर्शनानुसार दोनों ही एक ही कक्षा के है - एक ही ज्ञाती के है - एक मलीन है तो दूसरा शुद्ध है । एक कर्मग्रस्त है तो दूसरा कर्ममुक्त - संपूर्ण रूप से शुद्ध है, एक अपूर्ण है तो दूसरा परिपूर्ण है - सम्पूर्ण है ।

परमात्मा अपने पद से नीचे उतरे अथवा अवतरित हो तो वह पामरात्मा बन जाता है। इसलिये जैन दर्शन अवतारवाद की प्रक्रिया को स्वीकार नहीं करता है, क्यों कि नीचे अवतरित होने के लिये पुनः अशुभ पाप कर्म की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है, पुनः वह ईश्वर राग-द्वेष ग्रस्त होकर पाप करके अशुभ कर्म बाँधे तभी वह नीचे अवतरित हो सकता है, और तभी अवतारवाद सिद्ध हो सकता है। यह सिद्धान्त जैन दर्शन को स्वीकार्य नहीं है। एक बार कर्मक्षय करके जो उच्च पद पर चढ़ चुके हैं वे पुनः किसी कर्मसत्ताधिन नहीं रहते और न वे स्वयं नवीन कर्मोपार्जन नहीं करते हैं, अतः उनके लिये अब नीचे अवतरित होने का प्रश्न ही नहीं रहता। अतः जैन सिद्धान्त “संभवामि युगे युगे” का अवतारवाद नहीं मानता। जैन सिद्धान्तानुसार तो आत्मा ही शुद्धिकरण करती करती परमात्म पद पर पहुँचती है। नीचे से, ऊपर उठा जाता है, अशुद्ध में से शुद्ध बना जाता है. अपूर्ण में से पूर्ण बन सकते हैं। अल्पज्ञ में से सर्वज्ञ होना संभव है, रागी में से वीतरागी बनना शक्य है - यही जगत का शाश्वत सिद्धान्त है, यही सच्चा क्रम है। इससे उल्टा - विपरीत क्रम ऊपर से नीचे उतरने का ईश्वर के संबंध में तो हो ही नहीं सकता - है ही नहीं अवतारवाद विपरीत क्रम की प्रक्रिया है अतः यह जैन सिद्धान्त को मान्य नहीं है।

शुद्धिकरण की प्रक्रिया से आज की पामरात्मा एक दिन परमात्मा बनती है। बस, इस प्रक्रिया का नाम ही धर्म है। अतः धर्म आराध्य है, उपास्य है, आचरणीय है, आदेय-उपोदय है। धर्म साबुन का कार्य करता है। आत्मा पर लगे हुए मलीन कर्मों को धोकर यह आत्मा को शुद्ध बनाता है। इस प्रकार शुद्धिकरण की प्रक्रियामें प्रगति करता हुआ जीव ही एक दिन संपूर्णतया शुद्ध बनकर परमात्मपद की प्राप्ति करता है। परमेश्वर-परमात्मा के रूप में जाना जाता है।

‘अरि’ का हंत करने वाले - अरिहंत

जैन धर्म - जैन दर्शन ईश्वर के लिये अन्य अनेक पर्यायवाची शब्दों का उपयोग करता है, जैसे अरिहंत, वीतराग, जिन, जिनेश्वर, जिनेन्द्र, तीर्थंकर, प्रभु, परमात्मा, परमेश्वर, परमेष्टि, भगवान, नाथ, आदि नाम ईश्वर के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। ईश्वर शब्द जैन धर्म में अधिक प्रचलित नहीं है। ‘ईश’ शब्द रूप में मतुप् प्रत्यय लगने से ईश्वर शब्द की रचना हुई है, ‘ईश’ शब्द रूप मालिक-स्वामी के अर्थ में है। ईश्वर अर्थात् जगत का मालिक-स्वामी के अर्थ में है। ईश्वर अर्थात्

जगत का मालिक-स्वामी । जैन दर्शन परमेश्वर शब्द का प्रयोग करके उन्हें सम्पूर्ण जगत के स्वामी कहता है । भगवान के नामों के बाद स्वामी इस अर्थ में जोड़ने की प्रणाली है - उदाहरणार्थ महावीरस्वामी, वासुपूज्यस्वामी, मुनिसुव्रतस्वामी, आदि तीर्थकरों के नाम के साथ स्वामी शब्द इस अर्थ में जोड़कर भाषा का व्यवहार होता है । इसी प्रकार नाथ, प्रभु आदि शब्द भी जोड़े जाते हैं । जैन दर्शन ने जो ईश्वर शब्द स्वीकार किया है, वह भी इस अर्थ में मान्य रखा है, फिर भी अधिक प्रयोग का व्यवहार नहीं रखा है । ऐसा प्रयोग नाम मात्र ही मिलेगा क्यों कि अन्य दर्शन ईश्वर को जगत् कर्ता, सृष्टि रचयिता के अर्थ में अधिक से अधिक रूढ़ करते गए - इस अर्थ का ही इसे पर्यायवाची बनाते गए अतः यदि जैन भी इसी शब्द का प्रयोग अन्य सभी की भाँति करें तो वे भी इसी अर्थ के पर्याय में चले जाएँ, स्वीकार्य हो जाएँ । इसी लिये सिद्धान्त की रक्षा हेतु उन्होंने इस शब्द को महत्व न देकर इसके स्थान पर अधिक महत्त्वपूर्ण अन्य शब्दों का प्रचलन अधिक रखा है । इन में भी 'अरिहंत' 'वीतराग' तीर्थकर शब्द जैन शासन में ही प्रचलित हैं - अन्यत्र कहीं भी नहीं है । अतः जैनों के एक प्रकार के विशिष्ट कक्षा के शब्द कहलाते हैं । जैन दर्शन के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं जिनका अर्थ भी विशिष्ट ही होता है ।

'अरिहंत' शब्द ही एक प्रकार से अद्भुत शब्द है । इसी का प्रयोग 'नवकार महामंत्र' में किया गया है । बड़े ही गंभीर अर्थ से पूर्ण यह शब्द है । अर्थ की दृष्टि से इस शब्द को देखें

अरि + हंत = अरिहंत

अरि + आत्म शत्रु और हंत = हनन करने वाला ।

आत्म शत्रुओं का हनन करने वाला ईश्वर है . 'अरि' शब्द शत्रु, रिपु के अर्थ में प्रयुक्त होता है और हंत - हन् धातुं हनन करने के अर्थ में है । अरिगण कौन ? दो प्रकार के शत्रु होते हैं (१) बाह्य अर्थात् हमारे जन्म जात शत्रु क्रोध - कषायादि से बनाए गए बाहरी शत्रु और (२) अभ्यंतर कक्षा के आंतरिक शत्रु - आत्म शत्रु । आत्मा के शत्रुओं में - क्रोध, मान, माया, लोभ, राग - द्वेष, कामादि सभी आत्मा के आन्तरिक शत्रु हैं । इनका हनन करने वाले । हनन करके नाश करने वाले अर्थात् इन पर विजय प्राप्त करने वाले अरिहंत भगवान कहलाते हैं ।

अरिहंत शब्द में मुख्य तत्त्वों की सिद्धि :-

अरि + हंत = अरिहंत

अजीव तत्त्व, - जीव तत्त्व

अरि को अजीव तत्त्व कहा गया है, क्योंकि कि जीव पर अजीव तत्त्व के पुद्गल के घर से विविध प्रकार की वर्गणाओं में से कर्मण वर्गणा जीवात्मा पर आकर चिपकती है - वही कर्मस्वरूप है । वे कर्म ही राग - द्वेष - क्रोधादि से निर्मित होते हैं । इस प्रकार जीवात्मा अपनी हनन क्रिया जारी रखती है । हंत से हनन करने वाली, हर्ता जीवात्मा ही सिद्ध बनती है, क्योंकि कि पौद्गलिक कर्म केवल जीवात्मा को ही लगते हैं ।

किसी भी अजीव तत्त्व को कर्म बंधन नहीं होता है, क्योंकि कि राग-द्वेषादि की उसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती । राग-द्वेषादि भी मात्र जीव की ही प्रवृत्ति है । अतः यहाँ 'अरिहंत' शब्द से 'जीव' और 'अजीव' तत्त्व की सम्पूर्ण सिद्धि होती है और इस जगत में Original Substance मूलभूत-द्रव्यों के रूप में मात्र इन दो तत्त्वों का ही समावेश होता है। इन दो के सिवाय तीसरा द्रव्य इस जगत में अपना अस्तित्व रखता ही नहीं है । अतः संपूर्ण ब्रह्मांड के समस्त द्रव्य संक्षिप्त रूप से इन दो द्रव्यों में ही समाहित हो गए हैं ।

अजीव तत्त्व के भेद

अरूपी

रूपी

धर्मास्तिकाय	अधर्मास्तिकाय	आकाशास्तिकाय	काल	पुद्गलास्तिकाय	
स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	स्कंध देश प्रदेश	परमाणु	
३	+	३	+	१ + ४	= १४
औदारिक	वैक्रिय आहारक	तेजस्	धासो भाषा मन	कर्मण	

अजीव तत्त्व की यह संपूर्ण तालिका है । सभी भेदों का इसमें समावेश हो गया है । जैन दर्शन की यही विशेषता है कि अजीव जैसे जड़ पदार्थ की भी इसने स्वतंत्र संपूर्ण विवक्षा की है, विज्ञान ने प्रारंभ में ५०-६० द्रव्य, फिर ६० द्रव्य, तत्पश्चात् १०४ द्रव्य और बाद में १११ द्रव्य इस प्रकार अलग अलग संख्या में द्रव्य जगत को बताए हैं, जब कि जैन दर्शन ने एक मात्र अजीव तत्त्व में ही उनकी गणना कर बताई है और मात्र पुद्गल के भेदों के रूप में सभी पदार्थों को

माना गया है, क्यों कि सभी पदार्थ पुद्गल जन्य पौद्गलिक है ।

इन पुद्गलों के छोटे-बड़े प्रकारों के अनुसार ४ भेद बनते हैं १ स्कंध, २ देश, ३ प्रदेश और ४ परमाणु । एक अखंड पदार्थ को स्कंध कहते हैं । उसी का छोटा सा भाग देश कहलाता है और अत्यन्त सूक्ष्म में सूक्ष्म-छोटे से छोटा भाग जो देश के साथ संलग्न होता है वहाँ तक प्रदेश कहलाता है और देश से अलग पड़ा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग परमाणु कहलाता है । अणु कहो अथवा परमाणु कहो । बात एक ही है । परमाणु में परम + अणु - परम विशेषण आगे लगाया गया है । दोनों ही शब्द समानार्थक हैं । परमाणु अविभाज्य, अदाह्य, अकाट्य दृष्टेऽ, अभेद्य, अरूपी पदार्थ होता है । परमाणु का अविभाज्य कहा इसका अर्थ है कि इसका पुनः विभाजनशक्य ही नहीं है । इसके दो भाग करना संभव ही नहीं है । एक बार विज्ञान ऐसा मानता था कि परमाणु अविभाज्य है । उसका विभाजन नहीं होता, जब कि आज वर्तमान विज्ञान परमाणु को भी विभाज्य मानता है । परमाणु का विस्फोट किया और विभाजन करके परमाणु शक्ति को खड़ा करते हैं ।

इस प्रकार विज्ञान परिवर्तनशील है, जब कि धर्म के सिद्धान्त - तत्त्व स्वरूप अपरिवर्तन शील है । Science is ever changeable while Religion is never changeable धर्मक्षेत्र में तत्त्व के सिद्धान्त सदैव शाश्वत रहे हैं, वे कभी भी बदले नहीं और भविष्य में भी बदलने वाले नहीं है, क्यों कि वे सर्वज्ञ - अनंतज्ञानियों के वचन हैं । सर्वज्ञ ज्ञानी भगवन्त ने अपने त्रैकालिक अनंतज्ञान से वस्तु का त्रिकाल स्वरूप देखकर प्ररूपणा की है । उसमें भूतकाल में भी परिवर्तन नहीं किया और न आज भी परिवर्तन करते हैं । इसी प्रकार भविष्य काल में भी कभी भी परिवर्तन करने वाले ही नहीं । अतः धर्मक्षेत्र में सिद्धान्तका त्रिकाल शाश्वत स्वरूप है ।

धर्म का अर्थ मात्र क्रिया कांड ही नहीं, परन्तु तत्त्वों का जो शुद्ध स्वरूप है जो ज्ञान है उसका आचरण उसकी क्रियान्विति ही धर्म है । अर्थात् ज्ञानयोग में पदार्थ ज्ञान स्वरूप में हैं, परन्तु उन २ तत्त्वों का सम्यग्ज्ञान हो जाने पश्चात् उन्हीं का आचरण करना, पदार्थ स्वरूप ज्ञान योग में जो सैद्धान्तिक रूप में Theoretical रहा है उसे जीवन में उतारकर Practical स्वरूप में प्रयोगात्मकरूप से आचरण कर चरितार्थ करना धर्म कहलाता है । अतः इस प्रकार धर्म और दर्शन अलग पड़ जाते हैं । दर्शन अर्थात् तत्त्वज्ञान दर्शन पदार्थों का जो दार्शनिक स्वरूप निश्चित करता है तदनुसार ज्ञेयस्वरूप में जानकर फिर उसका जीवन में आचरण करना -

उपादेय बनाकर चरितार्थ करने की प्रक्रिया को धर्म कहते हैं ।

इस व्याख्या के आधार पर ही अरिहंत शब्द की रचना है । दर्शन शास्त्र ने अरि के रूप में अजीव पुद्गल परमाणुओं का स्वरूप बताया । उन में भी कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणु जो अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप में होते हैं, वे जीवात्मा की राग-द्वेष की प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर आत्म प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं और कर्म के रूप में पहचाने जाते हैं । ये कार्मण वर्गणा के पुद्गल जो कर्म पिंड के रूप में जाने जाते हैं उनका हनन करना अर्थात् आत्म प्रदेशों में से पुनः बाहर निकाल देने को 'हंत' कहा है । उपर्युक्त व्याख्यानुसार आत्मा को कर्मरूपी अरिओं का जो ज्ञान हुआ उसे तुरन्त आचरण में डालने का कार्य 'हंत' की क्रिया से किया आर अन्त में इस के परिणाम स्वरूप आत्मा ने अरिहंत पद प्राप्त किया । दर्शन शास्त्र इस पदार्थ का रूप-स्वरूप ज्ञानयोग से देता है अतः वह ज्ञान प्रधान है, जब कि धर्म उसका आचरण करके उसे चरितार्थ करता है अतः धर्म क्रिया-प्रधान है - क्रियात्मक है । यह सिद्धान्त नवकार के प्रथम पद अरिहंत में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । अरि का ज्ञान और हंत की क्रिया अर्थात् ज्ञान-क्रियात्मक स्वरूप प्रदर्शित करने वाला प्रथम पद अरिहंत है । अरि का ज्ञान करवाने का कार्य दर्शनशास्त्र का है और उन अरिओं, रिपुओं का हनन - नाश करवाने का कार्य क्रियात्मक होने से धर्म का है । इस प्रकार इस एक अरिहंत पद से धर्म और दर्शन दोनों का स्वरूप निश्चित होता है ।

दोनों में से एक को स्वीकार करो और दूसरे को स्वीकार न करो तो साधना सिद्ध नहीं होती, बल्कि पंगु रह जाती है । अरि का ज्ञान हो । परन्तु हनन की क्रिया न हो तो अरिहंत बनना सर्वथा असंभव है । हनन की क्रिया तो चलती ही रहे पर अरि का ज्ञान ही न हो तो फिर किसका हनन करना ? क्या करना ? आभ्यंतर अरिओं के बजाय किसी अन्य का हनन करते रहे तो परिणाम क्या निकलेगा ? उस स्थिति में भी अरिहंत तो बनना असंभव ही है । अतः अकले ज्ञान से भी नहीं चलता और न अकेली क्रिया से ही चलता है । अरिहंत पद इस बात का सूचक है कि ज्ञान और क्रिया दोनों साथ होने पर ही कार्यसिद्धि संभव है, अन्यथा नहीं । तभी अरिहंत बनना संभव है अन्यथा नहीं । ज्ञान रहित क्रिया अंधी है और क्रिया विहीन ज्ञान पंगु है । ऐसे में दावानल लगा हो तो एकांतवादी अथवा एकांत पक्षी कदापि लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता है । वह कभी भी अरिहंत नहीं बन सकता । **ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः** (प्राकृत में नाण किरीया हिं मोक्खो)

शास्त्रों में - आगमों में स्पष्ट वर्णन है कि ज्ञान और क्रिया दोनों की संयुक्त साधना से ही मोक्ष प्राप्त होता है । यह सिद्धान्त अरिहंत पद में चरितार्थ होता है । अरिओ का ज्ञान और उनके हनन की क्रिया - ये दोनों ही मिलकर मोक्ष दिलवाते हैं । इन दोनों के संयुक्त स्वरूप में अरिहंत बनना शक्य है - इसके बिना कदापि नहीं ।

किस पर विजय पाने की आवश्यकता है ?

सिकंदर महान् सम्राट - संपूर्ण धरती का स्वामी बनने का इच्छुक था । उसने भारत पर भी आक्रमण किया और उसके सौभाग्य से वह एक के बाद एक विजय प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ रहा था । विजय का भी एक प्रकार का नशा होता है । अपनी विजय का डंका बजाता हुआ अपनी सेना के साथ वह आगे कूच कर रहा था । मार्ग में एक ओर एक वृक्ष के नीचे कोई मुनि महात्मा कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यान-साधना कर रहे थे । सैन्य के आगे आगे चलते हुए अंग रक्षक दूतों ने मुनि महात्मा के पास आकर तीव्र ध्वनि करते हुए कहा - ओ महात्मा ! छोड़ो तुम्हारा ध्यान ! इस पृथ्वी के स्वामी और महान् सम्राट सिकंदर पधार रहे हैं । उनके चरणों में गिरकर नमस्कार करो । महान् सम्राट को सभी नमन करते हैं सभी उनके चरणों में झुकते हैं उन्हें नमस्कार करते हैं अतः तुम भी उनके चरणों में झुककर उन्हें नमस्कार करो। ध्यानस्त महात्मा ने इस बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया, उन्होंने अपनी स्थिरता नहीं छोड़ी, इतने में विजययात्रा आगे बढ़ी और हाथी की अंबाडी पर आसीन सिकंदर महात्मा के पास आ पहुँचा, हाथी को खड़ा रखा गया । साधु महात्मा पर सभीने बार बार सिकंदर को नमस्कार करने के लिये आग्रहपूर्वक दबाव डाला गया, ध्यानभंग होने से महात्मा ने अपनी आंखें खोली और सामने देखकर पूछा किसे नमस्कार करुं ? विशाल जन समुदाय ने उत्तर दिया - विश्व विजेता महान् सम्राट सिकंदर को नमस्कार करो, इनके चरणों में झुककर नमन करो । महात्मा ने दूसरा प्रश्न किया - क्यों ? अरे ! क्यों का क्या मतलब ? इन्होंने सर्वत्र विजय प्राप्त की है और ये विश्व विजेता तथा समस्त पृथ्वी के स्वामी महान् सम्राट बने हैं इसलिये ! यह उत्तर सुनकर महात्मा कुछ स्मित के साथ विनोद करते हुए बोले - अरे भाइ सिकंदर ! क्या इस जमीन के टुकड़े को जीतने वाला महान् कहलाता है । हजारों - लाखों को मारकर उनका रक्त बहाने वाला क्या बड़ा मालिक - विजेता कहलाता है? क्या यह पृथ्वी तुम्हारे साथ आएगी ? क्या यह राज्य तुम्हारे साथ आएगा ? इन क्षणिक नाशवंत वस्तुओं पर

विजय प्राप्त करना और वह भी हजारों लाखों को मार कर जीतना - यह कैसी विजय है ? मैं ऐसी विजय को नहीं मानता हूँ । बाह्य शत्रुओं को जीतने के बजाय यदि तुम अपने अभयंतर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या - बैर, वैमनस्य, काम संज्ञा आदि सैकड़ों शत्रुओं जो तुम्हारे अन्दर बैठे हुए हैं, जिनकी पकड़ तुम पर है, जो तुम्हें सताते हैं, परेशान करते हैं, जिनकी दासता-परतंत्रता के तुम शिकार हो । ऐसे जो तुम्हारे घोर और प्रचंड शत्रु हैं, उनमें से किसी एक पर भी तुम विजय प्राप्त कर लो, तो मैं तुम्हें नमस्कार करूँ - अन्यथा नहीं । बाह्य शत्रुओं को जीतने वाले राजा तो इस अवनि पर अनेक हैं, मैं नित्य कितनों को नमस्कार करने जाऊँ ? बोलो सम्राट ! तुम अपने मन के सम्राट हो या मात्र इस धरती के ही सम्राट हो ? यदि आत्मा के आंतरिक शत्रुओं में से तुम एक अथवा दो परभी विजय प्राप्त कर सके हो और तुम अपने स्वयं के मन के स्वामी-सम्राट बन सके हो, तो मैं तुम्हें नमस्कार करूँ । अपने अनेक रिपुओं में से क्या तुम एक क्रोध को भी जीत सके हो ? नहीं....तब तो तुम्हें नमन करने के बजाय तो जिन्होंने सभी अर्न्तशत्रुओं को जीत लिया हो उन्हें ही नमन करने में मुझे लाभ है।

इतना सुनने के साथ ही सिकन्दर की अक्ल ठिकाने आ गई । स्वस्थ होने के साथ ही वह हाथी की अंबाडी से नीचे उतरा और मुनि महात्मा का चरण स्पर्श किया तथा नमस्कार करके बोला - महात्माजी ! सचमुच मैं सच्चे सम्राट तो आप हो । काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, तृष्णा आसक्ति, राग-द्वेषिजो हमारे स्वयं के अर्न्तशत्रु हैं, उनके शिकंजे में मैं फँसा हुआ हूँ, परतंत्र हूँ । उनकी अधीनता भोगता हुआ मैं पराधीन-परतंत्र हूँ । इन कषायों से दबा हुआ हूँ और वास्तव में ये ही हनन करने योग्य हैं । इन से दबी हुई अपनी आत्मा को मुक्त करना ही चाहिये ।

राजा की बात सुनकर मुनि श्री ने समझाया राजन् ! इन आंतरशत्रुओं को जीतने अथवा उनका हनन करने के लिये बाह्य तीर-तलवारधारी सेना लेकर चढ़ाई करने की जरा भी आवश्यकता नहीं रहती । इसके लिये सर्वस्व का त्याग करके ज्ञान ध्यान-तप-त्यागादि की साधना करना ही आवश्यक है । तीर-तलवार के बल पर युद्धादि करके बाह्यजगत के शत्रुओं का हनन करने में हिंसादि अनेक पाप होते हैं, जिसके कारण पुनः हमारी आत्मा मलीन होती है । बाह्य जगत के शत्रुओं के हनन का कार्य तो आजीवन किया, जो कार्य नहीं किया वह अब करने की आवश्यकता है । वे अभयंतर कक्षा के आंतर शत्रु - काम - क्रोधादि विषय-

कषायादि अथवा राग-द्वेषादि जो आत्मा का गला घोटकर बैठे है, आत्म-गुणों को पच्छन्न कर बैठे हैं उन्हें प्रकट होने ही नहीं देते है । अतः प्रथम कार्य तो यही करणीय है । वास्तव में विचार करें तो यह बात शत प्रतिशत सच्ची लगती है । सत्य स्थिति है, वास्तव में करने योग्य तो यही है, जब कि भ्रमवश, अज्ञानतावश हम बाह्य जगत के शत्रुओं के पीछे अपना सम्पूर्ण जीवन व्यर्थ गवा देते हैं और परिणाम शून्य रहता है, आत्मा को शान्ति तो मिलती ही नहीं है ।

‘अरिहंत’ शब्द में ही अरिहंत बनने की प्रक्रिया है :-

नवकार महामंत्र का प्रथम पद ‘नमो अरिहंताणं’ है । इस पद में प्रयुक्त अरिहंत शब्द ही आत्मा को अरिहंत बनने की प्रक्रिया सिखाता है । यह आदेश देता है कि हे साधक ! तुझे क्या साधना है । तेरा साध्य क्या है ? तुझे क्या करना है ? इन सभी प्रश्नों के उत्तर एक ही ‘अरिहंत’ शब्द में दे दिये गए हैं । ‘अरि’ काम - क्रोधादि जो तेरे अन्दर आत्म रिपुगण हैं, उनका हंत - हनन कर । उन्हें दूर कर दे, उनका नाश कर दें ! यहाँ अन्य किसी धातु का प्रयोग न करके ‘हन्’ धातु का ही प्रयोग किया है जिसका आशय है - दमन कर दे, दूर कर दे, निकाल बाहर कर दे आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, उस अर्थ वाली धातु का प्रयोग नहीं किया क्यों कि मात्र दूर ही करना हो तब तो जिन्हें आज दूर किया है वे कल पुनः आकर-प्रवेश कर डालेंगे । यही अर्थ निकाल कर, दबा दे आदि में भी प्रतिध्वनित होता है ।

दूसरे प्रकार से विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा के काम-क्रोधादि अरिओंको दबाने का निकाल बाहर करने का, दूर करने का कार्य तो अनंत बार किया है, क्यों कि प्रत्येक जीव नित्य-प्रतिदिन निर्जरा भी करता है, भले ही अकाम निर्जरा करता हो । पर करता अवश्य है । इस अकाम निर्जरा से भी कर्म-रिपु थोड़े बहुत तो दूर होते हैं, नित्य दबते हैं, परन्तु बहुत ही अल्प समय में लौटकर आत्मा के सध पुनः चिपक जाते हैं, आत्मा को दबोच लेते हैं, क्यों कि नित्य आत्मा की कर्मबंध की - पापाश्रवादि की प्रवृत्तियाँ तो चलती ही रहती हैं, अतः नित्य कर्मबंधन तो जारी ही है । नित्य अकामादि निर्जरा में नाम मात्र भी थोड़ी सी निर्जरा भी है जीव मात्र करता ही है, परन्तु इससे, अरिहंत बनना शक्य नहीं है । इसीलिये अरिहंत शब्द में अरि के बाद हंत शब्द हन् धातु का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है हनन करना । जिससे पुनः गर्दन ऊँची

ही न कर पाए, लोटकर आने ही न पाए-इस प्रकार उनका हनन करना है !

क्या हनन करने में हिंसा की गंध नहीं आती ?

किसी का ऐसा भी कथन है कि हनन करने की क्रिया तो हिंसक क्रिया है, अतः ऐसे अर्थ वाली हन् धातु नवकार जैसे पवित्रतम मंत्र और अरिहंत जैसे सर्वश्रेष्ठ भगवान के साथ जोड़ने में दोष लगता है । अत्यंत सूक्ष्म अहिंसा-जीवदया के प्ररूपक - ऐसे अरिहंत भगवान जो स्वयं सर्वज्ञ बनकर समवसरण में विराजमान होकर जगत को सूक्ष्म भी हिंसा न करने तथा दया-पालन का उपदेश देते हैं - ऐसे अरिहंत भगवान स्वयं हनन करने अर्थात् हिंसा करने का कार्य करते हैं ? क्या यह उनके लिए उपयुक्त है ? ऐसा कार्य अरिहंत को तो कदापि शोभा नहीं देता।

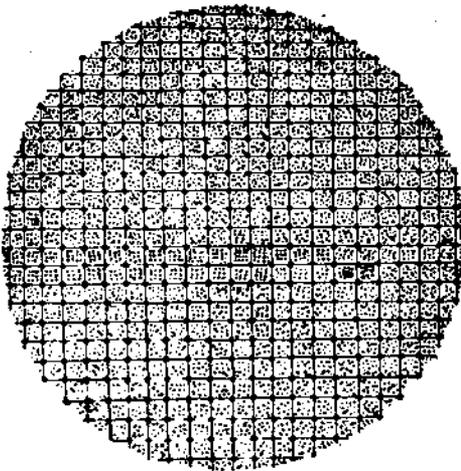
इस प्रश्न के उत्तर स्पष्ट और सीधे ही है कि सर्व प्रथम हनन करने की क्रिया में इतना तो सोचो कि किसका हनन करना है ? हंत से पूर्व अरि शब्द का प्रयोग हुआ है । तो किसका हनन करना है ? प्रश्न से सीधी ध्वनि 'अरि' पर ही जाती है । अरिओं का ही हनन करना है । क्या अरिहंताणं में अरिओं का अर्थ किसी व्यक्ति, राजा अथवा मंत्री आदि के लिए किया गया है ? नहीं, यह तो बात ही नहीं है ! यहाँ अरिओं का अर्थ आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेषादि आत्म-रिपुओं से लिया गया है । क्या ये राग-द्वेषादि सजीव है - चेतन है या निर्जीव - जड़ है? हम पूर्व में ही कह चुके हैं कि अरि शब्द से अजीव तत्त्व लिया गया है । अजीव तत्त्व का स्वरूप और उसके भेदों का वर्णन पूर्व में हो चुका है । अजीव इस अजीव शब्द में प्रथम अरि ही जीव का निषेध करता है, फिर प्रश्न ही कहाँ रहा ? किसका हनन किया जाता है ? जीव का या अजीव का ? हनन क्रिया में हिंसा का दोष कब लगता है जब जीव हत्या होती हो तब ! जब कि यहाँ तो आत्मा के साथ जो कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं का समूह चिपक कर कर्मपिंडरूप बन चुका है, वह जो आत्मा के गुणों का हनन, दमन कर रहा है, जो कर्म आत्म गुणों को प्रच्छन्न कर लेता है, आत्मा को उसके मूल शुद्ध स्वरूप में प्रकट नहीं होने देता है, वह कर्म ही आत्मा का अरि है - शत्रु है और उसके हनन की ही यहाँ बात है । कर्म तो जड़ है अतः उसके हनने की क्रिया में हिंसा की गंध आने का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

'हन्' धातु से हंत हनन करने के अर्थ में जो बना है वह क्षय-नाश का सूचक है। अर्थ स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अरिहंत में अरिओं का हंत करना

अर्थात् आत्मा के कर्मरिपुओं का क्षय करना - नाश करना । सर्वथा क्षय करने अथवा संपूर्णतः नष्ट कर डालने के अर्थ में हन् धातुका प्रयोग हुआ है । इस प्रकार संपूर्णतः यदि कर्म रिपुओं-अरिओं का नाश क्षय होगा तो ही कोई सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगा, अन्यथा कोई सम्भावना ही नहीं है । अतः हन् धातु हनन करने के अर्थ में प्रयुक्त होने पर भी उस में रस्तीभर भी हिंसा की गंध नहीं है अर्थात् अरिहंत शब्द के प्रयोग में तिलभरभी दोष नहीं है । अरिहंत शब्द को बदल कर अन्य किसी भी शब्द को रखने की कदापि भूल न की जाए अन्य कोई भी शब्द अरिहंत शब्द के समान सचोट अभिप्रेत अर्थसूचक न होने के कारण अरिहंत शब्द ही उपयुक्त है ।

कर्मा को ही रिपु - अरि क्यों कहा ?

रिपु और अरि दोनों का अर्थ है शत्रु, परन्तु शत्रु अर्थात् क्या ? विपरीत भाव में रहने वाला शत्रु कहलाता है । प्रत्यनीकपन अर्थात् जैसा रहना चाहिये उसके बजाय विपरीत भाव से रहना । जो करना चाहिये उसके स्थान पर उल्टे स्वरूप में करना । लोक व्यवहार में जैसे एक शत्रु होता है वह हम से विपरीत रीति से व्यवहार करता है । अपने साथ प्रेम लगन अथवा स्नेह से अनुकूल ढंग से बोले-व्यवहार करे तो वह मित्र कहलाता है, और हम से द्वेष रखे, प्रेम-लगन सर्वथा न रखे तो वह शत्रु कहलाता है । इसलिये शत्रु भाव को विपरीत भाव कहते हैं ।

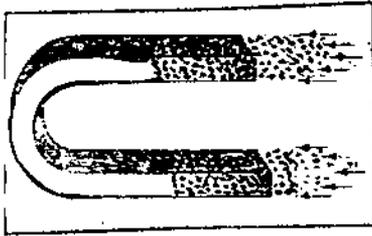


यहि अर्थ यहाँ आत्मा और कर्म के मध्य है । आत्मा जिस स्व-स्वरूप में रहना चाहती है, उसे स्व-स्वरूप में न रहने देकर विपरीत भाव से जो आत्मा में रहकर आत्मा के स्वरूप को बिगाड़े वह शत्रु-रिपु अरि कहलाता है ।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसा है? आत्मा एक अखंड स्वतंत्र स्वगुण सम्पन्न सप्रदेशी अस्तिकायवान् चेतना शक्ति सम्पन्न चेतन द्रव्य है।

अतः आत्मा कैसी है ? इसका उत्तर यही है कि आत्मा स्वगुणों से परिपूर्ण है, स्वगुण सम्पन्न है अपने ही गुणों से युक्त है ।

कर्मों का स्वरूप :



राग -द्वेष-क्लेश-कषाय विषय-आदि सैकड़ों प्रकार की विपरीत प्रवृत्तियाँ करने से जीव कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को चुम्बक की तरह अपनी और आकर्षित करते हैं । जैसे एक लोह-चुंबक में चुंबकीय शक्ति होने से वह बाह्य लोह-कणों (iron - particles)

को अपनी और खींचता है, आकर्षित करता है और वे आकृष्ट लोहकण जिस प्रकार लोहचुंबक के साथ चिपक जाते हैं, उसी प्रकार मुख्य रूप से राग-द्वेषादि की पापाचरण की प्रवृत्ति से पुद्गल-प्रदेश में रही हुई कर्मण वर्गणा जीव के द्वारा आकर्षित होती है । जीवात्मा में राग-द्वेषादि की प्रवृत्ति के कारण एक प्रकार का स्पंदन होता है । उस स्पंदन से आत्मा के बाहर चारों ओर प्रसरित कर्मण वर्गणाएं आकृष्ट होकर आत्मा में आती है और आत्मा - द्रव्य में प्रविष्ट होकर आत्मा के साथ घुलमिल जाती है आत्मा के साथ चिपक जाती हैं । आत्मा के एक एक प्रदेश में अनंत कर्मण वर्गणाये चिपककर एकरस एक पिंड बन जाती है । स्वजातीय आत्मा में विजातीय तत्त्व विपरीत स्वभावी तत्त्व आत्मा के घर में चोर की भाँति घुस जाता है । जड-पुद्गल पदार्थ वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादि गुणयुक्त होते हैं । ये सभी गुण आत्म गुणों से सर्वथा विपरीत प्रकार के ही गुण हैं, क्योंकि आत्मा अनामी - अरूपी - अवर्णी - अगंधी है, जबकि पुद्गल तो वर्ण-गंध-रूप-रसादियुक्त होते हैं । ऐसे कर्मण वर्गणा के सभी पुद्गल परमाणु आत्मा पर अकर छ जाते हैं, जिसके कारण आत्मा के गुण उसी प्रकार ढक जाते हैं - दब जाते हैं, जिस प्रकार सूर्य पर बादल आ जाने से सूर्य की किरणों का प्रकाश आने से रुक जाता है । बादल आवरण हैं, वे आवृत्त करने रोकने का कार्य करते हैं । घर की फर्श अति सुंदर हो, परन्तु रंजकण महिनो तक छाए रहे तो सुंदर स्वच्छ मार्बल की फर्श होने परभी ढक जाती है । घरमें प्रकासमान लाईट के बल्ब पर वस्त्र डालने से जैसे बल्ब ढक जाता है और प्रकाश भी आगे आने से रुक जाता है उसी प्रकार आत्मा पर आने वाले इस आवरण - पिंड को कर्म कहते हैं । आत्मा के

गुणों को जो ढक दे - आवृत्त कर ले - उसे कर्म कहते हैं । कर्म अजीब के गर के पुद्गल परमाणुओं से निर्मित होते हैं जो कि जीव के स्वभाव और स्वरूप से विपरीत स्वभावी होते हैं । वे आत्मा के गुणों को आवृत्त कर लेते हैं । पुद्गल-परमाणुओं के नाम होते होंगे क्या ? नहीं होते हैं । अतः वे पुद्गल-परमाणु एक पिंड बनकर जिस आत्मा के गुणों को आवृत्त कर डालते हैं वे उन गुणों को आवृत्त करने वाले नामोंसे कर्मों से पहचाने जाते हैं । अतः आत्मा के आठ गुणों के आधार पर उसे उन्हें आवृत्त करने वाले कर्म भी आठ हुए जिनके नाम इस प्रकार रखे गए हैं -

आत्मा के ८ गुण	गुणों को आवृत्त करनेवाले ८ कर्म
१. अनंत ज्ञान	१. ज्ञानावरणीय कर्म
२. अनंत दर्शन	२. दर्शनावरणीय कर्म
३. अनंत (यथाख्यात) चारित्र	३. मोहनीय कर्म
४. अनंत वीर्य	४. अन्तराय कर्म
५. अनामी-अरूपीपन	५. नाम कर्म
६. अगुरु - लघु	६. गोत्र कर्म
७. अनन्त(अव्याबाध) सुख	७. वेदनीय कर्म
८. अक्षय स्थिति	८. आयुष्य कर्म

इतने विवेचन से स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि ये आठों ही कर्म आत्मा के ८ गुणों पर आवरण डालकर रोकने वाले हैं अतः ये अरि-रिपु या शत्रु के स्वरूप में जाने जाते हैं ।

(१) ज्ञान गुण आत्मा का जो अनंतज्ञान प्रकट होता है और उससे अनंत लोकालोक के सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं - ज्ञान का कार्य पहचान करवाने का है । ज्ञान आत्मा का खजाना है । ज्ञान से जाना जाता है । उस ज्ञान गुण को ढक देने - आवृत्त कर देने का कार्य ज्ञानावरणीय कर्म करता है, यह कर्म ज्ञान को दबा देता है । इसके परिणाम से आत्मा अपनी शक्ति होने पर भी पदार्थों का सच्चा स्वरूप जान-(समझ) नहीं सकती है । इस प्रकार कर्मने आत्मा के साथ शत्रुता का ही व्यवहार किया या नहीं? विपरीत वर्तन करने से कर्म अरि - रिपु के रूप में जाने - पहचाने जाते हैं - यह बात बिल्कुल सच ही और न्याय संगत कहलाती है।

(२) दर्शन गुण - यह आत्मा का दूसरा गुण है । इस से आत्मा जिन जिन विषयों को जान सकती है, उन उन विषयों को देखने का कार्य करती है । स्पष्ट

रूप से सब कुछ देख सकती है, परन्तु इसे भी कर्म आवृत कर लेते हैं। यह कार्य करनेवाला दर्शनावरणीय - कर्म आत्मा की देखने की शक्ति का हर्ता होने से शत्रु रिपु कहलाता है।

(३) यथाख्यात चारित्र्य गुण - आत्मा अपने ज्ञानादि स्वरूप में मस्त रहती है - लीन रहती है। कर्मों से यह भी सहन नहीं होता और वे आत्मा के तीसरे गुण-अनंत चारित्र्य पर आकर चिपक जाते हैं, जैसे कि आत्मा का गला घोंटकर उसके पास सर्वथा विपरीत व्यवहार ही करवाते है। जो मेरा नहीं है उसे मेरा मान और जो अपना है उसे भूल जा। पराए को अपना मान और उसी में प्रसन्न हो। पुद्गल पदार्थों को अपने मानकर उन पर प्रसन्न हो। मुग्ध हो। ऐसा कार्य करवाकर आत्मा को मोहित कर लेता है। अतः उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह भी आत्मा का भयंकर शत्रु है। मद्य-पान किए हुए व्यक्ति की तरह इस कर्म से प्रभावित व्यक्ति सब विपरीत व्यवहार ही करता है।

(४) अनंत शक्ति गुण - अन्तराय कर्म यह आत्मा की सभी शक्तियों को ही आवृत कर लेता है। आत्मा तो अनंत वीर्यवान् है, दान-लाभ-भोग-उपभोग-वीर्यादि सभी अनंत शक्तिशाली आत्मराम अपनी शक्तियों का उपयोग करके समस्त ब्रह्मांड को कंपायमान - चलायमान कर सकता इतनी शक्ति उसमें हैं, परन्तु ढेर सारे कर्म आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में चिपके पड़े हैं जिन्होंने आत्मा की सारी ही शक्तिओं को कुंठित कर रखा है। ऐसा और इतना विपरीत कार्य करके आत्म गुणों की शक्तिओं का गला घोंटने वाले कर्म को आत्मा का शत्रु न कहें, तो क्या उसे मित्र कहें ?

(५) अनामी - अरुपी गुण - आत्मा अनामी - अरुपी - निरंजन - निराकार है। नाम रहित, रूप-रंग विहीन, अशरीरी, किसी भी प्रकार के आकार से रहित है। ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त आत्मा को भी नाम कर्म रूप - रंग - शरीर-अंगोपांग - जाति आदि संसार में रहने योग्य सभी साधन - सामग्री देकर पक्का संसारी बना देता है, जिसके कारण अब लोग उसे आत्मा न कहकर हाथी, घोड़ा, बैल, बंदर, स्त्री, पुरुष, देवी - देवता, भूत-प्रेत, पिशाचादि प्रकार से रूप-रंग-जाति आदि से पहचानते हैं। यह सब नाम कर्म के कारण है। इसने भी आत्म-गुण को हनन कर रखा है।

(६) अगुरु - लघु गुण - आत्मा छोटी भी नहीं और बड़ी भी नहीं। यह हल्की भी नहीं और भारी भी नहीं। न यह उच्च है न यह निच है, परन्तु कर्म की

बलिहारी इतनी प्रबल है कि जन्म-जन्मांतर में जीव स्वयं ही अष्ट मदादि का सेवन करके अभिमानादि करके स्वोपार्जित गोत्र कर्म के कारण नीच गोत्र का शिकार बन जाता है । यह गोत्र कर्म हल्का कुल, हल्की-नीच जाति में जन्म दिलवाता है अथवा उच्च गोत्र कभी अच्छे उच्च कुल में जन्म दिलवाता है । इस प्रकार आत्मा के अगुरुलघु गुण का हनन करके आत्मा को उच्च-अधमकुल में डालने वाला कर्म आत्मा का शत्रु नहीं, तो क्या उसका मित्र होता है ?

(७) अव्याबाध - सुख गुण - अनन्त - अव्याबाध सुख के स्वभाववाली आत्मा को उसके स्वतंत्र - स्वाधिन - स्ववश सुख में भी निमग्न न रहने देकर उस गुण पर भी आक्रमण करने वाला वेदनीय कर्म आत्मा को दुःख के कटुफल चखाता है । जो आत्मा आनन्द में निवास करने वाली - सच्चिदानन्द स्वरूपी है, उसे यह भयंकर वेदनीय कर्म पल में सुख और पल में दुःख की अनुभूति करवाता है, नरक के नारकीय जीवों को सतत वेदना का अनुभव करवाता है, तिर्यच गति के पशु-पक्षियों के पीछे हाथ धोकर पड़ा है, मनुष्यों को भी धूप और छाया की भाँति सुख-दुःख में क्रीडा करवाता है, वेदना-पीडा-क्लेश आदि भयंकर दुःखों की अनुभूति करवाता है । अतः यह वेदनीय कर्म भी आत्मा का मित्र नहीं बल्कि रिपु ही हैं ।

(८) अक्षय स्थिति गुण - अन्तिम और आठवाँ आयुष्य कर्म भी आत्मा की स्वतंत्रता पर अपना अंकुश जमाता है । किसी से भी न बँधी हुई आत्मा आयुष्य कर्म के बंधनों में निश्चित वर्षों तक कारावास की भाँति एक-एक शरीर में सजा भुगतती हैं । लोहे की सलाखाओं के पीछे कारागृह में जिस प्रकार कोई अपराधी निश्चित वर्षों तक दंड भोगता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी गज - अश्व - ऊँट - वृषभ - चींटी - मकोड़े - मनुष्य - देव - नारक - आदि सभी जाती के शरीरों में रहकर उतने वर्षों तक आयुष्य काल पर्यन्त सजा भोगता है । जेल रूप एक शरीर में रहता है, तंग आ जाता है, फिर भी मुक्त नहीं हो सकता। स्वेच्छानुसार विहार करनेवाली स्वतंत्र आत्मा जो मोक्ष में अनन्तकाल तक स्वतंत्रतापूर्वक रह सकने की क्षमता रखती है, परन्तु इसे निरर्थक ही यह आयुष्य कर्म कुछ कुछ वर्ष सभी गतियों के सभी शरीरों में रख कर जन्म मरण के खेल खिला कर नचाता रहता है । ऐसे आयुष्य कर्म को मित्र नहीं बल्कि शत्रु ही मानना पड़ता है ।

‘अरि’ के रूप में कर्मों को पहचानों :-

अप्या कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।

अप्या मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठि ओ । उत्त् २०/३७ ॥

उत्तराध्ययन सूत्र की अंतिम देशना में चरम प्रभु फरमाते हैं कि अपनी आत्मा स्वयं ही स्व दुःख - सुख की कर्ता हैं, और यह स्वयं ही कर्मों का क्षय कर्ता भी है । शुभ कर्म का आचरण करनेवाली आत्मा स्वयं ही स्वयं की मित्र है और अशुभ पापाचरण करके अशुभ कर्मोपार्जन करती - आत्मा स्वयं ही अपनी शत्रु है । इस प्रकार एक बात तो निश्चित हुई कि अपने शत्रु - मित्र बाह्य जगत में अन्य कोई नहीं है, बल्कि हमारी आत्मा ही हमारी मित्र है और यही हमारी शत्रु भी है - अर्थात् आत्मा राग - द्वेषाधिनि स्थिति में सतत कुप्रवृत्तियों में आसक्त है। जब आत्मा शुभ निर्जरा की क्रिया में मग्न बनकर कर्म - पुद्गलों को झाड़ देती है - आत्मप्रदेशों से अलग करके बाहर फेंक देती है, तब ऐसा सुंदर कार्य करने वाली आत्मा स्वयं पर ही उपकार करने वाली मित्र बन जाती है । इससे बिल्कुल विपरीत रीति से व्यवहार करने वाली आत्मा जब हेय-त्याज्य पापाचरण की क्रिया करती हो और उसमें ढेर सारे पाप करके अशुभ कर्मण वर्णना के पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित कर आत्मा में खींचती जाती है, उन्हें आत्म प्रदेश के साथ एक रस करके कर्म पुंज में वृद्धि करती जाती है, उसमें स्वयं ही अपने आत्मगुणों को आच्छादित कर कर्माधिनि बन जाती है तब आत्मा स्वयं ही अपना अहित करने वाली शत्रु बन जाती हैं ।

प्रभु ने ये भाव मानने - स्वीकार करने की सलाह दी है । जरा सी असावधानी या भूल - चूक से भी बाह्य जगत के बाह्य लोगों को शत्रु-मित्र मानना नहीं । यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है - ऐसे विचार करने से निरर्थक हमारे राग-द्वेष में भारी अभिवृद्धि हो जाएगी और बड़े भीषण कर्मों का बंधन होगा, अतः अन्य को या पराये को शत्रु-मित्र मानने के बजाय अपनी ही आत्मा को अपने शत्रु - मित्र मानना ही हितकारी है । ऐसी ही दृष्टि बनानी होगी ।

घोर मिथ्यात्व - विपरीत ज्ञानवश जीव अनादि काल से ऐसा ही मानता आया है कि - अन्य ही मेरे मित्र और शत्रु है । यह मेरा बिगाड़ता है और यह मेरा सुधारता है, यह मेरा हित करता है और वह मेरा अहित करता है, ऐसे विचार करते करते बड़ा ही दीर्घकाल व्यतीत कर दिया और इसी विचार धारा में भयंकर कर्मों का उपार्जन करने वाले जीव ने आज तक अज्ञानतावश ऐसी ही विचार धारा

में रहे अब नवकार की साधना द्वारा भी अज्ञान - मिथ्यात्व भस्मीभूत हुआ है । और अध्यात्म विज्ञान प्रकट हुआ हो, आत्माज्ञान जागृत हुआ हो, सम्यग्ज्ञानावस्था की प्रादुर्भाव हुआ है । तो सर्व प्रथम विपरीत विचारणा को बदल कर हमें समझ लेना चाहिये कि कर्म ही आत्मा के शत्रु हैं, क्यों कि कर्म ही आत्मा को इस संसार में कठपुतली की तरह नचाते हैं, कर्म ही हमें सुखी - दुःखी करते हैं, कर्मों के संयोग से ही जीव उच्च-अधम गोत्र-जाति, कुलादि में जाता है, कर्म के कारण ही जीव को ८४ लक्ष जीवयोनियों में, चारों ही गतिओमें भ्रमण करना पड़ता है, कर्म के कारण ही ज्ञानी - अज्ञानी बनना पड़ता है। कर्म के कारण ही राजा-रंक, धनी-निर्धनादि की विषमता प्राप्त होती है, यह कर्म ही हमें सांसारिक बंधनों में जकड़ कर रखता है । कर्म ही आत्मा को हानि पहुँचाता है अतः कर्म ही हमारे भयंकर शत्रु है। शत्रु शब्द के ही पर्यायवाची शब्द अरि और रिपु हैं । इन अरिओं रिपुओं को भली प्रकार पहचानना अत्यन्त आवश्यक है । मेरे ही शत्रु को यदि मैं नहीं पहचानता हूँ तो इसमें मेरी कितनी बड़ी अज्ञानता कहलाएगी ? कर्म का क्या बिगड़ने वाला है ? कर्म तो वैसे भी जड़ पुद्गल परमाणु मात्र हैं - इनका क्या अहित होगा ? परमाणु स्वरूप में थे - वे आत्म प्रदेशों के साथ जुड़े, पिंडरूप में एक रस बने और आत्मा निर्जरा करके आत्मा से इन्हें पृथक करके बाहर निकाल फेंकेगी तो ये तो पुनः पुद्गल परमाणु स्वरूप में ही रहेंगे । अतः जो जड़ हैं, उनका क्या बिगड़ने वाला है ? परन्तु ज्ञानवान् कर्ता भोक्ता भाव में जो आत्मा है, उसी का सब कुछ बिगड़ता है । ज्ञान नादि गुण आत्मा के ही आच्छादित होते हैं और आत्मा ही अज्ञानी - मिथ्यात्वी कहलाती है । अनंतज्ञानी पर अज्ञानी अथवा मिथ्यात्वी का आरोप होता है । क्या यह छोटा सा - नगण्य आरोप है ? सम्यक्वशाली पर मिथ्यात्वी का आरोप हो, अनंत शक्तिशाली पर कायर का प्रभुत्व हो क्या यह साधारण बात है ? इस प्रकार आत्मा पर ये सभी आरोप करने वाला कौन है ? यह अन्य कोई नहीं बल्कि एक मात्र कर्म ही है। कर्म के सिवाय हमारा अहितकर्ता अन्य कोई भी नहीं है । यह वस्तु स्थिति भली प्रकार समझ लेनी चाहिए । अपने ही शत्रु भाव में कर्मों को पहचानना अनिवार्य है । आत्मा के सभी ज्ञानादि गुणों और स्वभावादि से सर्वथा विपरित व्यवहार करने वाले, सब प्रकार से आत्मा का अहित करने वाले कर्म को शत्रु नहीं तो और क्या कहा जाए? अतः इतना तत्त्वज्ञान नवकार के प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' में से अरि + हंत = अरिहंत शब्द में से अरि शब्द के अर्थ से ग्रहण करना है। हम अरिहंत की

भक्ति - नमस्कार आदि के अवलम्बन से अपनी आत्मा आदि को पहचान लें यही पर्याप्त है, यही उपयोगी है, क्यों कि बिना पहचाने इन कर्मों का हनन 'हंत' हम कैसे कर सकेंगे ?

कर्मनाश ही धर्म है - यही साध्य है :

कर्मों का नाश करना, और अरि का हनन करना ये दोनों एक ही बात हैं शब्द - रचना भिन्न अवश्य है, परन्तु अर्थ समान हैं । कर्म को ही अरि कहते हैं और हंत क्रिया का ही अर्थ है नाश करना । इस प्रकार नवकार के प्रथम पद 'नमो अरिहंताणं' में यह अद्भुत् तत्त्वज्ञान भरा हुआ है । समग्र जैन शासन की आराधना का हार्द यही है कि प्रत्येक जीव को अपने अरिओं (कर्मों) का हनन करना चाहिये । इन अरिओं के हनन की क्रिया का नाम ही धर्म है कर्मों का हनन करने के लिये ही धर्म है - धर्म का अस्तित्व है । धर्म एक नितान्त अनिवार्यता है । यदि - अरिओं का हंत (नाश) करने का लक्ष्य न हो तो धर्म की कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती । संयुक्त शब्दवाला 'अरिहंत' ही हमारा साध्य है - लक्ष्य है और अरिहंत बने हुए प्रभु हमारे आराध्य देव-अवलम्बन स्वरूप भगवान भी ये ही है । वे स्पष्ट कहते हैं कि 'कम्म कलंक- विप्पमुक्को परमण्या भण्णए देवो' - कर्मरूपी कलंक से मुक्त बनी हुई आत्मा ही परमात्मा भगवान कहलाती है । इन कर्मों को आत्मा पर कलंक के रूप में बताया गया है और यह वास्तविकता भी है

अरिहंत में से सिद्ध की ध्वनि :

'अरि' अर्थात् कर्म - आत्म शत्रु - इनका सर्वथा संपूर्णतः यदि हनन - नाश कर डाले तो वह कर्ता जीव सिद्ध स्वरूपी कहलाता है, क्यों कि सिद्धात्मा लेशमात्र भी कर्मयुक्त नहीं होते हैं । वे सर्वथा - संपूर्णतः कर्मरहित ही होते हैं - अर्थात् अरि का हंत - हनन ही हो जाने के पश्चात् शेष रहता ही क्या है ? कर्म का अंश तो शेष रहता ही नहीं, परन्तु कर्मों का नाशकर्ता एक मात्र शेष रहता है और वह है कर्म रहित आत्मा बस, उसे ही सिद्धात्मा कहता है । इस प्रकार अरिहंत शब्द में से सर्वसिद्ध की ध्वनि स्पष्ट निकलती है ।

दूसरी ओर अरिहंत अर्थात् सिद्ध नहीं परन्तु संसार की धरा पर विचरण करते हुए केवलज्ञानी सर्वज्ञ - वीतरागी भगवान । इसका अर्थ कैसे निकालेंगे? क्यों कि 'अरिहंत' शब्द से प्रथम यह अभिप्रेत है । सिद्ध के लिये तो 'नमो

सिद्धाणं' पद दूसरे क्रम पर प्रयुक्त हुआ ही है । अतः कहते हैं कि सर्वथा - संपूर्णतः - समग्र रूप से जिनके कर्मों का नाश हो गया हैं वे सिद्ध । सर्वथा नहीं - संपूर्णतः नहीं, परन्तु अर्धांश में जिनके कर्मों का नाश हुआ हो, तो उन्हें अरिहंत कहते हैं। इस विवक्षा से जिनके ४ घाति कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें अरिहंत कहते हैं और जिनके आठों ही कर्म नष्ट हो चुके हो, उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं ।

तीसरे अर्थ में अरिहंत शब्द से जीव की सिद्धि होती है । अरिहंत अरिओं का सम्पूर्णतः सर्वथा, सर्वांश में नाश करके कर्मरहित बननेवाले सिद्ध भगवंत - यह प्रथम अर्थ सिद्धों की सिद्धि करता है । दूसरे अर्थ में अर्धांश में अरिओं का हंत नाश करने वाले अरिहंत तीर्थंकर भगवन्तो की सिद्धि होती है, तीसरे अर्थ में भी अर्थ की प्रक्रिया नहीं बदलती है । अर्थ की प्रणाली यही रहती है । मात्र परिमाण बदलता है । अरि + हंत अर्थात् अरि आत्मरिपु - कर्मों का अल्पांश में हन्त-हनन नाश करनेवाला सामान्य जीव भी सिद्ध होता है, तथा आचार्य, उपाध्याय, साधुभी सिद्ध होते हैं, क्यों कि उन्होंने अल्पांश में ही कर्मों की निर्जरा की है, इसीलिये आचार्य, उपाध्याय और साधु बन सके हैं, जबकि आत्मा पर लगे हुए कर्म रूपी अरिओं का अल्पांश में भी 'हन्त' - हनन करने वाला कौन है : तो इसका उत्तर एक जीव ही है । 'हन्त' धातु है । धातु क्रियात्मक है । उसका कर्ता जीवात्मा स्वयं होता है, अतः अरिहंत शब्द जीवात्मा की पुष्टि करवा देता है । इस प्रकार आत्मा ही परमात्मा बनती है । अल्पांश में अरिओं का हनन करने वाला जीवात्मा, अर्धांश में हनन करने वाले अरिहंत परमात्मा और सर्वांश में हनन करने वाले सिद्धात्मा होते हैं और इन तीनों ही में आत्मा ही है वही कर्ता है । तीनों स्वरूपों में आत्मा की ही सिद्धि होती है । जीवात्मा - हम संसारी जीव हैं जो अल्पांश में कर्मों का हनन करते हैं, अर्धांश में निर्जरा करने वाले अरिहंत परमात्मा होते हैं और सर्वांश में निर्जरा करने वाले सिद्धात्मा होते हैं । इन तीनों ही प्रकार की आत्माओं की सिद्धि यह एक अरिहंत शब्द करता है ।

अरिहंत से साध्य - साधना की सिद्धि :-

'अरिहंत' अरि + हन्त = अरिओं का हनन - नाश करना । इस पद में हमारी समस्त साधना का चरम साध्य ही यह है कि मैं अपनी आत्मा पर लगे हुए आत्म विरोधी विपरीत गुणवाले जो कर्म हैं, उनकी सम्पूर्णतः निर्जरा करके - हनन - नाश करके सिद्धात्मा बनूँ - यही हमारा साध्य है - लक्ष्य है - Ultimate Goal

है । लक्ष्य बिन्दु कभी भी बदलना नहीं चाहिये, क्यों कि साध्य की स्थिरता पर ही साधना की स्थिरता रहेगी । यहाँ जिस प्रकार - अरिहंत शब्द से सर्वांशिक और अर्धांशिक दोनों प्रकार के अर्थ निकाले गए हैं, वे दोनों हमारे साध्य स्वरूप में है - अर्थात् इन अर्थों के आधार पर हमें दोनों प्रकार के साध्य रखने का निर्देश है। एक तो अरिओं का सर्वथा संपूर्णतः सर्वांशिक हनन - नाश करके जो आत्मा सिद्धात्मा बनती है उनके जैसा सिद्ध स्वरूपी बनने का लक्ष्य - एक प्रकार का साध्य है । दूसरे अर्थ में अरिओं का अर्धांश में नाश या क्षय हो और पूर्वोपार्जित तीर्थकर नामकर्म के आधार पर जिन्होंने तीर्थकरत्व प्राप्त किया हैं, ऐसे वारह गुणयुक्त अरिहंत भगवान बनने का प्रयत्न करने का नाम है अरिहंत का साध्य । यह लक्ष्य भी कोई जैसा-तैसा सामान्यार्थ नहीं है ।

अरिहंत = अरिहंत में अरिओं - आत्म शत्रु रूपी कर्मों का हन्त - नाश करने का आदेश है । भगवान फरमाते हैं कि मैंने भी यही कार्य किया है, अतः तुम भी ऐसा ही करो । तुम भी अपनी आत्मा पर लगे हुए आत्म अरि - कर्मशत्रुओं का क्षय करो - उनका नाश करो और आत्मा को उनके चंगुल में से छुड़वाकर मुक्त करो । परम अरिहंत परमात्मा जीवात्माओं को ऐसी आज्ञा प्रदान करते हैं । “आणाए धम्मो” आज्ञा (पालन) ही धर्म हैं । इस नियम के अनुसार अरिओं का हन्त-हनन-नाश करने की आज्ञा पालन ही धर्म सिद्ध होता है । प्रत्येक जीवात्मा का धर्म है कि वह अपनी आत्मा पर लगे हुए कर्म रूपी अरिओं-शत्रुओं का नाश करे - यही धर्म हैं । प्रभु ने कर्मक्षय कारक धर्म बताया है, अतः इन अरिओं-रिपुओं का नाश करने के लिये जो कुछ भी करना पड़ता है । वह सब धर्म ही है, क्यों कि अधर्म से तो कर्म - नाश नहीं, बल्कि कर्मबंध होता है, जब कि धर्माचरण कर्मक्षय करवाता है । अतः अरिहंत शब्द स्पष्टरूप से धर्मस्वरूप है, आज्ञा देता है और अरिओं के हनन की प्रक्रिया सिखाता है । जिस धर्म में अरिओं के हनन की प्रक्रिया नहीं, वह धर्म नहीं बल्कि अधर्म कहलाता है । अधर्म का आचरण पुनः नए कर्म शत्रु खड़े करेगा अतः धर्म ही आचरणीय है । प्रभु की आज्ञा पालन एक धर्म है । जिनाज्ञा - पालन में धर्म की स्थिरता है । इसी लिए स्पष्ट ही फरमाते हैं कि “जिनाज्ञा परमो धर्मः” - अर्थात् जिन-जिनेश्वर तीर्थकर परमात्मा की सर्वोच्च आज्ञा ही यह है कि निर्जरा में ही रहो, अरिओं का हनन करते रहो । और ऐसा करते रहोगे तो एक दिन अरिहंत स्वरूपी बन जाओगे ।

अरिहंत की साधना में आलम्बन भी अरिहंत परमात्मा का ही रखना पड़ता

हैं, क्यों कि जिसका आचरण अरिहंत भगवंतो ने उनके जीवन में किया है, जिस मार्ग पर चलकर वे महापुरुष अरिहंत बने हैं वही मार्ग हमारे लिये आचरणीय है - उपादेय है। यही हमारी साधना का साधन है। उनका सहारा हमें इसलिये लेना है कि जो उन्होंने किया है, वही हमें भी करना है, हमें भी अरिओं का हनन करके अरिहन्त और तत्पश्चात् सिद्ध बनना है।

अरिओं का हनन करना ही शाश्वति प्रक्रिया है। भगवान का धर्म शाश्वत क्यों है ? क्यों कि परमात्मा बनने वाले प्रभुने आज तक एक मात्र अरिओं का हनन करने की ही प्रक्रिया की है, जीवन में एकमात्र इसी का आचरण किया है, तब कहीं अरिओं - कर्मरिपुओं का नाश हुआ है, तब आत्मा परमात्मा बनी है। बस, इसी प्रक्रिया का लक्ष्य हमें भी रखना है - यही शाश्वत धर्म है - साध्य है और ऐसा करके ये परमात्मा बन सके हैं, अतः हमें भी उन्हीं का अवलंबन ग्रहण करना है उन्हीं का ध्यान धरना है। उन्हीं की भक्ति और उपासना करनी है।

बाह्य अरिओं का नाश नहीं -

जिन्होंने आंतरिक कक्षा के आत्मा के अरिओं का नाश नहीं किया उनकी आराधना उपासना हमें नहीं करनी है। जिनके अरिगण उनकी आत्मा पर ढेर सारे ज्यों के त्यों छाए हुए हैं, उनकी आराधना करने का क्या प्रयोजन ? जिन्होंने आराधना की विपरीतता साधी हो अर्थात् अन्तर्कक्षा के आत्मिक कर्मरूपी अरिओं का नाश न करके मात्र बाह्य शत्रुओं का ही नाश किया है, वे अरिहंत कहलाने के अधिकारी ही नहीं हैं। उनकी आत्मा पर तो अरिगण - कर्म रिपुगण यथावत् रहे हुए हैं; उनके नाश करने की बात तो दूर रही, बल्कि ऊपर से उनमें वृद्धि ही हुई है, क्यों कि बाह्य शत्रुओं का नाश करने के लिये उन्होंने तीर, भाले, तलवार त्रिशूल आदि शस्त्रों का उपयोग किया है। विपक्षी को शत्रु मानकर उनकी हत्या की है, उनका वध किया है। ऐसी हिंसा करके तो उन्होंने अनेक पापकर्म किए हैं और इसके परिणाम स्वरूप उन्होंने अनेक प्रकार से कर्मबन्धन किया है। अतः बाह्य शत्रुओं का नाश करने के प्रयास में आत्मा पर आंतर - कर्म - शत्रुओं का परिमाण बहुत अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार अरिहंत की प्रक्रिया नहीं हुई, बल्कि यह तो अरिबंध की प्रक्रिया हो गई। अरिबंध में अरि-कर्म-शत्रु और उसे बाँधने की प्रक्रिया अरिबंध कहलाती है, जब कि नवकार का आदेश तो अरिहंत का है न कि अरिबंध का। अरिबंध अधर्म है - पाप मार्ग है।

मरने वाले को अरिबंध हुआ या न हुआ इसका पता नहीं परन्तु मारने वाले को तो अरिबंध-कर्म बंध शत प्रतिशत होता ही है, क्योंकि मारने वाला तो हिंसक बुद्धि-अशुभ विचारधारा करके ही मारता है, उसके मन में कषाय अशुभ लेश्या, क्रूरता आदि अनेक दुर्भावनाएं जागृत होती हैं। द्वेष बुद्धि का निर्माण होता है, तब वह विपक्षी को मारता है, अतः मारने वाला तो अनेककर्म बाँधता है। दूसरी ओर संभव है कि मरने वाली आत्मा-जीव समताभाव में, क्षमाशील बनकर, शांत चित्त से, परिषह-उपसर्ग सहन करती करती मृत्यु काल निकट है ऐसा जानकर अपनी साधना करके भी मरता हो - तब तो वह तो अपने अरिओं - कर्म शत्रुओं का अमुक किसी निश्चित अंश में हनन करके मरता होगा। वह तो अपनी कर्म निर्जरा करता करता भी जाता होगा, जब कि उसे मारने वाला तो कर्म बाँधता ही है। इसीलिये बाह्य शत्रुओं को मारने वाले अरिहंत नहीं कहलाए, न उन्हें भगवान माना गया है। अतः अरिहंत शब्द एक मात्र आभ्यंतर-आंतरिक शत्रुओं का ही हनन करने का सूचन करता है। यही उसका सच्चा अर्थ है, और आंतरिक शत्रु एक मात्र कर्म के सिवाय अन्य कोई नहीं।

अरिहंत शब्द से अहिंसा धर्म की सिद्धि

अपने बाह्य शत्रुओं को शस्त्रादि से मारना - हिंसा है। हिंसा पाप है। हिंसाचार - पापाचार से पुनः नवीन कर्मबंध होगा। अतः जैन धर्म अथवा जिनेश्वर भगवंतो ने कहीं भी अन्य बाह्य शत्रुओं को मारने की आज्ञा दी ही नहीं है, ऐसी आज्ञा देने की होती भी नहीं। ऐसी आज्ञा वे क्यों दें? उन्होंने स्वयं जो साधना की है वह एक मात्र आत्म - शत्रु जो कि कर्म है, उनके ही हनन करने की प्रक्रिया की है। उन्होंने कभी भी बाह्य शत्रुओं का हनन नहीं किया। इतना ही नहीं बल्कि जो जो उनकी हत्या करने के लिये आए उन्हें भी समभावपूर्वक शांत चित्त से ध्यानावस्था में स्थिर रहकर जीते हैं - उन्हें मारे नहीं, क्यों कि अन्य की तीर - तलवारादिशस्त्रों से हत्या करने में द्वेष बुद्धि आवश्यक है। द्वेष वृत्ति ही अन्य को शत्रु के रूप में दिखाती है और फिर क्रोधादि कषायभाव भी होने चाहिये। उसके बाद ही शस्त्रादि से अन्य का वध हो सकता है। ऐसे वध करने से महान् तो नहीं बना जाता बल्कि अनेक कर्मों के भार से आत्मा बोझिल हो जाती है। ये कर्म ही आत्मा के शत्रु हैं। इस प्रकार की बाह्य हिंसा की प्रवृत्ति से वैर-वैमनस्य में अभिवृद्धि होती है और फिर यह परम्परा यदि आगे बढ़ती ही जाती है तो

भवसागर में वृद्धि होती है और अनेक भव करने पड़ते हैं ।

इसीलिए अरिहंतो ने आत्म शत्रुओं के हनन की प्रक्रिया ही अपने जीवन में साधी और इसी का उपदेशजगत को दिया । आत्मा के साथ जुड़े हुए और संबद्ध आभ्यंतर कक्षा के अरिगण - (रिपुगण) काम, क्रोध, मान, माया, लोभ ईर्ष्या, राग-द्वेष, वैर - वैमनस्य आदि हैं, जिनसे आत्मा के गुण दब चुके हैं, और हमें इन्हीं का हनन करना है । इनके हनन में हिंसा नहीं - बल्कि अहिंसा ही है । लोगों ने जिन्हें बाह्य शत्रु माना है उनकी हत्या करने में तो हिंसा है - पाप है, जबकि अन्तरात्मा में जो कर्म शत्रु पड़े हुए हैं, अथवा जिन राग-द्वेषने अन्तरात्मा को दबोच रखा है, उनके हनन-निवारण में शस्त्रादि की कहीं भी सहायता नहीं लेनी पड़ती है ।

आत्म-बाह्य अर्थात्, बाहरी शत्रुओं का हनन करने के लिये, हिंसादि की बुद्धिपूर्वक शस्त्रादि की सहायता लेनी पड़ती है, जब कि आभ्यंतर कक्षा के आत्म रिपु-राग द्वेषादि का हनन करने में क्षमा - समतादि की बुद्धि से शास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है । बाह्यशत्रु की हत्या के लिये शस्त्र और आत्म शत्रु की हत्या के लिये हैं शास्त्र ।

अरिहंत शब्द आत्मअरिओं के हनन की बात करता है । आत्मा के अरिओं - रिपुओं का सामूहिक नाम है - राग - द्वेष । पाप कर्मों के तो अनेक नाम हैं, परन्तु सभी पाप-कर्मों का संक्षिप्तिकरण करके 'राग द्वेष' नामक दो शब्दों में ही सभी का समावेश कर लिया गया है । ऐसे काम-क्रोधादि राग-द्वेष रूपी अरिओं का हनन करने के लिये तीर-तलवार आदि शस्त्रों की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि इनके हनन के लिये तो शास्त्रों की आवश्यकता होती है । शास्त्रों में क्या है ? ज्ञान है, अतः शास्त्र वाचन, शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्र श्रवण-मनन-निदिध्यासन आदि करके उनमें से क्षमा, समता, नम्रता, सरलता, संतोष आदि भावों की शक्ति आत्मा को अंकुरित कर, उसका पोषण और विकास करना पड़ता है तथा उस शक्ति के माध्यम से राग-द्वेषादि आत्मा के शत्रुओं का हनन करना पड़ता है, उन पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है । इस कार्य में हिंसा कहाँ हुई ? इस में तो पूर्ण अहिंसा का ही पालन है । अतः अहिंसा पालन ही धर्म है । दशद्वैकालिक आगम स्पष्ट रूप से बनाते हैं कि

उवसमेण हणे कोहं, माणं महवया जिणे ।

मायं चाज्जव भावेण, लोभं संतोषओ जिणे ।

उपशम - क्षमा के भाव से क्रोध का हनन करो, मृदुता - नम्रता के भाव से मान को जीतो, आर्जवता के भाव से माया को जीतो और संतोषवृद्धि से लोभ कषाय पर विजयी बनो - यह सीधा और स्पष्ट आदेश हैं ।

अब जरा विचार करके देखो कि इस में कहीं भी हिंसा की गंध है क्या ? विल्कुल नहीं.... यह तो संपूर्णतः पूर्ण अहिंसा की साधना है । इसीलिए जैन दर्शन अहिंसा प्रधान धर्म है । जैन धर्म के अरिहंत भगवंत भी पूर्ण अहिंसा स्वरूप भगवान हैं । उनके पास किसी भी प्रकार के अस्त्र शस्त्र है ही नहीं । उन्होंने इन्हें अपने पास रखा ही नहीं ।

अन्य जैनेतर देवताओं के पास शस्त्र-अस्त्र की भरमार दिखाई देती है । किसी के पास धनुष-वाण हैं, तो कोई त्रिशूलधारी हैं, किसी के पास सुदर्शन चक्र है, तो किसी के पास गदा है । किसी की कटि असि से सज्ज है । इस प्रकार सभी जैनेतर देवताओं को हिंसक शस्त्र-साधनों से सज्ज रखा है और उन्हें उस स्वरूप में भगवान माना है । इतना ही नहीं जो शस्त्रादि रखे हैं उनका उपयोग भी बताया है । अर्थात् उन शस्त्रों का उपयोग क्या होगा ? एक मात्र दूसरों की हत्या के लिये ही होना है न । अन्यों को मारने में भी कितनी बड़ी संख्या में मारने का कार्य किया है । इतनी बड़ी संख्या में मारने के लिये भयंकर युद्ध करने पड़े है, अर्थात् भगवान बनकर उन्हें युद्ध करने और करवाने पड़े है, अथवा तो ऐसा भी कहा जाता है कि इतने बड़े बड़े भयंकर युद्ध लड़कर और जीतकर वे भगवान बन पाए हैं।

क्या युद्ध छेड़कर और जीतकर भगवान बनना शक्य है ? क्या इस प्रकार विजयी सम्राट बनना संभव है ? यदि युद्ध जीतकर ही भगवान बनना शक्य हो, तब तो मुगल बादशाहों ने भी अनेक युद्धों में विजय पायी है, तो क्या कल से उन सभी को भगवान कहने लगे ? नहीं... नहीं.. तब तो अनर्थ हो जाएगा । अतः किसी भी प्रकार की हिंसा युद्ध मारने आदि की प्रवृत्ति करने, करवाने से कभी भी भगवान नहीं बना जाता । यदि हिंसा - युद्ध के मार्ग पर चलने से भगवान बनना शक्य होगा तो फिर क्रूर हिंसक और पापी किस मार्ग से हो सकेंगे ? इसके लिये तो फिर कोई भी मार्ग शेष ही नहीं रहेगा ।

सामान्य हिंसा भी घोर पाप-कर्म बंध करवाती है । जीवात्मा किसी भी प्रकार की सामान्य छोटी सी भी हिंसा करके जीवों का वध करे - उन्हें मारे तो भी पाप लगता है कर्मबंध होता है, तो फिर जिन युद्धों में अक्षौहिणी अर्थात् करोड़ों की सेना मृत्यु का कौर बन गई, उस हिंसा का पाप कितना बड़ा होगा ? कितना

भीषण महापाप होगा ? इसकी तो कल्पना से भी सिहरन पैदा हो जाती है तो फिर यह सब पाप किसके सिर गया ? इसका उत्तरदायी कौन ? ऐसे भयंकर और बड़े युद्ध करवाने वाला या करने वाला ? दोनों प्रकार से गिनो तो ऐसे युद्धों के विजेताओं को जो लोग भगवान कहना चाहते हैं वे उन्हें ही मुबारक हैं जो पाप-हिंसा के मार्ग पर भगवान बनने का कहते हैं । तो फिर शैतान किस मार्ग पर चलने से बना जाता है ? इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देंगे ?

इतना ही नहीं, बल्कि और भी आगे बढ़ें तो पता चलेगा कि युद्ध तो कुछ नहीं, बल्कि अखिल धरा (पृथ्वी) को २१-२१ बार निःक्षत्रीय बनाने वाले कितने ही करोड़ों अरबों लोगों के प्राण हर्ता भी भगवान कहलाएँ और दूसरी ओर इस सृष्टि का सर्वथा प्रलय महा प्रलय करने में कितना बड़ा भयंकर नर संहार कहलाए? सम्पूर्ण सृष्टि ही समाप्त कर दी जाए, एक चिड़ीया भी जीवित न रह सके - ऐसा भयंकर नर संहार किया जाए और वह भी भगवान - ईश्वर ही करे। कितने जीवों को मारे, असंख्य नहीं - अनंत जीवों का संहार कर डाले । समस्त जीव - सृष्टि का संहार करके समाप्त कर डालने में हिंसा लगे या अहिंसा ?

नहीं - नहीं - जरा भी हिंसा नही, तो फिर वैज्ञानिक विनाशक शक्ति के बम बना रहे हैं, जापान के प्रसिद्ध हिरोशीमा और नागाशाकी शहर इन विनाशकारी बमों के प्रमाण रूप हैं, भयंकर नर-संहार के आँकड़े आज भी बोलते है । यह तो ४०-४५ वर्ष पुरानी बात है । वर्तमान में तो वैज्ञानिकों ने कितने जलद भयंकर भारी अणुबमों का निर्माण किया है ? मात्र ३० से ४० मिनट में ही आज की सम्पूर्ण दुनिया को समाप्त कर दें - इतने वे समर्थ हैं ।

भले ही मान ले.. परन्तु इस भयंकर संहार से उपार्जित हिंसा का पाप किसके सिर चढेगा ? क्या इस पाप की कल्पना हो सकती है ? और फिर भी ऐसा पाप करके लाखों - करोड़ों का नर संहार करके इतना प्रलय किया है - ऐसा कहकर ईश्वर की उपाधि से विभूषित होने की स्पर्धा तो नहीं करते न ? कितना यश कमायेंगे । परन्तु क्या इस नर संहार को सृष्टि का आंशिक प्रलय मानकर भी ईश्वर बनने की भावना पैदा की जाएगी ? ऐसे बड़े बड़े नर संहारों से तो इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं । हिटलर ने कितनी बड़ी संख्या में मनुष्यों को क्रूर काल का कौर बनाया था । चर्चिल और मुसोलिनी को भी कौन भूल पाया है ? लेनिन ने क्रांति लाने के नाम पर कितनों को मौत के घाट उतार दिया था ? रक्तमयी क्रांति में रक्त की मानो नदीयाँ ही बही हैं । ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई थी पर उसका

जिम्मेदार कौन? गेस चेंबर में हजारों को एक साथ ढ़ूसकर समाप्त करनेवाले को क्या ईश्वर की संज्ञा दी जाए या अहिंसा के पुजारी को ? विधुत् तार के झटके से हजारों को जिवित जला कर यमसदन पहुँचाने वालों को किस नाम से संबोधित किया जाए? निकट भूतकाल के इतिहास में ऐसी तो कितनी ही भयंकर घटनाएँ घटी हैं । इतिहास के ये श्याम-कालिख पुते पृष्ठ किस बात की सूचना देते हैं ?

इस पर एक बात तो निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि इन सभी ने बाह्य व्यक्ति को शत्रु मानकर कार्यवाही की है तब से ऐसी परिस्थिति बनी है । यदि भगवान महावीर के उपदेश को मानकर - अनुसरण कर चले होते और उनके आधार पर आत्म निरीक्षण Self-Introspection करके देखा होता तो उनकी दृष्टि में आंतरिक शत्रु ही नजर आते । क्रोध, अभिमान, माया, छल, कपट, लोभ, राग-द्वेष, वैर-वैमनस्य, ईर्ष्या, काम संज्ञा विषय-वासनादि सैंकड़ों पाप-शत्रु हमारे अन्दर डेरा डालकर जमे पड़े हैं जो हमारी आत्मा को मलीन करते हैं ये कर्म हमारे आन्ता-शत्रु हैं हमें इनका नाश - हनन करना है, और हमारे हनन में प्रयत्नशील हैं । इनके पाँव उखाड़ने के लिये बल-प्रयोग की आवश्यकता है । बाह्य शत्रुओं को मारना तो अपेक्षाकृत बहुत सरल है, जब कि आंतरिक - अभ्यंतर शत्रुओं को मारना बड़ा ही कठिन कार्य है । अंदर के अनेक शत्रुओं को जीतने की बातें तो दूर रही, परन्तु एक-दो विषय-कषायों को, काम - क्रोध जैसे एक दो को भी जीतना है । तो भी हमें दिन में तारे दिखाई देने लगते हैं तो फिर सोचो कि महावीर ने इन सब पर विजय कैसे प्राप्त की होगी ?

महावीर की महावीरता :

वीर और महावीर में इतना अंतर है कि बाह्य शत्रुओं का विजेता वीर-बहादुर कहलाता भी होगा, परन्तु महावीर की सच्ची महावीरता इसी में सार्थक है कि उन्होंने काम क्रोधादि सभी आत्मशत्रुओं को संपूर्ण रूप से जीत लिया था । अंश मात्र भी उन्होंने उन्हें अपने अंदर रहने नहीं दिया । यह है उनकी महावीरता । - हेमचंद्रचार्य तो वीतराग स्तोत्र में स्पष्ट ही कहते हैं :

न केवलं राग मुक्तं वीतराग मनस्तव ।

वपुस्थिते रक्तमपि क्षीरधारा सहोदरम् ॥

हे भगवान् ! मात्र आपके मन में से ही राग गया है ऐसा भी नहीं परन्तु राग सर्वथा नष्ट हो गया और सारे ही शरीर में से सभी राग के परमाणु भी नष्ट

हो गए हैं, क्योंकि सम्पूर्ण देहमें रहा हुआ लाल रक्त भी श्वेत दुग्ध जैसा बन चुका है । व्यक्ति को जब क्रोध चढ़ता है, तब उसकी आँखें लाल हो जाती हैं, जब कि भगवान के शरीर के रक्तमें से लालिमा ही चली गई और उनका रक्त दूध जैसा श्वेत - शुद्ध हो गया अर्थात् महावीर सर्वथा राग-द्वेष रहित बन गए हैं । उन्होंने एक - एक आंतर शत्रुओं का हनन किया तो वह सर्वथा संपूर्ण रूप से किया है । ऐसी देह-स्थिति कर डालने के पश्चात् भले ही चंड कौशिक जैसा विषैला सर्व डंक मारे तो भी क्या ? साँप काटे और प्रभु के चरण में से लाल - लाल रक्त के वजाय सफेद दूध जैसा खून निकले तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? आश्चर्यचकित होने की जरा भी आवश्यकता ही नहीं है । ऊपर से सब कुछ सुसंगत - न्याय संगत - सच्चा लगता है, अतः इसमें शंका करने का अब कोई प्रश्न ही नहीं रहता ।

दूसरों को मारकर महान् नहीं बना जाता :-

क्या भगवान बनने के लिये यह आवश्यक है कि किसी की हत्या की जाए - किसी को मारा जाए ? क्या मारकर ही महान् बनना संभव है ? क्या रावण को मारने से ही राम की भगवता उत्पन्न हुई ? क्या कंस का वध करने पर ही कृष्ण भगवान कहलाए ? क्या तृतीय नेत्र खोलकर नटराज के स्वरूप में सृष्टि का प्रलय करे और सभी जीव समाप्त हो जाएँ, तभी त्रिनेत्र शंकर भगवान की सत्यता सिद्ध होगी ? ऐसा क्यों ? यदि इस प्रकार दूसरों की हत्या करके भगवान बनना शक्य हो, तब तो नित्य सैकड़ों भगवान बनते ही जाएँ, क्यों कि खून करना - हत्या करना तो आजकल आम बात हो चुकी है ।

जरा सोचो ! कि मारना अच्छा है या समता में मरना अच्छा है ? मारने से महान् बना जाता है या समाधि में मरने से महान् बना जाता है ? मारने वाला - हत्यारा महान् कहलाता है या मरने वाला महान् कहलाता है ? इन सभी पेचीदा प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट ही हैं कि हिंसा करने जाओगे तो वृत्तियाँ हिंसक बनेंगी, नियत बिगड़ेगी, कषाय जागृत होंगे, शस्त्र उठाकर उपयोग करना पड़ेगा, क्रूरता पैदा होगी । इन सभी में कषाय क्रूरता, शस्त्रादि मारनेवाले को महान् कैसे बना सकेंगे ? संभव ही नहीं है । कदाचित् यहाँ मरने वाला व्यक्ति स्वयं विचार करे कि मैं तो वैसे भी मर ही रहा हूँ, तो यदी मैं समता धारण करलुं, समाधि भाव में स्थिर हो जाऊँ मेरा तो कल्याण हो जाय । मारने वाले को मारने का पाप लगे परन्तु वह मरने वाला तो अपनी मति और गति दोनों ही सुधार कर आत्म-

कल्याण साध सकता हैं ।

इतिहास के पृष्ठों पर सैकड़ों उदाहरणों का वर्णन हैं ।

(१) गजसुकुमाल के सिर पर खेर के अँगारे भरे गए थे । उनका धसुर ही उन्हें मारने आया था, पर भला किसका हुआ ? मरने वाला तिरा या मारने वाला ?

(२) मस्तक पर चमड़े की पट्टी कसकर बाँधने पर भी मेतारज मुनि पक्षियों का नाम नहीं बताते हैं । प्रचण्ड धूप में वे कायोत्सर्ग ध्यान में स्थिर ही रहते हैं । ध्यान की साधना शुरु हो गई । महान् कौन बना ? मारने वाला सोनी या मरने वाले मुनि ?

(३) पापी पालक एक के बाद एक इस प्रकार मुनियों को कोल्हू में डालकर पीसता ही जा रहा है । तिल में से जैसे तेल निकलता है, उसी प्रकार मुनिओं के शरीर में से खून धारा बहने लगी । एक - एक करके ४९९ मुनि कोल्हू में पिसे गए । गुरु महाराज स्कंिलाचार्य सभी को उत्तम अध्यवसाय पर आगे बढ़ते गए, ४९९ को तो केवलज्ञान हो गया और सभी मोक्षमें सिधारे । महान् कौन बना ? मारने वाला पापी पालक या मरने वाले ? मारने वाले पापी पालक का क्या हुआ होगा ? मरने वाले मुनियों का जो हुआ वह तो स्पष्ट ही है ।

(४) ग्वाला महावीर को मारने आया, उसने महावीर के कानों में बड़ी कीले ठोकी, क्यों कि उसकी नियत ही बुरी थी । कीलें ठोककर वह भाग गया । महावीर तो अपनी ध्यान-साधना में दृढतापूर्वक स्थिर ही रहे । कौन तिरा ? ग्वाला या महावीर ?

(५) मैं भगवान हूँ - मैं जिन हूँ - इस प्रकार स्वयं को भगवान मानता हुआ गोशालक अभिमान में अक्कड़ बन कर घूमता था । अन्त में क्रुद्ध होकर उसने महावीर को मारने के लिये उन पर तेजोलेश्या छोड़ी । वह उन्हें जलाकर भस्मीभूत कर डालना चाहता था, परन्तु तेजोलेश्या महावीर को प्रदक्षिणा लगाकर तुरन्त ही जहाँ से आई थी वही सी गोशालक के शरीर में प्रविष्ट हो गई और वह झुलसने लगा, आलोटने लगा... इस स्पष्ट चित्र में क्या लगता है ? किसका उद्धार हुआ ? कौन तिरा ? मारने वाला महान् बना या मरने वाला ?

इस सिद्धान्त पर चलने वाले तीर्थंकर भगवंत कभी भी किसी को भी मारने नहीं जाते । न वे शस्त्रादि ही रखते हैं । अतः शस्त्रादि का उपयोग करने का तो उनके लिये प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिये आदिनाथ से लगाकर महावीर स्वामी

तक सभी की जो मूर्तियाँ बनी है, वे सभी वीतराग भाव में ही बनी हैं । किसी के भी पास द्वेष के प्रतीक रूप शस्त्र नहीं हैं और किसी के भी पास या साथ राग के प्रतीक रूप में स्त्री-पत्नी नहीं है । उनके पास राग-द्वेष - दोनों के साधन ही नहीं हैं और इसीलिये वे महान् वीतरागी कहलाए हैं । स्तुति में ठीक ही - सत्य ही कहा है कि -

प्रशमरस निमग्नं, दृष्टि युगं प्रसन्नम् ।

वदनकमलमंक कामिनि संग शून्यम् ॥

करयुगमपियत्ते शस्त्र संबंध बन्धा ।

तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

अर्थात् हे भगवान् ! प्रशांत उपशम रस आपके दोनों ही नेत्रों में प्रवाहित है, प्रसन्न लगती हुई आपकी मुखाकृति के दोनों ही चक्षु प्रशांत रस में निमग्न - मस्त लगते हैं । आपकी गोद में कोई कामिनी भी नहीं है । कामिनी - स्त्री के संसर्ग - स्पर्श से भी आप दूर हैं तथा आपके दोनों हाथों में कोई अस्त्र - शस्त्र भी नहीं है । ऐसे हे भगवान् ! इस जगत में एक मात्र आप ही वीतराग भगवान् हैं। इस श्लोक से वीतरागी भगवान् की स्तुति की है, परन्तु साथ ही स्पष्ट कारण बताते हुए स्तुति की है कि प्रभुराग और राग के साधनों से भी दूर हैं, तथा दूसरी और द्वेष तथा द्वेष के साधन-शस्त्रादि से भी अलिप्त सर्वथा दूर हैं । जिन में से राग-द्वेष सर्वथा चले गए हैं और साथ ही राग - द्वेष से सर्वथा दूर रहते हैं । राग-द्वेष के निमित्त साधनों से भी अलिप्त रहते हैं, अतः उनकी वीतरागता कैसी ! कितनी उत्कृष्ट कक्षा की है । ऐसी उच्च कोटि की वीतरागता होने पर किसी को भी मारने का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? स्वयं किसिको शत्रु मानते ही नहीं फिर मारने का विचार तक भी उनमें क्यों पैदा हो ? अतः इस सिद्धान्त के आधार पर हमें भी यही विचार करना है कि शस्त्र उठाकर अन्य की हत्या करने के बजाय शास्त्र हाथ में लेकर स्वयं मरना सीखें । शस्त्र दूसरों के प्राण-हरण करवाएँगे, जब कि शास्त्र हमें स्वयं को समाधि में रहकर मरना सिखाएँगे । मृत्यु भी सुधारने जैसी है । मृत्यु सुधरी तो सब सुधरा । दूसरों को मारने से हमारी मृत्यु नहीं सुधरेगी, अतः मारने के बजाय मरने की तैयारी करनी है । कैसे मरें ? क्या कुत्ते की मौत मरना है ? नहीं, नहीं ऐसा उत्तम मनुष्य जन्म प्राप्तकर अब तो समाधि मरण ही उत्तम मरण हैं । मरना तो पशु - पक्षी के जन्मों में भी जानते ही थे, आता ही था, परन्तु अब जो सीखना है वह समाधि में रहकर पंडित मरण सीखना है ।

उत्तराध्ययन सूत्र जैसे आगम हमें पंडित मरण की कला सिखाता हैं, अतः मारने के लिये शस्त्रों को अपनाने की अपेक्षा तो मृत्यु का वारण करने के लिये शास्त्रों को अपनाना लक्ष कौटि बढ़कर है। शस्त्र और शास्त्र दोनों ही शब्दों में एक मात्रा का ही अन्तर हैं, परन्तु विचार करें तो अर्थ की गरिमा में लाख गुना अन्तर ज्ञात होगा। अतः मारने वाले महान् सिद्ध नहीं होते - यह वास्तविकता हैं।

कैसे अरिहंतो को नमस्कार :

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि नवकार महामंत्र में "नमो अरिहंताणं" पद से कैसे अरिहंतो को नमस्कार किया हैं ? न्याय युक्ति की स्पष्ट बात यही है कि जो अरिहंत हैं वे कभी भी किसी को मारें ही नहीं और जो अन्य को मारे वे कभी भी अरिहंत कहलाएँ ही नहीं। जैसे कि भूल करे वह भगवान नहीं और भगवान कभी भी भूल करे ही नहीं। दूसरे के प्राण लेना भी भयंकर भूल है। अतः ऐसी बड़ी भयंकर भूल भगवान कभी भी करे ही नहीं। इसीलिये जैन धर्म और दर्शन में तीर्थंकर अरिहंत भगवान को इन भूलों से अलिप्त-सर्वथा दूर ही रखा है। इसीलिये चौबीसों जैन तीर्थंकर भगवान के चरित्रों का अवलोकन करोगे तो स्पष्टतया ज्ञात होगा कि वे किसी को भी मारकर भगवान बनने का दावा करते ही नहीं है - अहिंसा के प्ररूपक के जीवन में इस प्रकार की क्षुद्रता का कोई औचित्य ही नहीं है।

भगवान कौन बन सकता है ? कैसे भगवान बन सकते हैं ? क्या क्या करने से भगवान बनना शक्य है आदि सभी वार्ते जैन धर्म ने स्पष्ट रूप से बता दी हैं। इन सिद्धान्तों पर ही चलना उपयुक्त राजमार्ग हैं। इस प्रकार ही भगवान बना जा सकता है। हमें भी इस प्रकार इसी मार्ग पर चलकर भगवान बनना है - ऐसा निश्चय कर लो तो अवश्य बन सकते हो।

जैन दर्शन में कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है :-

आत्मा ही जब परमात्मा बनती है, तो कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है - इस कथन में जरा भी दोष नहीं है। हाँ, योग्यता पैदा करनी पड़ती है - यह बात शत प्रतिशत सच्ची है। जैन दर्शन एकेश्वरवादी नहीं, वल्कि अनेकेश्वरवादी दर्शन है। हिन्दू धर्म आदि अवतारवादी दर्शनों में एकेश्वरवाद की मान्यता पुष्ट बनी हुई है। ईश्वर एक ही है। वही ईश्वर सर्वसत्ताधीश है। वही पुनः पुनः

धारण करता है। 'संभवामि युगे युगे' के कथनानुसार बार - बार वही जन्म लेता है। यह उनका अवतारवाद है। ईश्वर के स्थान पर अन्य कोई बीच में आकर जन्म नहीं ले सकता। यह संपूर्ण अधिकार एक ही ईश्वर में सुरक्षित है, जब कि जैन धर्म-दर्शन में ईश्वर बनने का अधिकार किसी एक को ही नहीं, बल्कि सभी के लिये खुला रखा गया है। जैन दर्शनानुसार कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है। इसकी एक संपूर्ण प्रक्रिया है - पद्धति है, साधना का मार्ग है, उस मार्ग पर चलना पड़ता है। उस मार्ग पर चलने वाली कोई भी आत्मा हो, वह कालांतर में परमात्मा बन सकती है। इस प्रकार भूतकाल में अनंत आत्माएँ अरिहंत परमात्मा बनकर मोक्षगामी बनी है। वर्तमान में महाविदेह आदि क्षेत्रों में से मोक्ष में जाती हैं और भविष्य में भी जाएँगी।

परमात्मा बनने की प्रक्रिया :

जैन दर्शन ने परमात्मा बनने की प्रक्रिया बताई है, क्यों कि जैन दर्शन स्वीकार करता है कि कोई भी आत्मा परमात्मा बन सकती है। परमात्मा बनने का अधिकार किसी भी भव्यात्मा को है। *Each and Every Soul has right to be God.* यह सिद्धान्त जैन दर्शन को मान्य है। इसीलिये इसके धर्म की उपासना में परमात्मा बनने की प्रक्रिया सिखाई गई है। और इसी मार्ग पर चलकर आज तक अनेक आत्माएँ परमात्मा बन चुकी हैं। जितने भी परमात्मा बने हैं वे सभी स्वतंत्र आत्माएँ हैं।

सांसारिक आत्माएँ भी तीन प्रकार की होती हैं - (१) भव्यात्मा (२) अभव्यात्मा और (३) जातिभव्यात्मा। इन तीनों में से भव्यात्माएँ ही आगे बढ़कर अपना विकास कर सकती हैं और अन्तमें परमात्मा बन सकती है। इनके सिवाय अन्य कोई भी नहीं। कारण स्पष्ट ही है कि योग्यता का अभाव, जैसे एक ही प्रकार के पौधे पर उगने वाले मूँग में मूलभूत स्वभावतः दाँनों ही प्रकार के मूँग होते हैं। एक शीघ्र ही सीझ जाते हैं, जब कि दूसरे प्रकार के करडू मूँगे कई दिनों तक आगपर पानी में उबलते रहने पर भी नहीं सीझते, बस ऐसी ही योग्यता अयोग्यता भव्य अभव्य प्रकार के जीवों में जन्म जात निहित रहती हैं। इस योग्यता के आधार पर भव्यात्मा आगे विकास साध लेती हैं, जबकि अभव्यात्मा परमात्मा बननेकी दिशा में आगे प्रगति नहीं कर पाती और तीसरे प्रकार की जाति भव्य आत्माएँ तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकती।

भव्यात्मा :

यह एक ऐसा जीवदल है जिस में सिद्ध बनने की योग्यता पूर्व से ही पड़ी हुई होती है । जिस प्रकार एक बीज में वृक्ष बनने की योग्यता होती है, वैसे ही भव्यात्मा में सिद्ध बनने की सत्ता निहित होती है, इसीलिये भव्यात्माओं को सिद्धों की उनके अस्तित्व के प्रति श्रद्धा जाग्रत हो जाती है । सिद्धों का अस्तित्व, मोक्ष का स्वरूप - सत्ता आदि स्वीकार करने से भव्यात्माएँ इनकार नहीं करती । उनमें श्रद्धा भी जागृत हो जाती है । भव्यात्माओं की यह पहचान है । तुरन्त पकने सीझने वाले मूँग जैसी भव्यात्माएँ होती हैं ।

अभव्यात्मा :-

सहज स्वभाव से ही सिद्धों की - मोक्ष की सत्ता को स्वीकार न करने वाली आत्माएँ अभव्यात्माएँ होती है । ये मोक्ष के अस्तित्व को ही नहीं मानती । सिद्ध भी भला होते होंगे - इनका प्रश्न होता है ? करडू मूँग की भाँति अभव्यात्माओं में कभी भी - अनन्त काल में भी सिद्धात्माओंकी सत्ता मोक्ष अथवा मुक्तात्माओं का अस्तित्व स्वीकार करने की वृत्ति जागृत होती ही नहीं है । जिस प्रकार करडू मूँग कभी भी कितनी भी भारी आँच पर नहीं पकते, ज्यों के त्यों कठोर बने रहते हैं, उसी प्रकार अभव्य अनन्तकाल तक भी अभव्य, ही रहते हैं । उन में सम्यक्त्व या श्रद्धा का उद्भव होता ही नहीं है । लाखों प्रयत्न करने परभी किसी भी प्रकार से सम्यक्त्व जागृत नहीं हो पाता है । जिस प्रकार एक दग्धबीज, अथवा अयोग्य बीज किसी भी परिस्थिति में अंकुरित नहीं होता, चाहे जितनी हवा-पानी-प्रकाश-भूमि आदि की सुविधा सामग्री प्राप्त होने परभी वह नहीं उठता, उसी प्रकार अभव्य जीवों को भी देव-गुरु-धर्म आदि की चाहे जितनी सामग्री प्राप्त होने परभी उन अभव्य जीवों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आता । उनकी परिणति में कुछ भी अन्तर नहीं आता । वे श्रद्धालु भी नहीं बन सकते । जिस प्रकार करडूँ मूँग को पकाने के लिये चाहे जितना गेस-जल आदि का उपयोग करने पर भी परिणाम कुछ भी नहीं निकलता, उसी प्रकार अभव्य जीव में श्रद्धा जगाने अथवा सिद्धों का - मोक्ष का स्वरूप समजाने में हजारों प्रयत्न करने पर भी वे सब निष्फल सिद्ध होते हैं, जब कि भव्यात्मा को देव-गुरु-धर्म की अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर वह स्वयं उस दिशा में आगे प्रगति करती है और संभव है कि सम्यग् दर्शन-श्रद्धादि सब कुछ प्राप्त करके एक दिन वहाँ तक पहुँच भी जाए

सिद्ध भी बन जाए ।

जाति भव्य जीव :

जाति भव्य अभव्य कक्षा के नहीं होते, परन्तु तथाप्रकार के कर्म संयोगों में हैं कि जीव एकेन्द्रियादि पर्यायों से बाहर निकल ही नहीं पाएँगे । वे कभी भी आगे प्रगति नहीं कर सकेंगे और उन्हें देव गुरु धर्म की साधन सामग्री ही प्राप्त होने वाली नहीं है । तो क्या करते हैं? वहीं पड़े रहेंगे । भव्य की जाति के होने पर भी उनके लिये भव्यत्व दुर्लभ हो गया है, जिसके कारण वे जाति भव्य कहलाते हैं । सिद्ध बनने का भी उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता है, न उनके लिये सिद्धों की सत्ता अथवा मोक्ष का अस्तित्व ही स्वीकार करने का भी प्रश्न उठता है ।

उपमा के उदाहरण से स्पष्टीकरण :

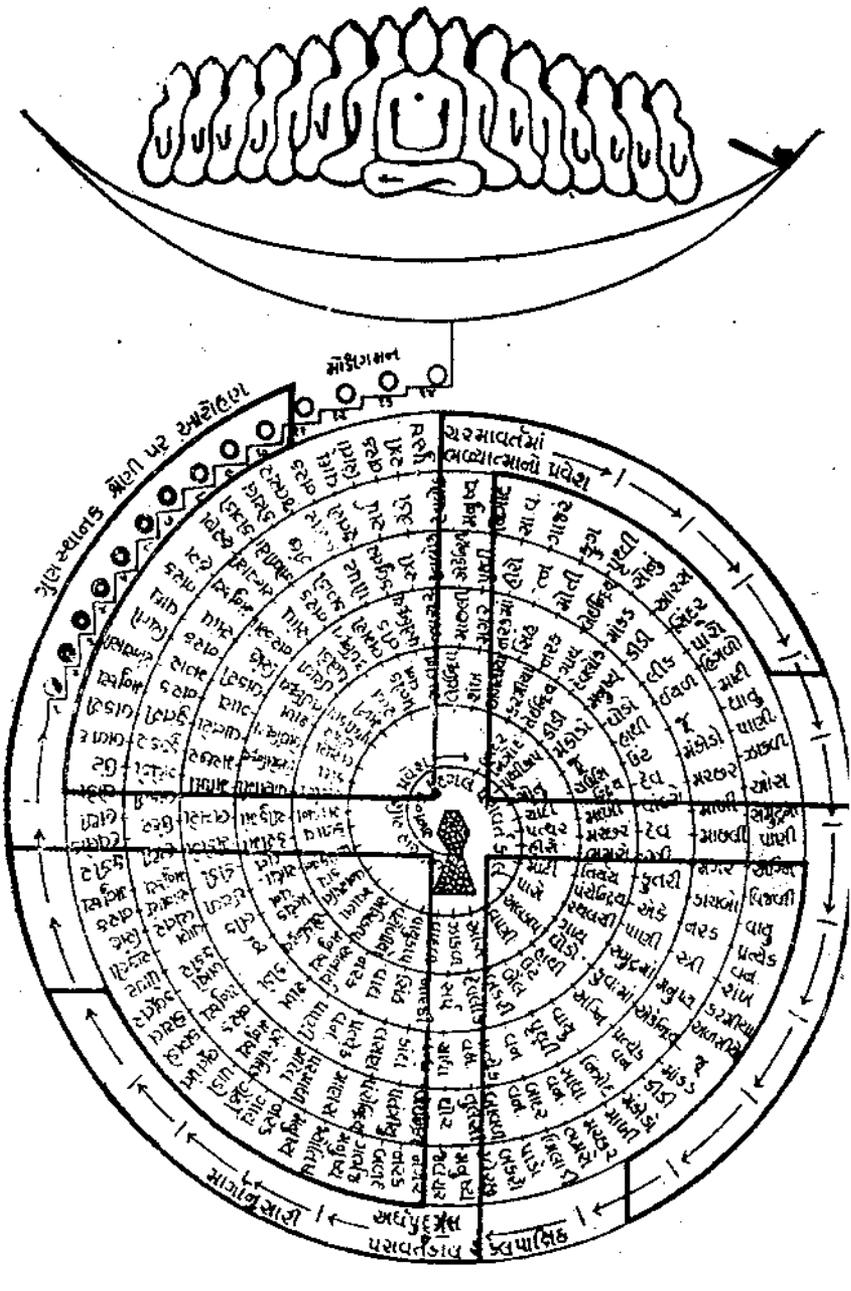
उपरोक्त तीनों प्रकार समझने के लिए उपमा के ये उदाहरण लाभकारी रहेंगे। एक पुत्र को जन्म देने की योग्यता रखनेवाली स्त्री जैसे हैं, दूसरे बाँझ स्त्री जैसे हैं और तीसरे साध्वी स्त्री जैसे हैं । भव्यात्मा कुमारिका स्त्री जैसे होते हैं, जो कि वर्तमान में कुमारिका तो हैं, परन्तु कालांतर में पति प्राप्त हो जाए और पतिव्रता धर्म का पालन करके गर्भवती बनकर सन्तानोत्पत्ति करती है, अर्थात् जिसमें संतानोत्पत्ति की योग्यता तो हैं, परन्तु वर्तमान में शादि-पति संयोगआदि साधन - सामग्रियों का अभाव है और वह कुमारिका है, परन्तु उसमें योग्यता का अभाव नहीं है । बस, ऐसी ही बात भव्यात्माओं की भी है । कुमारिका स्त्री जैसे भव्य कक्षा के जीव होते हैं । कालांतर में जिस प्रकार शादि - पति संयोगादि सामग्री की प्राप्ति होती है और सभी प्रकार की अनुकूलता उपलब्ध होने पर कुमारिका जिस प्रकार संतानोत्पत्ति कर मातृत्व धारण करती हैं, उसी प्रकार भव्यात्मा सब प्रकार की अपेक्षित सामग्री के उपलब्ध होने पर सम्यग्दर्शन - सच्ची श्रद्धाआदि प्राप्त कर - विकास करते करते कालांतर में सिद्ध बनती है - मोक्षगमन करती हैं ।

एक अन्य स्त्री हैं जिसमें जन्म से ही सन्तानोत्पत्ति की क्षमता ही नहीं है - योग्यता का ही अभाव है । लाख प्रयत्न करने पर भी असंभव संभव नहीं बनता। शादि - पति संसर्ग आदि सभी सामग्रियाँ प्राप्त होने पर भी आजीवन गर्भवती नहीं

बन पाती और मातृ सुख से वंचित रहती हैं । मातृत्व प्राप्त करने की उसकी इच्छा सदा अतृप्त ही - अपूर्ण ही रहती है । बस, ठीक ऐसी ही बात अभव्यात्माओं की है । अभव्यों में भी जाति स्वभाव से ही देव - गुरु - धर्मादि सभी साधन सामग्रियाँ आदि प्राप्त होने पर भी कदापि अनंतकाल में भी सम्यग्दर्शन - सच्ची श्रद्धा की जागृति नहीं होती । ऐसे जीव मोक्ष - प्राप्ति में सर्वथा - सर्वदा असमर्थ ही रहते हैं । इसीलिये मोक्ष की सत्ता अथवा सिद्धों का स्वरूप भी स्वीकार करने के लिये वे तैयार नहीं होते ।

तीसरे स्थान पर आती है - साध्वी स्त्री । जिसे स्त्री देह में नारी जाति की दृष्टि से देखें तो पता चलेगा कि तीनों ही स्त्रियाँ ही कहलाती हैं । स्त्री स्वरूप में तीनों ही एक जैसी सदृश ही कहलाएँगी । इस कुमारिका में संतान को जन्म देने आदि की संपूर्ण योग्यता है, मातृत्व धारण करने की भी योग्यता हैं, परन्तु कौमार्यावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर लेती है, साध्वी बन जाती है, आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का पञ्चकखाण स्वीकार कर लेती है । अतः कभी भी शादि अथवा पति संसर्गादि की सहयोगी साधन सामग्री प्राप्त ही नहीं होने वाली है, अतः वह कभी भी माता बनने वाली नहीं है । बस, ठीक ऐसे ही जाति भव्य प्रकार के जीव कहलाते हैं । वे भव्य की जाति के हैं, इसे हम नहीं नकारते, परन्तु उन्हें एकेन्द्रिय पर्याय से कभी भी आगे बढ़ने की अनुकूलता ही प्राप्त नहीं होती और न उन्हें देव - गुरु - धर्मादि साधन सामग्रियों की ही उपलब्धि होने वाली है अतः वे कभी भी श्रद्धा आदि प्राप्त नहीं कर सकते और न सिद्ध ही बन सकते हैं ।

संसार चक्र में अनंत आत्माओं का परिभ्रमण :



संसार अनादि - अनंत - शाश्वत है, जिसका न आदिकाल ज्ञात है न अंतिम छोर का पता है - ऐसा संसार अनादि - अनंत होता है । संसार का सर्वथा नाश भी संभव नहीं होता और न इसकी उत्पत्ति ही संभव है । अतः जैनेतर ईश्वर कर्तृत्ववादी दर्शन जो कहते हैं कि सृष्टि का सर्वथा प्रलय होता है - ईश्वर करता है और फिर पुनः दूसरे युग में वह ईश्वर ही नवीन सृष्टि का निर्माण करता है, उन्होंने संसार की आदि और अंत दोनों ही स्वीकार किये हैं । अतः - उनके मतानुसार संसार सादि सान्त हैं । इस और ईश्वर को जगत का कर्ता न मानने वाले जैन स्पष्ट रूप से कहते हैं कि - संसारकी उत्पत्ति ही नहीं है । कोई भी ईश्वर कभी भी संसार का निर्माण नहीं करता है । सृष्टि रचना किसी भी काल में नहीं होती है - इसीलिये कभी भी इसका महाप्रलय भी नहीं होता है - संभव ही नहीं है । संसार प्रवाह से अनादि अनंत है ।

संसार क्या है ? क्या किसी वस्तु विशेष का नामकरण किया गया है कि यह संसार है ? अथवा क्या संसार अर्थात् कोई पदार्थ विशेष है ? नहीं, नदी किसे कहते हैं ? पृथ्वी पर दो तटों के बीच प्रवाह बद्ध बहता हुआ पानी नदी कहलाता है । इसी प्रकार जीवों का जन्म-मरण के प्रवाह से सदैव गतिमान स्वरूप संसार कहलाता है । इसके सिवाय किसी वस्तु या पदार्थ विशेष का संसार नहीं कहते हैं । संसार किसी पक्षी का नाम नहीं है । संसार अनंत जीवों के जन्म-मरण के चक्रों का स्वरूप है । संसार का कर्ता ईश्वर नहीं है । जीव स्वयं संसार के कर्ता है । स्वरूप संसार की रचना जीव स्वयं करते हैं । यह संसार अनंत जीवों और अजीव (निर्जीव) जड़ पुद्गल पदार्थों से भरा पड़ा है । जीवों का अस्तित्व जहाँ तक रहेगा वहाँ तक संसार का अस्तित्व रहेगा । दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं ।

ऐसा अनादि - अनन्त शाश्वत संसार में अनंत जीव चारगतियों के चक्र में परिभ्रमण करते ही रहते हैं - भटकते ही रहते हैं । यह संसार काल प्रवाह से अनादि - अनंत है । कालिक दृष्टि से जिसकी आदि - शुरुआत कभी भी कोई भी जान नहीं सकता और काल प्रवाह से उसका अंत भी किसीको गम्य नहीं, परन्तु इस संसार का प्रथम छोर ज्ञानीजन निगोद का बताते हैं और अंतिम छोर मोक्ष का बताते हैं । निगोद के छोर से जीव के संसार का प्रारंभ होता है और मोक्ष में जाने पर उसके संसार का अंत होता है । पास के चित्र में देखने पर एक जीव की अनंत भव परम्पराओं का ख्याल आएगा कि एक जीव निगोद के गोले में से बाहर निकलता है और चार गतिमय संसार चक्र में परिभ्रमण करता करता आगे बढ़ता

जाता है । इस प्रकार वह अनंत पुद्गल परावर्तकाल परिभ्रमण में व्यतीत कर डालता है और अंत में भव्यात्मा मोक्ष में जाती है । ऐसा ही अनंत जीवों का क्रम चलता है ।

संसार जीवों का हैं - अजीवों का नहीं । जीव चौदह राजलोक में है । १४ राजलोक के तीन विभाग किये गए हैं । उर्ध्वलोक को देवलोक-स्वर्ग कहा, जहाँ मात्र स्वर्गीय देवी - देवतागण का ही निवास है । दूसरे को अधोलोक कहा । वहाँ मात्र नरकी के नारक जीव ही सात नरक भूमियों में रहते हैं । तीसरे को तिच्छी लोक कहा गया - या मृत्युलोक कहा गया । यहाँ मनुष्य और तिर्यच पशु - पक्षी रहते हैं । इस तिच्छा लोक में असंख्य द्वीप-समुद्र हैं । ढाई द्वीप मात्र मनुष्य क्षेत्र है । इतने में ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं और मरते हैं । सर्व असंख्य द्वीप समुद्र सभी तिर्यचगति के पशु - पक्षियों के लिये हैं । इस चौदह राजलोक के संसार में अनंत जीव हैं । संसार परिभ्रमणशील हैं । चारों ही गतिओं में जीवों का परिभ्रमण सतत चलता ही रहता है . (१) देव, (२) मनुष्य, (३) नरक और (४) तिर्यच चार गतियाँ हैं । कृत कर्मानुसार जीव चारों ही गतिओं में सतत गमनागमन करते ही रहते हैं । एक गति में से दूसरी गति में आवागमन चलता ही रहता है और इसी का नाम संसार चक्र है । जिस प्रकार नदी बहते हुए पानी के प्रवाह वाली होती है वैसा ही संसार है । मात्र चौदह राजलोक क्षेत्र में चारों ही गतिओं में जीवों के गमनागमन के परिभ्रमण को संसार चक्र कहते हैं - यह चक्र गतिशील है । जीवों का चारों ही गतिओं में आवागमन चलता ही रहता है । नीचे दिये हुए चित्र को देखने से स्पष्ट ख्याल आ जाएगा ।

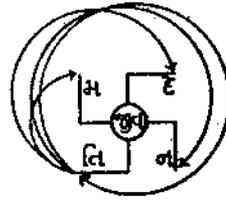
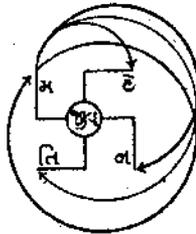
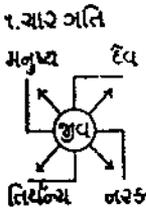
इस चित्र में बताई हुई दिशा के अनुसार वे - वे जीव संबंधित गति में से निकलकर अन्य गति में जाते हैं - इस बात का ज्ञान हो जाएगा ।

निगोद जीवों की खदान है । जिस प्रकार हीरे - पत्थर खान में से निकलते हैं, उसी प्रकार जीवों की मूल खदान निगोद है । शाश्वत नियम के अनुसार जब एक जीव मोक्ष में जाता है तब एक जीव निगोद में से बाहर निकल कर संसार के व्यवहार में आता है, फिर वह चारों ही गतिओं में भ्रमण करता है - कर्म बाँधता है और पूर्व बद्ध कर्मों के अनुसार भटकता है - फल भुगतता है । इस प्रकार चार गति के संसार चक्र में जन्म - मरण करता करता अनंत काल व्यतीत कर डालता है और इस में भी मिथ्यात्व अवस्था में तो साध्य या लक्ष्य के अभाव में अनंत काल बीतता ही जाता है जिस का कुछ भी पता नहीं चलता ।

तीर्थकरों का भी भूतकाल अनंत है

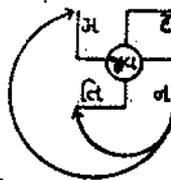
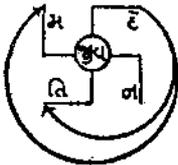
२. मनुष्यजुं यादें अतिमां
गमल

३. तीर्थन्यजुं यादें अतिमां
गमल



४. एवजुं अ अतिमां
गमल

५. नरसजुं अ अतिमां
गमल



तीर्थकर बनने वाली आत्मा भी जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करती, तब तक उसका भी भूतकाल अनन्त ही होता है। भूतकाल अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व का काल। वह भी अनन्त होता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति के पूर्व तो तीर्थकर भी मिथ्यात्वी - मिथ्यादृष्टि ही थे और मिथ्यात्व में सर्व विपरीतता होने के कारण किसी भी तत्त्व का सच्चा ज्ञान ही नहीं होता तब तक तो पता ही नहीं चलता कि यह पाप करने से ऐसा होगा या वैसा होगा। या इतने कर्म बढ़ेंगे आदि कर्म - धर्म - किसी का भी वास्तविक ज्ञान नहीं होता, न सच्ची श्रद्धा ही मिथ्यात्व के काल में होती है। अर्थात् पाप प्रवृत्ति, कर्मबंध - कर्म का उदय दुःख, वेदना, जन्म - जन्मांतर, गत्यन्तर भवान्तर आदि में अनन्तकाल का निर्गमन हो जाता है। भावी में भगवान बनने वाला जीव भी इस स्थिति में आ जाता है। भविष्य में भगवान तो बनेंगे तब बनेंगे, परन्तु भावी में भगवान बनने वाले जीव भी भूतकाल में तो मिथ्यात्वी ही थे - अज्ञानी ही थे। तब तक उन्होंने भी अपना भूतकाल अनन्त भव संख्या, अनन्त अनन्त भव करते करते बिताया, परन्तु जब वे सम्यग्ज्ञान प्राप्त करते हैं - सच्ची समझ के स्वामी बनते हैं और सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं तत्पश्चात् ही मोक्ष में जाते हैं। उस अन्तराल की भव संख्या मर्यादित होती है।

इस प्रकार वर्तमान चौबीसी के २४ तीर्थकर भगवन्तों की जो भव संख्या है, उसमें प्रत्येक की न्यूनधिक संख्या कहलाती है। किसी की ३, ६, १०, १२, १३

और २७ आदि जो तीर्थकरों की भव संख्या है वह सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद से मोक्ष जाने तक की भव संख्या है, तो फिर अनंत की भव संख्या कौन सी ? इसका उत्तर यही है कि सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व मिथ्यात्व काल की सारी ही भव संख्या अनंत है और मिथ्यात्व में से सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् ही भव-गणना की जाती है, भवों की गिनती शुरु होती है और मोक्षगमन करते हैं वहाँ तक के भवों के आधार पर कहा जाता है कि इनके ३ भव, ८ भव, १० भव, १३ भव अथवा २७ भव हुए हैं परन्तु उससे पूर्व के भव उनके भी अनंत थे । अनंत की भव संख्या कैसे गिनें ? अनंत भवों की गणना कैसे हो ? इसीलिये मिथ्यात्व काल के अनंत भवों की संख्या नहीं गिनी जाने योग्य होने से अनंत ही हैं ।

सम्यक्त्व प्राप्ति से श्री गणेश :

सम्यक्त्व प्राप्ति से ही आत्म विकास का शुभारंभ होता है । मिथ्यात्व के अनादि अनंत काल में जीव जिसे साधने में असमर्थ रहता है, उसे सम्यक्त्व के अल्प काल भी वह साध लेता है । सम्यक्त्व आत्मा के चढ़ने का प्रथम सोपान है। बस, यहीं से आध्यात्मिक विकास का श्री गणेश होता है । आत्मा मिथ्यात्व के अनंत काल के पश्चात् प्रथम बार ही स्व स्वरूप को पहचानती है । उसे अपना भान प्रथम बार ही होता है । जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञान उसे आज प्रथम बार ही होता है और प्रथम बार ही उसे सच्चा स्वरूप समझ में आता है - उसे सम्यग्ज्ञान होता है । अभी तक जिस मिथ्यात्व में मिथ्याज्ञान में टकराता रहा, जिस में कुछ भी ठिकाना न पड़ा, किसी भी प्रकार का सच्चा ज्ञान न हुआ, वह अब सम्यक्त्व प्राप्त होने पर सब सत्य स्वरूप में परिणमित होता है, जब सच्चा ज्ञान होता है - सच्चा स्वरूप समझ में आता है । सच्चे को सच्चे के रूप में पहचानने - परखने की शक्ति समझ - बुद्धि - दृष्टि आदि सब कुछ प्राप्त होती है, जिस प्रकार मानो जन्मांध को अचानक दृष्टि मिल जाती है और आँखें खोलकर वह सब कुछ देखने लगता है, तब उसे प्रथम बार दिखता है कि सूर्य का प्रकाश ऐसा होता है । लाल-हरी-पीली वस्तुएँ ऐसी होती है और काले अंधकार में से बाहर निकलकर जिसने पहली बार ही धरती पर प्रकाश देखा हो उसे कितना आनन्द आता है । उस से भी हजार गुना आनंद जीव मिथ्यात्व के अंधकार अथवा अंधत्व से सम्यक्त्व के प्रकाश में आने पर अनुभव करता है । यह सत्य स्वरूप का ज्ञान - सच्ची श्रद्धा आदि सब अनुपम अद्वितीय तथा अवर्णनीय होते हैं ।

कोल्हू का बैल जिस प्रकार आँख पर पट्टी बँधी हुई स्थिति में कोल्हू के चक्कर काटता ही रहता है उसी प्रकार जीव भी संसार चक्र में ८४ लाख जीव योनि के चारगति में अनंत पुद्गल परावर्त कालचक्र में फिरता ही रहता है और अगणित अनंत पुद्गल परावर्त काल में घूमता घूमता चरमावर्त काल में प्रवेश करता है । तत्पश्चात् यथा-प्रवृत्तिकरणादि करता करता सम्यक्त्व प्राप्ति के निकट आता है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रक्रिया

आवर्त अर्थात् वर्तुल । पुद्गल परावर्त काल की विशेषसंज्ञा है, अनन्त यह संख्यातीत काल है । एक पुद्गल परावर्त में भी असंख्य वर्षों का काल बीत जाता है - ऐसे तो अनंत पुद्गल परावर्त काल व्यतीत होते हैं । इतने अनंत काल में जीव के भव कितने हुए ? उत्तर है - अनंत । इसमें कालांतर में जीव तथाप्रकार की योग्यता प्राप्त होने पर चरमावर्त में आकर प्रवेश करता है और चरमावर्त में जीव का तथाभव्यत्व परिपक्व होता है । अब आगे पुनः दूसरी बार आवर्तों में घूमना न पड़े ऐसे इस अन्तिम आवर्त में अर्थात् चरमावर्त में जीव प्रवेश कर चुका होता है । जिस प्रकार घर की कोठी में वर्षों तक पड़े हुए गेहूँ या मूँग आदि को कालांतर में हवा-पानी-प्रकाश-योग्य भूमि आदि प्राप्त होने पर वे अंकुरित हो जाते हैं, और उनसे पौधे उग आते हैं, उनका विकास होता है, उसी प्रकार काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म, और पुरुषार्थ आदि पाँचों ही समवायी कारणों के योग से भव्यत्व परिपक्व करते हैं । जैसे दूध तो सारा ही दूध ही होता है, समान ही होता है, सभी पात्रों में अलग अलग होने पर भी बादाम, पिश्ता, केसर, इलायची मिश्री आदि के योग से विशेषता धारण करके वह विशिष्ट कक्षका बनता है, उसी प्रकार सभी भव्य जीव समान - एक जैसे होने परभी भव्यत्व परिपक्व करके कुछ जीव विशिष्ट कक्षा के बन जाते हैं, विशेषता धारण कर लेते हैं ।

ऐसे जीव धर्मसम्मुख बन जाते हैं । ऐसे तथाभव्यत्व परिपक्व किये हुए जीव शुद्ध अध्यवसाय के योग से चरमावर्त में प्रविष्ट हो कर विकास की दिशा में आगे प्रगति करते हैं । जीव अपनी अनादिकालीन 'ओघ दृष्टि' का त्याग करके 'योग दृष्टि' में प्रवेश करता है । मित्रा, तारा दृष्टि में स्वल्पमात्र बोध प्राप्त करता है, धर्म श्रवण करने की उसकी जिज्ञासा प्रारंभ होती है । जिज्ञासा के इस शुभ काल को श्रवण - सम्मुखी काल कहते हैं । इसे ही प्रथम सोपान कहा है । फिर

धीरे धीरे धर्म सम्मुखीकरण होता है । उसमें से भी और अधिक आगे बढ़ता है । विशुद्धि में वृद्धि होती जाती है और वह मार्गानुसारी बनता है । मार्ग सम्मुखी बनकर फिर वह धर्म मार्ग के अनुसरण की इच्छा को प्रबल बनाता है । यद्यपि मार्गानुसारी की अवस्था में जीव धर्मी नहीं बना, परन्तु धर्मसम्मुखी अवश्य बना है । फिर यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया में वह आगे बढ़ता है ।

यथाप्रवृत्तिकरण :

यथा + प्रवृत्ति + करण = यथाप्रवृत्तिकरण । यथा अर्थात् जैसी होनी चाहिये वैसी, जैसी होनी चाहिये वैसी प्रवृत्ति को यथा प्रवृत्ति कहा गया है । आत्मा की अपनी स्वहित में जैसी होनी चाहिये वैसी प्रवृत्ति को यथाप्रवृत्ति कहा गया है । इसमें करण अर्थात् विशिष्ट आत्म शक्ति का प्रस्फुटन कर आगे प्रगति करना है । अकाम निर्जरा के योग से जीव जितनी कर्म-प्रकृतिओं को खपाता था उन्हें सविशेष, बढ़ा कर कर्म क्षय करता करता आगे बढ़े - उसे यथा प्रवृत्तिकरण कहते हैं । क्षुधा-तृषा, ताप-धूप आदि परवशता वश सहन करता करता अकाम निर्जरा में वृद्धि करता है । ऐसी प्रबल शक्ति को बढ़ाकर अकाम निर्जरा करता करता जीव अनेक कर्मों की बंध स्थिति को घटाता हुआ आगे बढ़ता है । भले ही यह सब स्वेच्छापूर्वक न भी होता हो, अनिच्छा से भी होता हो, तब भी कर्म की निर्जरा बहुत होती है ।

जिस प्रकार “घुणाक्षर न्याय” का वर्णन है कि घुण नामक कीड़ा लकड़े के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, उसमें मोड़ वाली कई प्रकार की आकृतियाँ बनाता है । ये आकृतियाँ अ, ब, क,ड,ल,व,य जैसे अक्षरों के समान दिखती है अतः लोग कल्पना करते हैं कि घुण लकड़ी पर अक्षर बनाता है । वास्तव में उस कीड़े को पता ही नहीं होता कि वह अक्षर बना रहा है, उसे अक्षरों का जरा भी ज्ञान नहीं होता है, वह तो अपने स्वभाव के अनुसार कुतरता ही जाता है और अक्षर बन जाते हैं । इसी प्रकार कर्म-धर्म कुछ भी न पहचानते हुए भी जीव दुःख, ताप-सहन करता करता अकाम निर्जरा करता करता कर्म की अनेक स्थितियाँ कमकर डालता हैं ।

इस विषय को समझाने के लिये ‘नदी गोल पाषाण न्याय’ का एक अन्य भी दृष्टान्त दिया जाता है । पर्वतों में से नदी बहती है तब अनेक पत्थर भी पानी के प्रवाह में बहते हुए खींचे चले आते हैं, रगड़ खाते खाते, टकराते, पछाड़ खाते

अनेक पत्थर गोल चिकने बन जाते हैं । नदी या पानी कोई भी पत्थर को गोल नहीं बनाता है, न पत्थर स्वयं भी प्रयत्न विशेष करके गोल बनता है, फिर भी नदी के प्रवाह के साथ लुढ़कता हुआ - रगड़ खाता हुआ पत्थर गोल - चिकना बन जाता है, उसी प्रकार काल के प्रवाह में बहते बहते संसार के दुःख-ताप आदि अनेक कष्ट सहन करते करते अकाम निर्जरा करके जीव कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को न्यून कर डालता है, मिथ्यात्व को बिल्कुल मंद कर डालता है । इस क्रिया को यथा प्रवृत्तिकरण की प्रवृत्ति कहते हैं ।

यथाप्रवृत्तिकरण सामान्य और विशिष्ट दोनों प्रकार का होता है । इस विशिष्ट यथाप्रवृत्तिकरण से जीव राग-द्वेष की गाँठ तोड़ने की दिशामें आगे प्रगति करता है । इसे आत्मोन्नति या आत्मविश्वास का प्रथम सोपान कहते हैं । प्रत्येक जीव को इस दिशा में ही इस प्रक्रिया में से ही गुजरना पड़ता है । भव्य जीव यह यथाप्रवृत्तिकरण की प्रवृत्ति करके कर्मों की जो उत्कृष्ट बंध स्थितियाँ बाँधी हुई होती हैं उनके गाढ़ बंधनों को शिथिल करते हैं और आत्मा को आगे बढ़ाते हैं ।

मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट बंध स्थिति ७० कोटा कोटि सागरोपम की है । ज्ञानावरणीय; दर्शनावरणीय, अन्तराय और वेदनीय कर्म की ३०-३० कोटा-कोटि सागरोपम की उत्कृष्ट बंध स्थिति है । नाम - गोत्रकर्म की २०-२० कोटा कोटि सागरोपम की उत्कृष्ट बंध स्थिति है और आयुष्य कर्म की तो मात्र ३३ सागरोपम की उत्कृष्ट बंध है । इन आठों ही कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को अकाम निर्जरा के प्रबल प्रयोग से खपाकर यथाप्रवृत्तिकरण काल में सर्वथा घटाकर अंतः कोटाकोटि सागरोपम पर ले आता है - इतनी अधिक घटा देता है अर्थात् ७० में से ६९, ३० में से २९, और २० में से १९ कोटाकोटि सागरोपम की बंध स्थितियाँ खपा देता है, घटा देता है और १ कोटाकोटि से भी अंदर की बंध स्थिति लाकर खड़ी कर देता है । इस प्रकार सातों ही कर्मों की स्थिति बिल्कुल ही न्यून कर देता है । वह कार्य यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया के समय में हो जाता है । इसके पश्चात् अपूर्वकरण की दिशा में जीव आगे बढ़ता है ।

अपूर्वकरण और ग्रंथिमैद :

अनंत ज्ञानादि गुणों की सत्ता को धारण करनेवाली आत्मा स्वयं ज्ञानादि गुणों से विशुद्ध है, परन्तु संसारी अवस्था में रागद्वेषादी से ग्रसित है । संसारी अवस्था में तो सशरीरी ही रहना पड़ता है, अशरीरी तो मुक्तात्मा बन जाती है ।

सशरीरी बनने के लिये देह का निर्माण करना पड़ता है और देह निर्माण हेतु जन्म धारण करना पड़ता है, जन्म धारण करने के लिये जीवात्मा को किसी न किसी की योनि में उत्पन्न होना ही पड़ता है, और उस उत्पत्ति के स्थान में आहारादि ग्रहण करके वह अपने देह की रचना करता है, देह रचना में इन्द्रियों का निर्माण करके श्वासोच्छ्वास लेने पड़ते हैं, फिर बोलचाल के व्यवहार के लिये भाषा तथा विचारार्थ मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करने पड़ते हैं । प्राणों को भी धारण करने पड़ते हैं । प्राणों को बनाने के लिये बाह्य जगत के वातावरण में से उसे पुद्गल परमाणुओं की वर्गणाओं को खींचकर लेनी पड़ती है, तत्पश्चात् उनका परिणमन करना पड़ता है । इतना सब कुछ करने पर ही जीव इस संसारमें जी सकता है । यह सब करने के लिये राग-द्वेष के बिना कैसे चल सकता है ? इनके बिना यह सब कुछ बनाना संभव ही नहीं है। राग-द्वेष से पुनः कर्म बंधन करना और इन कर्मों के उदय से पुनः राग - द्वेष करना - इस प्रकार के विषचक्र में जीव फँस गया है, अतः उसे सतत राग - द्वेष की वृत्ति - प्रवृत्ति में रहना ही पड़ता है ।

इसी कारण से जीव संसार में सदा काल से सकर्मी अर्थात् कर्मयुक्त ही कहलाता है । एक दिन भी यह कर्मरहित - अकर्मी नहीं रहा, अतः संसारी अवस्था अर्थात् कर्मयुक्त अवस्था और कर्म संयुक्त अवस्था अर्थात् संसारी अवस्था। इस प्रकार एक दूसरे के पर्यायवाची बन चुके हैं । कर्मरहित जीव बने तभी संसार रहित अर्थात् संसार से मुक्त बनता है - उसके बिना नहीं । कर्मों की इतनी प्रचण्ड पकड़ आत्मा पर है ।

गाँठ न लगाने पर भी, उलझे हुए धागे में ऐसी गाँठ पड़ जाती है कि कई बार इधर-उधर खींचने पर गाँठ खुलने के बजाय और अधिक दृढ़ होती जाती है, और तंग आकर हमें उसे छोड़ देना पड़ता है । ऐसी ही स्थिति यहाँ है । इतने अधिक राग - द्वेषों की भयंकर ग्रंथि आत्मा के साथ बँध चुकी है, आत्मा उन में फँस चुकी है और यह ग्रंथि इतनी भयंकर है कि उसे तोड़ना भल भलों के लिये लोहे के चने चबाने जैसा कार्य है । इसके लिये जीव अपनी अद्भुत शक्ति का ही प्रस्फुटन करे तभी यह संभव हो सकता है ।

गंठिति सुदुम्भेओ कक्खइघणरुढ गूढ गंठिच्च ।

जीवस्स कम्म जणिओ घणराग - दोस परिणामो ॥

आत्मा के कर्म जनित राग - द्वेष के परिणाम स्वरूप जो ग्रंथि बँधती है, वह अत्यन्त कठोर, निबिड़ दुर्भेद्य, और बाँसवृक्ष के संधिस्थल जैसी गाढ ग्रंथि होती

है। यह ग्रंथि मलीन राग-द्वेष के कारण बनती है। कर्म ग्रंथ की भाषा में इसे अनंतानुबंधी कषायों की चौकड़ी कहते हैं। जिस प्रकार वस्त्र पर बैलगाड़ी के पहियो का चिकना तैलीय मैल लग जाए और उसका दाग इतना गहन होता है कि वस्त्र फट जाने पर भी वह दाग नहीं मिटता, इसी प्रकार राग-द्वेष की यह ग्रंथि भी ऐसी ही दृढ होती है। आत्मा-चेतन अनंत शक्ति का स्वामी है। भूतकाल में कभी भी प्रस्फुटित न की हो इतनी और ऐसी अपूर्व शक्ति का प्रयोग आत्मा करती है। यथाप्रवृत्तिकरण करके जीव ने कर्म की उत्कृष्ट स्थितियों में न्यूनता ला दी और अन्तः कोटा कोटि सागरोपम की स्थिति में जीव आ गया, जिसके कारण अनंत की स्थिति का बल घट जाता है और आत्मा अपूर्वकरण कर लेती है।

‘अपूर्व’ न पूर्वमिति अपूर्व’ अर्थात् पूर्व में कभी भी जिसका स्फूटन न किया हो ऐसी अपूर्व शक्ति का स्फूटन करना अपूर्वकरण की प्रक्रिया है। अपूर्वकरण न करे तो जीव सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना ही रह जाता है। यथाप्रवृत्तिकरण तो सैंकड़ों जीव कर लेते हैं। इसके योग से जीव राग-द्वेष की ग्रंथि के समीप अनेक बार आ जाते हैं और लौट भी जाते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण सरल है, जब कि अपूर्वकरण में तो ग्रंथि भेद का बड़ा ही दुष्कर कार्य है, अध्यवसाय की विशुद्धियों को उपलब्ध कर जीव साहस बटोरता है और एक बार ऐसी अपूर्वशक्ति का प्रस्फूटन कर ले है। राग-द्वेष की ग्रंथि को भेद कर वह आर-पार उतर जाता है। बस, इसी समय अनंतानुबंधी सप्तक का दृढ दुर्ग मजबूत किल्ला भेद दिया जाता है। और जीव संसार भ्रमण काल में प्रथमबार सम्यक्त्व प्राप्त करता है। सच्चे की सत्य स्वरूप में प्रतीति-अनुभूति होती है इस प्रक्रिया का परमानंद कोई अद्भुत अनुपम और अवर्णनीय ही होता है।

अनिवृत्तिकरण :

अप्युब्बेणं तिपुंजं मिच्छत्तं कुणइ कोइबोवमया ।

अनियद्दीकरणेण उः सो सम्मइंसणं लहइ ॥

विशेषावश्यक भाष्यकार बताते हैं कि अपूर्वकरण की प्रक्रिया द्वारा जीव कोदरे आदि धान्य की भाँति मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है, परन्तु सम्यक्त्व की प्राप्ति तो अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया के पश्चात् ही होती है। आत्मा का ऐसा विशुद्ध अध्यवसाय विशेष रूप करण जिसमें सम्यक्त्व प्राप्त किए बिना जीव निवृत्त नहीं होता उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अपूर्वकरण से जीव ग्रंथि भेद

करके आगे बढ़ता है और अनिवृत्तिकरण से सम्यक्त्व प्राप्त करके स्थिर हो जाता है। अतः सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना पुनः पीछे न हटने की प्रतिज्ञारूप आत्मा के विशुद्ध अध्यवसायरूप संकल्प को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इसका समय अन्तर्मुहूर्त दो घटिका मात्र ही होता है और यह अपूर्वकरण का कार्य है। बस, यही चरम करण है।

मिथ्यात्व के दो भाग करके अन्तःकरण करता है, इन में से छोटे पुंजरूप मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दलिकों का अन्तर्मुहूर्त में क्षय करता है। इस समय जीव को उपशम नामक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। मिथ्यात्व के उपशम द्वारा - उपशम भाव द्वारा उद्भूत सम्यक्त्व औपशमिक सम्यक्त्व कहलाता है। अननंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का अनुदय - उपशम होता है। अनादि - अनंतकालीन राग - द्वेष की निविड़ ग्रंथि टूट जाती है और जीव संसार चक्र में सर्व प्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है। एकदम प्रथम मिथ्यात्व के गुण स्थान से चतुर्थ सम्यक्त्व के गुणस्थान पर जीव आता है, जीव के परम आनंद का दिन यही होता है। अध्यवसायों की विशुद्धि होती है और वह एक कठोर परीक्षण में से पार उतरता है।

सम्यक्त्व प्राप्ति का परमानंद :

सम्यक्त्व

मिश्र

सास्वादन

मिथ्यात्व

जीवात्मा

आत्माविकास के सोपान १४ है जो १४ गुणस्थानों के नाम से जाने जाते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण - अपूर्वकरण - अनिवृत्तिकरण की प्रक्रिया करके जीव प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान से सीधा चतुर्थ अविरत सम्यक्त्व के गुणस्थान पर आता है। अनादि - अनंत काल में जो कभी भी प्राप्त न हुआ वह आज इस समय ग्रंथि भेदोपरान्त सर्व प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है। आयुष्य भर के दरिद्र - भिखारी को जिस प्रकार परमात्र का भोजन मिलने पर जितना आनंद होता है, रंक को जिस प्रकार रत्नों की खान मिलने पर जितना परम आनंद आता है, उस से भी अनंत गुना आनंद जीव को प्रथम बार सम्यक्त्व की प्राप्ति में होता है। वास्तव

में गाढ़ अनादि मिथ्यात्व के अंधकार में जीव को वास्तविक सच्चा आनंद जो कभी भी नहीं हुआ था, वह आज प्रथमबार होता है। जन्म से अँधे व्यक्ति ने सो वर्ष तक प्रकाश, रूप, रंग कुछ भी देखा ही न हो, ऐसे की अद्यानक मृत्यु के समय आँखे खुल जाएँ और उसे सब कुछ दिखाई देने लगे और उसका उसे जो आनन्द होता है, उसकी अपेक्षा अनंत गुना आनंद जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय होता है। क्यों कि सच्चा ज्ञान, सच्चा तत्त्व आज प्रथम बार ही समझ में आया है।

आनन्दो जायते अत्यन्त तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।

सदृष्याध्याभिभवे यद्वन् व्याधिस्तस्य महौषधात् ॥

उन सम्यक्त्व प्राप्त महात्माओं को अत्यन्त परमानंद होता है, तात्त्विक आनंद होता है, जिस प्रकार जीवनभर की खुजली आदि भयंकर व्याधि महौषधि से मिट जाने पर जो शांति प्राप्त होती है, वैसा ही आनंद जीवन में होता है। ये सभी स्थूल उपमा के दृष्टान्त हैं। आत्मा के आनंद की अनुभूति करवाने जाएँ तो ये उपमाएँ - ये दृष्टान्त छोटे पड़ते हैं।

सम्यक्त्व प्राप्ति पर मोक्ष निर्णय :

अनादि अनंत काल में मिथ्यात्व के अंधकार में ८४ के चक्कर में परिभ्रमण करते हुए जीवात्मा ने कभी भी पूर्व में न प्राप्त किया न अनुभव किया ऐसा परमानंद, सम्यक्, सत्य तत्त्व की श्रद्धा और ज्ञानादि प्राप्त होने पर अब जीव का संसार परिभ्रमण अनंत के बजाय मर्यादित हो जाता है, अर्थात् अब इसके बाद उसे अनंत-काल तक भटकना नहीं पड़ेगा - अब तो निश्चित काल में वह मोक्ष में जाएगा ही। अब अनंत पुद्गल परावर्तकाल तक संसार चक्र में उसे भटकना नहीं पड़ेगा - ऐसा शास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख है।

अन्तोमुहुत्तमित्तं पि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं ।

तेसिं अवड्ढ पुग्गल परियट्ठो चेव संसारो ॥ (नव तत्त्व ५३)

एक अन्तर्मुहूर्त, २ घटिका, ४८ मिनिट भी जिसे सच्ची श्रद्धा रूप सम्यक्त्व का स्पर्श हो चुका हो, प्राप्त हो चुका हो, उस सम्यक्त्वशील भव्यात्मा का अब मात्र अर्ध पुद्गल परावर्त काल ही संसार शेष रहता है। एक पूर्व वलय वर्तुलाकार आवर्त जिसे एक पुद्गल काल कहते थे और ऐसे जीव ने अनंत पुद्गल परावर्त काल परिभ्रमण पूर्ण किये हैं, अब सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् जीव के लिये

मात्र अर्ध पुद्गल परावर्त काल ही शेष रहा है यह अर्ध उस अनंत के सामने कुछ भी नहीं है। बिल्कुल ही अल्प है। सम्यक्त्व प्राप्त करने का बड़े से बड़ा फल यदि कोई हो तो वह यह है कि जिस समय जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसी समय जीव का मोक्ष निश्चित हो जाता है। सम्यक्त्व की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष के निर्णय की पहचान। मोक्ष प्राप्ति अब निश्चित है - यह इसका चिन्ह है। इस प्रकार एक मात्र सम्यक्त्व प्राप्त करने मात्र से मोक्ष प्राप्ति निश्चित हो जाती हो तो फिर आनंद का परिमाण न्यून क्यों रहे ? सम्यक्त्व प्राप्त करने का यह महान् फल है।

सम्यक्त्व के पर्दे के पीछे मोक्ष छिपा हुआ है। सम्यक्त्व में मोक्ष का अस्तित्व है। यह समझकर भी सम्यक्त्व प्राप्त न हुआ हो तो किसी भी कीमत पर, लाख प्रयत्न करके भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु प्राणों की बाजी लगाकर भी संघर्ष करना चाहिये। आत्मा को अपूर्व पुरुषार्थ साधना ही चाहिये। किसी भी मूल्य पर सम्यक्त्व प्राप्त करके सच्चा श्रद्धालु बनना ही चाहिये और सम्यक्त्व प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे स्थायी बनाने रखना चाहिये। उसे स्थिर करने हेतु पुरुषार्थ करना चाहिये। यदि उसे टिकाए भी रखा हो तो उसे अधिकतम निर्मल करने हेतु सतत साधना के क्षेत्र में लीन रहना चाहिये। उसके लिये ६७ भेद से सम्यक्त्व की उपासना चलती ही रखनी चाहिये।

सम्यक्त्व का स्वरूप और प्राप्ति

सम्यक्त्व प्राप्ति

निसर्ग से

अधिगम से

‘तन्निर्साग्दाधिगमाद्वा’ तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकार पूर्वधर महापुरुष ने सम्यक्त्व प्राप्ति के दो मार्ग बताए हैं। (१) निसर्ग से और (२) अधिगम से। निसर्ग से अर्थात् प्राकृतिक रूप से - स्वाभाविक रीति से स्वयं ही स्वतः जीव नौ तत्त्वों की श्रद्धा को धारण कर लेता है, आत्मा परमात्मादि का स्वरूप चिन्तन, मनन आदि की प्रक्रिया से सच्चे स्वरूपमें अपने आप समझ कर सच्ची श्रद्धा प्राप्त करना।

दूसरा प्रकार अधिगम का है। अधिगम में देव-गुरु का उपदेश कारण - निमित्तरूप बनता है। शास्त्र श्रवण, उपदेश ग्रहण आदि की प्रक्रिया से जीव नव तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझ लेता है और सत्य मार्ग को स्वीकार कर लेता है उस में सच्ची श्रद्धा पैदा हो जाती है। इस मार्ग पर चलने से ही अधिकांश जीवों को सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ‘तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग् दर्शनम्’ तत्त्वभूत पदार्थों

और उनके वास्तविक अर्थों की सच्ची श्रद्धा का नाम ही सम्यग् दर्शन है । जगत में दृश्य अदृश्य अनेक पदार्थ हैं । उन पदार्थों को हम अपने ज्ञान के निर्णय बनाकर जानते हैं, जानते समय हम अपनी मनगढ़ंत रिती से भी जानने वाले नहीं, जैसे तैसे भी मानने वाले नहीं । वास्तव में जो पदार्थ जैसे हैं, जिस स्वरूप में हैं उसी स्वरूप में जानने और स्वीकार करने चाहिये । जी जैसे हैं उनसे विपरीत प्रकारसे मानते हैं तो पुनः मिथ्यात्व के ही चंगुल में फँसते हैं, क्यों कि मिथ्यात्व तो विपरीतता के भाव में है, जब कि सम्यक्त्व सच्चे शुद्ध स्वरूप की स्वीकृति में है। जिनकी श्रद्धा करनी है उन मूल तत्त्वभूत पदार्थों का परिचय देते हुए कहते हैं कि-

जीवऽजीवा पुष्णं पावाऽऽसव संवरो य निज्जरणा ।

बन्धो मुख्खो य तथा, नव तत्ता हुंति नायव्या ॥१॥

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव, (६) संवर, (७) निर्जरा, (८) बंध और (९) मोक्ष - ये नौ तत्त्व जानने योग्य हैं । दृश्यमान पदार्थ तो नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हैं, परन्तु प्रत्यक्षभूत पदार्थों को जानने - मानने में भी मतभेद हो जाता है, भ्रम हो सकता है, तब फिर अदृश्य तत्त्वों को तो जानने अथवा मानने की बात ही कहाँ रही । आत्मा (जीव), अजीव, पुण्य, पापादि तत्त्व प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, मोक्ष हमें अपनी आँखों के सामने नहीं दिखता - वह अदृश्य तत्त्व है । इन सभी पदार्थों को जिस रूप में हैं उसी यथार्थ स्वरूप में मानने या जानने में सम्यक्त्व रहा हुआ है उसके बिना नहीं । श्रद्धा होनी चाहिये पर कैसी? अंध श्रद्धा नहीं, बल्कि सच्ची श्रद्धा होनी चाहिये और सच्ची श्रद्धा तो सच्चे ज्ञान से ही संभव है ।

जीवाइ नव पयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं ।

भावेण सहहंतो, अयाणमाणेवि सम्मत्तं ॥

जीवादि नौ पदार्थों को जो सम्यग् प्रकार से जानता है, उसे सम्यक्त्व होता है, और भावपूर्वक जो इन पर श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व होता है । जानने योग्य तत्त्व आत्मादि नौ तत्त्व ही हैं । संसार के अन्य दृश्यमान पदार्थ तो जड़ पौद्गलिक - पदार्थ हैं - इन में क्या जानना है ? जानने योग्य - ज्ञेय तो नौ तत्त्व ही हैं ।

तत्त्वों को सही ढंग से कैसे जाने ?

हम अल्प बुद्धि वाले हैं - अज्ञानी हैं और अप्रत्यक्ष नौ तत्त्वों को तथा उनके

शुद्ध स्वरूप को हमें जानना - मानना है, तो अपने अल्प ज्ञान से उनका सच्चा स्वरूप हम कैसे जान पाएँगे ? इसीलिये कहा है कि 'जं जं जिणेहिं भासियाई तमेव निः संकं सच्चं' । सर्वज्ञ केवली भगवंतो के द्वारा प्ररूपित तत्त्व ही सच्चे हैं ऐसी बुद्धि ही सम्यग् दर्शन है - सच्ची श्रद्धा है । जो जो जिनेश्वर भगवंतों ने कहा है वह शंका रहित सत्य ही है - ऐसी मान्यता धारणा ही सच्चे सम्यक्त्व की पहचान है । ऐसी मति वाले को ही सच्चा श्रद्धालु समझें ।

जिन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ है, जो अनंतज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु बने हैं उन्होंने आत्मा से लगाकर मोक्षपर्यन्त सभी पदार्थों का स्वरूप अपने अनंतज्ञान से देखकर जो प्ररूपणा की है, पदार्थों का स्वरूप दर्शाया है उन्हीं तत्त्वों को, उन्हीं स्वरूप में जानने - मानने की अपनी निश्चयमति ही सच्ची श्रद्धा है । जिन तत्त्वों पर सर्वज्ञ की मुद्रा अंकित न हुई हो ऐसे तत्त्वों को मानना मिथ्यात्व की व्याख्या में आ जाता है, सर्वज्ञ के मुद्रांकित पदार्थों को उन्हीं स्वरूप में स्वीकार करने में जबकि सम्यक्त्व की पहचान है । सम्यक्त्वशाली आत्मा, परमात्मा, कर्म, धर्म, लोक-परलोक, पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष आदि सभी तत्त्वों को सच्चे शुद्ध स्वरूप में जैसे हैं वैसे ही मानेगा । अतः जो वस्तु जिस स्वरूप में है उसे उसी स्वरूप में जानना मानना ही सम्यक्त्व है - इससे विपरीत नहीं । सम्यक्त्व एक प्रकार की सत्य दृष्टि है । सत्य स्वरूप को स्वीकार करना ही सम्यक्त्व है ।

अनादिकाल के संसार का परिभ्रमण अज्ञान-मिथ्याज्ञान के कारण ही हुआ है । अब सच्चे सम्यग्ज्ञान सम्यग् श्रद्धा (दर्शन) से आत्मा का विकास साधते हुए प्रगति करनी है । आध्यात्मिक विकास साधना है ।

देव गुरु-धर्म से श्रद्धा का सम्यक्त्व :

या देवे देवता बुद्धिः गुरौ च गुरुतामति ॥३॥

धर्मं धर्मधीर्यस्य सम्यक्त्वं तदुदीरितम् ॥

जो यथार्थ में सर्वज्ञ वीतरागी देवाधिदेव परमात्मा है, उन्हें ही भगवान मानने की बुद्धि, इसी प्रकार त्यागी - तपस्वी, ज्ञानी गीतार्थ और कंचन कामिनी के त्यागी ३६ गुणों से शोभायमान, गुण युक्त को ही गुरु मानना - ऐसे गुरु में ही गुरुत्व की बुद्धि रखना और सर्वज्ञ केवली भगवंतो द्वारा कथित तत्त्वों में श्रद्धा रखना उनकी आज्ञा उनके उपदेश को ही धर्म मानना - उस सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म में ही धर्म बुद्धि रखना - इसी का नाम सम्यक्त्व कहा गया है । इस प्रकार भी भावार्थ

स्पष्ट दिखाई देगा कि सत्य में ही सत्यता की बुद्धि रखना, जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही जानना, अर्थात् तत्त्व की यथार्थता को स्वीकार करना - इसी का नाम सम्यक्त्व है - यही सम्यग् दर्शन है। इस श्रद्धा का धारक ही सम्यक्त्वी सम्यग्दर्शनी अथवा सच्चा श्रद्धालु बनता है - इससे विपरीत मिथ्यात्वी बनता है।

सम्यग् दर्शन से भव गणना :

हम पूर्व में विचार कर चुके हैं कि अनादि अनंत मिथ्यात्व काल में कितने भव हुए ? जीव ने कितने जन्म धारण किये ? आदि की गणना असंभव है, अशक्य है। मरण या अनंत में गणना कैसे हो ? संभव ही नहीं है, परन्तु जीव इस अनादि गाढ मिथ्यात्व का अंत लाए, उसे समाप्त करके सम्यक्त्व के सोपान पर चढ़ने लगता है, तभी से मोक्ष - प्राप्ति तक के काल में, वह कितने भव करता है, उनकी गणना होती है, क्यों कि जीव जैसे ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उसी समय उसके मोक्ष प्राप्ति का काल निश्चित हो जाता है। यद्यपि दोनों ही वस्तुएँ निश्चित हो जाती हैं, एक तो यह कि सम्यक्त्व प्राप्त किया हुआ जीव अवश्य मोक्ष में जाएगा ही, और दूसरी यह कि अर्धपुद्गल परावर्तकाल में तो वह अवश्य ही मोक्ष प्राप्त करेगा ही - इस में जरा भी शंका नहीं है। इस प्रकार मोक्ष और मोक्ष प्राप्ति का काल निश्चित हो ही जाता है। वह भी मात्र प्रथम सम्यक्त्व पाता है तभी अर्थात् अब विचार करो कि भूतकाल में अनंत भव-जन्म क्यों हुए ? क्यों कि काल अनंत था, अब काल अनंत नहीं है। अब तो मात्र अर्ध पुद्गल परावर्तकाल ही शेष रहा है फिर प्रश्न ही कहाँ रहता है ? इस अर्धपुद्गल परावर्तकाल में हो - हो के भी जीवात्मा के कितने भव हो सकेगा ? अनंत तो संभव ही नहीं है। अधिक से अधिक करे तो भी असंख्य भव हो सकते हैं, परन्तु अधिकांशतः तो संख्यात भवों में ही बड़ा पार हो जाता है, फिर प्रश्न कहाँ रहा ?

इस दृष्टि से हमारे आनंदित होने जैसा कोई भी विषय यदि आज हो तो वह एक मात्र सम्यक्त्व प्राप्त का है, इसी का आनंद मानने जैसा है, क्यों कि हमारी मोक्ष प्राप्ति के काल की मर्यादा का सारा आधार ही सम्यक्त्व पर है।

यह सम्यक्त्व जिस भव में प्राप्त किया वह प्रथम अब और मोक्ष प्राप्ति का अन्तिम भव गिना जाएगा और इन दो छोरों के मध्यवर्ती भवों की ही संख्या गिनी जाएगी। इस जीव ने कितने भव किये ? यहाँ उत्तर में यदि संख्या कहनी हो, तो इन दो छोरों के मध्य की ही संख्या बतानी है। प्रत्येक के भव-संख्या की गणना

इतनी ही करनी है । सम्यक्त्व प्राप्ति से पूर्व की मिथ्यात्व काल की, भव संख्या तो अनेक केवली एकत्रित होकर भी कहने बैठें तो भी अनंत होती है, अतः इनकी गणना तो संभव ही नहीं है । जो संभव है वह एक मात्र सम्यक्त्व प्राप्ति से मोक्ष तक ही भव संख्या की गणना संभव है, अतः मात्र सम्यक्त्व प्राप्त हुआ तभी से आगे के भवों की संख्या गिनी जाती है ।

बस, इस सिद्धान्त के आधार पर ही २४ तीर्थंकर भगवंतों की भव संख्या गिनी जाती है कि -

श्री आदीश्वर भगवान के १३ भव हुए । श्री शांतिनाथ भगवान के १२ भव हुए । श्री नेमिनाथ भगवान के ९ भव हुए । श्री पार्श्वनाथ भगवान के १० भव हुए । श्री महावीर स्वामी भगवान के २७ भव हुए । श्री अजितनाथ आदि शेष अनेक भगवानों के ३ - ३ भव हुए ।

इस प्रकार वर्तमान चौबीसी में तीर्थंकर भगवंतों के जो भव हुए हैं, उनकी भव संख्या दिखाई गई है । यह निश्चित संख्या ही क्यों है ? क्यों कि इसी भव संख्यामें प्रथम भव में सम्यक्त्व प्राप्त किया और अन्तिम भव में मोक्ष सिधारे थे । उदाहरणार्थ (१) भगवान ऋषभदेव के जीवने धनसार्थवाह के भव में सम्यक्त्व पाया था और अंत में १३वे भव में ऋषभदेव-आदीश्वर भगवान बनकर वे मोक्ष सिधारे थे । अतः उनके १३ भव कहलाते हैं । (२) भगवान पार्श्वनाथ के जीव ने मरुभूति के भव में प्रथमबार सम्यक्त्व प्राप्त किया था और अन्तिम दसवे भव में पार्श्वनाथ भगवान बनकर वे मोक्ष पधारे थे । अतः उनके १० भव कहलाते हैं । (३) भगवान महावीर प्रभु ने नयसार के भव में प्रथमबार सम्यक्त्व की प्राप्ति की थी और अन्तिम सत्ताईसवे भव में उन्होने निर्वाण प्राप्तकर मोक्षगमन किया था, अतः उनके २७ भव ही कहलाए । नयसार के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व मिथ्यात्वकाल में तो महावीर स्वामी आदि के भी अनंत भव हुए ही हैं । अतः किसी भी जीव के या प्रत्येक तीर्थंकर के निगोद से लगाकर मोक्षगमन तक की भव संख्या तो अनंत ही है, परन्तु उस में सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्ष में सिधारे तब तक की भव संख्या इस प्रकार ३, ९, १०, १३, या २७ की है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात्त्वर्ती विकास:-

अगाध भव संसार की सर्व प्रथम और महत्तम उपलब्धि ही सम्यक्त्व प्राप्ति है, और सम्यक्त्व प्राप्ति के पश्चात् अंतिम महत्तम उपलब्धि मोक्ष प्राप्ति है । मोक्ष

प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है, जब कि इसके लिये प्रथम लक्ष्य सम्यक्त्व प्राप्ति का है। यदि कोई सम्यक्त्व ही प्राप्त न करे, तो उसके लिए मोक्ष प्राप्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। सम्यक्त्व प्राप्ति से ही जीव का विकासक्रम प्रारम्भ होता है। आध्यात्मिक विकास के एक के पश्चात् एक शिखर पर विजय प्राप्त करनी होती है। संक्षिप्त में विकास -सोपान इस प्रकार दर्शाया जा सकता है :-

मोक्ष

सर्वज्ञ वितरागी सिद्धात्मा

अकषायी १,१३ गुणस्थान

अप्रमत्त साधु ५,८,९,१० गुण स्थान

प्रमत्त साधु ४ सर्व विरति

विरति धर श्रावक ३ सर्व विरती

श्रद्धालुश्रावक २ देशविरति

१ सम्यक्त्व

इस प्रकार जीव की विकासयात्रा का यह क्रम है। इस लक्ष्य से इसे आगे बढ़ना है। सम्यक्त्व पाने के साथ ही मोक्ष तो निश्चित हो ही जाता है। इसमें तो दो मत है ही नहीं, परन्तु यह मोक्ष भी न्यूनतम भवों में कैसे प्राप्त किया जाय ? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है अब यदि प्रमाद में रहे, तब तो भवों की संख्या बढ़कर बहुत बड़ी हो जाएगी। संख्यात - अर्थात् गिनती के भवों में ही मोक्ष प्राप्ति हो सकती हो तो असंख्यात की लम्बी संख्या क्यों बढ़ानी चाहिए ? इतनी बड़ी मूर्खता तो कदापि नहीं की जाए ? अतः सम्यक्त्व प्राप्त करने पर हमारा उत्तरद्रायित्व बहुत अधिक बढ़ जाता है कि अधिक से अधिक अप्रमत्तभाव से हम मोक्ष की दिशा में प्रयाण करें। एक-एक कदम आगे बढ़ें। इसी क्रम से उमास्वाति पूर्वधर पुरुषने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में प्रथम सूत्र दिया है कि "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः" सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रादि मोक्ष का मार्ग है, अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का मार्ग यही है। इसी मार्ग पर चलने से मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी, अन्यथा नहीं। अतः मोक्ष मार्ग पर आगे प्रयाण करने के लिये सम्यग्दर्शन का प्रथम सोपान आगे चढ़ने के बाद अन्य शिखरों पर विजय पताका फहराने के लिये सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु अथाक परिश्रम करना चाहिये और तत्पश्चात् सम्यग् चारित्र प्राप्त करने के लिये तन-मन से जुट जाना चाहिये। फिर तपादि का क्रम आएगा। इस प्रकार मोक्ष अधिक से अधिक निकट आएगा ऐसा करते करते आगे प्रगति करेंगे तो एक दिन बहुत ही

शीघ्र मुक्त होकर सिद्ध बन जाएँगे ।

तीर्थकर बनने की दिशा में प्रयाण :-

‘समकित गुणठाणे परिणम्या, बली व्रतधरसंयम सुख रम्या’
आत्म विकास के १४ गुणस्थान बताए गए हैं । इन १४ गुणस्थानों में प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थान से जीव सीधा ही चौथे गुणस्थान पर आता है और सम्यक्त्व प्राप्त करता है । सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् क्रमशः एक एक गुणस्थान पर आगे प्रगति करता जाता है । सम्यक्त्व प्राप्त करने के पश्चात् मोक्षगमन तक जीव अपने पुण्य-पाप के आधार पर चारों ही गतिओं में जन्म-मरण धारण करते हैं । कोई न्यूनधिक गति में भी जाते है । (१) भगवान् ऋषभदेव धन सार्थवाह के प्रथम भव में सम्यक्त्व पाते हैं, फिर उत्तरोत्तर देव और मनुष्य, मनुष्य और पुनः देव, फिर पुनः मनुष्य इस प्रकार मात्र देव-मनुष्य की दो ही गतियों में जन्म धारण करते हैं और १३वें भव में ऋषभदेव-आदिनाथ बनकर मोक्ष में पधारते हैं ।

(२) भगवान् नेमिनाथ भी अपनी ९ भव की परम्परा में देव-एवं मनुष्य की मात्र दो ही गतियों में जन्म धारण करते हैं और नौवें भव में नेमिनाथ भगवान् बनकर मोक्षगमन करते हैं ।

(३) भगवान् पार्श्वनाथ का जीव प्रथम मरुभूति के भव में सम्यक्त्व प्राप्त करता है और क्रमशः आगे बढ़ता है । कर्म संयोगवश मरुभूति का जीव मृत्यु पाकर दूसरे भव में हाथी बनता है । उन्होंने अपनी भव परम्परा में एक भव तिर्यच गति में किया और शेष भव देव-मानव गति में किए । इस प्रकार कुल ३ गतियों में भव किये और अंत में १० वें भव में भगवान् पार्श्वनाथ बनकर मोक्ष सिधारे ।

(४) भगवान् महावीर का जीव प्रथम नयसार के भव में मुनि महात्मा को आहारदान करके शुद्ध श्रद्धा के योग से सम्यक्त्व पाता है और फिर आगे बढ़ता है । भगवान् महावीर का जीव अपनी भव परम्परा में अनेक उतार-चढ़ाव देखता है । वह चारों ही गतिओं में जाता है और जन्म-मरण धारण करता है । चारों ही गतिओं में उनके जन्म -

मनुष्य	देव
१,३,५,६,८,१०	२,४,७,९,११,१३,
१२,१४,१६,१८	१५,१७,२४,२६
२२,२३,२५,२७	
२० तिर्यचगति	नरक गति १९,२१

इस प्रकार भगवान महावीर प्रभुने १४ भव मनुष्य गति में किये, १० भव देव गति में किये, १ बार २० वे भव में तिर्यच गति में सिंह के रूप में उत्पन्न हुए, वहाँ से पुनः नरक गति में गये १९वा भव सातवी नरक में और २१ वा भव चौथी नरक में - इस प्रकार नरक गति में २ भव किये । ऐसे कुल २७ भव करके अन्तिम सत्ताईसवे भव में भगवान महावीर बनकर मोक्ष में पधारे । मोक्षगमन तक उन्हें इतना घूमना पड़ा । वे चारों ही गतिओं में गए । सम्यक्त्व की प्राप्ति के पश्चात् भी उन्हें चारों ही गतिओं में जाना पड़ा और २७ भव करने पड़े परन्तु अंतिम २७ वे भव में भी उन्होंने सब कुछ साध लिया और वे मुक्तिपुरी के निवासी बने ।

तीर्थकर बनने की प्रक्रिया :

वीश स्थानक विधिए तप करी, ऐसी भावदया दिलमां धरी ।

जो होवे मुझ शक्ति इसी, सवि जीव करुं शासन रसी ॥

शुचिरस ढलते तिहां बांधता, तीर्थकर नाम निकाचता ॥

स्नात्र पूजा की ढाल में पूज्य वीरविजयजी महाराज उपरोक्त पंक्तियों में बताते हैं कि जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके आगे बढ़ता है और वीशस्थानक की आराधना करता है । साथ ही मन में जगत के सर्व जीवों के कल्याण की भाव दया का चिन्तन करता है और उसके आधार पर तीर्थकर नामकर्म उपाजित करता है। ये बीस स्थानक पद निम्न प्रकार हैं :

श्री बीसस्थानक यंत्र

बीस स्थानक के २० पद :

(१) अरिहंत पद (२) सिद्ध पद (३) प्रवचन पद

- | | | |
|------------------------|-----------------|----------------------|
| (४) आचार्य पद | (५) स्थविर पद | (६) उपाध्याय-पाठक पद |
| (७) साधु पद | (८) ज्ञान पद | (९) दर्शन पद |
| (१०) विनय पद | (११) चारित्र पद | (१२) ब्रह्मचर्य पद |
| (१३) क्रिया पद | (१४) तप पद | (१५) गोयम पद (दान) |
| (१६) वैयावच्च पद (जिन) | (१७) संयम पद | (१८) अभिनव ज्ञान पद |
| (१९) श्रुतपद | (२०) तीर्थ पद | |

जिन शासन में जिस प्रकार नौ पद हैं, उसी प्रकार २० पद हैं। इन्हीं २० पदों की आराधना करके तीर्थकर पद उपार्जित किया जाता है। त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के महान् ग्रंथ में हेमचन्द्राचार्य महाराज इन बीसों ही पदों की आराधना करके तीर्थकर नाम कर्मोपार्जन करने का फरमाते हैं। दूसरी और इन २० पदों में से किसी एक पद की आराधना करके भी तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित कर अरिहंत बनकर अनेक जीव मोक्ष में गए हैं। दोनों ही नियम प्रचलित हैं।

श्री लक्ष्मीसूरी महाराज कृत बीस स्थानक की पूजा में बीस स्थानक पदों में से एक एक पद की आराधना करके कौन कौन मोक्ष में गए हैं, उनकी नाम सूची इस प्रकार दी गई है :

- (१) अरिहंत पद की आराधना करके देवपाल राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (२) सिद्ध पद की आराधना करके हस्तिपाल राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (३) प्रवचन पद की आराधना करके जिनदत्त सेठ तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (४) आचार्य पद की आराधना करके पुरुषोत्तम राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (५) स्थविर पद की आराधना करके पद्मोत्तर राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (६) उपाध्याय पद की आराधना करके महेन्द्रपाल राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (७) साधु पद की आराधना करके वीरभद्र तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (८) ज्ञान पद की आराधना करके जयन्तदेव तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (९) सम्यग्दर्शन पद की आराधना करके हरिविक्रमराजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (१०) विनय पद की आराधना करके धनसेठ तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं।
- (११) आवश्यक - चारित्र पद की आराधना करके अरुण देव तीर्थकर नाम कर्म

बाँधते हैं ।

- (१२) ब्रह्मचर्य पद की आराधना करके चन्द्रवर्मा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१३) क्रिया पद की आराधना करके हरिवाहन तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१४) तप पद की आराधना करके कनककेतु राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१५) सुपात्रदान पद (गोयम पद) की आराधना करके हरिवाहन राजा तीर्थकर नामकर्म बाँधते हैं ।
(१६) वैयावच्च पद (जिन पद) की आराधना करके जिमितकेतु तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१७) संयम पद की आराधना करके पुरंदर राजा तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१८) अभिनव ज्ञानपद की आराधना करके सागरचन्द्र तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(१९) श्रुतपद की आराधना करके रत्नचूड तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।
(२०) तीर्थ पद की आराधना करके मेरु प्रभुसूरि तीर्थकर नाम कर्म बाँधते हैं ।

इस प्रकार २० पदों में से एक - एक पद की आराधना करने वाले ये बीस महात्मागण थे इन्होंने एक - एक पद की आराधना की तीर्थकर नाम कर्म उपाजित किया और महाविदेहक्षेत्र में तीर्थकर बनकर मोक्ष में गए ।

तीर्थकर नामकर्म :-

जैन दर्शन के कर्म शास्त्र में तीर्थकर नाम कर्म को भी एक प्रकार का शुभ उच्च कोटि का पुण्य कर्म माना गया है । आठ कर्मों में ४ घाति कर्म है और ४ अघाति कर्म है । घाति कर्मों में एक भी शुभ पुण्य प्रकृति नहीं है, जब कि अघाति कर्मों में शुभ पुण्य और अशुभ पाप की दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर ४२ प्रकृतियाँ पुण्य की हैं और अघाति में ३७ प्रकृतियाँ पाप की अशुभ की हैं । घाति की भी ४५ का योग करने पर $४५ + ३७ = ८२$ प्रकृतियाँ पाप की अशुभ हैं ।

नाम कर्म की १०३ प्रकृतियों में तीर्थकर नामकर्म की एक उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है । यह प्रकृति तीर्थकर बनने वाली आत्मा को बाँधनी ही पड़ती है, तभी वह तीर्थकर बन सकती है, अन्यथा संभव नहीं है । भावी में तीर्थकर बनने के लिये पूर्व के तीसरे भव में तीर्थकर नाम कर्म बाँधना ही पड़ता है ऐसा नियम है । जो जीव यह कर्म बाँधता है, वही तीर्थकर बन सकता है । अन्य अनेक ऐसे होते

हैं जो केवलज्ञान प्राप्त करके सर्वज्ञ वीतरागी बनते हैं, परन्तु उनके पूर्वोपार्जित तीर्थकर नामकर्म न होने से वे तीर्थकर नहीं बन सकते हैं ।

यह तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित करने के लिये बीस स्थानक की आराधना अनिवार्य होती है, फिर भले ही बीसों ही बीस पदों की आराधना करे अथवा बीस में से किसी भी एक पद की आराधना करे । आराधना दोनों प्रकार से हो सकती है । ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी के २४ तीर्थकर भगवंतों में से प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव भगवंत ने उनके पूर्व के तीसरे भव में अर्थात् ११ वे भव में जब वे वज्रनाम चक्रवर्ती थे, तब उन्होंने बीसों ही पदों की उत्कृष्ट रूप से आराधना करके 'तीर्थकर नामकर्म' बाँधा था और इसके परिणाम स्वरूप अन्तिम १३ वे भव में वे ऋषभदेव भगवान बन सके थे ।

दूसरे श्री महावीर प्रभु अपने अन्तिम तीसरे अर्थात् नन्दनराजर्षी के भव में २४ लाख वर्ष संसार में बिताकर १ लाख वर्ष आयुष्य जब शेष रहा था, तब संसार का त्याग करके चारित्र लेकर साधु बने थे और अपने साधुजीवन में मासक्षमणों की बड़ी उत्कृष्ट तपस्या करते थे । उन्होंने १ लाख वर्ष के चारित्र पर्याय में ११,८०,६४५ मासक्षमण किये थे और उन में बीसों ही बीस पदों की उत्कृष्ट आराधना करके तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया था, जिसके फलस्वरूप वे २७ वे अंतिमभव में तीर्थकर बने थे ।

श्री शांतिनाथ भगवान के १२ भव हुए हैं । उन्होंने १० वे भव में जब वे मेघरथ राजा थे और कबूतर तथा बाज पक्षी के प्रसंग से वैराग्य पाकर दीक्षा ली थी, तब उन्होंने अपने साधुपद पर रहते हुए बीस में से किसी एक पद की आराधना करके जिननाम कर्म उपार्जित किया था और उसके परिणाम में १२ वे भव में वे शांतिनाथ के नाम से १६ वे तीर्थकर बनकर मोक्ष सिधावे थे ।

भगवान श्री नेमिनाथ के धन और धनवती के प्रथम जन्म से लेकर कुल नौ भव हुए हैं । वे ७ वे भव में जब शंख कुमार के रूप में थे तब उन्होंने दीक्षा लेकर अपने साधु जीवन में बीस में से किसी एक स्थानक-पद की उत्तम आराधना करके तीर्थकर नाम कर्म बाँधकर वहाँ से ८ वे भव में अपराजित विमान में वे देव बने थे और नौवे भव में श्री नेमिनाथ नामक २२वे तीर्थकर भगवान बनकर मोक्ष पधारे थे ।

२३ वे भगवान श्री पार्थनाथ के १० भव हुए हैं । प्रथम मरुभूति के भव में सम्यक्त्व प्राप्त कर वे आगे बढ़े और ८ वे भव में जब वे सुवर्णबाहु राजा के

भव में सर्वस्व का त्याग करके दीक्षा ग्रहण कर साधु बने थे, उस समय बीस स्थानकों में से एक पद की सविशेष उत्तम आराधना करके उन्होंने जिननाम कर्म का उपार्जन किया था और वहाँ से स्वर्ग सिधारकर १० वे भव में भृगुवान पार्श्वनाथ बनकर वे मोक्ष में पधारे थे ।

इस प्रकार वर्तमान चौबीसी के २४ तीर्थकर भगवंतो में से प्रत्येक तीर्थकरने अपने पूर्व के तीसरे भव में बीस स्थानक पद की आराधना करके तीर्थकर नाम कर्म बाँधा था और फिर अन्तिम भव में तीर्थकर बनकर वे मोक्ष में सिधारे थे । इन में से प्रथम तीर्थकर भगवान श्री ऋषभदेव के जीव ने और अन्तिम श्री महावीर स्वामी भगवान के जीव ने दोनों ने बीसों ही बीस पदों की आराधना करके तीर्थकर नाम कर्म उर्पाजित किया था, जब कि अन्य सभी तीर्थकर भगवंतो ने बीस स्थानकों में से एक - एक पद की आराधना करके तीर्थकर पद की प्राप्ति की थी ।

सर्व जीवों के कल्याण की भावना :

तीर्थकर नामकर्म बाँधने के लिये बाह्य स्वरूप से वीस स्थानक की भक्ति, आराधना, तपश्चर्या आदि का जितना महत्व है, उतना ही महत्व आभ्यन्तर भावना की कक्षा पर सर्वजीवों के कल्याण की भावना का भी है । शीरा (हलुए) में आटे के साथ घी, शक्कर का भी इतना ही महत्व है । यह एक प्रकार की उदात्त भावना है, जिस में जगत के सर्व जीवों के कल्याण की कामना की जाती है । इसे भावदया का स्वरूप दिया गया है । जो होवे मुज शक्ति इसी तीर्थकर नाम कर्म बाँधने वाली आत्मा इस समय इस प्रकार चिन्तन करती है, आत्मा के भावों को प्रबल कोटि के बनाती है और भावना भावित करती है कि यदि मुझे ऐसी प्रबल शक्ति प्राप्त हो तो मैं 'सवि जीव करुँ शासन रसी' जगत के सभी जीवों को जिनेश्वर शासन के रसिक बना दूँ, सभी को अधर्मी में से धर्मी बना दूँ, सभी को पाप करने से रोककर, पुण्योपार्जन करते हुए बना दूँ, दुःख भोगने वाले सभी को सुख प्राप्ति का मार्ग बता दूँ, इस संसार में कोई भी पापाचरण न करे, न कोई दुःखी हो, सबका कल्याण हो... सभी प्रभु शासन की प्राप्ति करे... मैं सभी को प्रभु शासन प्राप्त करवाऊँ - ऐसी प्रबल शक्ति मुझे प्राप्त हो तो सुंदर...

ऐसी उत्कट उदात्त कक्षा की भावना भावित करते करते पवित्र शुभ अध्यवसाय में वे तीर्थकर नाम कर्म बाँधते है । 'शुचिरस ढलते तिहा बांधता...

तीर्थकर नाम निकाचता' पवित्र शुभअध्यवसाय के भावों में वे तीर्थकर नाम कर्म निकाचित करते हैं और शेष आयुष्य पूर्ण करके मृत्यु लोक प्राप्तकर स्वर्ग में सिधारते हैं । 'वच मां एक देव नो भव करी -' बीच में देवका एक भव करते हैं और फिर अन्तिम भव में तीर्थकर बनते हैं । तीर्थकर बनने की यह प्रक्रिया है । यही राज मार्ग है । इसी प्रकार तीर्थकर बनना शक्य है ।

वर्तमान काल में भी हजारों पुण्यात्माएँ बीस स्थानक तप करने वाले हैं - अनेक कर भी रहे हैं । यह मार्ग सच्चा है - इस में कहीं भी दो मत नहीं हैं, परन्तु दूध में शक्कर का ही अभाव है । बीस स्थानक की आराधना के साथ साथ "सवि जीव करुँ शासन रसी" की भाव दया का चिन्तन करने की भावना जागृत नहीं होती है । यह भावना से भावित नहीं कर पाते हैं । भावना में कहाँ पैसे खर्च होते हैं ? एक भी पैसा नहीं लगता फिर भी मन में इतने उदार भाव पैदा नहीं होते हैं और जगत के सभी जीवों के कल्याण की भावना जागृत नहीं होती है । मनः संतोष के खातिर बीस स्थानकों की आराधना हो जाती है, परन्तु भावना से वंचित रहने वाले तीर्थकर नाम कर्म बाँधने में असमर्थ रहते हैं । अतः बाह्य तौर पर बीस स्थानक तप की आराधना और आभ्यंतर कक्षा में सभी जीवों को शासन रसिक बनाने की भाव दया की भावना - ये दोनों ही आवश्यक हैं, तभी तीर्थकर नाम कर्म निकाचित होगा और तभी भविष्य में तीर्थकर बनना संभव होगा । भावी में तीर्थकर बनने के लिये वर्तमान में इस बीस स्थानक की आराधना आदि पूर्वक तीर्थकर नाम कर्म बाँधना अर्थात् तीर्थकर बनने के लिये Reservation आरक्षण करवाना है । अब आईये भावी चौबीसी का विचार करें ।

आगामी चौबीसी की २४ पुण्यात्माएँ —

एक के पश्चात् एक इस प्रकार चौबीसियाँ तो होती ही रहेगी ।

आगे चौबीसी हुई अनन्ती, वली रे होशे वार अनन्ती ।

नवकार तणी कोई आदि न जाणे, एम भाखे अरिहंत रे ॥

भूतकाल में अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं और भावी में भी अनन्त चौबीसियाँ होने वाली ही हैं, अतः नवकार की कोई आदि नहीं जानता, ऐसा स्वयं अरिहंत भगवान फरमाते हैं । इस प्रकार चौबीसियों का क्रम चलता ही रहता है । यह वर्तमान चौबीसी जो श्री आदीश्वर भगवान से २४ वे श्री महावीर स्वामी भगवान तक हुई है, इस में अनेक पुण्यात्माओं ने बीस स्थानक तप पूर्वक भावना

भाहित कर तीर्थकर नाम कर्म उपाजित किया है और वे आगामी चौबीसी में तीर्थकर बनने के सौभाग्यशाली बने हैं । उनके शुभ नाम इस प्रकार हैं ।

तीर्थकर नाम कर्म बाँधने वाले

१. श्रेणिक महाराजा का जीव
२. महावीर के चाचा सुपार्थ
३. कोणिक पुत्र उदायन का जीव
४. वीर का पोष्टिल नामक श्रावक
५. श्री दृढायुष का जीव
६. श्री कीर्ति का जीव
७. भ. महावीर का शंख नामक महा श्रावक

८. श्री आणंद श्रावक का जीव

९. श्री सुनंदा का जीव

१०. श्री शतक श्रावक (भ.म.के)

११. श्री देवकी का जीव

१२. श्री कृष्ण वासुदेव का जीव

१३. श्री सत्यकी श्राविका का जीव

१४. श्री बलदेव का जीव

१५. श्री सुलसा श्राविका का जीव

१६. श्री रोहिणी श्राविक का जीव

१७. श्री रेवति श्राविका का जीव

१८. श्री शताली का जीव

१९. श्री द्विपायन का जीव

२०. श्री कर्ण का जीव

२१. श्री नारदजी का जीव

२२. श्री अंबड तापस का जीव

२३. श्री अमर का जीव

२४. श्री स्वातिबुद्ध का जीव

भावी में होने वाले तीर्थकर के नाम

प्रथम श्री पद्मनाभ भगवान

दूसरे श्री सुरदेव स्वामी

तीसरे श्री सुपार्थ स्वामी

चौथे श्री स्वयंप्रभस्वामी

पाँचवे श्री सर्वानुभूति

छठे श्री देवश्रुत भगवान

सातवे श्री उदयस्वामी

आठवे भी पेढाल स्वामी

नौवे श्री पोष्टिल स्वामी

दसवे श्री शतकीर्तिस्वामी

ग्यारहवे श्री मुनिसुव्रत स्वामी

बारहवे श्री अममस्वामी

तेरहवे श्री निष्कषाय भगवान

चौदहवे श्री निष्पुलाक भगवान

पन्द्रहवे श्री निर्ममत्व भगवान

सोलहवे श्री चित्रगुप्त स्वामी

सत्रहवे श्री समाधिजिन

अठारहवे श्री संवरजिन

उन्नीसवे श्री यशोधर स्वामी

बीसवे श्री विजयजिन

इक्कीसवे श्री मल्लीनाथ भगवान

बाईसवे श्री देव स्वामी भगवान

तेईसवे श्री अनंतवीर्य स्वामी

चौईसवे श्री भद्रस्वामी भगवान

उपरोक्त २४ महापुरुष परम पुण्योदय वाले पुण्यशाली हैं जिन्होंने तीर्थकर

नाम कर्म उपार्जित किया है और आगामी चौबीसी में वे सभी उन उन नाम वाले तीर्थकर बनकर अनेक भव्यात्माओं को तिरा कर मोक्षगमन करेंगे । कहते हैं कि “सुलसादिक नव जण ने दीयो” सुलसा आदि नौ को भगवान महावीर ने तीर्थकरत्व प्रदान किया है, अर्थात् भगवान महावीर स्वामी के समय में ही ९ महान् व्यक्तियों ने तीर्थकर नामकर्मबाँधा है, जिन में राजा श्रेणिक, सुलसाश्राविका, रेवती श्राविका, शंख-श्रावक, आणंद श्रावक, उदायन, पोटिल श्रावक, सुपार्थ चाचा, शतक श्रावक आदि प्रमुख हैं । अकेले चरम जिनेश्वर प्रभु महावीर के समय में नौ-नौ पुण्यात्माओं ने तीर्थकर नामकर्म का उपार्जन किया, यह कोई छोटी सी नगण्य बात नहीं, बल्कि बड़ी ही महत्त्वपूर्ण बात है ।

आगामी चौबीसी में तीर्थकर बनने वालों की नामावली पढ़ने से आश्चर्य होगा। श्री कृष्ण वासुदेव भी तीर्थकर भगवान बनेंगे और बारहवे अममस्वामी के रूप में पूजित होंगे । नारदजी, जिन्हें सभी लोग नाटकीय - मायावी कहते हैं, परन्तु वास्तव में वे कैसे रहे होंगे कि जिसके कारण उनका तीर्थकर बनना सुनिश्चित हो चुका है । वास्तविकता को ताक पर रखकर भिन्न चित्र ही प्रस्तुत हुआ है - ऐसा लगता है । कर्ण आदिभी ऐसे ही है, जिन्हें देखकर आश्चर्य अवश्य होगा। भावीमें तीर्थकर बन्नने वाले नामादि निक्षेप से अभी वर्तमान में ही पूजनीय बन जाते हैं । आगामी सम्पूर्ण चौबीसी की प्रतिमाएँ हैं और वे भी अभी पूजनीय हैं। पद्मनाभस्वामी का तो भव्य विशाल जिनालय उदयपुर (राजस्थान) में आज भी विद्यमान है, जिस में बड़ी ही भव्य एवं विशाल प्रतिमा है जो वर्षों से पूजी जाती है।

रावण भी तीर्थकर बनेंगे :

वर्तमान काल में रावण को एक मात्र ‘बुरे’ नाम से ही पहचाना जाता है । बुरा बुरा कहते कहते यहाँ तक परिस्थिति पैदा हो गई है कि ‘बुरा’ शब्द ही रावण का पर्यायवाची शब्द बन चुका है । प्रभु महावीर सापेक्षवाद की अनेकान्तिक दृष्टि से देखने की-हमें शिक्षा देते हैं, और इस प्रकार इस दृष्टि से सापेक्ष भाव से रावण को देखें तो मन में प्रश्न उठता है कि रावण बुरा था या रावण का एक कार्य बुरा था ? क्या रावण का सम्पूर्ण जीवन बुरा था ? जिसके कारण हम रावण-बुरा, रावण बुरा की चीख पुकारते रहते हैं । सीता के अपहरण करने का रावण का एक कार्य वास्तव में बुरा कार्य था, इससे यह बात निर्विवाद है । सचमुच ही रावण ने

यह बहुत ही बुरा कार्य किया था । रावण जैसे महासमर्थ व्यक्ति को ऐसा घृणित अपकृत्य कभी भी नहीं करना चाहिये था । रावण का यह कार्य निश्चित रूप से बहुत ही बुरा था, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि सम्पूर्ण रावण अथवा रावण का समग्र जीवन ही बुराईयों का गर्त था । नहीं इसके बजाय रावण के जीवन में दृष्टिपात करेंगे तो उसके जीवन का उज्ज्वल पक्ष भी हमें दिखाइ देगा । कदाचित् वह उज्ज्वल पक्ष इतना अधिक उज्ज्वल होगा कि उसके सामने हम भी फीके पड़े जाएँगे ।

रावण के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना जो जैन शास्त्रों में शोभा बढ़ा रही है, उसमें वर्णन किया हुआ है कि रावण परम जिन भक्त था । नित्य - प्रतिदिन बड़े ही उत्साहपूर्वक प्रभु भक्ति करता था । एक बार वह अष्टापद महातीर्थ की यात्रा करने स्व - पत्नी मंदोदरी के साथ जाता है और अष्टापद पर आसीन वर्तमान चौबीसी के चौबीसों ही जिनेश्वर भगवंतों की प्रतिमाओं के समक्ष रावण स्व-पत्नी के साथ नृत्य गान की भक्ति में निमग्न हुआ । महारानी मंदोदरी नृत्य करने लगी, रावण वीणा बजाने लगा, वीणा बजाना तो एक माध्यम था - साधन रूप था, परन्तु रावण के हृदय के तार झंकृत हो उठे थे । एकाकारता और तन्मयता - तादात्म्यता का सुंदर नमूना था ।

इतने में रावण की वीणा का तार टूट गया । रावण चौंका । प्रभु-भक्ति की अखंड धारा में, मंदोदरी के नृत्य में कहीं भी स्खलना न हो, इस लिये रावण ने क्षणभर में ही अपनी नस निकालकर वीणा में जोड़ दी और भक्ति को अक्षुण्ण रखा । भावोल्लास बहुत ही उच्च कोटि का था । शुभ अध्यवसायों की तल्लीनता में, अरिहंत पदकी भक्ति में रावण ने उसी क्षण तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित किया और यहाँ से महाविदेह क्षेत्र में तीर्थकर बनकर मोक्षगमन करेंगे ।

इस पर एक बात तो निश्चित रूप से महसूस होती है कि रावण को बुरा - बुरा करते और देखते देखते तो हमारी दृष्टि ही बुरी हो जाएगी । इसी का परिणाम है कि रावण का पुतला बनाकर दशहरे के दिन जलाया जाता है । रावण तो गया.. रावण तो भक्ति करके तीर्थकार बनकर मोक्ष में भी चले जाएँगे, परन्तु हमारी दृष्टि जो बुरी बन चुंकी है वह कब मिटेगी ? कब उसमें परिवर्तन आएगा ? इसका पता नहीं ।

इसलिये भगवान श्री महावीर ने सत्य ही कहा है कि काने को काना मत कहो, अँधे को अँधा भी मत कहो, पापी को पापी भी मत कहना और चोर को

चोर भी मत कहना । पाप करने वाला तो कदाचित् कल या कालांतर में पश्चाताप या प्रायश्चित्त करके भी अपना उद्धार कर लेगा, परन्तु कटु अप्रिय वचन बोलने वाले हम जैसे का क्या होगा । अतः वाचिक - मानसिक शुद्ध और सूक्ष्म अहिंसा का भी हमें पालन करना चाहिये ।

इस व्याख्यान में अरिहंत परमात्मा किस प्रकार बना जाता है ? बनने की प्रक्रिया क्या होती है ? आत्मा से परमात्मा बनने की शुद्ध प्रक्रिया का सिद्धान्तानुसार यहाँ वर्णन किया गया है । मनन पूर्वक इस प्रक्रिया का हमें चिंतन करना है । हमें अपनी आत्मा में निहित अनंतशक्ति का ज्ञान होना चाहिये । परमात्मा बनने का बीज भी हमारी आत्मामें पड़ा हुआ है । हाँ, इसका ज्ञान हमें होना चाहिये और फिर हवा-पानी प्रकाशादि सहयोगी कारण मिलने पर जिस प्रकार बीज विकसित होकर सम्पूर्ण वृक्ष बनता है और हजारों फल-अन्य बीजोत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार हम भी अपनी आत्मा में पड़े हुए परमात्मा बनने के बीज को बीस स्थानक पदों की आराधना, तपश्चर्या तथा भावदया की भावना - चिन्तन के नीररूपी रस का सिंचन करके तीर्थकर नाम कर्म उपार्जित कर भविष्य में तीर्थकर बनकर हजारों लाखों आत्माओं को मोक्षमार्ग की प्राप्ति करवाकर मोक्ष नगरी में पहुंचाकर भगवान बनकर मोक्षगमन करने का लक्ष्य रखें तो कितना सुंदर होगा ।

हम सभी इन पदों की उपासना करके आत्मा को परमात्मा बनाएँ - ऐसी ही महान् इच्छा..... जगत के सभी जीवों का कल्याण हो ऐसी भावना के साथ.....

॥ अप्या सो परमप्या ॥

‘अरिहंत परमात्मा वा विशुद्ध स्वरूप’

अरिहंत, अरुहंत, अरोहंत, अर्हन्, अर्हं, अरहंत ऐसे जिन, जिनेश्वर, तीर्थंकर, वीतराग, सर्वज्ञ परमात्मा के परमेष्ठि स्वरूप को अनंतानंत नमस्कारपूर्वक

सकल जिनागमों में शिरोमणि स्वरूप पंचमांग श्री भगवती सूत्र में महामंत्र के मंगलाचरण की व्याख्या करते प्रथम ‘नमो अरिहंताणं’ पदकी व्याख्या व्युत्पत्ति करते हुए नवांगीवृत्तिकार पूज्यपाद अभयदेव सूरि महाराज फरमाते हैं कि -

अरहंति वंदण नमसणाणि अरहंति पूयसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥

वंदन और नमस्कार करने योग्य, पूजा और सत्कार के योग्य तथा सिद्धिगमन के योग्य जो होते हैं वे अरहंत कहलाते हैं, ऐसे अरहंत भगवंतों को नमस्कार हो।

चरम भव प्रवेश :-

‘अरिहंत परमात्मा का शुद्ध स्वरूप’ से हम आत्मा - परमात्मा बनने की दिशा में आगे बढ़ते हैं सम्यक्त्व प्राप्त करके आगामी भव करता करता आगे बढ़ता हुआ जीव -- अंतिम भव से पूर्व के तीसरे भव में बीसस्थानक तपकी आराधना करता करता ‘सवि जीव करुं शासन रसी’ की भावना से भावित करता हुआ तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जित करता है, अर्थात् आगामी तीर्थंकर अरिहंत भगवान बनने का निर्णय करता है । बीच में एक देव का भव करके इस नियमानुसार उस जन्म में से मृत्युपाकर स्वर्ग की देवगति में जाता है. देवलोक में देव के रूप में वह जन्म लेता है, जैसा कि भगवान पार्श्वनाथ नौवे भव में दसवे प्राणत नामक देवलोक में जन्म लेकर देवता बने थे, भगवान महावीर स्वामी का जीव भी छब्बीसवें भव में दसवे प्राणत नामक देवलोक में देव ऋद्धिवाले देव बने थे और वहाँ २० सागरोपम का आयुष्य था ।

यह आवश्यक नहीं है कि सभी अन्तिम से पूर्व के भव में देवलोक में ही जाएँ और देवता ही बनें - ऐसा भी नियम नहीं है । तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने से

पूर्व ऐसे कोई भारी अशुभ कर्म यदि उपार्जित कर लीये हों तो, वह जीव नरक गती में भी जाता है और नरक की वेदना..... अशुभ कर्मों का फल भोगता है, वहाँ से निकलकर चरम भव में आकर भी तीर्थकर बनते हैं। जैन धर्म - जैन दर्शन कर्मसत्ता का स्वरूप सर्वोपरि मानता है। कृत कर्म सभी को भोगने ही पडते हैं, फिर वह आत्मा सामान्य आत्मा हो अथवा विशिष्ट कक्षा की - परमात्मा बननेवाली हो, पूर्व कृत कर्म तो सभी को भुगतने ही पडते है, इस में किसी का बस नहीं चलता।

मगधाधिपति सम्राट श्रेणिक (राजा बिंबिसार) राजाने तीर्थकर नाम कर्म का उपार्जन करने से पूर्व शिकारआदि पापमय वृत्तियों में आसक्त बनकर हिंसाचार आदि दोष-सेवन करने के कारण अशुभ नरक गती योग्य अशुभ पापकर्म का उपार्जन किया था। उस कर्मोदय के कारण श्रेणिक राजा के जीव को नरक गति में जाना पड़ा। इस बात को हुए मात्र ढाई हजार वर्ष के आसपास की ही अवधि बिती है। नरक गती में से निकलकर वे चरम भव में आकर आगामी चौबीसीमें पद्मनाभ स्वामी नामक प्रथम तीर्थकर बनेंगे।

बीच में जो समयवधि है वह बहुत लम्बी है -

(१) अवसर्पिणी का पंचम आरा	२१,००० वर्ष का है।
(२) अवसर्पिणी का छद्म आरा	२१,००० वर्ष का है।
(३) उत्सर्पिणी काल का छद्म आरा (नीचेसे) भी	२१,००० वर्ष का है।
(४) उत्सर्पिणी काल का पांचवा आरा (नीचेसे) भी	२१,००० वर्ष का है।
इस प्रकार कुल चार आरों का समय	८४,००० वर्ष का है।

इतने लम्बे काल तक श्रेणिक राजा का जीव प्रथम रत्न प्रभा नामक नरकभूमि में नारक के रूप में ही रहेगा। प्रथम नरक में १ सागरोपम जितना उत्कृष्ट आयुष्यकाल है। सागरोपम अर्थात् असंख्य वर्षों का काल, जब कि ८४,००० वर्ष तो बहुत ही कम है। प्रथम नरक में न्यूनतम आयुष्य काल ही १०,००० वर्ष का होता है। इस से कम तो कोई भी जी ही नहीं सकता है।

इतने ८४,००० वर्षों तक श्रेणिक राजा का जीव प्रथम नरक में यह आयुष्य काल भुगत कर स्वकर्म स्थिति के अनुसार वहाँ से निकलकर अंतिम भव में आएँगे और पद्मनाभस्वामी के रूप में आगामी चौबीसी के प्रथम तीर्थकर बनेगा।

अर्थात् तीर्थकर नाम कर्म बाँधा हुआ जीव मनुष्य अथवा तिर्यच गति में चरम भव के उत्तरवर्ती भव में जन्म नहीं लेता। यह दो गति में नहीं जाता है, मात्र

देव या नरक गति में ही जाता है वहाँ जन्म लेकर वह देवता या नारक बनता है, फिर वह भवपूर्ण करके च्यवन करता है और चरम भव में प्रवेश करता है ।

च्यवन करके चरम भव में आना :-

च्यवन करना अर्थात् एक जन्म में से मृत्यु प्राप्त कर दूसरे जन्म में आना। स्वर्ग - नरकादि का आयुष्यकाल समाप्त होने पर वहाँ से च्यवन कर के अर्थात् मृत्यु प्राप्त कर उतर कर जहाँ जन्म लेना हो उस उत्पत्ति स्थल में माता के गर्भ में आने का नाम च्यवन है तीर्थकर परमात्मा पूर्वभव समाप्त करके चरम भव में आकर माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं जिससे च्यवन कल्याणक कहते हैं । चौबीसों तीर्थकर भगवंतो के च्यवन कल्याणक की तिथियाँ शास्त्रों में वर्णित हैं जैसे -

- (१) प्रथम तीर्थकर श्री आदिनाथ भगवान का च्यवन कल्याणक ज्येष्ठ कृष्णा ४ है ।
- (२) सोलहवे श्री शांतिनाथ भगवान का च्यवन कल्याणक श्रावण कृष्णा ७ है ।
- (३) बाईसवे श्री नेमिनाथ भगवान का कल्याणक आश्विन कृष्णा १२ है ।
- (४) तेईसवे तीर्थाधिपति श्री पार्श्वनाथ भगवान का च्यवन कल्याणक फाल्गुण कृष्णा ४ है ।
- (५) चौबीसवे चरमतीर्थपति श्री महावीर स्वामी भगवान का च्यवान कल्याणक आषाढ शुक्ला ६ है ।

इस प्रकार चौबीसों भगवानों के २४ च्यवन कल्याणकों की सभी तिथियाँ स्पष्ट रूप से दी हुई हैं । पंचाग आदि में प्रकाशित हैं । इन च्यवन कल्याणक आदि पाँचों ही कल्याणकों की आराधना - तपश्चर्या व्रतादि से होती है ये तिथियाँ अर्थात् तीर्थकर परमात्मा का जीव पूर्वभव में से च्यवन कर माता के गर्भ में जिस दिन आया और गर्भ के रूप में उत्पन्न हुआ उसी दिन की तिथियाँ हैं ।

सामान्यतः मनुष्यों में यह विचार आना लगभग असंभव सा ही होता है कि किस दिन गर्भ में जीव आता है । इसका पता ही नहीं लगता । स्त्री को भी गर्भ ठहरने के प्रथम दिन का तो ख्याल आता ही नहीं, जब कि तीर्थकर भगवान किस दिन - किस तिथि को पूर्वभव समाप्त करके मृत्यु पाकर माता की कुक्षि में आकर गर्भरूप से उत्पन्न हुए उन तिथियों का निश्चित उल्लेख प्राप्त होता है । यह ज्ञानी गीतार्थ भगवंतों की देन है । इस तिथि को ही च्यवन कल्याणककी तिथि कहते हैं । तीर्थकर परमात्मा जन्म से ही तीन ज्ञान के स्वामी होते हैं । प्रभु जानते हैं कि मेरा

आयुष्यकाल समाप्त हुआ है और अब स्वर्ग से मेरा च्यवन होने वाला है तथा माता की कुक्षि में - मैं गर्भरूप से उत्पन्न होने वाला हूँ । गर्भ में आने के पश्चात् प्रभु जानते हैं कि मेरा च्यवन हो चुका है, परन्तु वर्तमान काल में मेरा च्यवन हो रहा है इसका पता नहीं चलता क्यों कि वर्तमानकाल इतना सूक्ष्म है और इतने सूक्ष्म काल के २ या ३ समय में यह कार्य हो चुका होता है कि इस च्यवन का वर्तमान काल और वर्तमान कालिक क्रिया का स्पष्ट ख्याल नहीं आता । इस प्रकार श्री कल्पसूत्र में वर्णन है ।

जिस दिन परमात्मा माता के गर्भ में पधारते हैं, उस दिन को ही च्यवन कल्याणकके रूप में माना जाता है । कल्याणक अर्थात् कल्याण करने वाला । शास्त्रों में प्रभु के पाँच कल्याणक बताए हैं (१) च्यवन कल्याणक, (२) जन्म कल्याणक (३) दीक्षा कल्याणक (४) केवलज्ञान कल्याणक और (५) निर्वाण कल्याणक - इन कल्याणक के दिनों में समस्त लोक में आनंद ही आनंद छाया रहता है । दुःखी आत्माएँ भी प्रसन्न हो जाती हैं । आनंदका अनुभव नरक आदि में भी हो जाता है ।

माता के उदर में प्रभु का वास -

स्वर्ग से च्यवन कर माता के उदर में पधारे हुए प्रभु के प्रभाव से उनकी मातुश्री चौदह स्वप्न देखती हैं । स्वप्नशास्त्र में वर्णित ७२ स्वप्नों में से ३० महा स्वप्नों में से विशिष्ट प्रकार के खास १४ महा स्वप्न देख कर मातुश्री प्रातः जागृत होती हैं और जाकर राजा को १४ स्वप्नों का निवेदन करती हैं । फिर राजा स्वप्न पाठकों को बुलाकर उन्हें स्वप्न फल संबंधी बातें पूछते हैं । स्वप्न शास्त्र विशेषज्ञ स्वप्नों का वर्णन करते हुए ३० स्वप्नों में से इन १४ स्वप्नों को सर्व श्रेष्ठ बताते हुए कहते हैं कि ये १४ स्वप्न तीर्थकर की माता को अथवा चक्रवर्ती की माता को आते हैं । इनमें देव विमान आदि के निर्णय पर - यह तीर्थकर का जीव है - ऐसा जानकर मातुश्री सुखपूर्वक धर्म का पालन करती हैं ।

तीर्थकर परमात्मा गर्भरूप में जब माता के उदर में रहे हुए होते हैं, तब माताजी को दोहद उत्पन्न होते हैं ये दोहद (भाव) भी विशिष्ट कक्षाके होते हैं, उन में भी दान देने, साधु - साध्वीवृंद की भक्ति करने, तीर्थयात्रा करने, अमारि पडह बजवाने, स्वामि वात्सल्य करवाने, अभयदान देने, जिनमंदिर आदि के दर्शनार्थ जाने, गज अंबाडी पर बैठकर लोगों पर शासन करने आदि प्रकार के दोहद उत्पन्न

होते हैं । राजा इन सभी दोहदों - मनोरथों की संतुष्टि - पूर्ति करवाते हैं ।

तीर्थंकर भगवंत की मातुश्री गर्भ का पालन - पोषण उत्तम प्रकार के आहारादि से करती हैं, जिससे गर्भ की पुष्टि भली प्रकार हो सके । प्रभु माता के गर्भ में भी ज्ञान युक्त होते हैं । गर्भस्थ प्रभु सब कुछ जानते हैं । वर्तमान विज्ञान अभी तक यही डींग हॉक रहा था कि गर्भ में जीव ही नहीं होता, फिर कहा कि कुछ महिनों तक नहीं होता और बाद में आता है - आदि बाँते निरर्थक सिद्ध होती हैं । अभिमन्यु चक्रव्यूह का ज्ञान गर्भकाल में ही सीखकर आता है । श्री तीर्थंकर भगवान को सारा ही ज्ञान गर्भ में ही होता है । इसीलिये श्रीमहावीर प्रभु निष्कंप हो गए थे । मनोगत संकल्प करके कि माता- पिता की विद्यमानता में संसार छोडकर दीक्षा ग्रहण नहीं करूँगा - ऐसी प्रतिज्ञा गर्भ में ही करते हैं यह सब कब संभव हो सकता है ? गर्भ में जब ज्ञान हो तभी संभव है ।

प्रभु का जन्म कल्याणक :-

साढे नौ माह का गर्भकाल होता है, तब प्रभु का जन्म होता है । सभी ग्रह उच्च स्थान पर स्थित होते हैं, तब शुभ नक्षत्र के साथ चंद्र का योग होता है । ऐसे शुभ दिन करण और योग में बाधा और पीड़ा रहित मातुश्री प्रभु को जन्म देती है । प्रभु के जन्म समय सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का साम्राज्य होता है । हेमचंद्राचार्य महाराज वीतराग स्तोत्र में वर्णन करते हुए कहते हैं कि

“नारका अपि मोदन्ते यस्य कल्याण पर्वसु ।

पवित्रं तस्य चरित्रं को वा वर्णयितुं क्षमः” ॥

सातों ही नरक भूमियों में जहाँ सर्वत्र अँधकार का बोलबाला होता है और नारक - जीव भयंकर वेदना में कष्ट और पीड़ा में रिबाते हों, त्रस्त हो गए हों, जहाँ आनन्द सुख आदिकी रति भर भी संभावना न हो-ऐसे नरकों में भी परमात्माके जन्म के समय प्रकाश छा जाता है । दो घटिकाओं के लिए तो अदभृत आनन्द छा जाता है । यह सब प्रभु के जन्म को आभारी है, अतः जन्म को भी जन्म कल्याणक महोत्सव कहते हैं । राजमहल में भी सर्वत्र खुशियों की लहर फैल जाती है ।

दैविक जन्मोत्सव :-

तीर्थंकर नाम कर्म उपार्जन कर के प्रबल पुण्योदय से प्रभु के जन्म समय स्वर्ग में बिराजे हुए सौधर्मन्द्र का सिंहासन चलायमान होता है । इस संकेत से

सौधर्मन्द्र पल भर कुपित होकर उसकी कोई हत्या करने हेतु कोई तैयार हुआ हो - ऐसी शंका करके चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है, फिर भी सिंहासन चलित रहता है। तब अवधिज्ञान का उपयोग करने पर उसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई उपद्रव नहीं, बल्कि त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमात्मा का जन्म हुआ है। यह जानकर इन्द्र महाराजा हरिणगमेषी नामक अंगरक्षक देव को बुलाते हैं। सुघोषा घंट बजवा कर समस्त देव लोक में प्रभु के जन्म की बधाई के समाचार प्रसारित किये जाते हैं, जिससे सभी देवी - देवतागण प्रभु के जन्माभिषेक महात्सव मनाने हेतु मेरु पर्वत पर आएँ।

इस ओर दसों ही दिशाओं में रहने वाली ५६ दिग्कुमारिकाओं के आसन चलित होते हैं। अपना शाश्वत आचार जानकर दिग्कुमारिकाएँ प्रभु के जन्म-स्थल पर आती हैं, भिन्न भिन्न दिशाओं से आगत आठ आठ दिग्कुमारिकाएँ जन्म संबंधी शुचि कर्म करती हैं, माता और पुत्र की देहशुद्धि करती हैं, नाभिनाल छेदादि कार्य करती हैं, केलिगृह की रचना करती हैं, सभी कार्य सम्प्रादित कर फिर आनन्दोत्सव मनाती हैं, नृत्य गान करती हैं और अपना आनंद व्यक्त कर स्व-स्थान पर लौट जाती हैं।

मेरुपर्वत पर अभिषेक :-

इस और इन्द्र महाराजा राजभवन में आते हैं माताभयभीत न हो इस के लिये माता को अपना परिचय देते हैं, फिर माता को अवस्वापिनी निद्रा धीन बना देते हैं एक और बच्चे जैसा पुतला बनाकर माता के पास रखते हैं, फिर प्रभुको करसंपुट में ग्रहण करते हैं। तीन लोकके नाथ तीर्थंकर परमात्मा की भक्ति का संपूर्ण लाभ मुझे प्राप्त हो इस भाव से सौधर्मन्द्र महाराजा अपने पाँचरुप करते हैं (१) एक रुप से खुद प्रभु को कर संपुट में ग्रहण करते हैं (२) दूसरे रुप से प्रभु के पीछे छत्र धारणकर चलते हैं, (३) तीसरे रुप से प्रभु के आगे वज्र चलाते हुए चलते हैं और (४-५) चौथे तथा पाँचवे रुप में प्रभु के दोनों ओर चँवर डुलाते हुए चलते हैं।

सैकड़ों देवतागण आए हुए होते हैं इन सभी से परिवृत होकर इन्द्र प्रभु को लेकर मेरु पर्वत पर जाते हैं। वहाँ अति पांडुकबला शिलापर प्रभु को अपनी गोद में लेकर बैठते हैं। दोनों ओर वृषभादि का रुप धारणकर अपने शृंग में से प्रभु पर ६४ इन्द्र और समस्त उपस्थित देवतागण अभिषेक करते हैं। प्रभु के समक्ष सर्व प्रकारकी भक्ति करके नृत्य - गानआदि करने के पश्चात् इन्द्र महाराजा प्रभु को

मातुश्री के पास लाकर रख देते हैं। इससे पूर्व प्रतिबिंब का संहरण कर लेते हैं माता और प्रभु को वंदन नमस्कार करके इन्द्र विदा होते हैं। तत्पश्चात् देवतागण नंदीश्वर द्विप पर जाकर अष्टास्निका महोत्सव आदि करके स्वर्गगमन करते हैं।

राजकुल में जन्मोत्सव

सिद्धार्थ राजा के पास आकर प्रियंवदा दासी ने पुत्रजन्म की शुभ बधाई दी। पुत्रजन्म के शुभ समाचार सुनकर राजा, प्रधान, मंत्री एवं समस्त प्रजाजन हर्षविभोर हो उठे। राजा के आदेश से बन्दीगृह में से अपराधियों को मुक्त करते हैं। सभी के पुराने कर (tax) आदि माफ करते हैं। राजप्रासाद तथा समस्त राज्यादि में स्वच्छतादि करवाने के पश्चात् नृत्य-गान आदि आनंदोत्सव आयोजित करते हैं। चारों ओर नृत्य-गान चलते हैं राजा सभी लोगों को यथेच्छ दान देते हैं। पुत्रजन्म की शहनाईया बजती है, बारह दिन तक राजप्रासाद में जन्मोत्सव मनाया जाता है, सभी ज्ञातिबन्धु एकत्रित होते हैं राजा व रानी सभी के समक्ष पुत्र के नामकरण की विधि करते हैं। शुभ संकेत शुभ स्वप्नो और शुभ प्रसंग अथवा शुभ घटना के आधार पर बालक का नामकरण किया जाता है। द्वितीया का चन्द्रमा जिस प्रकार प्रतिदिन विकसित होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था में प्रतिदिन प्रभु की अभिवृद्धि होती है।

शालागमन

आमल की क्रिडा आदि खेल खेलते हुए प्रभु धैर्यभाव से रहते हैं। माता पिता अवसर आने पर प्रभुजी को अध्ययन हेतु पाठशाला में प्रविष्ट करवाते हैं यद्यपि परमात्मा जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि नामक तीनों ज्ञान से युक्त होते हैं, अतः उन्हें पाठशाला में भेजने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है, फिर भी लौकिक व्यवहार से और पुत्र स्नेहवश माता-पिता उचित समय पर आमोद-प्रमोद के साथ प्रभुजी का पाठशाला में अध्ययन हेतु प्रवेश करवाते हैं।

वास्तव में सभी तीर्थकरो के माता-पिता इस तरह करते नहीं है, परन्तु विशेष रूप से महावीर प्रभु के माता-पिता ने ऐसा किया था, अतः यह पद्धति लोक-व्यवहार में चलती है। प्रभु महावीर को जब पाठशाला में बिठाये तब इन्द्र महाराजा खुद ब्राह्मण पण्डित के रूप में आते हैं और अध्ययन करानेवाले पंडितों को भी नहीं आते हैं ऐसे जटिल प्रश्न प्रभु महावीर को पूछते हैं और प्रभु के मुख से उत्तरो

की ज्ञानगंगा बहने लगती है, प्रभु सभी प्रश्नों के उत्तरों देते हैं, इन उत्तरों के संकलन रूप एक अद्भूत जैनेन्द्र व्याकरण ग्रन्थ बन जाता है। इतनी विद्वत्ता देखकर सभी आश्चर्यचकित हो जाते हैं। प्रभु सौम्य भाव से संसार में काल निर्गमन करते हैं ।

युवावस्था में पाणिग्रहण:-

काल निर्गमन के साथ प्रभु की वय भी बढ़ती है प्रभु युवावस्था में प्रवेश करते हैं। प्रभु महावीर ने यशोदा के साथ अपना संसार चलाया। सांसारिक सुख भोगते हुए प्रभु को एक कन्या रत्न की प्राप्ति हुई थी, जिसका नाम प्रियदर्शना था। उसका जमालि के साथ पाणिग्रहण कराया था । जरूरी नहीं है कि सभी तीर्थंकर शादी करके संसार चलाए। जिनके भोगावली कर्म क्षय हो चुके थे ऐसे स्त्री तीर्थंकर श्री मल्लीनाथ भगवान ने, तथा श्री नेमिनाथ भगवान ने शादी नहीं की थी कुमारावस्था में ही महाभिनिष्क्रमण करके संसार का त्याग कर दिया था ।

राज्याभिषेक

क्षत्रीयकुल में और वह भी राजकुलमें जन्म पाए हुए तीर्थंकर भगवंतो का कुमारावस्था में ही राज्याभिषेक होता है। पिताजी राजपरिवार एवं समस्त प्रजाजन की साक्षी में प्रभुजी का राज्याभिषेक करवाते हैं । राजा बनकर प्रभु राज्य की धुरा को सम्हालते हैं, राज्य की व्यवस्था करते हैं, राज्य में न्यायतंत्र की स्थापना करते हैं। धर्म का राज्य स्थापित करते हैं । प्रभु की राज्य व्यवस्था में लोग न्याय नीतिमत्ता से जी सकते हैं । जन्म से ही महाज्ञानी-विचक्षण महापुरुष उत्तम प्रकार से शासन चलाते हुए संसार का परित्याग करने का सोचते हैं। प्रभु स्वयं ज्ञानी हैं अतः संसार त्याग करने और संयम स्वीकार करने का अवसर आ चुका है, यह जानकर प्रभु तैयारी करते हैं ।

महाभिनिष्क्रमण-दीक्षा

जिन कल्प के शाश्वत आचारानुसार नवलोकान्तिक देवताओं का आगमन होता है। अपना आचार जानकर राज्यावस्था में राजा के रूप में रहे हुए प्रभु को निवेदन करते हैं- 'भयवं तित्यं पवत्तेह'-हे भगवन्! आप तीर्थ प्रवर्तन करीएँ,। आप संयम ग्रहण करके धर्मतीर्थ की स्थापना करीएँ । यद्यपि प्रभु तो ज्ञानी ही हैं, अतः ऐसा निवेदन करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है फिर भी नवलोकान्तिक

देवता अपना आचार समजकर, जानकर हर्षोल्लास के साथ प्रभु को इस प्रकार निवेदन करते हैं ।

अनंतकरुणा के सागर प्रभु उस दिन से वार्षिक दान देने की शुभ शुरूआत करते हैं। एक वर्ष तक यथेच्छ दान देते हैं। लोगों को जितना चाहिये उतना दान देते हैं । धन-धान्य-वस्त्र-पात्रादि सभी प्रकार का यथेच्छ दान देते हैं । प्रतिदिन साढ़े बारह करोड़ सुवर्ण मुद्राओं का दान देते हैं । ऐसे प्रभु एक वर्ष में ३,८८,८००००००, तीनअरब, अठयासी करोड़, अस्सी लाख सुवर्ण मुद्राओं का दान करते हैं ।

वर्षान्ते परमात्मा दीक्षा लेने का अवसर हो चुका है ऐसा जानकर महाभिनिष्क्रमण करते हैं, कुटुम्ब, -पुत्र- पत्नी-परिवार एवं सगे-स्नेही- संबंधीजन सभी का त्याग करते हैं । गृहस्थाश्रम से निकलकर प्रभु अणगार भाव को प्राप्त करने हेतु आगे बढ़ते हैं । शुभ मुहूर्त में प्रभु शिबिकारुढ होते हैं, दीक्षा की भव्य शोभायात्रा निकलती हैं। सभी प्रजाजन शोभायात्रा में सम्मिलित होते हैं । दीक्षा की भव्य शोभायात्रा राजधानी के राजमार्गों पर होती हुई नगर से बाहर ज्ञातखंड उद्यान में आती है । प्रभु शिबिका से उतरकर अशोक वृक्ष के नीचे खड़े रहते हैं। स्वयं ही वस्त्राभूषण आदि उतारकर त्याग करते हैं, काया की भी माया न रह जाय अतः पंचमुष्टि लोच करते हैं । केश लुंचन के बाद केशों को कुलमहत्तरा ग्रहण करती है । तत्पश्चात् परमात्मा 'करेमि सामाइयं' के पाठ से यावत्जीवन चारित्र धारण करते हैं । चारित्र ग्रहण के साथ ही प्रभु को चौथा मनःपर्यवज्ञान प्राप्त होता है । त्यारबाद प्रभु छद्म-अहम आदि का पच्चक्खाण करते हैं । सर्वस्व का त्याग ही दीक्षा-संयम है, प्रभु संयम ग्रहण के बाद तुरन्त ही समस्त प्रजाजनों के मध्य से विहार कर जाते हैं । यह है प्रभु का दीक्षा -कल्याणक/प्रभुका चारित्र अंगीकार करना भी जगत के लाभार्थहोने वाला है, क्योंकि प्रभु उपसर्गों को सहन करके कर्मक्षय करेंगे । कर्मक्षय से केवलज्ञान, केवलदर्शन और वीतरागता की प्राप्ति होगी, प्रभु सर्वज्ञ बनेंगे। सर्वज्ञ प्रभु अपने केवलज्ञान से जगत के सभी जीवों का कल्याण करने वाली अमृत देशना फरमाएंगे, जिससे भव्यात्माओं का कल्याण होगा अतः दीक्षा को भी कल्याणक के रूप में मनाते हैं ।

केवलज्ञान की प्राप्ति:-

दीक्षाग्रहण करके अणगार भाव में रहे हुए, साधु बने हुए भगवान बनो-नगरों में विहार करते हैं, मौन रूप से अपनी साधना करते हैं । विविध प्रकार के

परिषहों-उपसर्गों को समाधिपूर्वक सहन करते हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से भी संपूर्ण अहिंसा, क्षमा, समता आदि सर्वगुणोपासना करते हुए साधना के क्षेत्र में प्रगति करते हैं ।

तीर्थंकरों को गृहस्थाश्रम में बैठे बैठे कदापि केवलज्ञान नहीं होता है, न उनका गृहस्थाश्रम से ही मोक्षगमन हो सकता है । अर्थात् “न भूतो न भविष्यति” ऐसा कभी हुआ नहीं है और ऐसा कभी होनेवाला भी नहीं है कि तीर्थंकरों को गृहस्थाश्रम में ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया हो। ऐसा अच्छेरा भी नहीं होता है । तद्भवमोक्षगामी होते हुए भी और जानते हुए भी भगवान को सर्वस्व का त्याग करके संयम स्वीकारना ही पडता है और विहार आदि में आते हुए परिषहों-उपसर्गों को सहन करने ही पडते हैं इतनी साधना के बाद ही तीर्थंकर भगवंतों को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है ।

गुणस्थानकों का स्वरूप:-

वर्तमान विज्ञान और शिक्षण कोषों का विकास मानता है । डार्विन के विकासवाद Dervins Evolulion Theory के आधार पर कोषीय-विकास को मानता है, जब कि जैन धर्म Soul Evolution Theory आत्मविकास की प्रक्रिया को स्वीकार करता है, और मानता है कि आत्मा का विकास तब होता है जब आत्मा की शुद्धि होती है, और आत्मा का शुद्धिकरण आत्मा पर लगे हुए कर्मावरण दुर होने पर होता है। जैसे जैसे कर्मक्षय होता जाएगा वैसे वैसे आत्मगुणों का प्रादुर्भाव होता जाता है। कर्मक्षय की प्रक्रिया और आत्मगुणों का प्रगटीकरण करने के लिये १४ गुणस्थानकों की साधना बताई है । जिन पर आत्मा आगे प्रगति करती जाती है ।

संसार के सभी जीवों के लिये आत्मविकास की यह एक समान प्रक्रिया है। चाहे तीर्थंकर परमात्मा की महान आत्मा हो या हमारे जैसे की सामान्य आत्मा हो सब के लिये कर्मक्षय की एक मात्र प्रक्रिया है। प्रथम मिथ्यात्व के गुणस्थानक से आत्मा सीधे ही चौथे गुणस्थानक पर पहुंचती है और सम्यक्त्व प्राप्त करती है । फिर पांचवे गुणस्थानक पर विरतिधर श्रावक बनती है-व्रत-पच्चक्खाण करती है और वहां से आगे बढ़ती है । छठे गुणस्थानक पर आत्मा सर्वविरतिधर साधु बनती है। दुनिया के समस्त पाप सर्वथा न करने की भिष्म प्रतिज्ञा करते हैं। सातवे गुणस्थानक पर साधु अप्रमत्त बनते हैं । आठवे अपूर्वकरण गुणस्थानक पर

पहुँचकर जीवात्मा अपनी अपूर्व शक्ति का प्रस्फुटन करके क्षपक श्रेणि पर आरूढ होती है। आठवें से आगे बढ़कर नौवें गुणस्थानक पर तीनों ही वेद, हास्यादिषट्क और संज्वलन क्रोध, मान और माया इन बारह कर्मप्रकृतियों का क्षय करती है। आत्मा इस तरह अपने आप को विशुद्ध करती हुई अपनी विकास यात्रा में अधिकतम विशुद्ध होने के लिये नौवें से आगे बढ़ कर १०वें सूक्ष्म संपराय गुणस्थानक पर पहुँचकर सूक्ष्मलोभ का क्षय करती है। वहां से सीधे ही १२ वे गुणस्थानक पर पहुँचती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अंतराय कर्म की शेष रही हुई कर्मप्रकृतियों का क्षय करती है। मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाने से विषय-कषाय लेशमात्र भी अब न रहने से आत्मा वीतराग अवस्था प्राप्त करती है। वीतरागता ही प्रथम उपलब्धि है।

बारहवें गुणस्थानक के अंत में और तेरहवें सयोगी केवली गुणस्थानक पर पहुँचने के काल में जीव अनंत, अनुपम वस्तुविषयक केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करता है। शुक्ल ध्यान के चार प्रकारों में ध्याता दूसरे प्रकार का शुक्लध्यान पूर्ण करके आगे बढ़ता है तब उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। चारों ही घातिकर्मों में से सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का सर्वथा-संपूर्ण क्षय होने पर वीतरागता प्राप्त हो जाती है, फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अंतराय कर्म का भी सर्वथा क्षय-नाश हो जाता है, तब केवलज्ञान-केवलदर्शन तथा अनंतवीर्य शक्ति का प्रकटीकरण होता है। कुल आठ कर्म है। उन में से चार घाति कर्मों का क्षय होने से जीव केवली बनता है और शेष चार अघाति कर्मों का क्षय अर्थात् आठों ही कर्मों का क्षय हो जाने पर मोक्ष-सिद्धत्व की प्राप्ति होती है, और आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाती है।

तीर्थकर नामकर्म का रसोदय:-

प्रभु जब चारों ही घनघाति कर्मों का क्षय कर देते हैं, तब पूर्व के तीसरे भव में उपाजित तीर्थकर नाम कर्म पूर्ण रूप से रसोदय से उदय में आता है। यदि यह तीर्थकर नामकर्म पूर्वोपाजित न हो और यदि चारों ही घाति कर्मों का क्षय हो जाय तो जीव सामान्य केवली बन सकता है परन्तु अरिहंत, तीर्थकर नहीं बन सकता है। तीर्थकर बनने के लिये तो पूर्व के तीसरे भव से ही तीर्थकर नामकर्म बंधा हुआ सत्ता में होना ही चाहिये - यह नितान्त आवश्यक है तब आज उसका उदय संभव है, और तीर्थकर नामकर्म के उदय से ही आत्मा तीर्थकर स्वरूप में-पहचानी जाती

है ।

इस तीर्थकर नामकर्म के पुण्यप्रभाव से ही करोड़ों देवी-देवता प्रभु की सेवा में हाजिर रहते हैं । समवसरण, अष्ट प्रातिहार्यादि की रचना होती है। यद्यपि तीर्थकर नामकर्म का रसोदय न भी हुआ हो तब भी प्रदेशोदय आदि के कारण भगवान् जन्म से ही मति, श्रुत, अवधि ईन तीनों ज्ञान से युक्त होते हैं । मेरु पर्वत पर देवताओं के द्वारा उनका जन्माभिषेक महोत्सव आदि मनाया जाता है । नरकादि में भी दो घटिका (दो घडी)तक सुख-आनन्द की लहरें प्रसारित हो जाती हैं, प्रकाश होता है ।

धर्मतीर्थ की स्थापना :-

पूर्वोपाजित तीर्थकर नामकर्म के शुभ उदय से तेरहवे गुणस्थानक पर विराजे हुए सयोगी केवली अरिहंत भगवान्-तीर्थकर बनते हैं । तीर्थ करोतीति तीर्थकरः जो तीर्थ प्रवर्तित करे उन्हें तीर्थकर कहते हैं । यहाँ 'तीर्थ' शब्द धर्मतीर्थ के अर्थ में है, साधु, साध्वी श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ धर्मतीर्थ स्वरूप है इन धर्मतीर्थ की स्थापना करे वह तीर्थकर कहलाते हैं । देवताओं द्वारा रचित समवसरण में भगवान्-तीर्थकर विराजमान होते हैं, और चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं । तीर्थकर भगवन्त वर्ण व्यवस्था नहीं करते हैं । हिन्दु धर्म में, मनुस्मृति आदि में जैसा बताया गया है तदनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि की जाति व्यवस्था कहलाती है । यह चातुर्वर्ण व्यवस्था उनके मतानुसार उनके भगवान् स्थापित करते हैं । इस जाति-व्यवस्था में क्लेश-कषाय, रोग-द्वेष की प्रवृत्तियां अधिक होती है, अतः जैन धर्म इस बात को स्वीकार नहीं करता है कि यह वर्ण व्यवस्था भगवान् स्थापित करते हैं ।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका स्वरूप धर्मतीर्थ की व्यवस्था प्रभु करते हैं यह व्यवस्था जाति या वर्ण के आधार पर नहीं होती है परन्तु गुण के आधार पर होती है। जो पुरुष संसार का सर्वथा त्याग करके अणुगार बनता है उसे साधु कहते हैं। स्त्री संसार का त्याग करे तो वह साध्वी कहलाती है। जो स्त्री-पुरुष सर्वथा संसार नहीं छोड़ सकते हैं वे श्रावक-श्राविका कहलाते हैं। इस प्रकार धर्म करने के न्युनाधिक प्रमाण के आधार पर उन्हें चार विभागों में बाँटा है जो चतुर्विध श्री संघ कहलाता है। साधु के लिये पर्यायवाची दुसरा शब्द श्रमण भी है, और चारों में वह प्रमुख है अतः श्रमण संघ कहलाता है ।

सर्वज्ञ बने हुए प्रभु समवसरण में धर्मोपदेश-धर्मदेशना देते हैं। जिस धर्म की स्थापना थी नहीं, पूर्व के तीर्थंकर भगवंतो के द्वारा स्थापित धर्म का विलय होने के बाद कई सागरोपमों का काल वितने के बाद सर्वज्ञ बने हुए प्रभु समवसरण में धर्मोपदेश धर्मदेशना देते हैं। पुनः धर्म की प्ररूपणा करते हैं। धर्म समझाते हैं, पुनः धर्मप्रवर्तन होता है। जनमानस धर्मोपासना करने के लिये तैयार होता है। यह धर्मतीर्थ एक मात्र तीर्थंकर ही स्थापित करते हैं, अतः तीर्थ की स्थापना करनेवाले तीर्थंकर भगवान कहलाते हैं। तीर्थंकर परमात्मा अपने जीवन की अंतिम श्वास तक प्रतिदिन देशना- धर्मोपदेश देते रहते हैं। देवतागण प्रतिदिन समवसरण की रचना करते हैं। इस समवसरण में मनुष्य गति के नर-नारी, देवगति के देवी-देवता तथा तिर्यच गति के पशु-पक्षी प्रभु की अमृतमयी देशना सुनने के लिए आते हैं। प्रभु देशना सुनकर कई जीव धर्म प्राप्त करते हैं, धर्माभिमुख बनते हैं, धर्म का आचरण करते हैं। मनुष्यगति के नर-नारी सर्वस्व का त्याग करके संयम ग्रहण करते हैं। वैराग्य भाव से प्रव्रजित होकर आत्म-साधना करते हैं। आत्म साधना के फलस्वरूप कर्मनिर्जरा करके मोक्ष में भी जाते हैं। ऐसा है धर्मतीर्थ की स्थापना का महत्व।

अरिहंत को भगवान मानें :-

जिन-जिनेश्वर के धर्मानुयायी जैनों राग-द्वेषादि आंतर शत्रु के विजेता अरिहंत परमात्मा को ही भगवान के रूप में स्वीकारते - मानते हैं। तीर्थंकर, जिन, जिनेश्वर, वीतरागी, परमेश्वर, परमात्मा, भगवान आदि अरिहंत परमात्मा के पर्यायवाची नाम हैं परन्तु ईश्वर शब्द का अधिक प्रयोग जैनों ने नहीं किया है क्योंकि ईश्वर शब्द को जैनेतरों ने जगत्कर्ता के रूप में प्रायः रुढ कर दिया है। ईश अर्थात् स्वामी- मालिक। किसका मालिक? उत्तर में कहते हैं कि यह जगत् ईश्वर ने बनाया है, सृष्टि की रचना भी ईश्वर ने ही की है, अतः जगत् का मालिक -स्वामी कहलाता है। ऐसी जैनेतर दर्शनों की मान्यता है, यह और ऐसी मान्यता जैनों को मान्य नहीं है। क्योंकि ईश जगत् या सृष्टि ईश्वर रचित नहीं मानते हैं। जगत् कर्माधीन है, सभी जीव अपने-अपने कर्मों के आधीन होकर अपना संसार बनाते हैं, अतः जैनों ने ईश्वर को सृष्टि- कर्ता नहीं माना है। इसीलिये ही ईश्वर शब्द का प्रयोग कम करते हैं। सृष्टिकर्ता के अर्थ में ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं करते हैं। जब करते भी हैं तब सृष्टिकर्ता का संदर्भ नहीं होता है। ईश्वर के साथ परम विशेषण जोड़कर परमेश्वर अथवा परमेश्ठी शब्द का प्रयोग करते हैं लेकिन सर्वाधिक

अरिहंत शब्द को ही प्रचलित रखा है। अरिहंत शब्द सभी प्रकार से अधिक उपयुक्त तथा सार्थक लगता है। “नमुत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं” शक्रेन्द्र रचित शक्रस्तव(नमुत्थुणं) सूत्र की यह प्रथम-प्रारंभिक संपदा है। इसका अर्थ होता है “नमस्कार हो अरिहंत भगवंतो को” इस संपदा की ललित विस्तरा नामक टीका में काफी सुंदर विवेचन किया गया है। संपदा के शब्दों के क्रम रचना भी कितनी सार्थक है उदाहरण के लिये -‘नमुत्थुणं भगवंताणं अरिहंताणं’ इस प्रकार संपदा की रचना करते हैं तो ‘नमस्कार हो भगवान अरिहंतों को’ ऐसी अर्थध्वनी उठती है। अब तर्क के आधार पर कौन सा क्रम सार्थक है- इसकी कसोटी करें। तर्क का स्वरूप कुछ ऐसा बनता है- जो जो अरिहंत होते हैं वे भगवान होते हैं या जो जो भगवान होते हैं वे अरिहंत होते हैं? निश्चयपूर्वक कहना? उदाहरण के लिये -जहाँ जहाँ धुँआ होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है या जहाँ जँहा अग्नि होती है वहाँ वहाँ धुँआ होता है? इस में तर्क युक्ति का प्रयोग करना पडता है। किसका किसके साथ अविनाभाव संबंध है, यह देखना पडता है। अतः जहाँ धुआँ होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है परन्तु जहाँ अग्नि होगी वहाँ धुँआ होगा भी सही और नहीं भी होगा जैसे तपाया हुआ लोहपिंड पडा हो तो उसमें अग्नि है परन्तु धुँआ नहीं होता है। अतः अग्नि धुँए के बिना रह सकती है जब कि धुँआ अग्नि के बिना संभव ही नहीं है।

बस, इसी उदाहरण को सामने रखकर अरिहंत और भगवान शब्द के बीच रहा अविनाभाव संबंध देखें। जो जो भगवान है वे निश्चित रूप से अरिहंत ही है, ऐसा हम द्रढतापूर्वक नहीं कह सकते हैं क्योंकि इस जगत में भगवान तो अनेक हैं। वर्तमान काल में भी कई ऐसे हैं जो स्वयं को भगवान कहलाते हैं, परन्तु वे अरिहंत नहीं होते हैं, क्योंकि उन्होंने राग-द्वेष - आदि का क्षय नहीं किया वे राग-द्वेष ग्रस्त हैं अतः राग-द्वेषयुक्त जो है वे भगवान शब्द से वाच्य बन सकते हैं, परन्तु अरिहंत शब्द से नहीं, क्योंकि अरिहंत तो सर्वथा राग-द्वेष रहित- वीतराग होते हैं अरि अर्थात् राग-द्वेषादि शत्रु और हंत अर्थात् इनन-नाश करनेवाले-अरिहंत। इसीलिए ही शब्दो का क्रम भी तर्कयुक्ति संगत ही रखा गया है। जो जो अरिहंत होते हैं उनको अरिहंत न भी कहा जा सके अर्थात् जीतने भगवान होते हैं वे सब अरिहंत नहीं भी हो सकते हैं। इसीलिये नवकार में ‘नमो अरिहंताणं’ पद का प्रयोग हुआ है। ‘नमो भगवंताणं’ पद का प्रयोग भी किया होता तो भी चल सकता था परन्तु इन पदों में इतने व्यापक -विशाल अर्थ समाहित नहीं होता है बल्कि ये बहुत ही संक्षिप्तार्थ वाले हैं जबकि अरिहंत पद बहुत ही व्यापक -विस्तृत अर्थमय है। अतः

इस व्याख्या के आधार पर इतना ही समजना है कि -अरिहंत अवश्य ही भगवान कहलाते हैं परन्तु जीतने भगवान उतने अरिहंत नहीं। इसीलिये निश्चित रूप से जो अरिहंत भगवान है उन्हें ही नमस्कार करना है ।

भगवान शब्द के अर्थ:-

भगवान शब्द की उत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'भग' शब्द को 'मत्तुप् प्रत्यय' का वान् जुड़ने से हुई है। भगवान शब्द के १४ अर्थ कल्पसूत्र में इस प्रकार दिये गए हैं -(१)सूर्य (२)ज्ञान (३) माहात्म्य (४)यश (५)वैराग्य (६) मुक्ति (७) रूप (८)वीर्य (९) प्रयत्न (१०)ईच्छा (११)लक्ष्मी (१२)धर्म (१३) ऐश्वर्य और (१४)योनी। ईन चौदह अर्थों में बुरे प्रकार के अर्थ भी है। स्त्री की योनी के लिये भी 'भग' शब्द का प्रयोग होता है। एक स्त्री भी अपने आपको भगवान कह सकती है यहां अर्थ होगा- भग (योनी) वाली। जिनको भगदर का रोग हुआ हो और वह भी स्वयं को भगवान कहे तो भी उचित है परन्तु ऐसे अर्थ को छोड़कर दुसरे जो बारह अर्थ है उस अर्थ में भगवान शब्द हमें मान्य है । जैसे भगवान अर्थात् ज्ञानवाले, माहात्म्यवाले, यशवाले- यशस्वी, वैराग्यवान्, मुक्तिवाले, रूपवान्, वीर्य (शक्ति) वान्, प्रयत्नवान्, ईच्छावाले, लक्ष्मीवान्-(शोभायुक्त) धर्मवान् और ऐश्वर्यवान् आदि अर्थों में भगवान शब्द का प्रयोग हो सकता है, जबकि अरिहंत शब्द तो मात्र राग- द्वेष रूपी अरिओं का नाश -हनन करनेवाले के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अतः अरिहंत शब्द ही भगवान-ईश्वर की अपेक्षा अधिक व्यापक और विस्तृत शब्द है। इस में अर्थ गांभीर्य भी है ।

'अरिहंताणं' के स्थान पर अन्य पाठ:-

४५ जैनागमों में अप्रणी पंचमांग श्री भगवतीसूत्रमें श्री नवकार महामंत्र के मंगलाचरण की व्याख्या करते हुए पूज्य अभयदेव सूरि महाराज फरमाते हैं कि-

अरिहंते बंदण नमंसणाणि अरहंति पूयसक्कारं।

सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण बुच्चन्ति॥

वन्दन -नमस्कार के योग्य, पूजा और सत्कार के योग्य, सिद्धिगमन योग्य जो होते हैं वे अरहंत कहलाते हैं। उन अरहंत भगवंतो को हमारा नमस्कार हो। प्राकृत में भी भिन्न भिन्न शब्दों -पाठों का प्रयोग होता है-१, नमो अरहंताणं २, नमोअरुहंताणं ३, नमो अरिहंताणं इस प्रकार भिन्न भिन्न पाठान्तर भी प्राप्त होते हैं। इन में 'नमो

अरहंताणं' पद का संस्कृत टीका में टीकाकार ने नमो अर्हद्भ्यः -दर्शाया है । (२) नमो अरहोन्तेभ्यः, (३) नमोअरथान्तेभ्यः (४) नमोअरहद्भ्यः-इसप्रकार चार प्रकार से संस्कृत छाया की है। दूसरा पाठ है-नमो अरुहंताणं इसका संस्कृत छाया में 'नमो अरोहद्भ्यः' किया है- तीसरा पाठ है- 'नमो अरिहंताणं' का संस्कृत छाया में 'नमो अरिहंतेभ्यः' होता है ।

'नमो अर्हद्भ्यः' पाठ का संक्षिप्त अर्थ करते हैं। अर्हत् शब्द का चतुर्थी बहुवचन अर्हद्भ्यः होता है । "अर्ह-मह पूजायाम्" धातुकोष के इस नियम के अनुसार 'अर्ह' धातु है जिसका अर्थ होता है- पूजा के योग्य । पूजा के अर्थ में 'अर्ह' धातु का प्रयोग हुआ है और उससे पूजा के योग्य- पूज्य अर्हत् कहलाते हैं। दुसरे अर्थ में 'सिद्धिगमन योग्य' ऐसे अरिहंत भगवंतो को नमस्कार किये हैं । अरिहंत भगवंत निश्चित रूप से तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं, वे अवश्य ही सिद्ध होते हैं, वे अनिवार्य रूप से चरम शरीरधारी होते हैं।

नमो अरहोन्तेभ्य :- 'नमो अरिहंताणं' की संस्कृत छाया में दुसरे प्रकार से 'नमो अरहोन्तेभ्यः' पाठ भी बनता है। यह 'अरहोन्तर्' शब्द की चतुर्थी विभक्ति का बहुवचन रूप है। मूल सामासिक शब्द अरहोन्तः है। इसमें तीन शब्दों के समास बना हुआ है -अ -रहस्-अन्तर् । इसमें 'अ' निषेधवाची है। 'रहस्' अर्थात् एकांत और अन्तःका अर्थ मध्य भाग होता है। इसका पूर्ण अर्थ मध्य भाग विद्यमान नहीं है ऐसे अरिहंतो को नमस्कार है। स्पष्टीकरण करते हुए बताते हैं कि रहस् अर्थात् एकांत रूप गुप्त प्रदेश और अंतर् अर्थात् पर्वत की गुफा आदि का मध्य भाग । प्रभु सर्वज्ञ होने से जगत की अनन्तवस्तुओं में से कोई भी वस्तु उनसे गुप्त नहीं होती है अर्थात् प्रभु के ज्ञान में से जगत् की कोई वस्तु छुट नहीं सकती है अतः प्रभु के लिये कुछ भी गुप्त, एकांत रहता ही नहीं है ऐसे सर्वज्ञ अरहोन्तेभ्यः नमस्करणीय है ।

नमो अरथान्तेभ्य : -अरहंताणं प्राकृत पाठ का संस्कृत पाठ अरथान्तेभ्यः भी होता है। 'अ' यहां निषेधार्थक है । अ-रथ - अन्त - अरथान्त शब्द बना । इसका चतुर्थी बहुवचन अरथान्तेभ्यः हुआ है। यहाँ 'रथ' शब्द का अर्थ उपलक्षण से सर्व प्रकार का परिग्रह लिया है और अंत शब्द से विनाश और उपलक्षण से जरा अवस्था आदि समझें। पूर्ण अर्थ इस प्रकार होगा- रथ अर्थात् सर्वप्रकार का परिग्रह और अंत अर्थात् जन्म -जरा -मृत्यु का सर्वथा अभाव है अर्थात् सर्व प्रकार से मुक्त तथा जन्म

-जरा -मरण- के चक्र से सर्वथा मुक्त ऐसे अरथान्त भगवंतो को नमस्कार हो ।

नमो अरहयद्भ्यः- अरहंताणं से अरहयद्भ्यः भी पाठ मिलता है। इसमें 'अ' निषेधवाची है, और "रह गतौ" रह धातु गत्यर्थक है। इससे अरहयद्भ्यः रूप बनता है । रागादि भाव सर्वथा निकल जाने से क्षीण हो जाने से उनका (राग-द्वेषका) निषेध जिनमें हैं ऐसे अरिहंत भगवंतो को नमस्कार हो । दुसरे प्रकार से अर्थ करने में 'रह त्यागे' अर्थ में धातु लेने से -प्रकृष्ट राग- द्वेष के कारणभूत मनोहर अथवा अमनोहर, प्रिय तथा अप्रिय पदार्थ प्राप्त होने पर भी जो अपना वीतरागता का सहज स्वभाव छोड़ते नहीं है ऐसे अरिहंत परमात्मा को नमस्कार हो ।

इस प्रकार 'नमो अरिहंताणं' के पाठों की व्याख्या भिन्न-भिन्न अर्थों में होती है। 'अरि' स्वरूप आत्मा के जो राग-द्वेषादि कर्मशत्रु है, उनका हन्त-हनन-नाश करने वाले अरिहंतो को नमस्कार किये गए हैं । अरिहंताणं अर्थात् कर्मारिहन्तुभ्यः अर्थ होता है। स्पष्ट कहा है कि -

अद्भुविहं पि य कम्मं अरिभूय होइ सयलजीवाणं।

तं कम्ममरिहंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ ॥आ. नि . गा.९१०॥

आठ प्रकार के कर्म जो सभी जीवों को सतानेवाले-शत्रु रूप है ऐसे कर्मरूपी शत्रुओं का हनन-नाश करनेवालो को अरिहंत कहते हैं, उन्हें नमस्कार हो । यह अरिहंत शब्द योगरूढ की आत्मा के लिये ही घटित होता है और अरिहंत कहने से रूढ अर्थ से जिनेश्वर भगवंतो का ही ग्रहण होता है, अतःसिद्ध भगवंत आठ कर्मों के नाशकर्ता- कर्मों से रहित होने पर भी अरिहंत शब्द से सिद्धों का ग्रहण नहीं होगा । परन्तु शासन स्थापना द्वारा जो स्व-पर के अष्ट कर्म का नाश करने का उपदेश नियमित रूप से देते हैं ऐसे अरिहंतो अर्थात् तीर्थकर भगवंतो को नमस्कार हो ।

नमोअरूहंताणं- अरहंताणं के स्थान पर अरूहंताणं भी पाठ-भेद है। अरूहंताणं की संस्कृत छाया अरोहद्भ्यःहोती है। इसमें भी 'अ' निषेधार्थक है। 'रूह'धातु उगने के अर्थ में है। रूह से उगना अर्थात् पुनःजन्मादि ग्रहण करना । 'अ' सर्वथा निषेधक सामने है अतःउगने का निषेध करता है। जिनके कर्मरूपी बीज सर्वथा जलकर क्षीण-नष्ट हो चुके हैं उनके अब पुनःजन्म मरणादि कहां से हो सकते हैं? जन्म-मरणादि तो राग-द्वेष के फलस्वरूप कर्म से ही होते रहते है। अतः अरूहंताणं, अरोहद्भ्यः

अर्थात् जन्म -मरण का सर्वथा अभाव जिनमें हैं वे । स्पष्ट कहते हैं कि-

दग्धे बीजे यथास्पन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः

कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः॥

अर्थात् जैसे जले हुए बीज में से अंकुर फुटते नहीं है वैसे ही कर्म रुपी बीज के जल जाने से जन्म -मरणादि रूप संसार का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है। कारण का सर्वथा नाश हो जाने से कार्य का भी सर्वथा नाश हो ही जाता है अतः अरुहंताणं -अरोहंताणं का अर्थ भी इस प्रकार सुसंगत है। उपरोक्त दोनों अर्थ जैन धर्म के सिद्धान्त को स्पष्ट कर देते हैं । सर्वथा सर्व कर्म का नाश करके जो तीर्थंकर, अरिहंतपरमात्मा एक बार मोक्ष में चले गए हो उन्हें पुनः संसार में आने का, जन्म लेने का रहता ही नहीं है अतः जैन धर्म में 'संबवामि युगे युगे' की बात संभव ही नहीं है। जैनेतर धर्मों में भगवान पुनः आते हैं, जन्म लेते हैं अतः यह सिद्ध होता है कि वे कर्म से युक्त है, कर्म से सर्वथा मुक्त नहीं है अतः जैन दृष्टि से वे अरिहंत अरुहंतादि पद से वाच्य नहीं होते हैं ।

उपरोक्त सभी पाठों में से 'अरिहंताणं' पाठ ही नवकार महामंत्र में प्रचलित - प्रसिद्ध है, रूढ है । इस पाठ का परिवर्तन करके अन्य पाठ रखा नहीं है । हेमचन्द्राचार्य महाराज ने पृषोदरादि की तरह अरिहंत पद के तीन सामासिक अर्थ किये हैं - १) अरिहननात् २) रजोहननात् ३) रहस्याभावात् । इस अर्थ में अरिहंत पद का प्रयोग किया है । अर्हन्त का अरिहंताणं अर्थ करके अरिहननात् कहा है। संसार रूपी गहन वन में मोहादि शत्रुओं के हनन करनेवाले होने से अर्हन्त भी अरिहंत ही है । रजोहननात् अर्थात् जिस प्रकार बादल सूर्य को आच्छादित कर देते हैं वैसे ही कर्मण वर्गणा रूप कर्मरज ने आत्मा को आच्छादित कर दिया है उन कर्मरज को दूर करनेवाले अरिहंत है अर्थात् उन्होंने चारों ही घाति कर्म दूर कर दिये हैं ऐसे अरिहंत भगवन्त रहस्याभावात् अर्थात् केवलज्ञान के कारण जिनसे कुछ भी छिपा हुआ नहीं है, गुप्त, रहस्यात्मक नहीं है अर्थात् सब कुछ ज्ञानगम्य है प्रकट है ।

इस प्रकार अन्य भी पाठ मीलते हैं और उन पाठों के भी भिन्न-भिन्न अर्थ निकलते हैं और उन अर्थों के अनुसार भी अरिहंत भगवन्तो की भगवतता सिद्ध होती है इसीलिए ही अरिहंत शब्द ही सर्वाधिक उपयुक्त है ।

अरिहंत और सिद्ध का भेद -

अरिहंत शब्द सभी पाठों में श्रेष्ठ पाठ के रूप में स्वीकार्य है, यही सर्वग्राह्य

- सर्व मान्य है। अर्थ, भावार्थ, रहस्यार्थ आदि सभी प्रकार से यही ग्रास्य रहा है। इस पद में अनेक गंभीर अर्थ भरे पड़े हैं अतः जैन धर्म में भगवान के बजाय यही शब्द विशेषण ज्यादा प्रचलित है। यहाँ अरिहंत नाम को ही अधिक प्रधानता दी गई है। आत्मा के रिपु जो राग-द्वेषादि कर्म - शत्रुओं का हनन - नाश करनेवाले अरिहंत बने हैं, उनकी इस अर्थ के अनुसार व्याख्या करने पर सिद्ध में अति व्याप्ति हो जाती है अतः क्या करे ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहना है कि कुछ अंश में होती है और नहीं भी होती है।

कर्म रूपी अरिओं का हनन - नाश करने की प्रक्रिया दो क्रम से होती है। प्रथम स्तर पर ४ घाति कर्मों का नाश होता है। तत्पश्चात् अन्य ४ अघाति कर्म तो वर्षों तक पड़े रहते हैं, न वे जलते हैं, न हटते हैं अतः अरिहंत शब्द से क्या समझा जाए ? दोनों ओर सरोते के बीच सुपारी जैसी स्थिति होगी। एक ओर अरिहंत अर्थात् अरिओं का सर्वथा संपूर्णतः नाश करनेवाले तो मात्र सिद्ध भगवंत ही विख्यात है वे ही वाच्य बनते हैं और दूसरी ओर अरिहंत शब्द से कर्म रिपुओं का सर्वथा नाश - हनन करेवालों को अरिहंत कहते हैं तो अरिहंत तो अभी तक सर्व कर्म रहित बने ही नहीं है। उनके तो आधे कर्मों का क्षय हुआ है और अभी आधे कर्म शेष है तब भी अर्थ तो ठीक नहीं बैठता। इस प्रकार दोनों ओर से अर्थ न बैठे तो अव्याप्ति और अति व्याप्ति दोष युक्त दोनों पदों को कैसे रखा जा सकता है ?

कुल कर्म आठ होते हैं, वे सभी आत्मा के अरि-रिपु-शत्रु कहलाते हैं। इन सभी अरिओं का सर्वथा क्षय करनेवाले सिद्ध भगवंत हैं। इस प्रकार 'अरिहंताणं' पद से सिद्ध परमात्मा वाच्य हो जाएंगे। अति व्याप्ति जन्य यह अर्थ है। यहाँ कहते हैं कि अरिहंत भगवंत ४ घाति कर्मों का क्षय करके अरिहंत परमात्मा बने हैं फिर भी अन्य ४ अघाति कर्म उदय-सत्ता में है, परन्तु विचार करें तो स्पष्ट ख्याल आएगा कि चार घाति कर्मों के क्षय होते ही तीर्थंकर नामकर्म का विपाकोदय - रसोदय हो जाता है और तीर्थंकर परमात्मा बनते हैं। तीर्थ की स्थापना करते हैं धर्मतीर्थ प्रवर्तित करते हैं, इन्हें ही अरिहंत कहते हैं। भले ही अन्य ४ अघाति कर्मों का क्षय न भी हुआ हो; पड़े रहे हो फिर भी अरिहंताणं पद से वाच्य अरिहंत कहलाते हैं क्योंकि ४ अघाति कर्म भवोपग्राही कर्म हैं। आयुष्य कर्म के आधार पर, उसके कारण नाम, गोत्र, वेदनीय कर्म टिके हुए हैं। जिस दिन आयुष्य की समाप्ति हो जाएगी उसी दिन नाम गोत्रादि कर्म भी नष्ट हो ही जानेवाले हैं, एक भी शेष

नहीं रहेगा क्योंकि समझ में आए ऐसा स्पष्ट है कि नामकर्म जन्य शरीर, तीर्थकरपन, अंगोपांग, संघयण संस्थान है - ये सभी नाम कर्म के आधार पर टिके हुए हैं अतः नाम कर्म कैसे खिसक सकता है ? जहाँ तक आयुष्य कर्म रहेगा वहाँ तक नाम कर्म भी रहेगा ही परन्तु इसके रहने पर भी कोई हानि नहीं है, बल्कि लाभकारी ही है, शुभ पुण्य प्रकृतियाँ ही रहती है, अशुभ तो रहती ही नहीं है ।

इसी प्रकार गौत्र कर्म है । इसके आधार पर जाति-कुल आदि जो निर्मित है वे कहाँ से नष्ट होंगे ? शरीरधारी के रूप में जीव जीवित रहेगा वहाँ तक जाति-कुल आदि जो उच्च हैं वे कहाँ नष्ट होने वाले हैं ? होने ही नहीं पाएँगे । शाता वेदनीय और अशाता वेदनीय कर्म है इसके कारण सुख और दुःख रूपी दोनों ही संवेदनाओं का अनुभव होता ही रहेगा, तब भी कोई कष्ट नहीं है । ये सभी अघाति कर्म हैं जिनका अधिकतम प्रभाव शरीर संबंधी है जब कि मूल कर्म तो घाति कर्म ही कहे गए हैं, वे ही आत्मा के मूलभूत गुणों का सीधा घात करनेवाले हैं अतः इन चार घाति कर्मों का नाश करना अनिवार्य है । अघाति कर्म भले ही पडे रहे तब भी चलेगा । वे तो आयुष्य के आधार पर टिके हुए हैं, अन्त में एक फूंक मारने के साथ ही समाप्त हो जाएंगे, अतः अघाति कर्म होते हुए भी तीर्थकरत्व उदय में आता है । अरिहंत कहलाएँ तब भी कोई दोष नहीं है । ४ घाति कर्मों का दोष होने के साथ ही अन्य ४ अघाति कर्म के, रहने पर भी तीर्थकर नामकर्म का उदय हो जाता है । रसोदय विपाकोदय हो जाता है । इस प्रकार भगवान के तीर्थ प्रवर्तन आदि सभी कार्य रहते ही हैं, वे भी करते ही हैं । यदि ४ अघाति कर्म भी नष्ट हो जाएँ तो फिर जिननामकर्म आदि कहाँ जाएँ ? और ये यदि नष्ट हो जाएंगे तो वे तीर्थकर कैसे बन पाएँगे ? अतः अरिहंत कहने में भी कोई भी दोष नहीं रहता ।

भगवान महावीरस्वामी का कुल आयुष्यकाल ७२ वर्ष का था । इनमें ३० वर्ष की आयु में दीक्षा ली और ४२ वे वर्ष में ४ घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी और वितरागी बने । उस समय तीर्थकर नामकर्म का रसोदय विपाकोदय हुआ । भगवान तीर्थकर बनकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं । अभी तो घातिकर्म नष्ट हुए और शेष ४ अघाति कर्म सत्ता में पडे हैं । वे भी ३० वर्ष तक रहेंगे, क्योंकि ३० वर्ष का आयुष्य कर्म शेष था । इस काल में प्रभु महावीर अरिहंत - तीर्थकर ही कहलाए । यह जिस प्रकार महावीर के संबंध में घटित होता है, उसी प्रकार सभी तीर्थकर अरिहंतों में घटित होगा । यही प्रक्रिया है, क्यों कि एक साथ आठों ही कर्मों का क्षय हो जाए तो फिर देह छूट जाएगा और जीव निर्वाण प्राप्त कर मोक्ष में चला

जाएगा, तब फिर तीर्थकर का धर्मतीर्थ प्रवर्तन का कार्य आदि कौन करेगा? शरीर ही नहीं रहेगा तब क्या कर सकेगा ? अतः चारों ही अघाति कर्म रहते हैं, फिर भी तीर्थकरत्व अथवा अरिहंतपने को कहीं भी किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती है बल्कि ऊपर से शुभ पुण्य के घर की प्रकृतियाँ रहकर लाभ ही कराएगी।

सदेही - विदेही भगवान :-

जैन दर्शन में अरिहंत और सिद्ध इन दोनों को देव तत्त्व में गिने हैं । इन में अरिहंत परमात्मा देहसहित हैं शरीरधारी-सशरीरी हैं फिर भी ४ घाति कर्मों से मुक्त कहलाते हैं । वे सदेही - सशरीरी होने पर भी संसार से सर्वथा मुक्त है, अब पापादि की प्रवृत्ति न करे अथवा कर्मबंध न करने आदि के पच्वक्खाण कर लिए हैं जब कि सिद्ध भगवंत सर्व कर्म रहित हैं अतः विदेही-अशरीरी हैं । इस प्रकार देखने जाएँ तो अरिहंत और सिद्ध भगवंतों में कोई विशेष अन्तर नहीं है फक्त शरीर के कारण ही भेद है, शेष अन्य समान है । दोनों का केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीतरागता तथा अनंत शक्ति आदि सब समान हैं, किसी में भी न्यूनाधिकता नहीं है, अतः देहसहित - सशरीर अवस्थावाले को अरिहंत भगवान कहा है । ये ही तीर्थ प्रवर्तन, तीर्थ स्थापनादि सभी कार्य करते हैं । ये ही भगवान ईश्वर - परमेश्वर कहलाते हैं । इनको शुद्ध प्रवृत्ति करने में अब ऐसे कोई भी कर्मों का बंध नहीं होता है जिसके कारण इन्हें आगामी भव धारण करना पड़े । ये ही अरिहंत भगवंत अपने स्वयं के आयुष्य के आधार पर टिके हुए शेष ४ अघाति कर्मों का क्षय करके अंत में अशरीरी सिद्ध बन जाते हैं - मोक्ष में स्थिर हो जाते हैं । सिद्ध भगवंत भी केवलज्ञानादि जो कुछ भी प्राप्त करते हैं वह सब कुछ यहाँ से सशरीरी अवस्था में ही प्राप्त करके जाते हैं । वहाँ मोक्ष में जाने के पश्चात् कुछ भी प्राप्त करने का नहीं रहता है ।

अष्टादशदोषवर्जितो जिनः -

भूल करे वह भगवान कहलाए या भगवान हो वह भूल करें ? इन दोनों ही प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट न कार ही होना चाहिए । दोनों प्रकार से गलत ही है । भूल करे उसे भगवान कहने में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि भूल करने वाले तो करोड़ों लोग हैं, सभी भूल करते हैं । कहते हैं कि To Err is Human "मानव मात्र भूलने पात्र" सभी भूल करते हैं, तो फिर क्या सभी को भगवान कहें ? नहीं, कदापि नहीं । भूल करना यह भगवान बनने की प्रक्रिया नहीं है । इसी प्रकार भगवान होने

के बाद अथवा कोई स्वयं को भगवान कहलाए और फिर भूल करे तो कैसे चल सकता है । यदि भूल करते हैं तो समझ लेना चाहिये कि अभी वे भगवान बने नहीं है, भगवान बनने के योग्य पात्र भी नहीं बने है । यहाँ भूल से पाप-दोष होता है अतः इस सीधी-सादी सरल व्याख्या के आधार पर सामान्य व्यक्ति भी भगवान की पहचान कर सकता है । बस, रत्तीभर भी पाप-दोष अथवा भूल यदि भगवान में दिखाई दे तो उन्हें भगवान मानने की आप भूल न कर बैठना ।

वीतराग परमात्मा के जीवन में तो भूल की रत्तीभर गंध भी संभव नहीं हैं। सर्व प्रथम वीतराग शब्द ही इस बात का विश्वास दिलाता है कि इनका मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो चुका है, जिसके कारण भूल होने की जो संभावना थी वह मूल में से ही नष्ट हो चुकी है अतः कारण नष्ट होते ही कार्य की संभावना भी नष्ट हो जाती है । कारण के बिना कार्य बनता नहीं है । इन में भी वे तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं । ऐसे वीतरागी भगवान में फिर तो मानसिक-वैचारिक व वाचिक भूल की भी संभावना नहीं है । ऐसे तीर्थंकर बने हुए अरिहंत परमात्मा में १८ प्रकार के दोष होते ही नहीं है । वे १८ प्रकार के दोष कौन से हैं उसका स्पष्ट उल्लेख श्री हेमचन्द्राचार्य महाराजा ने अभिधान चिंतामणी में फरमाया है -

अन्तराया दानं -लाभं -वीर्यं -भोगोपभोगगाः ।

हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च ॥७२॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञानं, निद्रा चाविरतिस्तथा।

रागो द्वेषश्च नो दोषोस्तेषामष्टादशाप्यमी ॥७३॥

१. दानान्तराय, २. लाभान्तराय, ३. भोगान्तराय, ४. उपभोगान्तराय ५. वीर्यान्तराय आदि पाँच प्रकार के अन्तराय, ६. हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. भय, १०. शोक, ११.जुगुप्सा, १२.काम, १३.मिथ्यात्व, १४.अज्ञान, १५.निद्रा, १६.अविरति, १७. राग और १८. द्वेष । ये अठारह प्रकार के दोष तीर्थंकर प्रभु में होने की कोई संभावना ही नहीं है । इसीलिये ही अष्टादशदोषवर्जितो जिनः अर्थात् अठारह दोष से वर्जित जिन-जिनेश्वर कहे जाते हैं। जो जो तीर्थंकर भगवंत हुए हैं, होते हैं और होंगे वे सभी इन अठारह दोष से रहित थे, हैं और होंगे ।

अब प्रश्न यह उठता है कि दोष १८ ही क्यों ? क्या दोष इतने ही है ? दोष तो सैंकड़ो होते हैं । इसका मतलब यह नहीं है कि सैंकड़ो दोषों में १८ ही नहीं रहते हैं बाकी अन्य रहते हैं । ना, ऐसा नहीं, परन्तु इन अठारह दोषों में जगत के सभी दोषों का समावेश हो जाता है ये अठारह तो मुख्य-मुख्य जातियाँ हैं, प्रकार है । इन

प्रकारों के उपभेद के रूप में जगत के अन्य सभी दोष गिने जाते हैं अतः १८ दोष नहीं रहेंगे तो अन्य किसी दोष की संभावना रहती ही नहीं है । उदाहरण के लिये राग-द्वेष कामादि इतने बड़े दोष है कि इनके उपभेदों में अन्य सैंकड़ो दोषों का समावेश हो जाता है । जब यह मूल जाति ही नहीं रहेगी, तो फिर उपजातियाँ कहाँ से टिक पाएगी ?

इन अद्वारह दोषों की दृष्टि से यदि सभी भगवानों की परीक्षा की जाए, तुलना की जाए तो पता चल पाएगा कि किन भगवानों में कितने दोष हैं और कौन से भगवान बिल्कुल दोष रहित - निर्दोष हैं । जिस प्रकार कसौटी पर परीक्षा करने से सोने और पित्तल के भेद का पता चलता है, उसी प्रकार १८ दोषों की कसौटी पर परीक्षा करने से सदोष और निर्दोष भगवानों के भेद का पता चलेगा। अतः सभी भगवान एक ही हैं, सभी भगवान समान है, यह तो नामों का भेद हैं। ऐसा कहनेवालों को इस कसौटी से भेद समझमें आ जाएगा ।

बारह गुणों के धारक श्री अरिहंत :-

गुण के धारक ही गुणी कहलाते हैं । गुणी का आधार ही गुणों पर है । जैन शासन गुणवाची-गुणपरक धर्म है । नवकार महामंत्र भी व्यक्तिवाची नहीं बल्कि गुणवाची महामंत्र है । इसीलीये नवकार महामंत्र में एक भी व्यक्ति-परमेष्ठी का नाम ही नहीं है । अरिहंतादि सब गुणवाची पद है । अतः प्रत्येक परमेष्ठी भगवंतो की गुण संख्या पदों के अनुसार भिन्न-भिन्न बताई गई है । (१) अरिहंत के १२ गुण, (२) सिद्ध भगवंत के ८ गुण (३) आचार्य महाराज के ३६ गुण (४) उपाध्याय महाराज के २५ गुण, (५) साधु महाराज के २७ गुण. इस तरह पंच परमेष्ठी भगवंतो के कुल मीलाकर १०८ गुण होते हैं ।

इस तरह पंच परमेष्ठी भगवंतो की गुण संख्या कही है । इन में अरिहंत परमात्मा के १२ गुण कहे गए हैं, ये दो विभाग में है -

अरिहंत के १२ गुण

४ अतिशय + ८ प्रातिहार्य = १२ गुण

४ अतिशय

तेषां च देहोऽद्भूतरूपगन्धो, निरामय स्वेऽमलोऽज्जितश्च
थासोऽजगन्धो रूधिरामिषं तु, गोक्षीरधारा धवलं ह्यविस्नम्

आहार निहार विधिस्त्वद्विष्य-श्चत्वारएतेऽतिशया सहोत्थाः ॥

अभिधान चिंतामणि में पू. हेमचन्द्राचार्य महाराज ४ अतिशयों का उपरोक्त श्लोक में वर्णन करते हुए फरमाते हैं कि —

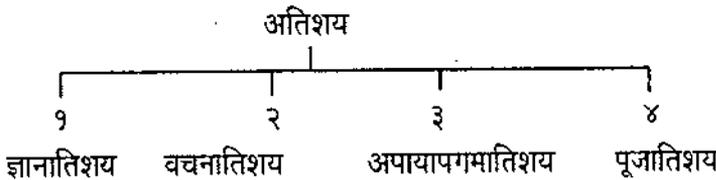
(१) प्रस्वेद रहित देह, (२) सुगंधित श्वासोच्छ्वास, (३) रक्त-मांस दूधवत् श्वेत, (४) अद्विष्य आहार-निहार. ये चार अतिशय प्रभु के जन्म से ही प्रभु के साथ ही स्वाभाविक रूप से रहते हैं । परमात्मा का देह स्वरूप जन्म से ही अद्भुत सौंदर्ययुक्त होता है, रोगरहित निरोगी और सर्वथा प्रस्वेद रहित अथवा किसी भी प्रकार के दोष से रहित होता है ॥१॥

अरिहंत परमात्मा का श्वासोच्छ्वास भी कमल की सुगंध जैसा सुरभित होता है, उसमें दुर्गन्ध का सर्वथा अभाव ही होता है ॥२॥

भगवान के शरीर में जो रूधिर - माँस आदि होते हैं वे बिल्कुल श्वेत होते हैं, मानो दूध हो । उनका रूधिर-खून हमारी तरह लाल नहीं होता है । अतः हेमचन्द्राचार्य महाराज वीतराग स्तोत्र में फरमाते हैं कि “क्षीरधारा सहोदरं” दुध की धारा के समान होता है ॥३॥

प्रभु के आहार-निहार की क्रिया सर्वसामान्य जन के लिये दृष्टिगोचर होती ही नहीं है अर्थात् आहार ग्रहण की क्रिया हो अथवा निहार की अर्थात् मल-मुत्र विसर्जन की क्रिया हो उसे कोई भी देख नहीं सकते हैं ॥४॥ ये अतिशय प्रत्येक तीर्थंकर भगवंतों को जन्म से ही होने के कारण इन्हें सहजातिशय कहते हैं-ये सहज ही जन्म से साथ ही रहे हुए होते हैं। ये चारों ही अतिशय प्रभु के अपने कर्मक्षय के कारण होते हैं। इन में देवताओं का एक भी निमित्त न होने से इन्हें देवकृत न मानें ।

अन्य ४ अतिशय :-



१. ज्ञानातिशय :- अतिशय का अर्थ है अधिक प्रमाण। सर्वसामान्य जन से अधिक परिमाण - प्रमाण में होना वह है, इनमें पहला ज्ञानातिशय- ज्ञान-

अतिशय है। परमात्मा का ज्ञान-केवलज्ञान स्वरूप में अनंत ज्ञान होता है। समस्त जगत के तमाम पदार्थों को वे एक साथ जानते-देखते हैं। द्रव्य - गुण - पर्याय भेद से जानते -देखते हैं। तीनों काल का ज्ञान एक साथ होता है अर्थात् एक पदार्थ की भूत-भावी और वर्तमानकालीक अनन्त पर्याय एवं गुणों को एक साथ जान-देख सकते हैं।

२. वचनातिशय :- वचन-वाणी। प्रभु की वाणी अत्यन्त मधुर होती है मानों गन्ने का रस हो। श्रवण करते ही हृदय में उतर जाय ऐसी कर्णप्रिय होती है। प्रभु अर्धमागधी (पाकृत) भाषा में देशना- (उपदेश) देते हैं। देवता मनुष्य, और तिर्यचगति के पशु-पक्षी भी समवसरण में बैठकर देशना सुनते हैं और स्व-स्व भाषामें समजते हैं। प्रभु सर्वज्ञ होने के कारण सभी के मन की शंकाओं को जानते हुए प्रभु देशना फरमाते हैं अतः प्रत्येक जीवों की शंका का समाधान हो जाता है। ऐसी उत्कृष्ट प्रभु की वाणी होती है अतः इसे वचनातिशय कहते हैं।

३. अपायापगम अतिशय :- अपाय अर्थात् दुःख और अपगम अर्थात् नाश होना, चला जाना / जिनके सभी दुःख दूर हो गए हैं, क्योंकि दुःख के मूल में रहा हुआ मोहनीय कर्म सर्वथा नष्ट हो जाने से अब राग -द्वेष क्लेश कषाय रहे ही नहीं है। अतः दुःखों का अतिशय दूर हो जाना ही अपायापगम अतिशय है।

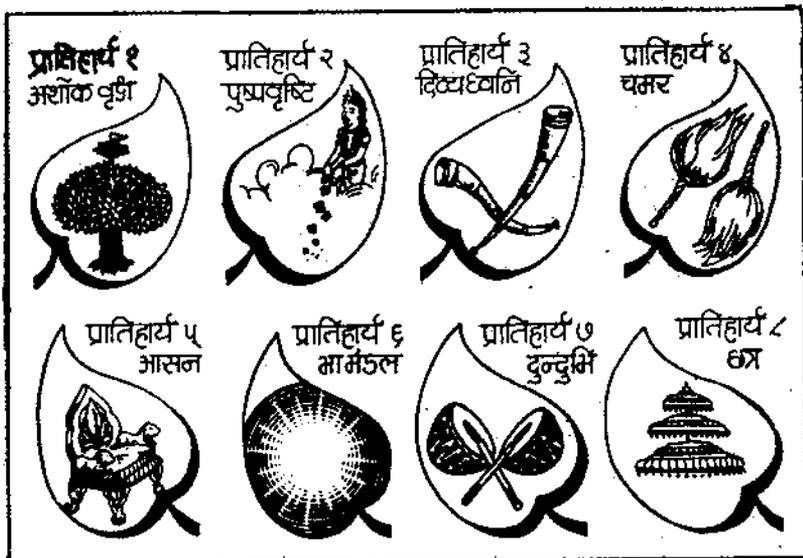
४. पूजातिशय :- अरिहंत परमात्मा इस अतिशय के कारण पूज्य-पूजनीय है। तीनों ही लोक के जीव उनकी पूजा करते हैं, देवलोक के देवतागण-ईन्द्र, महेन्द्र भी प्रभु की पूजा करते हैं। कल्याणकादि के प्रसंग पर परमात्मा की भक्ति -उपासना करते हैं। जन्म के समय जन्माभिषेक महोत्सव, मेरुपर्वत पर अभिषेक आदि सब कुछ देवतागण करते हैं। मनुष्य भी प्रभु की भक्ति से पूजा करते हैं। तिर्यच गति के पशु-पक्षी भी -पूजित मानते हैं, पूजन करते हैं। इस प्रकार तीनों ही लोक के जीवों से पूजित -वंदित होने से यह पूजातिशय कहलाता है।
ये चार अतिशय अन्य प्रकार के हैं और ये केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् होते हैं जब कि प्रथम चार अतिशय जन्म से ही होते हैं।

अष्टप्रतिहार्यः-प्रतिहारी अर्थात् अंगरक्षकराजा का अंगरक्षक जिस प्रकार सदा

साथ ही रहते हैं उसी प्रकार प्रभु के साथ अंगरक्षक की तरह सदा साथ रहे उसे प्रातिहार्य कहते हैं । तीर्थंकर प्रभुको केवलज्ञान होने पर उनके उत्कृष्ट पुण्य प्रभाव से देवता आते हैं और समवसरण आदि की रचना करते हैं जो प्रभु के साथ ही रहते हैं। ये आठ प्रातिहार्योँ इस प्रकार है -

अशोक वृक्षः सुरपुष्पवृष्टि दिव्य ध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामंडलं दुंदुभिरातपत्रं सत् प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ।



१.अशोक वृक्ष,२.सुरपुष्पवृष्टि,३.दिव्य ध्वनि,४.चामर,

५.सिंहासन,६. भामंडल ७.देवदुंदुभि,८.तीनछत्र।

समवसरण में विराजकर प्रभु देशना प्रदान करते हैं । इस प्रसंग पर देवतागण समवसरण के केन्द्र में अशोकवृक्ष की रचना करते हैं । 'अ' निषेधार्थक है। जहां शोक न हो उसे अशोकवृक्ष कहते हैं । परमात्मा की देशना श्रवण करने हेतु जितने भी जीव बैठे होते हैं, उन सभी के शोक दूर हो जाते हैं । दुःख, शोक-ताप-संताप, खेद- विषाद कुछ भी नहीं रहते हैं और सभी जीव सुख का सुंदर अनुभव करते हैं।

गायत्रिवालिविरुतै-नृत्यत्रिव चलैर्दलैः।

त्वद्गुणैरिव रक्तोऽसौ, मोदते चैत्यपादपः।

पवन से चलायमान पत्तों से मानों नृत्य कर रहा हो ऐसा यह वृक्ष शोभित होता है। इसकी सुगंध से आकृष्ट होकर आए हुए भ्रमर झंकार करते हो तब मानो अशोक

वृक्ष गीत गा रहा हो-ऐसा लगता है-ऐसा अशोक वृक्ष आपकी भक्ति में मानो निमग्न हो -ऐसा शोभायमान होता है ।

यह अशोक वृक्ष भगवान के देह- अवगाहना से बारह गुना उँचा होता है। संपूर्ण समवसरण को यह अपनी घनघटा से आच्छादित कर देता है। एक योजन की भूमि पर मानों चँदरवा बाँधा हो ऐसा लगता है। यह प्रथम प्रातिहार्य है ।

२. **सुरपुष्पवृष्टि** :- प्रभु के पुण्य प्रभाव से देवतागण पुष्पवृष्टि करते हैं । समवसरण के आसपास १ योजन भूमि में चारों ओर सुरभित पुष्पों की वृष्टि करते हैं । चारों ओर का वातावरण सुगंधित बन जाता है । हेमचन्द्राचार्य महाराज फरमाते हैं कि -

आयोजनं सुमनसोऽधस्तात्रिक्षिप्तबंधनाः ।

जानुदध्नीःसुमनसो देशनोर्व्या किरन्ति ते ॥

जिनका डंठल नीचे की ओर है ऐसे पुष्पों को देवतागण घुटनों तक आपकी देशनाभूमि में चारों ओर एक योजन विस्तार में बरसाते हैं । इस प्रकार वीतराग स्तोत्र में वर्णन है । यह कार्य देवता करते हैं ।

३. **दिव्य ध्वनि** :- समवसरण में बिराजमान प्रभु जब देशना प्रदान करते हैं, तब प्रभु की ध्वनि में तो एक प्रकार की दिव्यता होती है, प्रभु मालकोश राग में देशना देते हैं । सर्वजन समुदाय को अमृत के स्वाद समान सुखानुभूति होती है । सभी जीव समान रूप से समझ पाते हैं ।-द्राक्ष अथवा मिश्री से भी हजारगुनी मधुर प्रभु की वाणी होती है । इसमें ओर अधिक मधुरता लाने के लिए देवता बाँसुरी से सुर मिलाते हैं । मनुष्य तो क्या बल्कि देवता भी श्रवण करते - करते निमग्न - तल्लीन हो जाते हैं ।

४. **चामरद्वय** :- परमात्मा समवसरण में बिराजे हो अथवा विहार करते हो - प्रत्येक समय देवता प्रभु के दोनों ओर चामर डुलाते हैं । भगवान को पसीना होता ही नहीं है । फिर भी भक्ति के भाव से प्रेरित होकर देवता दोनों ओर सतत चामर डुलाते हैं । ये चामर कंद जैसे श्वेत वर्ण वाले होते हैं ऐसा भक्तामर स्तोत्र के कुंदावदात-चल-चामर-चारु-शोभं इस श्लोक में वर्णन किया है ।

५. सिंहासन :- मृगेन्द्रासनमारुढे त्वयि तन्वति देशनाम् ।

श्रोतुं मृगाः समायान्ति, मृगेन्द्रमिव सेवितुम् ॥

तीन गढ़ के समवसरण की रचना करके त्रिभुवन के नाथ वीतराग परमात्मा के बैठने के लिये देवतागण सिंहासन की रचना करते हैं । जिसमें मृगेन्द्र अर्थात् सिंह, आसन अर्थात् बैठने का साधन मात्र । सिंहाकृति से युक्त आसन अर्थात् सिंहासन । ऐसे सिंहासन में बैठकर प्रभु देशना फरमाते हैं फिर भी हिरण वगैरह प्राणी देशना श्रवण करने आते हैं । इस सिंहासन को भूल से भी कोई मृगचर्म न मान ले अतः स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि यह सिंहासन सोने का होता है ।

६. भामंडल :- यह भामंडल नामक प्रातिहार्य देवता नहीं बनाते हैं, परन्तु स्वयं परमात्मा के घाति कर्मों के क्षय से निर्मित है । चारों ही घाति कर्मों का क्षय हो जाने के बाद केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त होने से प्रभु का मुखारविन्द “आइच्चेसु अहियं पयासयरा” अनेक आदित्य-सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान होता है । ऐसा नामस्तव-लोगस्स सूत्रादि में पाठ मीलता है । आज हम सामान्य रूप से भी आकाश में एक सूर्य के सामने निरी आँख से देखने में समर्थ नहीं है, देख नहीं सकते हैं क्योंकि सूर्य के प्रकाश से आँखे चकाचौंध हो जाती है, जब कि प्रभु का मुख तो एक नहीं, अनेक सूर्यों की अपेक्षा अधिक प्रकाशमान होता है, इसीलिए ही प्रभु के दर्शन कैसे हो सकता है ? संभव ही नहीं है । भगवान समवसरण में देशना देने हेतु बिराजमान होते हैं, समवसरण में बारह पर्षदा में तीन गति के जीव देशना श्रवण करने के लिए बैठते हैं, तब यदि प्रभु का मुख देखा ही न जा सके तो फिर देशना श्रवण में रस कैसे आएगा ? अतः देवता गण प्रभु के मस्तक के पीछे एक आभामंडल की रचना करते हैं (ऐसी कवि ने कल्पना की है ।) जिससे प्रभु का मुखारविन्द सौम्य बन जाता है, सभी जीव शांत होकर प्रभु के दर्शन कर सकते हैं। भामंडल अर्थात् ज्योति-प्रकाश पुंजका आभामंडल, यह घातिकर्मों के सर्वथा क्षय होने से उत्पन्न होता है ।

७. देव दुंदुभिः- दुंदुभि एक प्रकार के वाद्ययंत्र का नाम है । जो भेरी आदि जैसा होता है । इसे देवता बजाते हैं अतः देव दुंदुभि कहते हैं। देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा विहार करते हो अथवा समवसरण में देशनार्थ पथारते हो, तब देवता चारों ओर देवदुंदुभि बजाकर लोगों को निवेदन करते हैं ऐसा वर्णन कल्याण मन्दिर के निम्न

श्लोक में करते हैं -

भोः भोः प्रमादमवधूय भजध्वमेन, मागत्य निर्वृतिपुरिं प्रति सार्थवाह ।

एतन्निवेदयति देव ! जगत्त्रयाय मन्ये नदन्नभिनभः सुरदुन्दुभिस्ते ॥

हे ! हे ! भव्य प्राणिओ ! प्रमाद का त्याग करके प्रभु को भजो, सेवा करो वास्तव में प्रभु क्या पधारे हैं मानो मोक्ष में ले जाने हेतु सार्थवाह के रूप में पधारे हैं, अतः जिसको जिसको मोक्ष में जाना हो वह सभी प्रमाद का त्याग करके भगवान की देशना श्रवण करने हेतु पधारो, ऐसा निवेदन देवदुन्दुभि बजाते हुए देवता करते हैं ।

आतपत्र :- आठवां - अंतिम प्रातिहार्य है आतपत्र अर्थात् तीन छत्र अथवा छत्रत्रय । प्रभु के मस्तक पर जो तीन छत्र रहते हैं वे प्रभु का त्रिभुवनपतित्व घोषित करते हैं । परमात्मा त्रिभुवनपति हैं, तीनों ही भुवनों के स्वामी हैं । एक छत्र ऊर्ध्वलोक, दूसरा अधोलोक और तीसरा तिच्छर्शलोक का सूचन करता है ।

ऐसे अष्ट-आठ प्रातिहार्यों से तीर्थकर परमात्मा शोभित होते हैं । चार घाति कर्म के क्षय से और साथ ही तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति से देवतागण ये सभी रचना करते हैं । प्रभु स्वयं तो वीतरागी हैं । प्रभु को इन प्रातिहार्यों के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं होता है, न उन्हें राग है न मोह है । ये देवतागण भक्तिवश होकर प्रभु की महिमा बढ़ाने हेतु करते हैं प्रभु की भक्ति का लाभ सभी जीव भी ले सकें इस आशय से करते हैं परन्तु एक बात तो शत-प्रतिशत सही है कि भगवान तीर्थकर के सिवाय अन्य किसी भी भगवान या देवेन्द्रों के लिये ये अष्ट प्रातिहार्यादि की रचना नहीं होती है । उपाध्यायजी महाराज भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि - 'एह ठकुराई तुझ के बीजे नवि घटे रे' अर्थात् हे प्रभु ! यह सब एक मात्र तेरी ही ठकुराई है, अन्य में कहीं भी घटित नहीं होती है । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे (अन्य भगवान) तीर्थकर नामकर्म उपाजित नहीं करते हैं, वे सर्वज्ञ - वीतरागी - तीर्थकर ही नहीं है अतः उनके लिये ऐसी ठकुराई - ऐसा वैभव कहाँ से संभव हो सकता है ? यह तो तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का ही परिणाम - फल है । ऐसी प्रभुता - वैभव प्राप्त होते हुए भी वे वीतराग भाव से मुग्ध-आसक्त नहीं होते हैं । इसे भोगते भी नहीं, बल्की इससे अलिप्त ही रहते हैं । ऐसे तो अष्ट प्रातिहार्य ही नहीं, अन्य भी अनेक अतिशयादि होते हैं ।

३४ अतिशय :-

चार अतिशय मूलथी ओगणीस देवना कीध

कर्म खप्या थी अग्यार चौत्रीश एम अतिशया, समवायांगे प्रसिद्ध । प्रथम जिने ॥

भगवान ऋषभदेव की स्तवना करते हुए पद्मविजयजी महाराज ने इस प्रकार ३४ अतिशयों का परिचय दिया है । ४ अतिशय जन्म से होते हैं इनका वर्णन पहले कर चुके हैं अतः पुनरोक्ति के भय से नहीं करता हूँ । अब कर्मक्षय जन्य तथा देवकृत १९ अतिशयों का संक्षिप्त वर्णन करता हूँ -

कर्मक्षय जन्य ११ अतिशय :-

क्षेत्रे स्थितिर्योजनमात्रकेऽपि, नृदेवतिर्यग्जनकोटिकोटे: ॥५८॥

वाणी नृतिर्यक् सुरलोकमभाषा संवादिनी योजनगामिनी च ।

भामंडलं चारु चमौलिपृष्ठे, विडम्बिताहर्पतिमण्डल श्री ॥५९॥

सात्रे च गव्यूतिशतद्वपे सजा, वैरेतयो मार्यातिवृष्टयवृष्टयः ।

दुर्भिक्षमन्यस्वचक्रतो भयं, स्यात्रैत एकादश कर्मघातजाः ॥६०॥

(१) देव - मनुष्य तिर्यच गति के करोड़ो जीव एक योजन मात्र जगह में समाकर देशना श्रवण करते हैं । (२) योजनगामिनी वाणी, (३) भामंडल (४) निरोगिता, (५) अवैरभाव (६) सप्त इतियों का अभाव, (७) मारी-महामारी न हो, (८) अतिवृष्टि न हो (९) अनावृष्टि न हो, (१०) अकाल न हो (११) स्व पर चक्र का भय व्याप्त न हो । ये ११ अतिशय अभिधान चिंतामणि में दर्शाए गए हैं ।

(१) एक योजन में समा जाते हैं :- प्रभु की देशना के समय एक योजन जितनी भूमि क्षेत्र में कोटा - कोटि अथवा असंख्य देवता, मनुष्य और तिर्यच पशु-पक्षी आदि जो जो देशना श्रवण हेतु आए हो वे सभी समा जाते हैं अर्थात् कम जगह में ज्यादा लोग-जीव-समा सकते हैं ।

(२) योजनगामिनी वाणी : समवसरण में विराजमान प्रभु जब देशना (प्रवचन) प्रदान करते हो तब परमात्मा की वाणी एक योजन विस्तारवाले क्षेत्र में सभी को अपनी - अपनी भाषा में स्पष्ट सुनाई देती है ।

(३) भामंडल - अतिशय ज्योतियुक्त प्रभु का मुखारविंद होता है । घाति कर्म के

क्षय से अनंतज्ञानादि चतुष्टयी प्रकट होती है अतः अनेक सूर्यों की अपेक्षा भी अधिक तेजस्वी मुखाकृति परमात्मा की होती है । जिससे प्रभु के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं अतः प्रभु के शिर के पिछे एक भामंडल की रचना होने से प्रभु की सौम्य मुखाकृति के सभी लोग दर्शन कर सकते हैं ।

(४) निरोगिता :- अरिहंत परमात्मा का जहाँ - जहाँ विचरण होता है वहाँ से चारों दिशा के सवासौ योजन के विस्तार की भूमि में ज्वरादि किसी भी प्रकार का उपद्रव नहीं होता है ।

(५) वैर भाव का अभाव :- परमात्मा जहाँ जहाँ विहार करते हैं वहाँ से चारों ओर सवासौ योजन के परिसर में वैरभाव का अभाव हो जाता है और यदि पूर्व से हो तो उनका सर्वथा शमन भी हो जाता है ।

(६) सप्त इतियों का अभाव :- प्रभु के विचरण क्षेत्र के सवासौ योजन परिसर में सात प्रकार की इतियाँ नहीं होती है - धान्य आदि को उपद्रव करने वाले, हानि पहुँचाने वाले चूहे, किट, कुमि आदि जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है और न धान्यादि बिगाडते हैं ।

(७) महामारी - प्लेग आदि का अभाव :- मारि अर्थात् अकाल औत्पातिक मृत्यु सामूहिक मरण, आकस्मिक दुर्घटना - आदि दुर्घटनाएँ प्रभु के विचरण क्षेत्र के सवासौ योजन के परिसर में नहीं होती हैं ।

(८) अतिवृष्टि का अभाव :- वृष्टि अर्थात् वर्षा और अतिवृष्टि अर्थात् सतत निरन्तर बरसना, अपरिमित बरसात - बारिश होना । चारों ओर जल ही जल हो जाए ऐसी अत्यधिक वर्षा नहीं होती है ।

(९) अनावृष्टि का अभाव :- अवृष्टि अथवा अनावृष्टि अर्थात् वर्षा का सर्वथा अभाव । प्रभु जिस क्षेत्र में विहार करते हैं उस क्षेत्र में वर्षा का सर्वथा अभाव ही नहीं सकता है । यथोचित वर्षा अवश्य होती ही है ।

(१०) दुर्भिक्ष का अभाव :- दुर्भिक्ष अर्थात् दुष्काल - अकाल । प्रभु जहां विचरण करते हैं, उस विस्तार में चारों ओर कहीं भी अकाल प्रवर्तित नहीं होता है । सर्वत्र धन-धान्य का सुकाल ही होता है अथवा भिक्षा का अभाव सर्वथा रूक जाता है और सभी को भिक्षा सुलभ हो जाती है - इसे कहते हैं दुर्भिक्ष का अभाव।

(११) स्व-पर-चक्र भयनाश :- प्रभु विचरण करते हैं उस भूमि के विस्तार में स्व-पर-राष्ट्रों के युद्धों का भय नहीं रहता है । परचक्र भय अर्थात् शत्रु सैन्य द्वारा चढ़ाई तथा स्वचक्र भय अर्थात् अपने ही सैन्य में विद्रोह - फूट पडना - आन्तरविग्रह आदि नहीं होते हैं ।

ये परमात्मा के घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न ११ प्रकारके अतिशय हैं अर्थात् प्रभु का पुण्य प्रभाव इतना व्यापक और विशाल है कि इनके पुण्य-प्रभावों से चारों ओर इतना व्यापक परिणाम होता है। इन अतिशयों में देवता कुछ भी नहीं करते हैं, कहीं पर भी देवताओं का सहायभूत होना संभव ही नहीं है। देवतागण भक्तिवश जो करते हैं वे १९ अतिशय अलग ही हैं -

देवकृत १९ अतिशय

खे धर्मचक्रं चमरी सपाद पीठं मृगेन्द्रासनमुज्ज्वलं च ।
छत्रत्रयं रत्नमयो ध्वजोऽधिन्यासे च चामीकर पंकजानि ॥
वप्रत्रयं चारु चतुर्माङ्गता, चैत्यदुमोऽधोवदनाश्च कण्टकाः ।
दुमान्तिदुन्दुभिनाद-उचकै वातोऽनुकूल शकुनाः प्रदक्षिणाः ॥
गन्धाम्बुवर्ष-बहुवर्णपुष्प-वृष्टिः क चश्मश्रुनखाप्रवृद्धिः ।
चतुर्विधा निकाय कोटि जघन्यमावादपि पार्श्वदेशे ॥
ऋत्नामिन्द्रियार्थनामनुकूलत्वमित्यपि ।
एकोनविंशतिर्देव्याश्चस्त्रिंशच्च मीलिताः ॥

१) धर्मचक्र २) चँवर-चामर ३) मृगेन्द्रासन ४) छत्रत्रय ५) रत्नमय ध्वज ६) स्वर्णकमल ७) समवसरण रचना ८) चतुर्मुखपत्र ९) अशोक वृक्ष १०) अधोमुखी कण्टक ११) वृक्ष का झुकना १२) देवदुंदुभिनाद १३) सुखदायी वायु १४) शकुन १५) सुगंधित वृष्टि १६) अनेक वर्णवाले पुष्पों की वृष्टि १७) बाल, नख आदि का न बढ़ना १८) करोड़ देवता गण १९) सर्व ऋतुओं की अनुकूलता / देवकृत इन उन्नीस अतिशयों का वर्णन हेमचन्द्राचार्य रचित अभिधान चिंतामणि कोष में

उपरोक्त श्लोक के आधार पर उपलब्ध है।

१) धर्मचक्र :- अरिहंत परमात्मा जब विहार करते हैं तब देवतागण आकाश में सूर्यमंडल जैसा धर्मचक्र आगे चलाते हैं।

२) चँवर-चामर :- समवसरण में विराजमान प्रभुजी के दोनों ओर देवता चँवर-चामर डुलाते हैं। चतुर्मुख-चारों दिशाओं में विराजमान प्रभु के दोनों ओर चार जोड़ी अर्थात् कुल आठ चँवर-चामर डुलाए जाते हैं।

३) मृगेन्द्रासन :- मृगेन्द्र अर्थात् सिंह। सिंहाकृति वाला सोने के उज्ज्वल आसन को सिंहासन कहते हैं। इसकी रचना देवतागण करते हैं।

४) छत्रत्रय :- समवसरण में देशना फरमाने हेतु विराजमान प्रभु के शिरोपरि देवता तीन छत्र बनाते हैं। तीन लोक के नाथ-त्रिभुवनस्वामी यह सूचित करने हेतु तीन छत्रों की रचना करते हैं।

५) रत्नमय ध्वज :- प्रभु विहार करते हैं तब देवता एक ऊँचे रत्नमय ध्वज की रचना करते हैं, जो प्रभु के आगे आगे चलता है।

६) सुवर्ण कमल :- वीतराग परमात्मा विहार करते हैं तब देवतागण प्रभु की भक्ति करने के भाव से ९ सुवर्ण कमलों की रचना करते हैं। भगवान के चरणकमल इन सुवर्णकमलों के उपर ही पड़ते हैं, प्रभु के चरणकमल नीचे पृथ्वी पर पड़ते ही नहीं हैं।

७) समवसरण की रचना :- परमात्मा की देशना श्रवण करने हेतु देवतागण सोने चांदी और रत्नमय तीन गढ़ (प्राकार) युक्त समवसरण की सुंदर रचना करते हैं जिसमें विराजकर प्रभु देशना फरमाते हैं।

८) चतुर्मुखपना :- समवसरण में प्रभु देशना देने हेतु पूर्वदिशा के सन्मुख विराजमान होते हैं, तब चारों दिशा में बैठे हुए सभी श्रोताजनों को ऐसा लगे कि प्रभु हमारे समक्ष ही बैठे हैं, इसलिए देवता अन्य तीन दिशाओं में प्रभु के प्रतिबिंब की रचना करते हैं। इस रचना से प्रभु चतुर्मुख से देशना फरमाते हो ऐसा ही लगता है।

९) अशोक वृक्ष :- समवसरण के मध्य में देवता चैत्य-अशोक वृक्ष की रचना करते हैं। सभी जीवों के शोक दूर करनेवाला, शीतल छायायुक्त घटादार वृक्ष होता है जो सम्पूर्ण समवसरण को आवृत्त कर लेता है।

१०) कण्टक उल्टे होना :- प्रभु विहार करते हैं तब मार्ग में काँटे भी उल्टे हो जाते हैं।

११) दुमानति-वृक्ष का झुकना :- प्रभु के मार्ग में वृक्ष भी अवनत-नम्र हो जाते हैं,

शाखाओं को झुकाते हैं, मानों नमस्कार भाव प्रकट न करते हो! पुष्पों की वृष्टि करके प्रभु के आगमन पर हर्ष प्रकट करते हैं।

१२) देवदुंदुभि नाद :- देवतागण आकाश में देवदुंदुभि बजाते हैं जिसका नाद भुवन व्यापी होता है।

१३) सुखाकारी वायु :- दैविक शक्ति से चारों ओर सुंदर, शीतल सभी को अनुकूल, सुखाकारी वायु प्रवाहित होता है।

१४) शकुन :- चारों ओर पक्षीगण मधुर ध्वनि से गाते हुए प्रदक्षिणा करते हैं।

१५) सुगंधित जल वृष्टि :- देवतागण चारों ओर सुगंधित जल-पानी की मंद-मंद वृष्टि करते रहते हैं।

१६) पुष्पवृष्टि :- व्यंतर देव चारों ओर पंचरंगी पुष्पों की वृष्टि करते हैं।

१७) केश आदि का न बढ़ना :- दीक्षा लेते समय पंचमुष्टि लोच कर लेने के बाद भगवान के दाढ़ी-मूँछ-केश (बाल) रोम तथा नखादि कभी भी बढ़ते नहीं हैं।

१८) करोड़ों देवतागण :- “जघन्यतः कोटि संख्यास्त्वां सेवन्ते सुराऽसुरा।” - कम से कम करोड़ देवता प्रभु की सेवा करते हैं। चारों ही निकाय के कुल एक करोड़ देवता कम से कम (जघन्य से) प्रभु के साथ रहते हैं।

१९) सर्वऋतु अनुकूल :- प्रभु के विहार काल में सभी ऋतु एक साथ और वे भी अनुकूल रूप से फलित होती हैं।

इस प्रकार देवतागण १९ अतिशयों की रचना करके परमपिता परमात्मा की अद्भुत भक्ति करते हैं। भक्ति करने के लिये प्रभु के निर्देशन की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। प्रभु के विना निर्देशन से स्वेच्छापूर्वक देवतागण अपना भक्तिभाव प्रकट करने हेतु अतिशयों की रचना करते हैं।

पद्मविजयजी महाराज ने भगवान नेमिनाथ के स्तवन में इन १९ अतिशयों का विशद वर्णन प्रस्तुत किया है :-

निरख्यो नेमि जिणंदने अरिहंताजी, राजीमती कर्यो त्याग भगवंताजी ।

ब्रह्मचारी संयम ग्रह्यो अरिहंताजी, अनुक्रमे थया वीतराग भगवंताजी ॥१॥

चामर चक्र सिंहासन अरिहंताजी, पादपीठ संयुक्त भगवंताजी ।

छत्र चाले आकाशमां अरिहंताजी, देव दुंदुभि वर युत्त भगवंताजी ॥२॥

सहस्र जोयण ध्वज सोहतो अरिहंताजी, प्रभु आगळ चालंत भगवंताजी ।

कनक कमल नव उपरे अरिहंताजी, विचरे पाय ठवंत भगवंताजी ॥३॥

चार मुखे दीये देशना अरिहंताजी, त्रण गढ झाक झमाल भगवंताजी ।

केश रोम श्मश्रु नखा अरिहंताजी, वाधे नहीं कोई काल भगवंताजी ॥४॥
कांटा पण उंधा होय अरिहंताजी, पंच विषय अनुकूल भगवंताजी ।
षट्कृतु समकाले फळे अरिहंताजी, वायु नहीं प्रतिकूल भगवंताजी ॥५॥
पाणी सुगंध सुर कुसुमनी अरिहंताजी, वृष्टि होय सुरसाल भगवंताजी ।
पंखी दीये सुप्रदक्षिणा अरिहंताजी, वृक्ष नमे असराल भगवंताजी ॥६॥
जिन उत्तम पद पद्मनी अरिहंताजी सेवा करे सुरकोडी भगवंताजी ।
चार निकायनां जघन्यथी अरिहंताजी, चैत्य वृक्ष तेम जोडी भगवंताजी ॥७॥

वाणी के ३५ गुण :- सर्वज्ञ, केवलज्ञानी अतिशयवान् तीर्थकर परमात्मा समवसरण मर्त्रों बिराजमान होकर देशना देते हैं, तब परमात्मा की वाणी भी ३५ प्रकार के विशिष्ट गुणों से युक्त होती है। वे ३५ गुण संक्षिप्त में इस प्रकार हैं :-

१) संस्कारकत्वम् - संस्कृतादि लक्षणों से युक्त २) औदात्यम् - उच्च स्वर से बोली जानेवाली ३) उपचारवरीलता - ग्रामीणता का अभाव है जिसमें ऐसी ४) मेघध्वनीघोषत्वम् - मेघ की तरह गंभीर शब्द-ध्वनीयुक्त ५) प्रतिनाद युक्त - प्रतिध्वनित होने वाली ६) दाक्षिणत्व - सरलता से युक्त ७) उपनीत रागत्वम् - मालकोश आदि रागों के स्वरवाली ८) महार्थता - महान् अर्थवाली ९) अव्याहृतत्वम् - पूर्वापर वाक्यों के और अर्थ के विरोध रहित १०) शिष्टत्वं - इष्ट सिद्धान्त के कथन तथा वाक्य की शिष्टता - सभ्यतासूचक ११) संशयरहित - संदेह-संशय रहित १२) निराकृतान्योत्तरत्व - अन्य के दूषणों से रहित १३) हृदयंगम् - हृदय को आनंद देनेवाली १४) मिथ-साकांक्षता - परस्पर वाक्य तथा पदों की सापेक्षता रखनेवाली १५) प्रस्तावौचित्य - देश-काल का अनुसरण करनेवाली १६) तत्त्वनिष्ठता - वस्तु-पदार्थ स्वरूप को दिखानेवाली १७) अप्रकीर्ण प्रसृतत्व - संबंध और विस्तार से रहित तथा निरर्थक विस्तार के अभाववाली १८) स्वश्लाघाऽन्य-निन्दितारहित - स्व प्रशंसा और पर निंदा रहित १९) आभिजात्य - वक्ता की महान् कुलीनता का सूचन करनेवाली तथा प्रतिपाद्य विषय की भूमिका का अनुसरण करनेवाली २०) अतिस्निग्ध मधुरत्व - घी की तरह अति स्निग्ध और गुड़ की भाँति मधुरता से युक्त २१) प्रशंस्यता - प्रशंसनीय २२) अमर्मवेधिता - अन्य के मर्म को प्रकट न करनेवाली २३) औदार्य - तुच्छता रहित उदार, कथनीय अर्थ की उदारतावाली २४) धर्मार्थ प्रतिबद्धता - धर्म और अर्थ से युक्त - संबंधवाली २५) कारकादिविपर्यास - कारक, काल, वचन, लिंग आदि के विरोध रहित २६) चित्रकृत्व - निरन्तर आश्चर्य उत्पन्न

करनेवाली २७) विभ्रमादि विमुक्त - वक्ता के मन में भ्रान्तता, विक्षेप आदि दोष नहीं होते हैं। २८) अद्भूतत्व - अद्भूत होती है। २९) अनति विलम्बिता - अत्यंत विलम्ब रहित ३०) अनेक जाति वैचित्र्य - वस्तुओं का अनेक प्रकार से वर्णन करनेवाली ३१) आरोपित विशेषता - अन्य वचनों की अपेक्षा विशेषता दिखाने वाली ३२) सत्वप्रधानता - सत्वप्रधान ३३) वर्ण-पद-वाक्यविविक्तता - वर्ण, पद, वाक्य के स्पष्ट विवेकवाली ३४) अविच्छिन्नता - कहने की अर्थ शुद्धि तक रहने वाली ३५) अखेदत्व - वाणी बोलने वाले को तथा सुननेवाले को भी खेद, थकान या परिश्रम नहीं लगता है ।

इस प्रकार उपरोक्त ३५ गुणों से युक्त तीर्थंकर सर्वज्ञ प्रभु की वाणी होती है। अब विचार करके देखो कि ऐसी वाणी हो तो उसमें दोष की तिलभर भी संभावना कैसे रहेगी ? ऐसी इतने गुणों से युक्त वाणी सीधी ही गले उतरने योग्य होती है तथा सभी जीव श्रवण करते हैं। श्रोताओं के संशय नष्ट हो जाते हैं। मात्र नरकगति के जीवों को छोड़कर तीनों ही गति के जीव समवसरण में आते हैं, देशना श्रवण करते हैं और आनंदानुभूति करते हैं। प्रभु की वाणी के ये ३५ गुणों का समावेश वचनातिशय में होता है ।

अपायों का अर्थात् अनिष्टों का अपगम अर्थात् नाश होना। इसका अतिशय = अपायापगमातिशय कहलाता है, अर्थात् प्रभु जिस क्षेत्र में विचरण करते हैं उस क्षेत्र के मंडलाकार सवासौ योजन तक रोग, शोक, वैर, इतियाँ, मरण, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल तथा स्वपरराष्ट्र भय अर्थात् युद्ध, आन्दोलन आदि नहीं होते हैं। यह सब अपायापगम अतिशय के प्रभाव से होता है ।

अनंत चतुष्टयीयुक्त परमात्मा

जैन दर्शन ने अरिहंत परमात्मा के जो जो गुण माने हैं वे सभी गुण अरिहंत परमात्मा ने स्वयं अपने कर्मों की निर्जरा करके उपार्जित किये हैं। हिन्दु धर्म या ईश्वर कर्तृत्ववादि दर्शन कहीं भी यह प्रक्रिया स्वीकार करते ही नहीं हैं। उन्होंने तो ईश्वर को Ready Made संपूर्णतः तैयार माल ही मान लिया है। उनके मतानुसार तो सर्वगुण सम्पन्न परिपूर्ण ईश्वर सीधे ही अवतरित होते हैं, अतः अन्य किसी भी प्रकार के गुणादि के प्रगटीकरण आदि का विचार करने का प्रश्न ही नहीं रहता है। इस जगत के सभी अच्छे गुण-अच्छे भाव आदि सब कुछ ईश्वर में होते ही हैं। ऐसा मान लिया जाए अन्य कुछ भी नहीं ।

जैन दर्शन की मान्यता ही भिन्न है। इसके सिद्धान्त ही अलग-स्वतंत्र हैं अर्थात् जैन दर्शन ईश्वर को Ready Made सीधे-सीधा अवतरित नहीं मानता है। ईश्वर ने अवतार नहीं लिया बल्कि ईश्वर यहीं से बने हैं, हमारे जैसे जीवों में से ही ईश्वर बने हैं। वे तथाप्रकार के कर्मावरण को दूर करके परिश्रमपूर्वक आत्मिक गुणों का संपूर्णतः प्रादुर्भाव करके ईश्वर-भगवान बने हैं। घातीकर्म चार हैं जिनमें

१) मोहनीय कर्म का क्षय करके - वीतरागता प्राप्त की।

२) ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय करके अनंतज्ञान (केवलज्ञान) प्राप्त किया।

३) दर्शनावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय करके - अनंतदर्शन (केवलदर्शन) की प्राप्ति की।

४) अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय पर - अनन्त वीर्य - शक्ति - लब्धि की प्राप्ति की।

इस प्रकार अपनी ही आत्मा पर कर्मों के जो आवरण थे उन कर्मावरणों को हटाकर - उनका क्षय करके प्रभु स्वात्म गुणों का ही प्रादुर्भाव करते हैं तथा परमात्म पद को प्राप्त करते हैं। यद्यपि इन चार घाती कर्मों का क्षय तो कोई भी कर सकता है, परन्तु जो जो सभी इन कर्मों का क्षय करते हैं वे सभी तीर्थंकर नहीं बन जाते हैं। तीर्थंकर बनने के लिए इन चार कर्मों के क्षय के साथ पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म का भी उदय होना अत्यंत आवश्यक है। सिद्ध होने अथवा मोक्ष में जाने के लिये प्रारंभ में इन चार घाती कर्मों का क्षय करना नितान्त आवश्यक है। केवल घाती कर्मों का क्षय करने वाले जीव को सामान्य केवली कहते हैं। केवलज्ञान - केवलदर्शन आदि चारों की दृष्टि से वे जीव तीर्थंकर परमात्मा के समान ही कहलाते हैं, एकमात्र तीर्थंकरत्व के सिवाय सारी ही सादृश्यता पूर्ण रूप से मिलती है। तीर्थंकर परमात्मा और सामान्य केवली के केवलज्ञान अथवा केवलदर्शन में रक्तिभर भी अन्तर नहीं होता है, उसी प्रकार वीतरागता भी समान ही होती है। मात्र तीर्थंकरत्व ही विशेष रूप से होता है।

जो सामान्य केवली बन जाते हैं, वे केवली बन जाने के पश्चात् तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन नहीं कर सकते क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म पूर्व के तीसरे भव में उपार्जन करने की प्रकृति है। अनिवार्य रूप से वह पूर्व के तीसरे भव में ही बाँधा जा सकता है। तत्पश्चात् बीच का एक भव वह जीव नरक में अथवा देवगति में बिताता है और अन्तिम भव में तीर्थंकर बनता है। एक ही भव में तीर्थंकर नामकर्म का बंध करना और उसे उदय में लाकर तीर्थंकर बनना संभव नहीं होता है अतः अनेक मोक्षगामी जीव चार घाती कर्मों का क्षय करके केवली-वीतरागी बनकर उसी

भव में मोक्षगमन कर सकते हैं। इस प्रकार सामान्य केवली और तीर्थंकर में कोई अन्तर नहीं होता है। मात्र तीर्थंकर नामकर्म के विशिष्ट कक्षा के पुण्य का ही अन्तर होता है। बाकी वीतरागता केवलज्ञानादि सभी में सादृश्यता होती है।

इसी प्रकार एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर में भी कोई अन्तर नहीं होता है। देहाकृति तथा नामादि से ही भेद होता है और वह स्वाभाविक भेद ही होता है। बस, इसके सिवाय अन्य कोई भी भेद नहीं होता है। अतः सभी तीर्थंकर गुणादि की दृष्टि से एक जैसे ही है। जो जो तीर्थंकर होने वाले हो अथवा हो रहे हो, जिन्हें भी होना हो उन्हें इसी प्रक्रिया में से गुजरना पड़ता है - प्रथम सम्यक्त्व, व्रतधारणा चारित्रादि की उपासना, पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन और चरमभव में चारों ही घाति कर्मों का क्षय करना, वीतरागता - केवलज्ञान युक्त सर्वज्ञता आदि क्रमशः प्राप्त करना पड़ता है। इस शाश्वत राजमार्ग के सिवाय अन्य कोई विकल्प ही नहीं है।

तीर्थंकर भगवंत अनिवार्य रूप से घर संसार-कुटुंब परिवार आदि सभी का त्याग करके साधुत्व स्वीकार करके विहार करते हैं, परिषह-उपसर्ग आदि सहन करते हैं, उसके पश्चात् ही उनके चार घाति कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञानादि अनंत चतुष्टयी प्राप्त होती है। इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने आरीसा भवन में केवलज्ञान प्राप्त किया था तथा पृथ्वीचन्द्र गुणसागर जैसे केवली महात्मा ने लग्न मण्डप में चौरी के फेरे देते समय केवलज्ञान प्राप्त किया - ऐसे किसी भी मार्ग पर तीर्थंकर कभी भी केवलज्ञान नहीं पाते हैं। उनके लिये यह राजमार्ग नहीं है। उनके लिये तो राजमार्ग एक ही है और वह है गृहस्थावस्था का त्याग, सर्व संग परित्याग करना चारित्र प्रहण करके साधु बनना, परिषह-उपसर्ग सहन करना, तप-ध्यानादि की साधना में मरणांत उपसर्ग सहन करना, घोर तपश्चर्या उग्र विहारादि करके कर्मों की निर्जरा करना आदि उनके लिये राजमार्ग है।

भगवान तीर्थंकर को जिस प्रक्रिया से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है वही सभी के लिये राजमार्ग है। इस प्रक्रिया से ही सभी सामान्य जीवों को केवलज्ञान प्राप्ति सरल है परन्तु अपवाद मार्ग से केवलज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन है।

आत्मविकास की प्रक्रिया गुणस्थानारोहण में बताई है। तदनुसार आत्मा का विकास होना चाहिये। आत्मा ऊपर उठती हुई १२वें गुणस्थान पर मोहनीय कर्म का समूल क्षय करती है। तेरहवें गुणस्थानक में प्रवेश करते ही केवलज्ञानादि प्राप्त

करती है, यही प्रक्रिया सर्व सामान्य जीवों के लिये है। जब भी किसी जीव आत्मा का विकास होगा तब इसी प्रक्रिया से ही होनेवाला है। इसमें कोई अन्तर नहीं पडता। अब केवलज्ञानादि की प्राप्ति के बाद थोडा अन्तर पडता है वह यह है कि जिन जीवों ने पूर्व के तीसरे भवमें तीर्थकरनाम कर्म उपार्जन किया है उनके लिये देवता समवसरण आदि की रचना करेंगे परन्तु यह और ऐसी ही रचना सामान्य जीवों के लिये नहीं होगी। इतना बाह्य ही अन्तर है आभ्यन्तर कक्षा दोनों की समान ही होती है। मोक्ष में जाने के लिये केवलज्ञान केवलदर्शन वीतरागतादि गुणों की नितान्त आवश्यकता होती है। इनके बिना मोक्षगमन संभव ही नहीं है।

तीर्थकर नामकर्म के विपाकोदय से अष्टप्रातिहार्यादि युक्त अरिहंत भगवान् होते हैं। यही अरिहंत प्रभु चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना करके तीर्थकर के रूप में पृथ्वीतल को पावन करते हुए सर्वत्र विचरण करते हैं अनेक भव्यात्माओं को धर्माभिमुख बनाते हैं और आयुष्य के समाप्ति काल में शेष चार अघाति कर्मों का क्षय करके, निर्वाण प्राप्त करके मोक्ष में सिधारते हैं अर्थात् सिद्ध परमात्मा बनते हैं। अंत में सभी को सिद्ध बनना ही है। सामान्य केवली बनकर श्री सिद्ध होना है और तीर्थकर परमात्मा बनकर भी सिद्ध बनना है। सभी सिद्ध एक समान ही कहताले हैं। एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध में रत्तिभर भी अन्तर नहीं होता है। जहाँ तक सिद्ध नहीं बनते हैं वहाँ तक ही बाह्य अन्तर रहेगा। अरिहन्त-तीर्थकर भी सिद्ध हुए हो तो उनकी भी वहाँ कोई अलग विशेष व्यवस्था हो, ऐसा नहीं है। जो सभी 'नमो सिद्धाणं' पद से एक साथ सभी नमस्करणीय बनते हैं।

चार निक्षेप से अरिहंत की उपासना

जैन सिद्धान्त में चार निक्षेपों की व्यवस्था की गई है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से हैं। किसी भी वस्तु या विषय का विस्तृत ज्ञान करने के लिए यह चार निक्षेपों की व्यवस्था है। ज्ञान का विस्तरीकरण इन चार निक्षेपों से संभव है। यहाँ अरिहंत परमात्मा का विषय है। इन में भी ये चार निक्षेप घटित होते हैं। द्रव्य अरिहंत, क्षेत्र अरिहंत, काल अरिहंत, और भाव अरिहंत। इस प्रकार अरिहंत का स्वरूप चार तरह से मननीय है। इन में नाम, स्थापना (आकृति) इन दोनों का समावेश करके विस्तार किया जाता है। सकलार्हत् स्तोत्र में हेमचन्द्राचार्य महाराज फरमाते हैं कि

नामाकृति द्रव्य भावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।

क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥

नाम से, आकृति (स्थापना) से, द्रव्य से, भाव से तीनों ही लोक स्वरूप समस्त जगत को पवित्र करते हुए तथा सर्व क्षेत्र तथा सर्व काल में रहे हुए अरिहंत भगवान की मैं उपासना करता हूँ । नामादि से परमात्मा का स्वरूप समझकर उनकी उपासना करनी है अर्थात् उपासना का स्वरूप व्यापक तथा विस्तृत बन सके । नामादि सर्व प्रकार से परमात्मा का स्वरूप शुद्ध है, पूजनीय हैं, आराध्य है ।

नाम जिणा जिणनामा - ठवणजिणा पुण जिणिदपडिमाओ ।

दब्ब जिणा जिणजीवा, भाव जिणा समवसरणत्था ॥

१. नामजिन - जिनेश्वर परमात्मा का नाम - वे ही नामजिन कहलाते हैं । प्रत्येक तीर्थंकर परमात्मा का कोई न कोई नाम अवश्य होता ही है । नाम का महत्व भी बहुत बड़ा है । नाम के आगे अथवा पीछे नमस्कार, जोड़कर जांप करने पर वह नाम ही मंत्र बन जाता है । नाम ही परमात्मा का वाच्य बनता है । महावीर, पार्थ, सिमंधर आदि सभी नाम हैं, उन नामों से वाच्य तीर्थंकर परमात्मा है ।

२. स्थापनाजिन - जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा-मूर्ति को स्थापनाजिन कहते हैं । स्थापना अर्थात् आकृति विशेष । देहधारी तीर्थंकर परमात्मा की भी विशिष्ट प्रकार की आकृति तो अवश्य ही थी । महावीर स्वामी ऐसे थे - उनके रूप, रंग-वर्ण आदि ऐसे थे । अवगाहना - ऊंचाई सात हाथ थी, आदि सब आकृति स्वरूप में गिना जाता हैं । भगवान जीवित थे उस काल की भी मूर्तियां भी मिलती हैं । फोटो, चित्र आदि भी स्थापना निक्षेप में गिने जाते हैं । इस स्थापना को स्थापन करके दर्शन-पूजनादि भक्ति की जाती है ।

पूर्व में जैसा कि उल्लेख हो चुका है कि जिनेश्वर प्रभु की जो प्रतिमा-मूर्ति बनाई गई है, वह मूर्ति ऐसी पद्यासनस्थ अथवा कायोत्सर्ग मुद्रावाली ही क्यों बनाई गई है ? इन दो मुद्रा से अतिरिक्त अन्य किसी भी मुद्रावाली क्यों नहीं बनाई गई? महावीर आदि तीर्थंकरों के जीवन की ऐसी अनेक मुद्राएं रही होगी, जैसे कि बैठी हुई, सोयी हुई, निद्रा करती हुई, खाती हुई, पीती हुई आदि अनेक आकार-प्रकार की मूर्ति क्यों नहीं बनाई ? इसके पीछे क्या रहस्य छिपा होगा ? जिस प्रकार राम की मूर्ति खड़ी, तीर-धनुष सहित तथा साथ में सीताजी तो अवश्य ही होते हैं, जिस प्रकार कृष्ण की मूर्ति सुदर्शन चक्र तथा साथ में राधा तो अनिवार्य रूप से होती है

और जैसे शेषशायी श्री विष्णु की मूर्ति है साथ में लक्ष्मीजी है जैसे त्रिनेत्री शंकरजी के साथ पार्वतीजी भी होते ही हैं ठीक वैसे ही क्यों ? कहीं भी महावीर के साथ उनकी पत्नी यशोदा की मूर्ति देखने को मीलती है ? पार्श्वनाथ भगवान के साथ उनकी प्रभावती या हाथ में कोई शस्त्र आदि देखने मीलता है क्या ? चौबीसों ही चौबीस तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में जन्मे हुए हैं । शांतिनाथ, कुंथुनाथ और अरनाथ जो चक्रवर्ती बने फिर दीक्षा लेकर ध्यानादि करके तीर्थंकर बने थे । क्या उनकी भी प्रतिमा अस्त्र-शस्त्र आयुध सहित कहीं भी दिखाई दी ? नहीं, न तो बनी है और भविष्य में कभी भी बननेवाली भी नहीं है । चौबीसों ही तीर्थंकर अथवा सीमंधर स्वामी आदि बीस विहरमान तीर्थंकर हो तब भी उनकी ऐसी आयुध आदि युक्त मूर्ति कहीं भी देखने को नहीं मिलेगी ।

प्रतिमा - मूर्ति बनाने के पीछे जो सिद्धान्त कार्य करता है वह यह है कि प्रभु निर्वाण के समय जिस देहाकृति - देहावस्था होते हैं वैसे ही प्रतिमा-मूर्ति बनाई जाती है । उदाहरण के लिये भगवान पार्श्व प्रभु का १०० वर्ष का आयुष्य काल था । जीवन के अंतिम समय में वे सम्मत्शैलशिखर (सम्मत्शिखर) पर पधार गए । ३३ अन्य मुनिगण भी थे । अंत में एक मास के उपवास पूर्क अनशन करके पर्वत पर कायोत्सर्ग मुद्रा खड़े-खड़े ध्यानस्थ अवस्था में देह का परित्याग करके निर्वाण पाये वे मोक्ष में गये । और भगवान महावीरस्वामी ७२ वर्ष की आयु के अन्तिम भाग में अपापापुरी (पावापुरी) में पधारे । हस्तिपाल राजा की पौषधशाला में अन्तिम चातुर्मास कीया, तब आश्विन माह की १४ चतुर्दशी तथा अमावस्या के दो दिन १६ प्रहर - ४८ घंटो तक अखंड अन्ति देशना देकर रात्रि के अन्तिम भाग में पद्मासनस्थ मुद्रा में स्थिर होकर, देह का परित्याग करके निर्वाण प्राप्त किया था - मोक्ष में पधारे थे । अतः एक कायोत्सर्ग मुद्रावाली तथा पद्मासनमुद्रावाली मूर्तियाँ बनाने का सिद्धान्त है । जिससे प्रभु की अन्तिम अवस्था का ध्यानादि कर सके । चौबीस तीर्थंकर में से एक पार्श्वनाथ भगवान की ही अन्तिम अवस्था कायोत्सर्ग मुद्रावाली थी, बाकी २३ तीर्थंकर भगवंतो पद्मासन मुद्रा में शैलेशीकरण करके निर्वाण पाये हैं ।

अतः ये दो प्रकार की ही मुद्राएँ - अवस्थाएँ होती हैं । सभी तीर्थंकर भगवंतो ने इन दो अवस्था में ही निर्वाण की प्राप्ति की थी, कर रहे हैं और भविष्यकाल में करते रहेंगे अर्थात् अरिहंत परमात्मा कायोत्सर्ग या पद्मासन मुद्रा में ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं । अतः इस सिद्धान्तानुसार ही जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ इन दो

अवस्थाओं की ही बनती हैं। इस प्रकार देखने पर एक प्रतिमा में अरिहंत और सिद्ध दोनों ही स्वरूपों के दर्शन होते हैं। सदा के लिये संसारी अवस्था - सदेह अवस्था के अंतिम दर्शन भी अंतिम देहाकृति से ही होने वाले हैं और दूसरी महत्व को बात यह है कि जिस अंतिम देहावस्था में रहकर देह का त्याग करते हैं वही आकृति से मोक्ष में स्थिर रहते हैं। यदि वे खड़े-खड़े (जिन मुद्रा) कायोत्सर्ग मुद्रा में देह का त्याग करते हैं तो उसी जिनमुद्रा में आत्म-प्रदेश का पुँज पिंड सिद्धशिला पर रहता है और यदि पद्मासनस्थ अवस्था में बैठे बैठे देह का त्याग करते हैं तो आत्म-प्रदेश का पुँज-पिंड बैठी हुई अवस्था में उतनी ही अवगाहना में रहता है, अतः मूर्ति-प्रतिमा सिद्धावस्था स्वरूप में भी स्वीकार्य है। इनके सिवा सिद्धात्मा की तो कोई आकृति ही नहीं होती है। सिद्ध की देहरहित अवस्था होती है। ये रहस्य महत्वपूर्ण है। इस स्वरूप में जिनप्रतिमा के दर्शन-वंदन-पूजन की भावना है - इन हेतुओं को समझना चाहिये।

वीतराग भाव की प्रतिमा -

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नम् ।

वदनकमलमऽकः कामिनी संगशून्यः ॥

करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबंधवंधम् ।

तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

मंदिर में प्रभु समक्ष बोली जानेवाली यह प्रभुस्तुति इस भाव की प्रतीक है कि हे भगवान् ! आपके दोनों ही नेत्र प्रशांत रस से भरे हुए हैं, आप प्रशांतरस में निमग्न हो, आपके नयन प्रसन्न हैं, आपकी गोद में कोई कामिनी भी नहीं है, कामिनी-स्त्री के संसर्ग-स्पर्श से भी आप दूर हैं, और आपके दोनों हाथ शस्त्र संबंध रहित देखता है, अतः इस समस्त जगत में सच्चे-यथार्थ वीतराग एक मात्र आप ही हो।

संसार में स्त्री राग का प्रतीक है और द्वेष का प्रतीक शस्त्र-अस्त्रादि है यह बात सर्व विदित है, जग प्रसिद्ध है, प्रत्येक को स्वीकार्य है, कोई निषेध नहीं कर सकता है। इतर मूर्तिया स्त्री, शस्त्रादि के संग-युक्त दिखाई देती है क्यों कि जिनकी मूर्ति है उनका जीवन ही वैसी प्रधानता वाला था, अतः उस राग-द्वेष की प्रधानता को उनकी मृत्यु के पश्चात भी उनकी मूर्ति के साथ स्थायी रूप से स्थापित कर रखी है। इन राग-द्वेष के प्रतीकों से वे भगवान भी राग-द्वेष वाले कहलाएंगे। वे वीतराग

कैसे कहलाएंगे ? संभव ही नहीं है, अतः जिनका जीवन ही सर्वथा वीतराग भावमय था वे परमात्मा ही वीतराग स्वरूप में विख्यात हैं और उनकी मूर्ति भी वीतराग भाव से परिपूर्ण ही होती है इसीलिए ही उस मूर्ति-प्रतिमा को देखने पर वीतरागता के ही दर्शन होते हैं । वीतरागता की अनुभूति-प्रतििति हो सकती है फिर मूर्ति-प्रतिमा को न मानने का अथवा पूज्य भाव से पूजा न करने का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? शास्त्र फरमाते हैं कि - 'जिन पडिमा जिन सारीखी' जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा-मूर्ति जिनेश्व के समान ही बताई गई है - तत्स्वरूप में ही माननी है, अतः सादृश्यता का भाव रहना ही चाहिये ।

मूर्ति और मूर्तिपूजा का विरोध महामिथ्यात्व -

उपर्युक्त सिद्धान्त का रहस्यात्मक स्वरूप समझ लेने के बाद और मूर्ति का विज्ञान जान लेने के पश्चात् मूर्ति का विरोध या मूर्ति के दर्शन-पूजन का विरोध करनेवाला जीव अपने घोर मिथ्यात्व का परिचय देता है । मूर्तिपूजा के विषय के शुद्ध शास्त्रीय सिद्धान्त किसी के गले सरलतापूर्वक उतर सकते हैं अर्थात् सरलता से समझ में आ सकता है । फिर भी पूर्वग्रह - कदाग्रह या दुराग्रह की कुबुद्धि से उसका विरोध करना और इस बुद्धिगम्य सत्य को भी स्वीकार न करना यह उनकी अज्ञानता और मिथ्यामति का ही सूचक प्रतीक है । लोक-व्यवहार में भी फोटो-चित्र आदि व्यक्ति के साक्षात् द्योतक है - ऐसी मान्यता रखते हैं, एक फोटो देखकर कोई भी सहजभाव से पूछ सकता है कि यह फोटो-यह चित्र किसका है ? इस प्रश्न का उत्तर कोई दे सकता है कि यह मेरे पिताजी का फोटो है, कोई कहेगा यह मेरे पुत्र का है, कोई कहेगा यह मेरे भाई का है । ये सभी भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपने-अपने संबंध की अपेक्षा से कहेंगे । परन्तु कोई यह कहने का साहस हरगिज नहीं करेंगे कि यह फोटो और किसीका हो या न हो यह तो कागज का है । क्यों कि उस फोटो के निमित्त व्यक्ति का पूर्ण जीवन आँखों के सामने तैरने लगता है अतः फोटो एवं व्यक्ति एक समान ही गिनी जा सकती है । व्यक्ति चेतनवंत, क्रियान्वित होती है जबकि फोटो-चित्र-मूर्ति-प्रतिमा यह सब अजीब-निष्क्रिय होते हैं ।

दूसरे प्रकार से कागज का फोटो हो या पत्थर की प्रतिमा हो, या काष्ठ लकड़े की, रत्न की, फाइबर की हो चाहे जिस किसी द्रव्य की हो तब भी कोई अन्तर नहीं पडता है । रोड पर लगे हुए सिनेमा के पोस्टरों में कागज पर स्थिराकृति दिखाई देती है और वही आकृति चालु सिनेमा में चलती-फिरती प्राणवान्-जीवित लगती

है। इसी प्रकार प्रतिमा या मूर्ति जो स्थिर स्वरूप में लगती है, उसी का वाच्य जीवन प्राणवान् होता है। वह प्रतिमा किसकी है? वह भगवान के नाम की वाच्य है, अतः उस मूर्ति से उन भगवान का जीवन दृष्टि समक्ष दृष्टिगोचर हो जाता है।

जिस प्रकार एक फोटो, काष्ठपुतली आदि देखने के साथ ही राग अथवा द्वेष उत्पन्न हो सकता है उसी प्रकार एक वीतराग भाववाली मूर्ति-प्रतिमा को देखकर वीतराग भाव-निष्काम भाव उत्पन्न होने का निमित्त है। काम चेष्टा वाले फोटो-चित्राकृति अथवा पुतले-पुतली देखने पर कामसंज्ञा जागृत हो सकती हो और इन विह्वल बन सकता हो तो फिर राग-द्वेष रहित वीतराग भाव की मूर्ति-प्रतिमा के दर्शन से वीतराग भाव, प्रशम-उपशम, निष्काम भाव, निर्वैर भाव क्या जागृत नहीं हो सकता है? अवश्य प्रगट हो सकता है।

प्रतिमा को परमात्मा न कहनेवाले और पत्थर कहनेवाले दया के पत्र हैं। बेचारे कितने अज्ञानी हैं कि उन्हें द्रव्य और पर्याय का भी ज्ञान नहीं है। द्रव्य - गुण - पर्याय ये तीनों ही स्वरूप परमात्मा ने ही फरमाए हैं। 'गुण-पर्यायवद्-द्रव्य' इस सिद्धान्त के आधार पर गुण और पर्यायवाला जो हो उसे ही द्रव्य कहते हैं। द्रव्य से गुण और पर्याय अलग-स्वतंत्र नहीं रहते हैं। वे द्रव्य की ही अवस्थाएं हैं और अभिन्न रूप से रहती है। अभिन्न रूप से रहती है तो हम उन्हें अभिन्न रूप से क्यों नहीं देखते? जो वस्तु जिस स्वरूप में होती है उस वस्तु को उसी स्वरूप में देखना और मानना ही सम्यक्त्व है। सत्य को सत्य स्वरूप में स्वीकार करना ही सम्यग्दर्शन है। पाषाण जब किसी भी प्रकार की विशिष्ट आकृतिवाला नहीं था तब वह पाषाण ही कहलाता था, परन्तु जब आकार-आकृति स्वरूप में घटित हो जाता है तब उसे पाषाण न कहते हुए प्रतिमा या मूर्ति कहना चाहिए। पाषाण द्रव्य है, परन्तु पर्याय - आकृति जिन-जिनेश्वर की है, अतः सच्चे स्याद्वादि द्रव्य-गुण-पर्याय सभी अवस्थाएं समझकर, देखकर बोलते हैं। पर्याय का लोप करके बोलना कदाग्रह है, मिथ्यात्व है। पर्याय स्वरूप में तो 'जिन की मूर्ति' कहकर ही व्यवहार करना पड़ेगा। यही स्थापना निक्षेप है। जिन की मूर्ति की स्थापना करके उसे जिनस्वरूप मानकर उसके दर्शन-वंदन-पूजन किया जाता है। उसके आलंबन से जाप-ध्यानादि की साधना की जाए।

प्रतिमा में आत्मदर्शन :

प्रभु प्रतिमा एक आलंबन है। आलंबन साधना में यह बड़ी ही सहायक है।

जिनेश्वर परमात्मा जब साक्षात् स्वदेह से विद्यमान नहीं है तब उनकी आकृति-प्रतिमा बनाकर उनकी उपासना की जाती है। भगवान महावीरस्वामी मात्र ७२ वर्ष के ही आयुष्यवाले थे उनका भी आयुष्य पूर्ण हो गया और वे मोक्ष सिंधार गये तत्पश्चात् पाँचवा आरा-पंचम काल-कलियुग आया। यह पाँचवा आरा २१००० वर्ष का है। इस पाँचवे आरे में तीर्थकर रहते नहीं है और होते भी नहीं है, तब क्या इतना लम्बा समय सर्वथा भगवान के बिना ही बिता दिया जाय ? जिस धर्म के केन्द्र में भगवान आराध्य स्वरूप में हो, उन आराध्य परमात्मा को भूलकर धर्म कैसे किया जा सकता है ? जबकि २१००० वर्ष तक प्रभु महावीर का शासन अखंड रूप से चलने वाला है - इसमें कोई शंका नहीं है, अतः हमारे पूर्वज महापुरुषों ने जिनप्रतिमाएं-मूर्तियाँ भरवाई-बनवाई और उनके भव्य जिनालय बनवाए। उन में जिन प्रतिमाओं की स्थापना-प्रतिष्ठा की और भगवान के रूप में स्वीकार की तब आज हम भी प्रभु भाव से, भगवत्भाव से नित्य पूजा-करते हैं। प्रभु दर्शन हेतु मंदिर जाते हैं। प्रभु प्रतिमा के समक्ष दर्शन करने हेतु खड़े रहकर स्तुतिगान करते हैं, इस दर्शन की प्रक्रिया को 'दर्पण में स्वयं के दर्शन करने की प्रक्रिया' ऐसी उपमा देकर तुलना की जा सकती है, जैसे एक व्यक्ति दर्पण में अपनी मुखाकृति देखता है, वह स्वयं को देखता है, तो क्यों देखता है ? बाल आदि की अस्त-व्यस्तता, आदि दोषों को निकालने हेतु। स्वदोष दर्शन और प्रभु गुणदर्शन की प्रक्रिया का नाम है प्रभुदर्शन। जिनप्रतिमा समक्ष खड़े होकर भगवान के गुणों से भरी हुई स्तुति बोते-बोलते प्रभु के गुण गाए जाते हैं। प्रभु अनंत गुणों से भरे हुए हैं। अनंत में हमें अपनी बुद्धि से, शक्ति से जितने भी गुणों की स्तवना कर सके उतनी करनी चाहिए। उसमें प्रभु के जो जो गुण गाए जाय उनका अभाव मुझ में है अर्थात् मेरे में ये गुण नहीं है बल्कि इन से विपरित दोष और दुर्गुण (मेरे में) भरे पडे हैं - उदाहरणार्थ - प्रभु में वीतरागता है, मेरे में राग-द्वेष ठुँस-ठुँसकर भरे पडे है, प्रभु सर्वज्ञ हैं मैं अल्पज्ञ हूँ, प्रभु सर्व प्रकार से पूर्ण - संपूर्ण है मैं सर्व प्रकार से अपूर्ण हूँ - इस प्रकार एक-एक करके प्रभु के सभी गुण देखते जाते हैं और उनके सामने अपने दोष-दुर्गुण देखते जाते हैं तो अपनी आत्मा का परिचय प्राप्त होगा। पूज्य उदयरत्न महाराज शांतिनाथ भगवान के समक्ष यह भाव व्यक्त करते हुए स्तवन में इस प्रकार के शब्दों से वर्णन करते हैं -

सुणो शांति जिणंद सौभागी, हुं तो थयो खुं तुम गुणरागी;
तुमे निरागी भगवंत, जोतां किम मल्लो तंत । सुणो ॥१॥

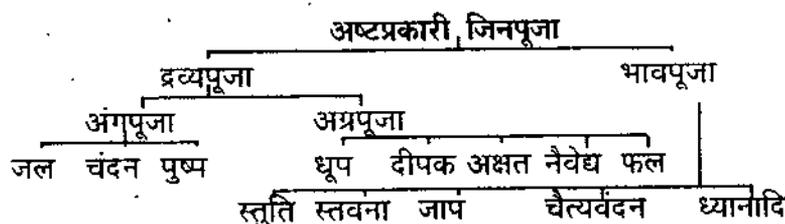
हूं तो क्रोध कषाय नो भरीयो, तुं तो उपशम रस नो दरीयो;
 हूं तो अज्ञाने आवरीयो, तुं तो केवल कमला वरीयो । सुणो ॥२॥
 हूं तो विषया रसनो आशी, तें तो विषया कीधी निराशी;
 हूं तो कर्म ने भारे भरीयो, तें तो प्रभुजी भार उतार्यो । सुणो ॥३॥
 हूं तो मोह तणे वश पडीयो, तुं तो सधला मोहने नडीयो;
 हूं तो भव समुद्र मां खुतो, तुं तो शिवमंदिरमां पहोतो सुणो ॥४॥
 मारे जन्म मरण नो जारो, तें तो तोड्यो तेहनो दोरो;
 मारो पासो न मेले राग, तमे प्रभुजी थया बीतराग । सुणो ॥५॥
 मने माया ए मुक्यो पाशी, तुं तो निरबंधन अविनाशी;
 हूं तो समकित थी अधूरो, तुं तो सकल पदारथे पूरो । सुणो ॥६॥
 म्हारे छो तुंहि प्रभु एक, तारे मुज सरीखा अनेक;
 हूं तो मन थी न मुकुं मान, तुं तो मान रहित भगवान । सुणो ॥७॥
 मारुं कीधुं कशुं नवि थाय तुं तो रंक ने करे राय;
 एक करो मुज महेरबानी, मारो मुजरो लेजो मानी । सुणो ॥८॥
 एक वार जो नजरे निरखो तो करो मुजने तुम सरीखो
 जो सेवक तुम सरीखो थाशे, तो गुण तमारा गाशे । सुणो ॥९॥
 भवो भव तुम चरणों नी सेवा, हूं तो मांगु छुं देवाधिदेवा;
 सामुं जुओने सेवक जाणी, एवी उदयरत्ननी वाणी । सुणो ॥१०॥

इस प्रकार इस स्तवन में जो भाव भरे हैं वे ही आत्म भान की प्रतीति हमें करवाते हैं । जैसे जैसे आत्मानुभूति और स्वदोष-दुर्गुण के दर्शन होते जाते हैं वैसे वैसे स्वयं को स्वयं का ज्ञान होता जाता है । परमात्मा की पूर्णता-सर्वज्ञता-वीतरागता आदि अनंत गुणों के दर्शन होते जाएंगे - यही दर्शन की सही-यथार्थ प्रक्रिया है । अध्यात्म योगी देवचन्द्रजी-महाराज स्वरचित महावीर स्वामी भगवान के स्तवन में इस बात की पुष्टि करते हुए फरमाते हैं कि - स्वामी गुण ओळखी स्वामी ने जे भजे, दरिशाण शुद्धता तेह पामे ... ।

पूज्य भाव पूर्वक की पूजा :-

जैसी दर्शन की प्रक्रिया है वैसी ही बल्कि उससे भी विशुद्ध और बढ़कर अधिक भाववाही प्रभुपूजा है । परमात्मा के प्रति सम्पूर्ण रूप से अहोभाव -

पूज्यभाव बना रहे इसके लिये ही पूजा है अतः नवकार महामंत्र में 'नमो' शब्द अरिहंतादि पंच परमेष्ठि भगवन्तो के प्रति पूज्य-भाव-अहोभाव प्रकट करने का सूचकशब्द है । पूज्य भाव मनोगत भाव है और पूजा इसी की द्योतक व्यवहार में आचरणीय प्रक्रिया है । पूजा क्रियात्मक है । इसकी भी सतत आवश्यकता रहती ही है । सतत क्रियाचरण न रहे तब भी परिणामों में निध्वंसता आ जाती है, विकृति आ जाती है क्यों कि मानव की बाह्य क्रियाशीलता तो घटनेवाली नहीं है इसका मुख्य कारण मन की चंचलता है । वह तो काया से क्रिया करवाती ही रहेगी और काया तो कायिक क्रिया - प्रवृत्ति करती ही रहेगी । इसमें जिनपूजा आदि की शुभ प्रवृत्ति सर्वोत्तम प्रकार की क्रिया-प्रवृत्ति है । इसे यदि छोड़ दी जाएगी तो जी बाह्य अन्य सैंकड़ों प्रकार की ऐसी प्रवृत्तियों में डूबे रहेंगे, जो पाप का बंध करवायेगी । बाह्य जगत की अन्य सभी प्रवृत्तियों करना, करवाना और इसमें कर्मबंधन करवाना - इसकी अपेक्षा तो सर्वोत्तम क्रिया जिनपूजा - भक्ति क्यों न करें ? अर्थात् अवश्य नित्य आचरणीय हैं ।



इस प्रकार अष्ट प्रकारी पूजा का स्वरूप है । सत्तरभेदी पूजा, चौसठ प्रकारी पूजा, नव्याणु - (निन्यानवे) प्रकारी पूजा आदि अनेक प्रकार है, जिनमें द्रव्यों के प्रकार बढ़ते रहते हैं । अनेक प्रकार से द्रव्य चढाए जाते हैं, इस तरह प्रकारों में वृद्धि होती जाती है ।

ये सभी प्रकार की पूजाएं सहेतुक - सार्थक हैं । इन में एक भी प्रकार निरर्थक नहीं बताया गया है । सभी पृष्ठभूमि में उत्तम प्रकार के भाव रहे हुए हैं । ऐसी ही द्रव्यपूजा करके कर्म निर्जरा करके केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त करने वाले महापुरुषों के कई दृष्टान्त शास्त्रों में सुवर्णाक्षरों से अंकित है । जैसे नागकेतु परमात्मा की पुष्पपूजा करते करते तल्लीन बने थे और शुभ अध्यवसाय पूर्वक कालक्रम से चारों ही घाति कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान अल्पवय में प्राप्त किया था - यह बात परम पवित्र श्री कल्पसूत्र में दर्शायी गई है ।

पूजा सूचक अर्ह पद - अर्ह मह पूजायाम् । संस्कृत धातु कोष के नियमानुसार अर्ह धातु और 'मह' धातु दोनों पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होती है । "अर्ह" धातु से 'अर्ह' पद परमात्मा का सूचक वाचक पद बना है, सिद्ध हेम में स्पष्ट बताया गया है कि

अर्ह - मित्यक्षरं ब्रह्म वाचकं परमेष्ठिना ।

सिद्धचक्रस्य सदबीजं, सर्वत्र प्रणिददमहे ॥

'अर्ह' धातु से बना हुआ 'अर्ह' शब्द ब्रह्मवाचक है, परमेष्ठि का वाचक है और सिद्धचक्र का बीजमंत्र है । सब प्रकार से यह प्रणाम करने योग्य है । इस प्रकार अर्ह पद अर्ह धातु से पूज्य, पूजा के योग्य, पूजनीय, पूज्यतम अर्थ में है-अतः इस पद से वाच्य अरिहंत परमात्मा है ।

इसी प्रकार 'मह' धातु पूजा के अर्थ में है । लोगस्स सूत्र में 'कित्तिय-वंदिय-महिया,' जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा' इस लोक में जो उत्तम महापुरुष सिद्ध हुए हैं उनका मैं कीर्तन करता हूं, वंदन करता हूं और उनकी पूजा करता हूं । प्रभुभक्ति के कीर्तन, वंदन और पूजन ये तीन प्रकार बताए गए हैं । इन तीनों प्रकार से प्रभु - परमात्मा की भक्ति करनी चाहिए । मूर्ति और मूर्तिपूजा के विरोधीजन अधमस्वार्थ से प्रेरित होकर अपनी बात सिद्ध करने के हेतु अधम कक्षा के पापाचार करते हैं और 'मह' धातु दुनिया के सभी संस्कृत व्याकरण के आधार पर पूजा के अर्थ में प्रयुक्त होते हुए भी बलात् जबरन निरर्थक 'महिमा' अर्थ बिठा देते हैं । जो कोई भी 'महिया' के स्थान पर 'महिमा' पाठ रखने या बदलने की घोर कुचेष्टा करते हैं तो यह शास्त्र विरुद्ध कदम उठाया ही कहलाएगा । 'हम भगवान की महिमा बढ़ाते हैं' ऐसा अर्थ बिठाने का प्रयास प्राणों की बाजी लगाकर भी करते हैं । भगवान के विरोधी भगवान की क्या महिमा बढ़ानेवाले थे ? बल्कि भगवान की जो महिमा थी उसे भी घटाने की कुचेष्टा की है यद्यपि उनके इस कार्य से प्रभु की महिमा रत्तीभर भी कम नहीं हुई है, वे इसे घटाने में असफल रहे हैं, परन्तु निरर्थक अभिमान से फुल रहे हैं ।

चैत्य शब्द का विपर्यास :-

'चैत्य' शब्द भी जिनमंदिरवाची शब्द है । उसे भी मंदिर से मूर्ति के विरोधियों ने बदल कर विपरीत अर्थ करने की कोशिश की है । चैत्य का अर्थ जिनमंदिर होता है । अभिधान चिंतामणि जैसे शब्द कोष में हेमचन्द्राचार्य महाराज ने ९९४ वे श्लोक

में प्रमाण देते हुए कहा है कि - 'चैत्यविहारौ-जिनसच्चनि' चैत्य, विहार और जिनसच्चन् ये सभी मंदिरवाची संस्कृत शब्द हैं। जहाँ जहाँ जिनेश्वर भगवान के चैत्य अर्थात् मंदिर व मूर्तियाँ हैं वहाँ नमस्कार करते हैं -

जावन्ति चेड्याइं उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।

सव्वाइं ताइं वंदे ईह संतो तत्थ संताई ॥

आवश्यक सूत्र की यह गाथा है जो नित्य चैत्यवंदन विधि के सूत्रों में प्रयुक्त है - उसमें भी स्पष्ट कहा है कि उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्छालोक में जहाँ जहाँ भी जिनेश्वर भगवन्तो के चैत्य अर्थात् मंदिर - मूर्तियाँ हैं उन सभी को मैं यहाँ रहा हुआ भी उन सभी जिन प्रतिमाओं को नमस्कार करता हूँ।

चौदह राजलोक के अखिल ब्रह्मांड में तीन लोक हैं। उर्ध्वलोक को स्वर्ग अथवा देवलोक, अधोलोक को नरक और पाताल तथा तिर्छालोक को मनुष्यलोक अथवा तिर्यक् लोक भी कहते हैं। इन तीनों ही लोक में सर्वत्र जिनेश्वर भगवान के मंदिर हैं उनमें शाश्वती प्रतिमाएं हैं। नित्य प्रभात में 'राई प्रतिक्रमण' करनेवाले आराधक 'सकल तीर्थ वंदु कर जोड' सूत्र बोलते हुए तीनों ही लोक के शाश्वत मंदिरों - मूर्तिओं को नमस्कार करते हैं। उस सूत्र के आधार पर कहाँ कितने मंदिर और कितनी मूर्तियाँ हैं उनकी संख्या सूचनार्थ यहाँ देते हैं - जिन्हें देखने से ख्याल आ जाएगा।

स्वर्ग में रहे हुए शाश्वत जिन चैत्य तथा शाश्वत जिनबिंब-

कहाँ ?	कितने प्रासाद ?	प्रत्येक प्रासाद में कितनी जिनप्रतिमा ?	कुल बिंब
पहले देवलोकमें	३२,००,०००	१८०	५७,६०,००,०००
दूसरे देवलोक में	२८,००,०००	१८०	५०,४०,००,०००
तीसरे	१२,००,०००	१८०	२१,६०,००,०००
चौथे	८,००,०००	१८०	१४,४०,००,०००
पाँचवे	४,००,०००	१८०	७,२०,००,०००
छठे	५०,०००	१८०	९०,००,०००
सातवे	४०,०००	१८०	७२,००,०००
आठवे	६,०००	१८०	१०,८०,०००
नववे-दशवे	४००	१८०	७२,०००

ग्यारवे-वारहवे	३००	१८०	५४,०००
नौ प्रैवेयक में	३१८	१२०	३८,१६०
अनुत्तर विमान में	५	१२०	६००
	८४,९७,०२३		१,५२,९४,४४,७६०

पाताल लोक में रहे हुए शाश्वत चैत्य तथा शाश्वत जिनबिंब -

नाम (भुवनपति)	प्रासाद संख्या	प्रत्येक प्रासाद में प्रतिमा	कुल बिंब
१. असुरनिकाय	६४,००,०००	१८०	१,१५,२०,००,०००
२. नागकुमार	८४,००,०००	१८०	१,५१,२०,००,०००
३. सुवर्णकुमार	७२,००,०००	१८०	१,२९,६०,००,०००
४. विद्युत्कुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
५. अग्निकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
६. द्वीपकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
७. उदधिकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
८. दिक् कुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
९. पवनकुमार	९६,००,०००	१८०	१,७२,८०,००,०००
१०. स्तनितकुमार	७६,००,०००	१८०	१,३६,८०,००,०००
	७,७२,००,०००		१३,८९,६०,००,०००

शाश्वत जिन चैत्य तथा जिनबिंब -

लोक	शाश्वतचैत्य	शाश्वतजिनबिंब
स्वर्ग	८४,९७,०२३	१,५२,९४,४४,७६०
पाताल अथवा भवनपति	७,७२,००,०००	१३,८९,६०,००,०००
मृत्यु लोक (मनुष्य लोकमें)	३,२५९	३,९९,३२०

उपरोक्त तालिकाएं देखने से स्वर्ग-पाताल और मृत्युलोक (मनुष्य-लोक) के सभी शाश्वत जिन चैत्यों तथा शाश्वती जिनप्रतिमाओं-मूर्तिओं की संख्या ख्याल में आएगी। वहाँ देवतागण भी दर्शन-वंदन-पूजन करते हैं। कदाचित् मूर्ति विरोधी जन मूर्ति का विरोध करने के लिये चैत्य शब्द का अर्थ बदलकर 'ज्ञान' अर्थ करेंगे

तो भी ... यह मेल कैसे बैठेगा ? 'जावति चेइआइ' सूत्र पाठ के अनुसार जहाँ-जहाँ जिन प्रतिमा-मूर्तियाँ हैं उन सभी को मैं नमस्कार करता हूँ - यही अर्थ ठीक बैठता है, परन्तु यदि 'चेइआइ' का अर्थ ज्ञान करते हैं तो किसी भी रूप से ठीक नहीं उतरता, क्यों कि ज्ञान गुण है गुण-गुणी के बिना स्वतंत्र नहीं रह सकता - यह शाश्वत नियम है। गुण सदा गुणी में ही रहता है। फिर उर्ध्वलोक अथवा पाताल लोक में ज्ञान कैसे लें ? कौन सा ज्ञान लेना ? क्या स्वर्ग या पाताल में केवलज्ञान है ? क्या उसे नमस्कार करते हैं ? नहीं, संभव ही नहीं है। अतः चैत्य शब्द का निरर्थक विपर्यास करके स्वयं अपनी अज्ञानता का प्रदर्शन क्यों करते हैं ?

चलो, चैत्य शब्द को बदल डालोगे ? परन्तु मंदिरमार्गियों के पास शास्त्र पाठ के आधार पर कई शब्द हैं जैसे मूर्ति, प्रतिमा, बिंब, पडिमा, आदि आप कितने शब्दों के अर्थ बदलोगे ? आवश्यक सूत्र की और एक गाथा देखें -

जंकिंचि नाम तित्थं, सग्गे पायालि माणुसे लोए ।

जाइं जिणबिंबाइं ताइं सब्वाइं वंदामि ॥

सभी भाव पूर्व की 'जावति चेइआइ' गाथा के जैसे ही हैं। मात्र चैत्य शब्द के स्थान पर 'बिंब' शब्द का प्रयोग किया है। सग्गे - स्वर्ग में, पायालि-पाताल-अधालोक में, और माणुसे लोए - मनुष्यलोक में - इन तीनों लोक में जो जो नामस्वरूप भी तीर्थ हैं और वहाँ जिनबिंब हैं अर्थात् मूर्तिया-प्रतिमाएँ हैं, उन सब को मैं वन्दन करता हूँ। वहाँ चैत्य शब्द के स्थान पर 'बिंब' शब्द है। चैत्य शब्द का अर्थ बदल डाला, परन्तु अब बिंब शब्द का अर्थ कैसे बदलोगे ? अतः त्रिलोक में शाश्वत जिनबिंब हैं - प्रतिमाएँ है उन सभी को वंदन किया गया है।

जिनमंदिर और मूर्तियाँ -

जैन दर्शन अत्यन्त प्राचीन और ऐतिहासिक दर्शन है। इसकी प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप जिनमूर्ति और जिनमंदिर हैं। हजारों वर्षों के प्राचीन मंदिर और मूर्तियाँ वर्तमान में मौजूद हैं और खनन कार्य में आज भी उपलब्ध होते हैं, जो प्राचीनता को सिद्ध करते हैं। ऐसी अमूल्य निधि को सर्वथा छोड़कर अलगाववादी मूर्ति के विरोधियों ने कुछ भी प्राप्त नहीं किया। जिनेश्वर भगवान की मूर्ति अथवा मंदिर के सिवाय उनके फोटो या चित्र कुछ भी प्राप्त नहीं हुए हैं, अतः मूर्ति के विरोधियों ने खोया ही है, अपनी निधि से हाथ धोए ही है और अपना अधिकार भी खोया है।

दूसरी ओर मूर्ति या मंदिर के विरोधिजनों ने जहां भगवान का विरोध किया वहीं अपना प्रभाव बढ़ाना प्रारंभ किया । अपने पूर्वजो अथवा संत-सती आदि के फोटो बड़े ही अतिरेक पूर्वक बढ़ाते गए, जो स्थापना निक्षेप में ही न माननेवाले हैं उन्होंने फोटो के रूप में अपनी स्थापना शुरू कर दी और अपनी मान्यता वालों के घर घर अपने फोटो पहुँचा दिये हैं । परिणाम यह निकला कि गृहस्थ लोग अपने-अपने घरों में उन फोटो के समक्ष आरती-धूप-दीप आदि करने लगे और अवसर पर प्राप्त हो जाए अथवा आ जाए तो फल भी रखने लग गए हैं । किन्हीं किन्हीं मूर्ति-मंदिर विरोधियों के यहां तो उनके बड़े-बड़े पूर्वजों के राजकीय व्यक्तियों की तरह पुतले - प्रतिमाओं आदि की स्थापना भी हो चुकी है और अपने - अपने क्षेत्रों में एक - एक प्रतिमा अथवा स्तूप जैसा बनाकर प्रदर्शन हेतु पुतले बिठा देते हैं । इस प्रकार राजकीय रूप आ गया है । फिर उनके जन्म-स्वर्गवास के दिन पानी से साफ-सफाई करके फूल की माला आदि पहनाकर नीचे धूप-दीप करने की प्रथा चल पडी है ।

कोई कोई मूर्ति-मंदिर के विरोधी जन अपनी मृत्यु के पीछे चबुतरा, मंच, स्मारक आदि बनवाकर उस पर चारों ओर अपना नाम आदि पद जोड़कर मंत्र स्तूप बनवाकर लिख देते हैं और बीच में संगमरमर के पत्थर में चरण पादुका बनवाकर बिठा देते हैं, फिर उनकी स्वच्छता हेतु उन पर जल-पानी चढाया जाता है, तत्पश्चात् उस पर पुष्पादि भी चढाए जाते हैं और अगरबत्ती करके रखी जाती है । लोग वहाँ आकर घुटनों के बल नत मस्तक होते हैं, बैठकर स्वर्गस्थ संत के नाम की माला फेरते हैं । इस प्रकार एक समाधि स्थल को मंदिर का रूप दिया जाता है । मध्यप्रदेश के एक शहर में ऐसा प्रत्यक्ष देखा गया है ।

ऐसा तो चारों ओर चल पडा है । भगवान तीर्थंकर प्रभु के मंदिर-मूर्तियों का विरोध करनेवालों ने अपने पूर्वजो-गुरुजनों आदि को भगवान स्वरूप मानकर उनकी पूजा परोक्ष रूप से बढ़ाई है । फोटो की भरमार हो रही है - यह सब किस बात का द्योतक है ? यदि स्थापना निक्षेप का ही विरोध था और पूजा आदि का ही विरोध था तो फिर यह क्या हुआ ? इनको केवल देवाधिदेव तीर्थंकर परमात्मा की ही पूजा-भक्ति में पाप लगता है क्या ? क्या इनको अग्रजों - बड़ों की टेढी-रीति से पूजा-सम्मान में सिद्धान्त-दोष नहीं लगता है ? यंत्र-तंत्र-मंत्र उनकी पुष्पादि पूजा करने में दोष-पाप क्यों नहीं लगता ? इसके अतिरिक्त मूर्ति-मंदिर विरोधी समाज अपने मकान-बंगले-दुकान आदि के उद्घाटन के प्रसंग पर स्वामी नारायण की

पूजा, गणपति की पूजा, देव-देवियों की पूजा बहुत पढवाते हैं । इतना ही नहीं परन्तु अजमेर की ख्वाजा पीर की मानो यात्रा पर जाते हो ऐसा लगता है । उर्स में जाते हैं वहाँ पीर पर हरि चदर चढाते हैं, गुलाब के फूल भी चढाते हैं, अगरबत्ती-धूप आदि करके घुटनों के बल बैठकर (नमाज) नमस्कार करने लग गए हैं । वैसा तो सर्वत्र अधिक मात्रा में चल पडा है । कई बार सम्पर्क होने पर उनसे पूछा भी जाता है, तब वे यही उत्तर देते हैं कि हमारे समकित में इसकी छूट है । हमें इसका निषेध नहीं किया गया है । हमने पच्चक्खाण लेते समय इसकी छूट रखी है । इसका मतलब यह हुआ कि उनको मात्र २४ जैन तीर्थंकर भगवान और उनके ही मंदिर में दर्शन-वंदन-पूजन का विरोध है । जो देवाधिदेव हैं, वीतराग भगवान हैं उनकी पूजा-भक्ति में पाप लगता है जब कि बाहर पीर और अन्य देवी-देवताओं की मान्यता, उनके दर्शन-पूजन यात्रादि में कहीं भी पाप लगता ही नहीं है । यह कैसी विचित्रता है ? घर-का उच्चतम-सर्वोत्तम तत्त्व खोकर बाहर भटकते हुए और अपने ही घर के धर्म-धर्माजनों के शत्रु बनकर बाहर के रागी-द्वेषी देव-देवीयों को पकड़ने में, अरे ! पीर-पैगंबरों को मानने-पूजने में कौन सा सम्यक्त्व आ गया ? कौन सा सम्यक्त्व इसमें शुद्ध होता है या पुष्ट होता है ? यही आश्चर्य है ।

ऐसे सच्चे वीतरागी-सर्वज्ञ जिनेश्वर तीर्थंकर अरिहंत जैसे महान् भगवान मिले, सभी प्रकार से इनकी परीक्षा करने पर कसौटी पर ये एक ही वीतरागी भगवान सही उतरते हैं और फिर भी इनको ही न मानने में कितनी बड़ी मूर्खता है ? हजार छनने से छानने के पश्चात् इन अरिहंत परमात्मा का शुद्ध स्वरूप निर्धारित हुआ है । कष-छेद-भेद-तापादि चारों भेदों से जिस प्रकार सुवर्ण की परीक्षा की जाती है, वैसे ही तर्क-युक्ति से वीतराग भगवान की सभी प्रकार से परीक्षा करने पर एक मात्र वे ही सभी परीक्षाओं में संपूर्णरूप से पार उतरते हैं और पूर्ण-संपूर्ण शुद्ध-अत्यन्त विशुद्ध परमात्मा का स्वरूप प्राप्त होता है । ऐसे ही परमात्मा को मानना चाहिये, उनकी ही आराधना करनी चाहिए । इन्हीं की ही आराधना हेतु नाम स्थापना आदि निक्षेप पूर्वक जाप मूर्तिपूजा रूप आराधना करनी चाहिये ।

क्षेत्र और काल निक्षेप का स्वरूप -

नाम, स्थापना आदि रीत से विचार किया अब क्षेत्र और काल निक्षेप से भी विचार करना भी आवश्यक है । क्षेत्र की दृष्टि से विचार करने पर ढाई द्वीप के १५ कर्म भूमिओं के १५ क्षेत्र तीर्थंकर भगवान के बनने और विचरण करने के क्षेत्र

हैं। क्यों कि यही धर्म के क्षेत्र हैं। ढाई द्वीप के मानचित्र में देखने से पता लग जाएगा। ढाई द्वीप में प्रथम जंबुद्वीप में, दूसरे धातकी खंड में और तीसरे पुष्करार्ध द्वीप में कुल मिलाकर १५ क्षेत्र हैं। जंबुद्वीप में एक भरत क्षेत्र, एक ऐरावत क्षेत्र तथा एक महाविदेह क्षेत्र- इस प्रकार कुल ३ कर्मभूमि के क्षेत्र हैं। धातकी खंड और पुष्करार्ध क्षेत्र में कुल दो भरत, दो ऐरावत तथा दो महाविदेह क्षेत्र हैं ऐसे ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह क्षेत्र कुल मिलाकर १५ कर्मभूमि के क्षेत्र हैं। जहाँ असि, मसि, और कृषि का व्यापार चलता हो उसे कर्मभूमि क्षेत्र कहते हैं, इन्हीं क्षेत्रों में पंच परमेष्ठि भगवंत होते हैं अतः धर्मादि की सभी अनुकूलता यहीं होती है।

कालिक दृष्टि से महाविदेह क्षेत्र में शाश्वत काल है। वहाँ सदैव चौथा आरा ही प्रवर्तित रहता है। जैसा चौथा आरा भरत क्षेत्र में होता है ठीक वैसा ही काल पाँचों ही महाविदेह क्षेत्र में शाश्वत रूप से चलता ही रहता है। वहाँ तीर्थंकरों का विरह होता ही नहीं है। वहाँ सदाकाल विचरण करनेवाले तीर्थंकर विहरमान जिन-तीर्थंकर कहलाते हैं। ऐसे २० तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान काल में अर्थात् आज भी ढाई द्वीप के पाँच महाविदेह क्षेत्र में कुल मिलाकर २० तीर्थंकर हैं। एक महाविदेह क्षेत्र में चार तीर्थंकर भगवंत विचरण करते हैं। इस समय विचरण करते हुए २० तीर्थंकर भगवंतों के नाम इस प्रकार प्रचलित एवं प्रसिद्ध हैं-

१. जंबुद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में -

- | | |
|------------------------------|-----------------------------|
| (१) सीमंधरस्वामी भगवान | (३) श्री बाहुस्वामी भगवान |
| (२) श्री युगमंधरस्वामी भगवान | (४) श्री सुबाहुस्वामी भगवान |

२. धातकीखंड के महाविदेह में

- | | |
|--------------------------------|---------------------------------|
| (५) श्री सुजातस्वामी भगवान | (९) श्री सुरप्रभस्वामी भगवान |
| (६) श्री स्वयंप्रभस्वामी भगवान | (१०) श्री विशालस्वामी भगवान |
| (७) श्री ऋषभाननस्वामी भगवान | (११) श्री वज्रधरस्वामी भगवान |
| (८) श्री अनंतवीर्यस्वामी भगवान | (१२) श्री चन्द्राननस्वामी भगवान |

३. पुष्करार्ध द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में -

- | | |
|---------------------------------|-------------------------------|
| (१३) श्री चंद्रबाहुस्वामी भगवान | (१७) श्री वारिवेणस्वामी भगवान |
| (१४) श्री भुजंगस्वामी भगवान | (१८) श्री महाभद्रस्वामी भगवान |
| (१५) श्री ईश्वरदेवस्वामी भगवान | (१९) श्री देवयशास्वामी भगवान |

ढाई द्वीप के नामों के साथ किस-किस द्वीप के महाविदेह क्षेत्र में कौन कौन से भगवान हैं ? यह जानने के लिए उपरोक्त तालिका दी है । जंबूद्वीप के एक महाविदेह में चार तीर्थकर, धातकी खंड के पूर्व महाविदेह में चार, पश्चिम महाविदेह में चार और पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व महाविदेह में चार, तथा पश्चिम महाविदेह में भी चार इस तरह ५ महाविदेह क्षेत्र में २० तीर्थकर होते हैं । उनकी स्तुति, स्तवना, वंदना, प्रार्थना, आराधनादि सतत अपने प्रदेशों में चलती रहती है। इतना ही नहीं आज यहां भरत क्षेत्र के भारत देश में भी सिमंधरस्वामी आदि विहरमान तीर्थकरो के जिनालय आदि का निर्माण होता है और पूजा-सेवा भक्ति भी ठाठ से होती ही रहती है ।

जिस प्रकार क्षेत्र की दृष्टि से विचार किया उसी प्रकार काल की दृष्टि से भी विचार करना चाहिए । काल तीन प्रकार का है - (१) भूतकाल (२) वर्तमान काल, और (३) भविष्यकाल । भूतकाल में भी तीर्थकर हुए हैं, वर्तमान में तीर्थकर हैं और भविष्य काल में होंगे । भूतकाल की गत एक उत्सर्पिणी में इस भरतक्षेत्र में जो चौबीस भगवान हुए थे उनके नाम आज भी प्रचलित हैं और वर्तमानमें उनकी मूर्तियाँ बनी हुई हैं और पूजी जाती है । इसी प्रकार भविष्य में तीर्थकर बनने वाले महापुरुषों का विचार पूर्व में कर चुके हैं । यह भावी चौबीसी तो आगामी उत्सर्पिणी में होने वाली है, उनके भी नाम प्रसिद्ध एवं प्रचलित है । उनके भी मन्दिर-मूर्ति आज भी उपलब्ध है ।

कालचक्र सतत गतिशील है । घुमते हुए चक्र की तरह काल परिवर्तनशील तत्त्व है । उत्सर्पिणी के बाद पुनः अवसर्पिणी आती है और अवसर्पिणी के बाद पुनः उत्सर्पिणी आती है इस प्रकार सतत गतिशील काल का पैया घूमता ही रहता है । एक उत्सर्पिणी में २४ तीर्थकर होते हैं इसी प्रकार एक अवसर्पिणी में भी २४ तीर्थकर होते हैं । इस प्रकार चौबीस चौबीस तीर्थकर सदाकाल होते ही रहते हैं । काल अनादि-अनंत है । भूतकाल में अनंत उत्सर्पिणीया और अनंत अवसर्पिणीया वीत चुकी है । इसी लिये अनंत चौबीसियाँ भी हो चुकी है ।

एक उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी के ६-६ आरे होते हैं । इस प्रकार ६ + ६ आरे का कुल मिलाकर १२ आरों का १ कालचक्र होता है । इसमें २ चौबीसियाँ होती है । एक अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी के ६ आरों में मात्र तीसरे और चौथे

आरे में अर्थात् दो ही आरे में कुल मिलाकर २४ भगवान होते हैं - इनसे अधिक नहीं होते हैं । अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर के निर्वाण के बाद ३ वर्ष ८ मास बीतने पर पाँचवा आरा शुरु हो जाता है । पाँचवे और छठे आरे में कोई तीर्थंकर होते नहीं है ।

द्रव्य से तीर्थंकर

‘द्रव्य जिणा जिण जीवा’ जिन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया हो ऐसे निश्चित रूप से तीर्थंकर बनने वाले जीव द्रव्य जिन के स्वरूप में पहचाने जाते हैं, जैसे - श्रेणिक महाराजा, कृष्ण महाराज आदि के जीव द्रव्य जिन हैं । इन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया है अतः निश्चित रूप से आगामी चौबीसी में अवश्य तीर्थंकर बनने ही वाले हैं ।

भावजिन स्वरूप :

‘भावजिणा समवसरणत्था’ जिनका तीर्थंकर नामकर्म उदय में आ गया हो रसोदय-विपाकोदय हुआ हो और चारों ही घाति-कर्माँ का सर्वथा नाश हो गया हो, जो वितरागी, सर्वज्ञ बन चुके हो, अठारह दोष रहित तीर्थंकर बनकर समवसरण में बिराजमान होकर देशना देते हो, ऐसे अरिहंत, तीर्थंकर भगवान ‘भावजिन’ कहलाते हैं । ये सर्वज्ञ स्वरूप में विचरण करते हैं । ऐसे तीर्थंकर भगवंत ही धर्मतीर्थ की तथा चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं । (समवसरण, अष्ट प्रातिहार्य तथा अतिशयो आदि के स्वरूप का वर्णन पूर्व में कर चुके हैं) १२ गुणों से युक्त-शोभित तीर्थंकर भगवंतो को भावजिन कहते हैं । उनकी उपासना होती है, समवसरण में बैठकर उनकी देशनाश्रवण की जाती है तथा उनका इस स्वरूप में ध्यान किया जाता है ।

पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत अवस्था का ध्यान धरने पर तीर्थंकर परमात्मा की तत्संबन्धित अवस्था दृष्टिगोचर होती है ।

जाप-ध्यान-एकाग्रता-लय आदि प्रक्रिया से तीर्थंकरों की उपासना होती है । एक मात्र उपास्य तत्त्व के रूप में ये तीर्थंकर भगवंत ही ईश्वर के रूप में वाच्य है ईश्वर ही नहीं बल्कि परमेश्वर के रूप में वाच्य है । जैन धर्म-दर्शन में ऐसे वितरागी-सर्वज्ञ-अरिहंत-जिन-जिनेश्वर-तीर्थंकर को ही ईश्वर माना गया है । ये परमेश्वर तीर्थंकर जगत के कर्ता नहीं - सृष्टि के रचयिता नहीं बल्कि मात्र उपदेशक-दृष्टा स्वरूप में हैं । मोक्षमार्ग के दृष्टा हैं । इस स्वरूप में ही ये उपास्य हैं ।

उत्कृष्टता से १७० तीर्थकर भगवंत :-

वर कणय शंख विद्रुम, मरगय घण सत्रिहं विगय मोहं ।

सत्तरिसयं जिणाणं, सब्बामर पूइयं वंदे ॥

जिनेश्वर भगवान का पांच वर्णों की अपेक्षा से विभाजन किया गया है - (१) श्रेष्ठ सुवर्ण - जैसे पीत वर्णवाले (२) शंख जैसे श्वेत वर्णवाले (३) विद्रुम-परवाला जैसे लाल वर्णवाले, (४) मरकतमणि जैसे हरितवर्णवाले और (५) आकाश में छाए हुए घनघोर काले बादलों के जैसे श्याम वर्णवाले । ऐसे पाँच प्रकार के वर्ण जिनेश्वर भगवान के संबंध में गिनाए गए हैं । ध्यान साधना में इन वर्णों की अत्यन्त उपयोगिता रहती है । वर्णों के आधार पर ध्यान साधना की जाती है । ज्योतिष के आधार पर नौ ग्रहों की साधना इन पांच वर्णों के नौ ग्रहों के वर्ण के साथ मिलान करके की जाती है ।

ऐसे पांच प्रकार के उत्तम वर्णवाले मोहादि से रहित १७० जिनेश्वर भगवंत जो सभी देवताओं के द्वारा पूजित हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ ।

१७० तीर्थकर भगवंतों की गणना निम्न प्रकार की गई है । ढाई द्वीप में १५ कर्मभूमियों का वर्णन जो हम पहले कर चुके हैं उसके अनुसार ढाई द्वीप में पांच महाविदेह क्षेत्र हैं । एक महाविदेह क्षेत्र में ३२ विजय (१६ पूर्व की १६ पश्चिम की) होती है, प्रत्येक विजय में एक-एक तीर्थकर की गणना से एक महाविदेह क्षेत्र में ३२ तीर्थकर हो सकते हैं, ऐसे ५ महाविदेह क्षेत्र हैं, उन सभी में ३२-३२ के हिसाब से गिनने पर $३२ \times ५ = १६०$ तीर्थकर उत्कृष्ट रूप से हो सकते हैं । और वैसे ही भरतक्षेत्र भी पांच है तथा ऐरावत क्षेत्र भी पांच है, ये $५ + ५ = १०$ क्षेत्र में १० तीर्थकर एक साथ हो सकते हैं, इस प्रकार $१६० + ५ + ५ = १७०$ तीर्थकर अजितनाथ भगवान के काल में हुए थे । उत्कृष्ट रूप से समकालीन तीर्थकर इतने ही होते हैं, इससे ज्यादा नहीं ।

तीर्थकरो के चार सार्थक विशेषण :-

जैन शास्त्रों में चार महान् विशेषणों से तीर्थकर परमात्मा का अभिवादन किया है । प्रभु क्या क्या है ? किस स्वरूप में है ? यह बताते हुए कहा है कि (१) महा माहण (२) महा सार्थवाह (३) महा निर्यामक और (४) महा गोप । ऐसे बड़े ही गंभीर अर्थवाले चार विशेषण लगाए हैं ।

(१) महा माहण - महा मानव - अरिहंत परमात्मा को पुरुषोत्तम कहा है । महान् उच्चतम कक्षा के श्रेष्ठतम मानव कहे हैं । 'महा' सर्वश्रेष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त है । लोकोत्तम कक्षा के पुरुष के रूप में वर्णन करते हुए 'चत्तारि लोगतमा' के पाठ में 'अरिहंत लोगतमा' अरिहंत परमात्मा को लोकोत्तम कक्षा के महापुरुष कहे हैं । इस जगत में तिनो लोक में - समस्त ब्रह्मांड में इनके जैसा दूसरा कोई नहीं है । ये आदर्श महापुरुष हैं, महान लोकोत्तर कक्षा के आप्त पुरुष हैं यथार्थ वक्तां को आप्त पुरुष कहते हैं । सर्वज्ञता और वीतरागता जिनके पास हो वे ही महान से महान कहलाते हैं ।

(२) महा सार्थवाह - नमस्कार निर्युक्ति में तीन विशेषणों का विशेष उल्लेख करते हुए फरमाते हैं कि -

अडवीइ देसिअत्तं, तहेव निज्जामया समुदंमि ।

छक्कायरक्खण्णद्वा, महागोवा तेण वुच्चंति ॥

भवसागर रूप अटवी में सार्थवाह समान, भवसमुद्र में महा निर्यामक समान और छह काय जीवों के रक्षक होने से भी परमात्मा को महागोप कहते हैं ।

इस भवसागर में तीर्थकर भगवंतो द्वारा स्थापित - प्ररूपित तत्त्व के मार्ग पर चलने से जीव मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं अतः तीर्थकरो का मार्गदर्शकत्व सिद्ध होता है । इस महा संसार सागर में भटकते हुए जीवों के लिये प्रभु सार्थवाह का कार्य करते हैं । जिस प्रकार सार्थवाह रथ को इच्छित स्थान पर पहुंचाता है उसी प्रकार परमात्मा भी भव्यात्माओं को उपदेशादि के द्वारा मोक्ष तक पहुंचाते हैं, अतः प्रभु सार्थवाह है ।

(३) महा निर्यामक - भयंकर संसार समुद्र में जिनेश्वर भगवंत महा निर्यामक हैं । जैसे निर्यामक समुद्र के ज्ञाता होते हैं और समुद्र में डूबते हुए को पार उतारते हैं, उसी प्रकार इस भव संसार रूपी समुद्र में डूबते-भटकते संसारी जीवों को पार उतारते हैं, उनके लिये आकाश दीप तरह सहयोगी बनकर, उपयोगी बनकर उन्हें मोक्ष की ओर मोड़ते हैं ।

(४) महागोप - गोप अर्थात् गायों चराने वाला ग्वाला । जिस प्रकार ग्वाला गायों को चराने हेतु ले जाता है और वन्य हिंसक पशुओं से भी उनकी रक्षा करता है, अच्छा चारा - पानी मिले वहां तक सुरक्षित ले जाता है उसी प्रकार जिनेश्वर भगवंत भी षड्काय जीवनिकाय रूपी गायों का जरा-मरण के भय से रक्षण करते हैं और निर्वाण तक पहुंचाते हैं । ऐसे अर्थ में तीर्थकर भगवंत महागोप अर्थात् परम ग्वाले

कहलाते हैं । इन सभी विशेषणों से युक्त परमात्मा वंदनीय - नमस्करणीय बनते हैं।

शक्रस्तव में अरिहंत -

तीर्थंकर परमात्मा का स्वर्ग से जब च्यवन होता है अर्थात् माता की कुक्षि में पधारते हैं अथवा प्रभु का जन्म होता है तब स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र महाराजा स्वयं तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति करते हैं - स्तुति में अनेक विशेषण भर देते हैं, जो शक्रस्तव अपरनाम नमुत्थुणं सूत्र कहलाता है । जैसे (१) अरिहंत (२) भगवान (३) आदि करनेवाले को । अर्थात् धर्म-तीर्थ की स्थापना करके आदि शुरुआत करते हैं । (४) तीर्थ की स्थापना चतुर्विध संघ की स्थापना करनेवाले को, (५) स्वयं बोध प्राप्त करनेवाले को, (६) पुरुषोत्तम, (७) पुरुषों में सिंह समान, (८) पुरुषों में श्रेष्ठ कमल समान, (९) पुरुषों में श्रेष्ठ गंध हस्ति समान, (१०) लोकोत्तम पुरुष, (११) लोगों का मोक्ष क्षेम करनेवाले नाथ, (१२) लोकहित-जनकल्याण करनेवाले, (१३) लोक में प्रदीप समान, (१४) लोक में प्रकाश फैलाने वाले, (१५) अभयदाता, (१६) चक्षुदाता, (१७) मार्गदाता, (१८) शरणदाता, (१९) बोधिवीज देनेवाले, (२०) धर्म के दाता, (२१) धर्म की देशना देनेवाले (२२) धर्म के नायक - स्वामी (२३) धर्म रथ के सारथी, (२४) धर्मरूपी श्रेष्ठ चतुरंग चक्र के धारक, चारगति के नाश रूप धर्मचक्र को धारण करनेवाले, (२५) अप्रतिहत - जिनका कभी क्षय न हो सके ऐसे ज्ञान, दर्शन अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन के धारक (२६) जिनकी छद्मस्थावस्था क्षीण हो चुकी है ऐसे, (२७) राग-द्वेषादि को जीतने वाले और जितानेवाले (२८) जो स्वयं संसार समुद्र से पार उतर गए हैं और दूसरों को संसार समुद्र से तिराने वाले हैं (२९) जो स्वयं बुद्ध हैं तथा बोध देने वाले हैं, (३०) जो स्वयं मुक्त हैं और मुक्ति दिलानेवाले हैं (३१) सर्वज्ञ, (३२) सर्वदर्शी (३३) शिव, अचल, अरुज, अनंत, अक्षय, अव्याबाध, तथा अपुनरावृत्ति स्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त किये हुए जिनेश्वरों, भगवान अरिहंतों को नमस्कार हो । इस नमुत्थुणं सूत्र में विशेषणों से युक्त जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार किये गए हैं, उनकी स्तवना की गई है । ऐसे विशेषण बड़े ही सार्थक हैं, सहेतुक हैं । एक-एक विशेषण का विवेचन बड़ा ही विशाल है, विस्तार बहुत है । पूज्य हरिभद्रसुरीश्वरजी महाराज ने 'ललित विस्तरा' नामक नमुत्थुणं सूत्र की विस्तृत टीका स्वरूप ग्रंथ रचना करके इन सभी विशेषणों को सविस्तार स्पष्ट किया है । जिज्ञासुजनों को 'ललित विस्तरा' का विवेचन अवश्य पढना चाहिए ।

अरिहंत परमात्मा का अत्यंत शुद्ध - विशुद्ध स्वरूप ऐसा है । यह समझने योग्य है । जैन दर्शन की मौलिकता समझने योग्य है । स्वतंत्र विचार धारा समझने योग्य है । सभी दर्शनों से और सभी धर्मों की अपेक्षा यह स्वतंत्र विचार धारा है। ईश्वर के स्वरूप को शुद्ध रूप में मानकर उपासना करनी चाहिए । जो आराध्य देव है जिन्हें हम-

जो देवाणविदेवो जं देवा पंजलि नमंसंति ।

तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं ॥

जो देवताओं के भी देव हैं, जिन्हें देवतागण भी अंजलिबद्ध प्रणाम करते हैं, वे देवताओं के देव इन्द्रादि द्वारा पूजित हैं, ऐसे परमात्मा को मात्र देव ही न मानें, क्योंकि मात्र देव कहने से स्वर्ग के देव के रूप में मान्यता हो जाती है, अतः इस श्लोक में देवताओं के भी देव देवाधिदेव हैं । इस अर्थ में परमात्मा को पूजना-मानना है ।

जिन परमात्मा पर हमारे सम्यक्त्व का अर्थात् सच्ची श्रद्धा का आधार है, जिनकी आज्ञा को ही धर्म रूप में मानते हैं, वे ही आराध्य देव, उपास्य देव, उपासना के केन्द्र स्थान हैं । इन्हें भली प्रकार से पहचान कर समझकर भजने हैं। कहीं ऐसा न हो जाए कि जिनकी हमने आजीवन पूजा, आराधना की, उन्हें ही हम पहचान न सके ऐसी भयंकर भूल अन्त में समझ में आये, अंत में इसका पश्चात्ताप हो, इसके लिये परमात्मा का शुद्ध स्वरूप पहले ही समझने की आवश्यकता है । इसीलिये इस प्रवचन-लेखन के माध्यम से परमात्मा की स्तवना की है । सभी साधकों के लिये यह मार्गदर्शन उपयोगी और उपकारी हो, पुण्यात्मा इस प्रक्रिया से आत्मिक विकास साधकर एक दिन अरिहंत बनकर अनेकों को तिराकर मोक्ष सिधायें - यही सही अभ्यर्थना है । इसी उदात्त भावना के साथ मेरा कथन यहीं समाप्त करता हूँ !



卐 सर्वेऽपि जिनाः भवन्तु 卐

卐 सर्वे भवन्तु च सिद्धाः 卐



पू. पंच्यास
श्री अरूणविजयजी गणिवर्य महाराज
द्वारा लिखित उत्तम सचित्र साहित्य

प्रवचन पुस्तकें :-

- १) कर्म की गति न्यारी भाग - १
- २) कर्म तणी गति न्यारी (गुजराती)
- ३) भावना भव नाशिनि (गुजराती)
- ४) पाप नी सजा भारे (गुजराती)
- ५) पाप की सजा भारी-भाग-१, २ हिन्दी.
- ६) सचित्र गणधरवाद - भाग १, २ (गुज.)
- ७) नमस्कार महामंत्र अनुप्रेक्षात्मक विज्ञान
भाग - १ से ६ (गुज.)

- * नियम डायरी - (हिन्दी + गुजराती)
- * बार व्रत गुज. बारह व्रत स्वरूप. (हिन्दी)
- * श्री विश्वस्थानक विधि. तथा यन्त्र
- * श्री ऋषिमण्डल स्तोत्र सार्थ तथा यन्त्र.
- * श्री सिद्धचक्र यंत्र तथा नवपद विधि संग्रह
- * श्री भक्ताचार स्तोत्र सार्थ.
- * श्री कल्याण मंदिर स्तोत्र सार्थ.
- * श्री रत्नाकर पच्चीशी, आत्मनिंदा द्वात्रिंशिका (सार्थ)
- * अरिहंत वंदनावली (हिन्दी+गुज.)
- * चोवीश जिन स्तुति - चैत्यवंदन - स्तवनादि संग्रह

संपादित प्रताकार आगम

- * श्री विपाकसूत्र मूल-टीका तथा गुर्जरानुवादसह
- * श्री उपासक दशांकसूत्र टीका तथा गुर्जरानुवादसह
- * श्री निरचावलिकासूत्र टीका तथा गुर्जरानुवादसह
- * श्री अंतऋद् दशा टीका तथा
अनुतरोपपातिकदशासूत्र ।।
- * श्री भगवती सूत्र भाग १, २, ३, (प्रेस में)

— प्राप्ति स्थान —

- * श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र - बम्बई,
- * श्री हथूण्डी राता महावीर स्वामी तीर्थ - राजस्थान.

